

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्यश्रीघासीलालव्रति-विरचितया आचारमणि-
मठजूपाख्यया व्याख्यया समलङ्कृत

श्रीदशवैकालिकसूत्रम्

[प्रथमो भागः अध्ययन १-५]

नियोजकः-

संस्कृत-प्राकृतज्ञ-जैनागमनिष्णात प्रियव्याख्यानि-पं० मुनिश्री कन्हैयालालजी
महाराजः ।

+

प्रकाशकः

परमश्रद्धासंपन्न अ सो. पानकुंवरबाई धींगडभल्लजी कानुगा प्रदत्त
द्रव्यसाहाय्येन श्रीअखिल-भारत-श्वेत।म्बर-स्थानकवासि-
जैनशास्त्रोद्धार समितिः

प्रमुख श्रेष्ठि-श्री शान्तिलालमंगलदासभाई महोदयः
गजकोट.

*

तृतीयं संस्करणम्-५००

मूल्यम् रु. २५

तृतीय-आवृत्ति

वीर-संवत्

विक्रम संवत् इरवीमन् १९७४

प्रति ५००

२५००

२०३१

प्रकाशक : प्राप्ति स्थान
श्रीअ.भा.श्वे स्थानकुवासी
जैन शास्त्रोद्धार समिति
श्रीन दोन पासे, राजकोट.

Published by :
Shri Akhil Bharat S S
Jain Shastrodhara Samiti,
Garedia Kuva Roae, RAJKOT,
(Saurashtra), W. Ry, India



ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैप यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालोह्वयं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥१॥



हरिगीतच्छन्दः

करते अवज्ञा जो हमारी यत्न ना उनके लिये ।
जो जानते हैं तत्त्व कुछ फिर यत्न ना उनके लिये ॥
जनमेगा मुझसा व्यक्ति ओई तत्त्व इससे पायगा ।
है काल निरवधि विपुलपृथ्वी ध्यान में यह लायगा ॥१॥



त्रीण आवृत्ति : प्रत ५००
वीर संवत् : २५००
विक्रम संवत् २०३१
धृत्वी संन . १८७४

मुद्रक :
महन्त स्वामी श्रीत्रिभुवन दासण शास्त्री
रामानंद प्रिन्टिंग प्रेस
डाकगिया नोड अहमदाबाद-२२

श्री वर्धमान श्रमण संघना आचार्यश्री
पूज्य आत्मारामजी महाराजश्रीजे

श्री दशवैकालिक सूत्र भाटे

*

आ पे ल

सम्प्रतिपत्र

उपरांत

पूज्य श्रीधासीदासजी महाराजनां

जनावेलां ज्ञान सूत्रो भाटे तेज्योश्रीनां मंतव्यो

*

ते म न

अन्य महात्माज्यो महासतीज्यो, अद्यतन पद्धतिवाणा डोलेजना प्रोफेसर
ते म न

शास्त्रज्ञ श्रावडेना अभिप्राये

डॉ. श्रीन लोण पासे
गरेडीया डूवा रोड
राजकोट : सौराष्ट्र

} श्रीअणिल लारत श्वे. रुथा, जैन
शास्त्रोद्धार समिति

प्रस्तावना.

कपायलिप्त कर्मबन्ध से बन्धे हुए संसारी प्राणियों के हितार्थ जगत हितैषी भगवान् श्री वर्धमान स्वामीने श्रुतचारित्ररूप दो प्रकार का धर्म कहा है। इन दोनों धर्म की आराधना करने वाला मोक्षगति को प्राप्त कर सकता है, इसलिये मुमुक्षु को दोनों धर्मों की आराधना अवश्य करनी चाहिए ! क्यों कि—“ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः” ज्ञान और क्रिया इन दोनों से मोक्ष होता है। यदि ज्ञान को ही विषेशता देकर क्रिया को गौण कर दिया जाय तो वीतरागकथित श्रुतचारित्र धर्म की आराधना अपूर्ण और अपंग मानी जायगी, और अपूर्ण कार्य से मोक्ष प्राप्ति होना सर्वथा असंभव है, एतदर्थ वीतरागप्रणीत सरल और सुबोध मार्ग में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को मानना ही आवश्यक है। कहा भी है—

“व्यवहारं विना केचिद् भ्रष्टाः केवलनिश्चयात् ।

निश्चयेन विना केचित् , केवल व्यवहारतः ॥१॥

द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सग्यगू द्रव्यावलोकनम् ।

यथा तथा नयाभ्यां चे, -त्युक्तं स्याद्वाद्वादिभिः ॥२॥

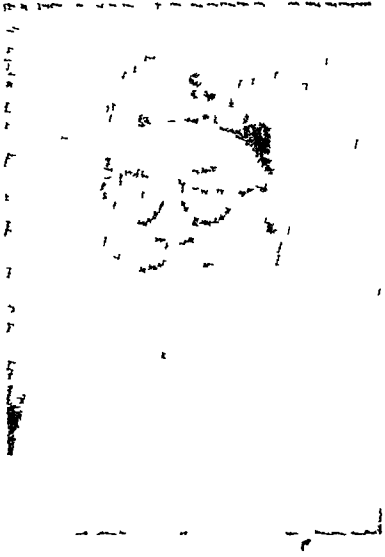
स्याद्वादके स्वरूप को निरूपण करने वाले भगवानने निश्चय और व्यवहार इन दोनों को यथास्थान आवश्यक माना है। जैसे दोनों नेत्रों के विना वस्तु का अवलोकन बराबर नहीं होता है वैसे ही दोनों नयों के विना धर्म का स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता, और इसी कारण व्यवहार नय के विना केवल निश्चयवादी मोक्ष मार्ग से पतित हो जाते हैं और हितनेक—व्यवहारवादी केवल व्यवहार को ही मानकर धर्म से च्युत हो जाते हैं।

आत्मा का ध्येय यही है कि सर्व कर्मसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना; परन्तु उसमें कर्मों से छुटकारा पानेके लिये व्यवहाररूप चारित्रिक्रिया का आश्रय जरूर लेना पडता है, क्यों कि विना व्यवहार के कर्मक्षय की कार्यसिद्धि नहीं हो सकती ! जो ज्ञानमात्रही को प्रधान मानकर व्यवहार क्रिया को उठाने है वे अपने जन्म को निष्फल करते हैं। जैसे पानी में पडा हुआ पुरुष तैरने का ज्ञान रखता हुआ भी अगर हाथ पैर हिलाने रूप क्रिया न करे तो वह अवश्य डूब ही जाता है, जिस प्रकार नाइट्रोजन और ओक्सीजन के मिश्रण विना विजली प्रगट नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान के होने हुए भी क्रिया विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, उगीओण भगवानने उग दगवैकान्तिक म्त्र में मुनिको ज्ञान-सहित आचार धर्म के पालन करनेका निरूपण किया है।

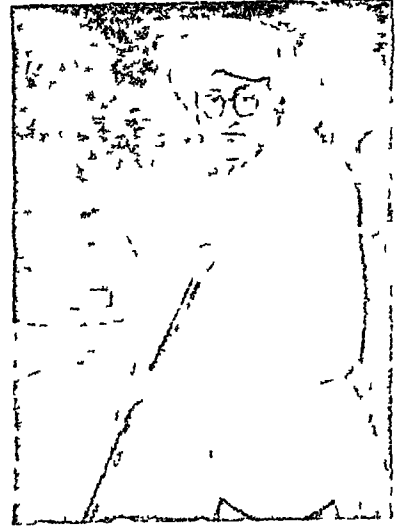
आद्यमुरव्वीश्रीओ

श्रीमान् शैठ कानुगा
श्री धींगडमलजी—अहमदाबाद

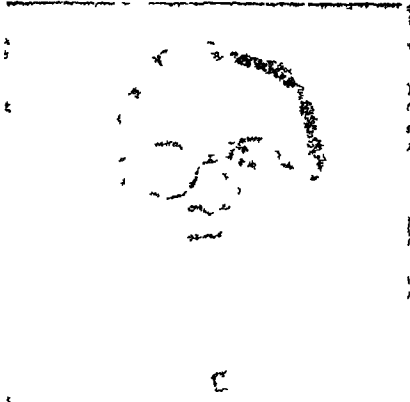
આધ્યમુરખીશ્રીઓ



શ્રી શાંતિલાલ મંગળદાસભાઈ
અમદાવાદ

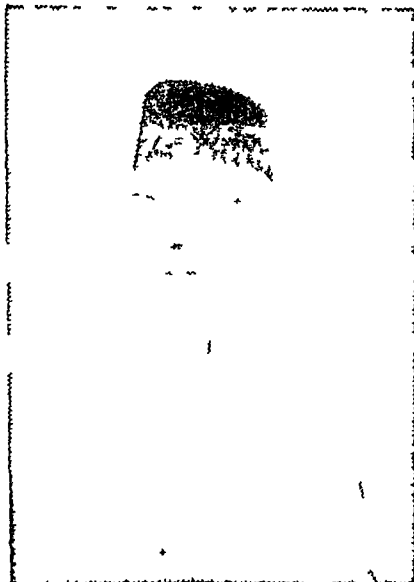


(સ્વ) શ્રી શામળભાઈ વેલહલભાઈ
વીરાણી-રાજકોટ



શ્રી ચોપરલાલ માવજીભાઈ-મહેતા

(સ્વ) શ્રી છગનલાલ શામળદાસ
લાવસાર અમદાવાદ.

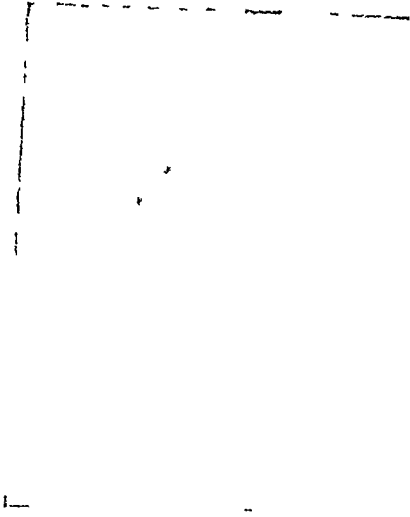


શ્રી રામજીભાઈ શામળજીભાઈ
વીરાણી-રાજકોટ.

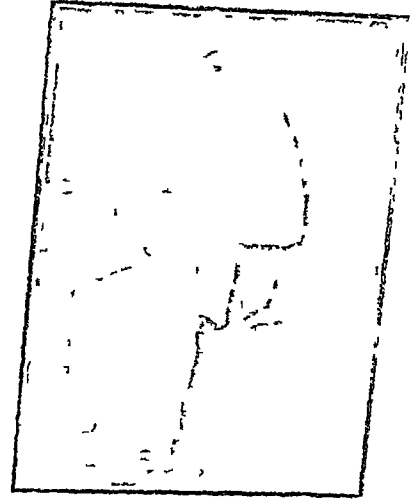


વચ્ચે વેઠેલા-લાલાજી કિશનચંદ્રજી સા જોહરી
ડમેલા-સુપુત્ર ચિ. મહેતાવચ્ચંદ્રજી સા
નાના-અનિલકુમાર જૈન દોયતા દિલ્હી

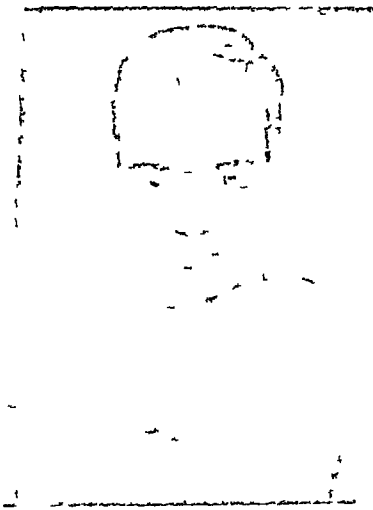
આધ્યમુરખીશ્રીઓ



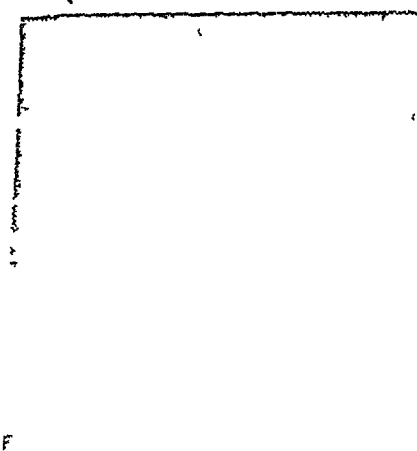
(સ્વ) શેઠશ્રી હરખચ દ કાલીદાસ વારિયા
અમદાવાદ



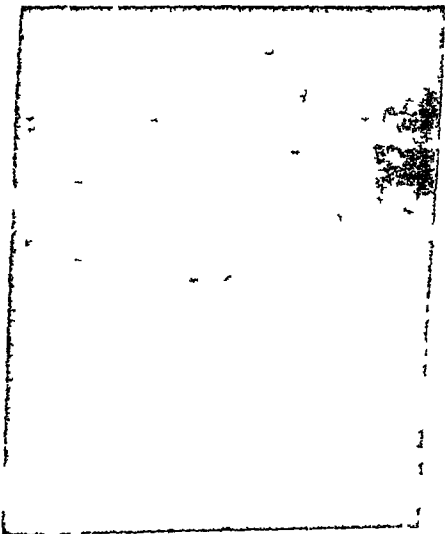
(સ્વ.) શેઠ રંગજીભાઈ મોહનલાલ શાહ
અમદાવાદ



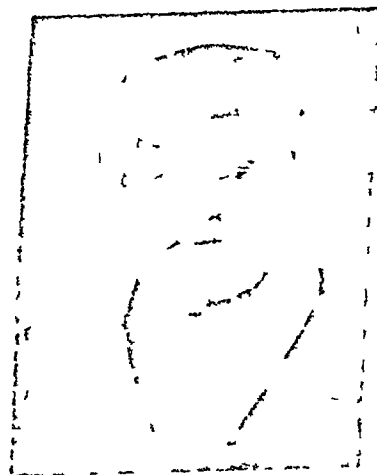
(સ્વ) શેઠશ્રી દિનેશભાઈ કાંતિલાલ શાહ
અમદાવાદ.



સ્વ. શેઠશ્રી જીવરાજભાઈ મૂલચ દભાઈ
ધાંગધા

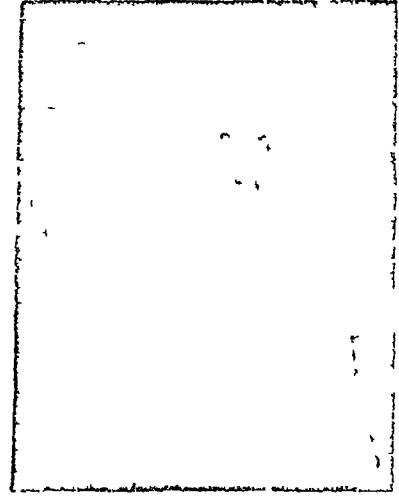
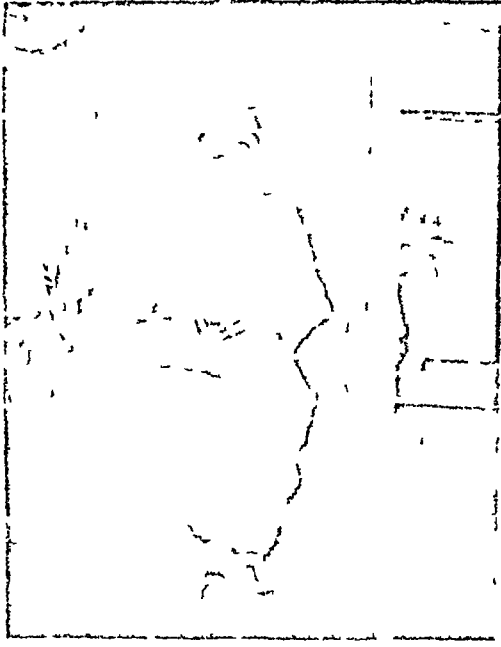


શેઠશ્રી જીવસિંગભાઈ પોચાલાલભાઈ
અમદાવાદ



સ્વ. શેઠશ્રી આત્મારામ માગુવાલ
અમદાવાદ

आद्यमुखाशी



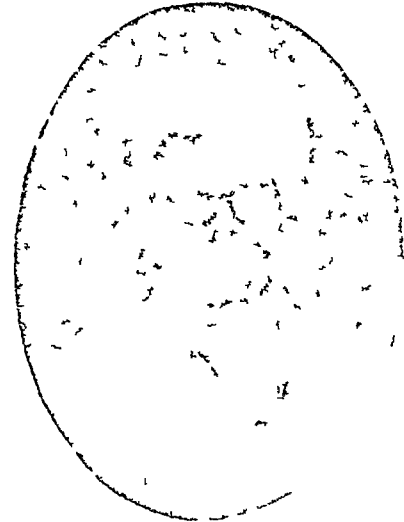
स्व. शेठश्री हरिलाल अनोपचंद शाळ
अंलात.

स्व. शेठ श्री ताराचंदजी साहेब गेलडा
मद्रास.



शेठश्री चीमनलालजी ऋखभचंदजी
अजीतवाले (सपरिवार)

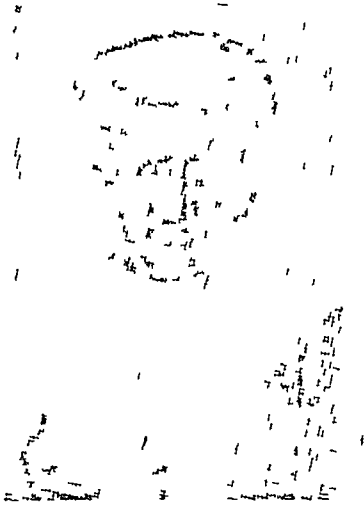
शेठ श्री कीशनलालजी फुलचंदजी लुणिया
बंगलोरवाले



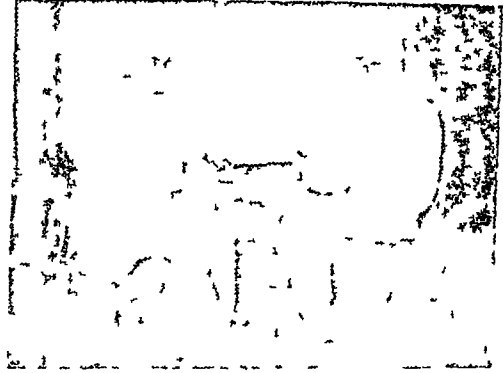
बच्चे वेठेला-मोटाभाड श्रीमान् मूलचंदजी
जवाहीरलालजी वरडिया
वाजुमा वेठेला-भाई मिश्रीलालजी वरडिया
उमेला-भाई पूनमचंदजी वरडिया

श्रीमान् शेठश्री
खींवराजजी सा. चोरडिया
मु० मद्रास

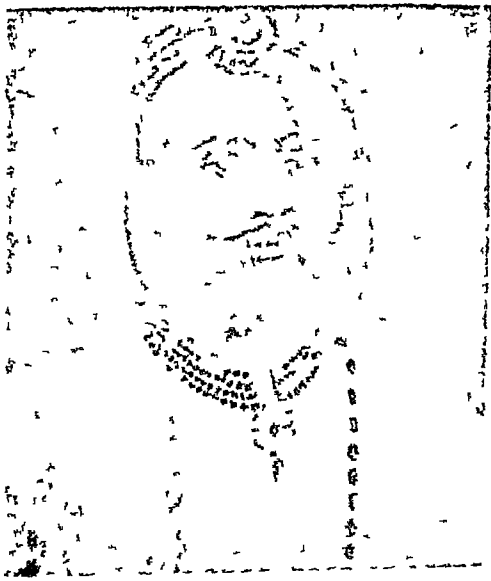
આવસુરુખીશ્રીઓ



પટેલ ડોસાભાઈ ગોપાલદાસ
સુ સાણંદ (જી. અમદાવાદ)



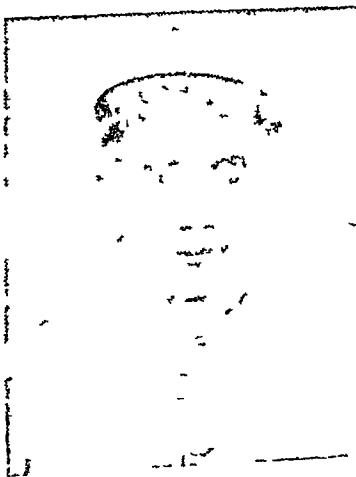
૧ અમીચંદલાઈ તથા
૨ ગીરધરલાઈ આંરવિયા સુ. જે ગણેશ



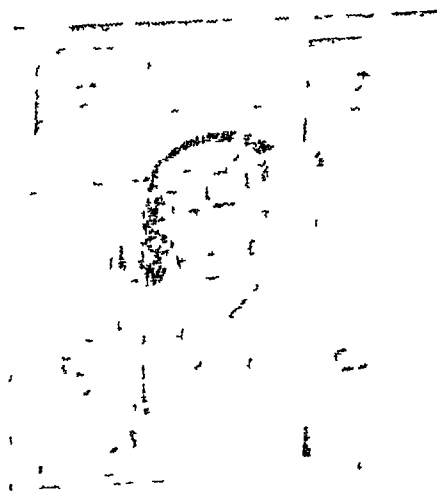
શાહજી શ્રી મોહીલાલજી ગલુન્ડિયા
સુ: ઉદયપુર



મદ્રાસવાલા સ્વગેસ્થ ન્યાયમૂર્તિ
રતીલાલલાઈ ભાયચંદલાઈ મહેતા



સ્વ. શેઠ માણેકચંદ નેમચંદ
સુ સાંગરોલ

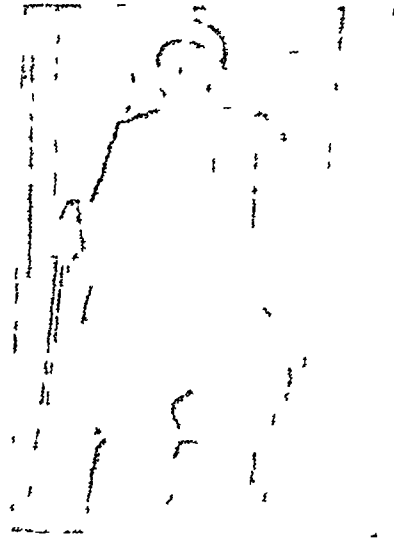


અમલનેર
પારખ છોગમલજી મુલતાનમલજી
શેઠ રઘુનાથમલજી. જેઠ વાણુલાલજી
પદ્માલાલજી, શેઠ સુનમનદજી

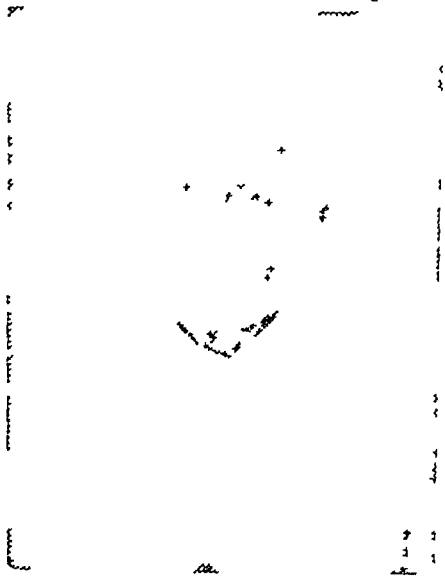
आद्यसुरव्वीथीओ



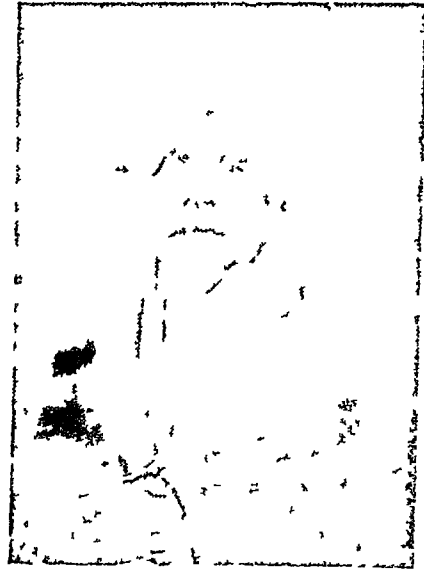
श्रीमान् शेठ मणीलाल पोपटलाल वोर
अमदावाद, जन्म ता १०-६-१९०४



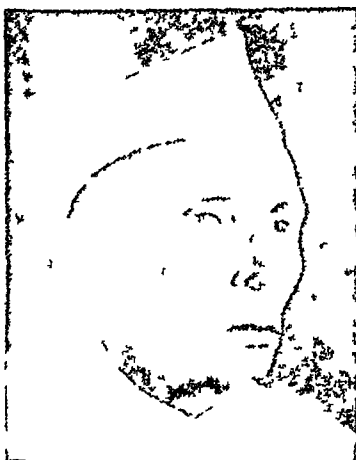
श्रीमान् शेठ लालाजी कपूरचन्द्रजी
नाहटा, मु. देहली



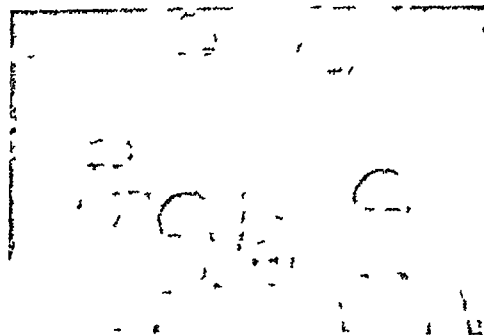
श्री मन्जलाल दुर्लालसाध पारेय
राजकोट.



केषरी हरजोविंद नैन्याँदसाध
राजकोट.



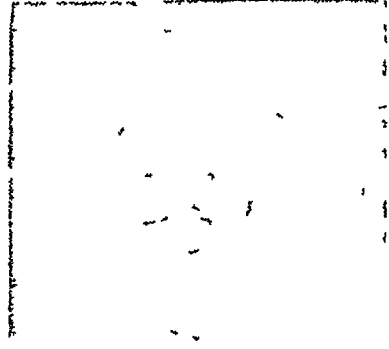
श्रीमान् मणीलाल केडुसाध
भालनपुरयाणा



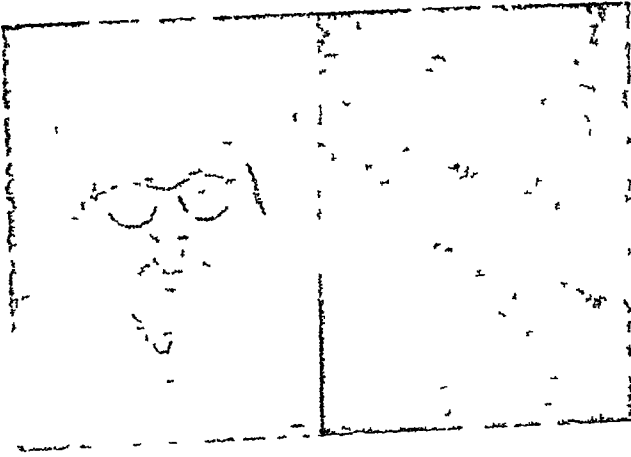
श्रीमान् लालाल पन्नालाल नाहटा
सपरिवार दिल्ली

आद्यमुखीश्रीओ

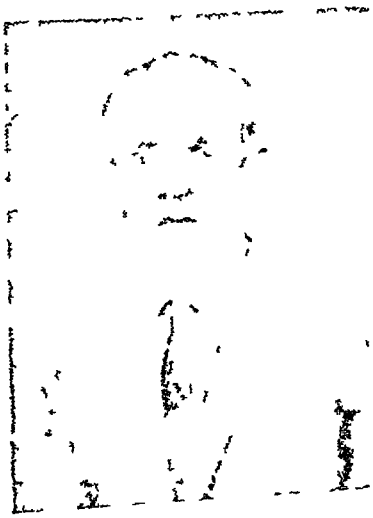
मानवता आद्य
मुखी शैशु श्री
भाणुकेलालभाई
अभुलभाई भड्डेता
घाटकेपर-मुभाई



श्रीमान् शैशु धनराजजी पन्नालालजी
जांगडा, मु. जालना (महाराष्ट्र)



शैशु श्री मिश्रीलालजी लालचंदजी सा. लुणिया शैशु प्रभुदासभाई भूखण्डभाई देशी
तथा शैशु श्री जेवंतराजजी अमदावाद राजकोट



अपेरी रसीकलाल भणुलाल भड्डेता
भद्रास



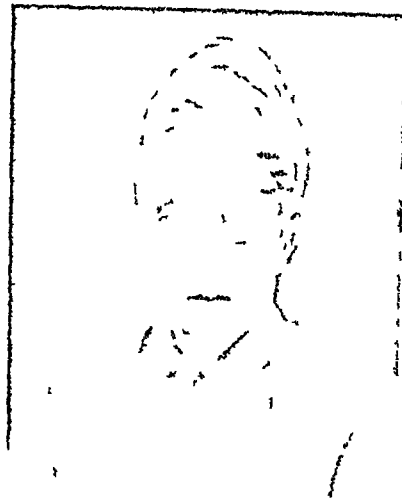
स्व. श्रीमान् शैशु श्री सुकनचंदजीसा
वालिया पाली मारवाड

આવમુરુબીશ્રીઓ

પાલનપુરવાલા

કોઠારી અમુલખચ દ મલુકચ દ

ભાનુભાઈ કેશવલાલ ભાઈ સાલી
પાલનપુર-મુખઈ

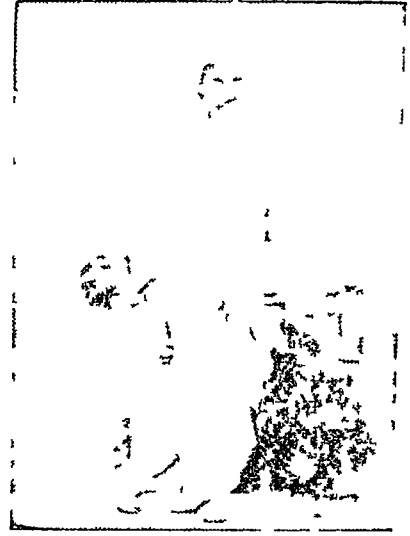
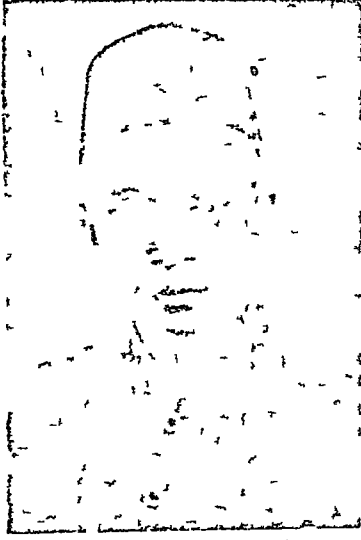


જેઠ શ્રી
ભેરુદાનજી ઘગરચંદર્જી
ઝેડિયા વીકાગર

ગોલાન લાઠાની જનારી લાગજો
ગવેરી-ઝેડાલી

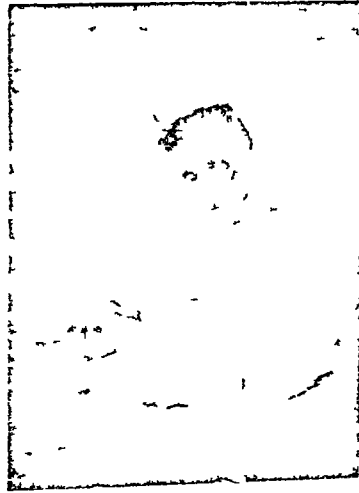
સોઠ શ્રી કાન્તીભાઈ જલવર ઝેડાજી
પાલનપુર

જાવમુરવ્વીશ્રીઓ

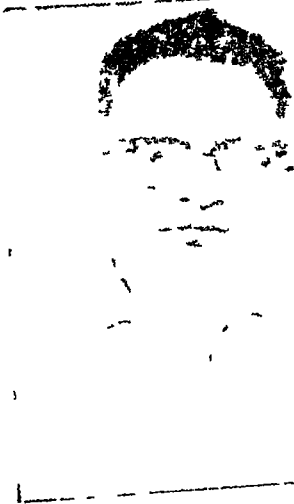


(સ્વ.) શેઠશ્રી ધારશીલાલ જીવણલાલ
બારસી

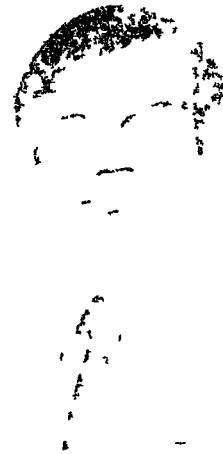
શ્રીમાન્ શેઠ જગજીવનલાલ રતનસીલાઈ
બગાડયા, મુ. દામનગર



શ્રી વિનોદકુમાર
વિરાણી
રાજકોટ



શેઠશ્રી દેવચંદલાઈ ફેણલાલલાઈ
વલાણી-મુરત



સ્વ. મુધીરલાઈ જય તીલાલ ઝવેરી
મુંબઈ.

जैनाचार्य जैनधर्मद्विवाकर पूज्यश्री घासीलालजी महाराज साहबने दशवैकालित सूत्र की आचारमणिमञ्जूषा नाम की टीका तैयार करके सर्व साधारण एवं विद्वान् मुनियों के अध्ययन के लिये पूर्ण सरलता कर दी है, पूज्यश्री के द्वारा जैनागमों की लिखी हुई टीकाओं में श्री दशवैकालिक सूत्र का प्रथम स्थान है। इस के दश अध्ययन हैं—

(१) प्रथम अध्ययन में भगवानने धर्म के स्वरूप अहिंसा, संयम और तप बतलाया है। इसकी टीका में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति और शब्दार्थ तथा अहिंसा, संयम और तप का विवेचन विशदरूपसे किया है। वायुकायसंयमके प्रसंग में, मुनि को सदोरकमुख-वस्त्रिका मुखपर बांधना चाहिए इस बात को भगवती सूत्र आदि अनेक शास्त्रों से तथा ग्रन्थों से सप्रमाण सिद्ध किया है। मुनि के लिए निरवद्य भिक्षा लेनेका विधान है। तथा भिक्षाके मधुकरी आदि छह भेदों का निरूपण किया है।

(२) दूसरे अध्ययन में संयम मार्ग में विचरते हुए नवदीक्षित का मन यदि संयम मार्गसे बाहर निकल जाय तो उसको स्थिर करनेके लिये रथनेमि और राजीमती के संवाद का वर्णन है एवं त्यागी अत्यागी कौन है वह भी समझाया है।

(३) तीसरे अध्ययन में संयमी मुनि को वाचन (५२) अनाचीर्णोका निवारण बतलाया गया है, क्यों कि वाचन अनाचीर्ण संयम के घातक है। इन अनाचीर्णों का त्याग करने के लिये आज्ञा निर्देश है।

(४) चौथे अध्ययन में—‘जो वाचन अनाचीर्णों का निवारण करता है वही छह काया का रक्षक हो सकता है’ इसलिए छहकाय के स्वरूप का निरूपण तथा उनकी रक्षा का विवरण है। मुनि अतना को त्यागे यतना को धारण करे। यतना मार्ग वही जान सकता है जिसे जीव अजीव का ज्ञान है। जो जीवादि का ज्ञाता है वह क्रम से मोक्षको प्राप्त करता है। पिछली अवस्था में भी चारित्र्य ग्रहण करनेवाला मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

(५) पांचवें अध्ययन में छहकाया का रक्षण निरवद्य भिक्षा ग्रहणसे होता है, अतः भिक्षा की विधी कही गई है।

(६) छठवें अध्ययनमें ‘निरवद्य भिक्षा लेने से अठारह स्थानों का शास्त्रानुसार आराधना करता है, उन अठारह स्थानों का वर्णन है। उनमें सत्य और व्यवहार भाषा बोलनी चाहिये।

(७) सातवें अध्ययन में ‘अठारहस्थानों का आराधना करनेवाले मुनिको कौनसी भाषा बोलनी चाहिये’ इसके लिये ४ भाषाओंका स्वरूप कहा गया है। उनमें सत्य और व्यवहार भाषा बोलनी चाहिये।

आठवें अध्ययन में ‘निरवद्य भाषा बोलनेवाला पांच आचाररूप निधानको पाता है’ अतः उस आचाररूप निधान का वर्णन है।

(९)नववे' अध्ययन में 'पांच आचार का पालन करने वाला ही विनयशील होता है' अतः विनय के स्वरूप का निरूपण किया है।

(१०) दशवे अध्ययन में—पहले कहे हुए नवों अध्ययनों में कही हुई विधिका पालन करने वाला ही भिक्षु हो सकता है' इसलिए भिक्षु के स्वरूप का वर्णन किया है।

निवेदक

समीर मुनि

*

(श्री दशवैकालिकसूत्रका सम्मतिपत्र)

॥ श्रीवीरगौतमाय नमः ॥

सम्मति-पत्रम्.

मए पंडियमुणि-हेमचंदेण य पंडिय-मूलचन्दवासवारापत्ता पडिय-रयण-मुणि-वासीलालेण विरइया सक्कय-हिंदी-भासाहि जुत्ता सिरि-दसवेयालिय-नाम सुत्तस्स आया-रमणिमंजूसा वित्ती अवलोइया, इमा मणोहरा अत्थि, एत्थ सद्दाणं अइसयजुत्तो अत्थो वण्णिओ विउजणाणं पाययजणाण य परमोवयारिया इम' वित्ती दीसइ ! आयारविसए वित्तीकत्तारेण अइसयपुव्वं उल्लेहो कडो, तहा अहिंसाए सरुवं जे जहा तहा न जाणंति तेमिं इमाए वित्तीए परमलाहो भविस्सइ, कत्तुणा पत्तेयविसयाणं फुडरुवेण वण्णणं कडं, तहा मुणिणो अरहत्ता इमाए वित्तीए अवलोयणाओ अइसयजुत्ता सिज्जइ ! सक्क-यल्लया सुत्तपयाणं पयच्छेओ य सुवोहदायगो अत्थि, पत्तेयजिण्णामुणो इमा वित्ती दट्ठवा । अम्हाणं समाजे एरिसविज्ज-मुणिरयणाणं सब्भाओ समाजस्स अहोभगं अत्थि, किं ? उत्तविज्जमुणिरयणाण कारणाओ जो अम्हाणं समाजो मुत्तप्पाओ अम्हकेरं साहिच्च च लुत्तप्पायं अत्थि तेसिं पुणोवि उदओ भविस्सइ जस्स कारणाओ भवियप्पा मोक्खस्स जोग्गो भवित्ता पुणो निव्वाणं पाविहिइ अओहं आयारमणि-मंजूसाए कत्तुणो पुणो पुणो धन्नवायं देमि- ॥

वि- सं १९९० फाल्गुन-
शुक्लत्रयोदशी मङ्गले
(अलवर स्टेट)

इड-
उवज्जाय-जडण-मुणी, आयारामो
(पंचनईओ)

श्री दशवैकालिक सूत्रनु सम्मति पत्र

श्रमणु सधना मदान आचार्य आगम वाग्धि सर्वतन्त्र स्वतत्र जैनाचार्य पूज्यश्री
आत्मारामजी मङ्गलाने आपेक्षा सम्मति पत्रने गुजराती अनुवाद

મેં તથા પંડિત મુનિ હેમચંદ્રજીએ પંડિત મૂલચંદ વ્યાસ (નાગૌરમારવાડ વાલા) દ્વારા મળેલી પંડિત રત્ન શ્રીધાસીલાલજી મુનિ વિરચિત સંસ્કૃત અને હિન્દી ભાષા સહિત શ્રીદશવૈકાલિક સૂત્રની આચારમણિમંજૂષા ટીકાનું અવલોકન કર્યું આ ટીકા સુંદર બની છે. તેમાં પ્રત્યેક શબ્દનો અર્થ સારી રીતે વિશેષ ભાવ લઇને સમજાવવામાં આવેલ છે

તેથી વિદ્વાનો અને સાધારણ ખુદ્ધવાળાઓ માટે પરમ ઉપકાર કરવાવાળી છે. ટીકા કરે મુનિના આચાર વિષયનો આરો ઉદ્દેશ કરેલ છે જે આધુનિક મતાવલંબી અહિ-સાના સ્વરૂપ ને નથી બાલુતા, દયામા પાપ સમજે છે તેમને માટે અહિંસા શુ વસ્તુ છે તેનું સારી રીતે પ્રતિપાદન કરેલ છે વૃત્તિકારે સૂત્રના પ્રત્યેક વિષયને સારી રીતે સમજાવેલ છે. આ વૃત્તિના અવલોકનથી વૃત્તિકારની અતિશય યોગ્યતા સિદ્ધ થાય છે.

આ વૃત્તિમા એક બીજી વિશેષના એ છે કે મૂલ સૂત્રની સંસ્કૃત છાયા હોવાથી સૂત્ર, સૂત્રના પદ અને પદચ્છેદ સુબોધ દાયક બનેલ છે.

પ્રત્યેક જ્ઞાસુએ આ ટીકાનું અવલોકન અવશ્ય કરવુ જોઈએ વધારે શુ કહેવુ. અમારા સમાજમા આવા પ્રકારના વિદ્વાન મુનિ રત્નનું હોવું એ સમાજનું અહોભાગ્ય છે આવા વિદ્વાન મુનિ રત્નોના કારણે સુમપ્રાય-સુતેલો સમાજ અને હુમપ્રાય એટલે લોપ પામેલું સાહિત્ય એ બંનેનો ફરીથી ઉદય થશે. જેનાથી ભાવિતાત્મા મોક્ષયોગ્ય બનશે અને નિર્વાણ પદને પામશે આ માટે અમે વૃત્તિકારને વારંવાર ધન્યવાદ આપીએ છીએ.

વિક્રમ સંવત ૧૯૯૦ કાલ્પજી શુકલ } ધધ
તેરસ મગળવાર (અલ્પવર સ્ટેટ) } ઉવજાયાજઈણુમુણીઆચારામો
પંચનધઓ

જૈનાગમવેત્તા જૈનધર્મદિવાકર ઉપાધ્યાય શ્રી ૧૦૦૮ શ્રી આત્મારામજી
મહારાજ તથા ન્યાય વ્યાકરણ કે જ્ઞાતા પરમ પંડિત મુનિ શ્રી ૧૦૦૭
શ્રી હેમચંદ્રજી મહારાજ, इन दोनों महात्माओंका दिया हुआ
श्री उपासकदशज्ञ सूत्रका प्रमाण पत्र निम्न प्रकार है -

સમ્મદ્વત્તં

સિરિ વીરનિઘ્વાણ-સંવચ્છર ૨૪૫૮ આસોઈ
(પુણ્ણમાસી) ૧૫ મુક્રવારો લુહિયાણાઓ ।

મણ મુણિહેમચંદેણ ય પંડિચરયણમુણિસિરિ ઘાસીલાલવિણિમ્મિયા સિરિસ્વાસગસુત્તસ્સ અગારધમ્મસજીવણીનામિયા વિત્તી પંડિચમૂલચન્દવાસાઓ અજ્જોવંત સુયા, સમોઈણં, ઇયં વિત્તી જહાણામં તહા મુણેવિ ધારેડ, સચ્ચં, અગારાણં તુ ઇમા જીવણ (સંજમજી-વણ) દાઈ એવ અત્થિ । વિત્તિકત્તૂણા મૂલસુત્તસ્સ ભાવો ઉજ્જુસેલીઓ ફુડીકઓ, અહય ઉવાસયસ્સ સામણ્ણવિસેસધમ્મો, ણયસિયવાયવાઓ' કમ્મપુરિસટ્ઠવાઓ સમણોવાસયસ્સ ધમ્મદહત્તા ય' ઇચ્છાઈવિસયા અર્સિંસ ફુડરીઈઓવણિયા, જેણ કત્તુણો પહિહાણ સુદ્ધુ-પ્પયારેણ પરિચઓ હોઈ, તદ્દ ઇહાસદિટ્ઠિઓવિ સિરિસમણસ્સ મગવઓ' મહાવીરસ્સ

समए वट्टमाण—भरहवासस्स य कत्तुणा विसयप्पयारेण चित्तं चित्तितं, पुणो सकयपाढीणं, वट्टमाणकाले हिन्दीणाभियाए भासाए भासीणं य परमोवयारो कडो, इमेण कत्तुणो अरिहता दीसइ कत्तुणो एय कज्जं परमप्पसंसणिज्जमत्थि । पत्तेयजणस्स मज्झत्थभावाओ अस्स सुत्तस्स अवलोयणमईव लाहप्पयं, अविउ सावयस्स तु (उ) इमं सत्थं सव्वस्समेव अत्थि, अओ कत्तुणो अणेगकोडिसो धण्णवाओ अत्थि जेहि अच्चंतपरिसमेण जयिण जणतोवरि असिमोवयारो कडो, अहय सावयस्स वारस नियमा उ पत्तेयजणस्स पढ्णिज्जा अत्थि, जेसि पहावओ वा गहणाओ आया निव्वाणाहिगारी भवइ, तहा भवियव्वयावओ पुरिसकारपरकमवाओ य अवस्समेव दंसणिज्जो, किं बहुणा इमीसे वित्तीए पत्तेयविसयस्स फुडसद्देहि वण्णणं कयं जइ अन्नोवि एवं अम्हाणं पसुत्तप्पाए समा जेविज्जं भवेज्जा तथा नाणस्स चरित्तस्स तहा सवस्सय खिप्पं उदयो भविस्सइ' एव हं मन्ने ॥

भवईओ—

उवज्झाय—जपणमुणि—आयाराम, पंचनईओ

卐

सम्मतिपत्र (भाषान्तर)

श्री वीर निर्वाण सं० २४५८ आसो

शुक्रा (पूर्णिमा) १५ शुक्रवार लुधियाना

मैंने और पंडितमुनि हेमचन्द्रजीने पंडितरत्नमुनिश्री घासीलालजीकी रची हुई उपासक-दशांग सूत्रकी गृहस्थधर्ममंजीवनी नामक टीका पंडित मूलचन्द्रजी व्याससे आद्यो-पान्त सुनी है। यह वृत्ति यथानाम तथागुणवाली—अच्छी वनी—है। सच यह गृह-स्थोंके तो जीवनदात्रीसंयमरूप जीवनको देनेवाली-ही है। टीकाकारने मूलसूत्रके भावोंको सरल रीतिसे वर्णन किया है, तथा श्रावकका सामान्य धर्म क्या है ? और विशेष धर्म क्या है ? इसका खुलासा इस टीकामें अच्छे ढंगसे बतलाया है। स्याद्वादका स्वरूप कर्म—पुरुषार्थ वाद और श्रावकको धर्मके अन्दर दृढता किम प्रकार रखना, इत्यादि विषयोंका निरूपण इसमें भली भाँती किया है। इससे टीकाकारके प्रतिभा खूब झलकती है। ऐतिहासिक दृष्टिसे श्रमण भगवान् महावीरके समय जैनधर्म किस जाहोजलाली पर था ! और वर्तमान समय जैनधर्म किम स्थितिमें पहुँचा है ? इस विषयका तो ठीक चित्र ही चित्रित कर दिया है। फिर सरकृत जानने-वालोंको तथा हिन्दी भाषाके जाननेवालोंको भी पुग लाभ होगा, क्योंकि टीका संस्कृत है उसकी सरल हिन्दी कर्दी गई है। इसके रहने से कर्त्तांगी योग्यताका पता लगता है कि वृत्तिकारने रामझानेका कैसा अच्छा प्रयत्न किया है।

टीकाकारका यह कार्य परम प्रशंसनीय है । इस सूत्रको मध्यस्थ भावसे पढ़ने वालोंको परम लाभकी प्राप्ति होगी । क्या कहे श्रावकों (गृहस्थों) का तो यह सूत्र सर्वस्व ही है, अतः टीकाकारको कोटिशः धन्यवाद दिया जाता है, जिन्हींने अत्यन्त परिश्रमसे जैन जनताके ऊपर असीम उपकार किया है । इसमें श्रावकके वारह नियम प्रत्येक पुरुषके पढ़ने योग्य है' जिनके प्रभावसे अथवा यथायोग्य ग्रहण करनेसे आत्मा मोक्षका अधिकारी होता है । तथा भवितव्यतावाद और पुरुषकार पराक्रमवाद हरएकको अवश्य देखना चाहिये । कहांतक कहे इस टीकामें प्रत्येक विषय सम्यक् प्रकारसे बताये गये हैं । हमारी सुप्तप्राय (सोई हुईसी) समाजमें अगर आप जैसे योग्य विद्वान् फिर वी कोई होंगे तो ज्ञान चारित्र तथा श्रीसंघका शीघ्र उदय होगा, ऐसा मैं मानताहूँ—

आपका

उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम पंजाबी

इसी प्रकार लाहोरमें विराजते हुए पण्डितवर्य विद्वान् मुनिश्री १००८

श्री भागचन्दजी महाराज तथा एं. मुनिश्री त्रिलोकचन्दजी

महाराजके दिये हुए, श्री उपासकदशाङ्ग सूत्रके

प्रमाणपत्रका हिन्दी सारांश निम्न प्रकार है

श्री श्री स्वामी घासीलालजी महाराज कृत श्री उपासकदशाङ्ग सूत्रकी संस्कृत टीका व भाषाका अवलोकन किया, यह टीका अतिरमणीय व मनोरञ्जक है' इसे आपने बड़े परिश्रम व पुरुषार्थसे तैयार किया है सो आप धन्यवादके पात्र हैं । आप जैसे व्यक्तियोंकी समाजमें पूर्ण आवश्यकता है आपकी इस लेखनी से समाजके विद्वान् साधुवर्ग पढ़कर पूर्ण लाभ उठावेगे, टीकाके पढ़नेसे हमको अत्यानन्द हुआ, और मनमें ऐसे विचार उत्पन्न हुए कि हमारी समाजमें भी ऐसे २ सुयोग्य रत्न उत्पन्न होने लगे—यह एक हमारे लिये बड़े गौरवकी बात है ।

वि. सं- १९८९ मा. आश्विन

कुष्णा १३ वार भौम लाहोर.

श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र की 'अनगार धर्माऽमृतवर्षिणी' टीका पर

जैनदिवाकर साहित्यरत्न जैनागमरत्नाकर परमपूज्य श्रेष्ठ

जैनाचार्य श्री आत्मारामजी महाराजका

सम्मतिपत्र

लुधियाना, ता. ४-८-५१

मैंने आचार्यश्री घासीलालजी म द्वारा निर्मित 'अनगार-धर्माऽमृत-वर्षिणी टीका वाले श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्रका मुनि श्री रत्नचन्द्रजीसे आद्योपान्त श्रवण किया ।

यह निःसन्देह कहना पडता है कि यह टीका आचार्यश्री घासीलालजी म. ने बड़े परिश्रम से लिखी है। इसमें प्रत्येक शब्दका प्रामाणिक अर्थ और कठिन स्थलों पर सार-पूर्ण विवेचन आदि कई एक विशेषताये हैं। मूल स्थलोंको सरल बनाने में काफी प्रयत्न किया गया है, इससे साधारण तथा असाधारण सभी संस्कृतज्ञ पाठकों को लाभ होगा ऐसा मेरा विचार है।

मैं स्वाध्यायप्रेमी सज्जनों से यह आशा करूँगा कि वे वृत्तिकारके परिश्रमको सफल बनाकर शास्त्रमें दी गई अनमोल शिक्षाओं से अपने जीवनको शिक्षित करते हुए परम-साध्य मोक्षको प्राप्त करेंगे।

श्रीमान्जी जयवीर

आपकी सेवामे पोष्ट द्वारा पुस्तक भेज रहे हैं और इसपर आचार्यश्रीजी की जो सम्मति है वह इस पत्रके साथ भेज रहे हैं पहुंचने पर समाचार देवे।

श्री आचार्यश्री आत्मारामजी म ठाने ६ सुख शान्तिसे विराजते है। पूज्य श्री घासीलालजी म. सा. ठाने ४ को हमारी ओरसे वन्दना अर्जकर सुखशाता पूछे।

पूज्य श्री घासीलालजी म. जी का लिखा हुआ (विपाकसूत्र) महाराजश्रीजी देखना चाहते हैं इसलिये १ कांपी आप भेजने की कृपा करें; फिर आपको वापिस भेज देंगे आपके पास नहीं हो तो जहांसे मिले वहांसे १ कांपी जरूर भिजवाने का कष्ट करे योग्य सेवा लिखते रहे।

निवेदक

प्यारेलाल जैन

लुधियाना ता. ४-८-५१

जैनागमवारिधि-जैनधर्मद्विवाकर-उपाध्याय-पण्डित-मुनि

श्रीआत्मारामजी महाराज (पंजाव) का आचाराङ्गसूत्र की

आचारचिन्तामणि टीका पर

सम्मति-पत्र ।

मैंने पूज्यवर्य श्रीघासीलालजी (महाराज) की बनाई हुई श्रीमद् आचाराङ्गसूत्र के प्रथम अध्ययन की आचारचिन्तामणि टीका सम्पूर्ण उपयोगपूर्वक मुनी।

यह टीका-न्याय सिद्धान्त से युक्त, व्याकरण के नियमसे निबद्ध है। तथा इसमें प्रसङ्ग २ पर क्रम से अन्य सिद्धान्त का संग्रह भी उचित रूप से मालूम होता है।

टीकाकारने अन्य सभी विषय सम्यक् प्रकार में स्पष्ट किये हैं, तथा प्रौढ विषयों का विशेषरूप से संस्कृत भाषा में स्पष्टनापूर्वक प्रतिपादन अद्विक मनोरंजक हैं, एतदर्थ आचार्य महोदय धन्यवाद के पात्र है।

मैं आशा करता हूँ कि—जिज्ञासु महोदय इसका मली भॉति पठन द्वारा जैनागम सिद्धान्तरूप अमृत पी पी कर सब को हर्षित करेंगे, और इसके मनन से दक्ष जन चार अनुयोगों का स्वरूपज्ञान पावेंगे। तथा आचार्यवर्य इसी प्रकार दूसरे भी जैनागमों के विशद विवेचना द्वारा श्वेताम्बर—स्थानकवासी समाज पर महान् उपकार कर यशस्वी बनेंगे।

वि. सं. २००२
मृगसर सुदि १

जैनमुनि—उपाध्याय आत्माराम
लुधियाना (पंजाब)

— : * : —

शुभमस्तु ॥

वीकानेरवाला समाजभूषण शास्त्रज्ञ भेरुदानजी शेठिआनो अभिप्राय

*

आप जो शास्त्रका कार्य कर रहे हैं यह बड़ा उपकारका कार्य है। इससे जैनजनता को काफी लाभ पहुँचेगा।

(ता. २८-३-५६ ना पत्रगांधी)

॥ श्री ॥

जैनागमवार्त्ति—जैनधर्मदिवाकर—जैनाचार्य—पूज्य—श्री आत्मारामजी—

महाराजाना पठचनद- (पंजाब) स्थानमनुत्तरोपपातिकसूत्राणा—

सर्थबोधिनीनामकटीकायामिदम्—

सम्पत्तिपत्रम्.

आचार्यवर्यैः श्री वासीलालमुनिभिः सङ्कलिता अनुत्तरोपपातिकसूत्राणामर्थबोधिनी-
नाम्नी सस्कृतवृत्तिरूपयोगपूर्वकं सङ्कलाऽपि स्वशिष्यमुखेनाऽथापि मया, यं हि वृत्तिर्मु-
निवरस्य वैदुष्यं प्रगटयति । श्रीगङ्गिर्मुनिभिः सूत्राणामर्थान् स्पष्टयितुं यः प्रयत्नो व्यधा-
यि तदर्थमनेकशो धन्यवादानर्हन्ति ते । यथा चेयं वृत्तिः सरला मुबोधिनी च तथा सारव-
त्यपि । अस्याः स्वाध्यायेन निर्वाणपदमश्रीपुनिर्वाणपदमनुसरद्भिर्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्येषु प्रय-
तमानैर्मुनिभिः श्रावकैश्च ज्ञान दर्शन चारित्र्याणि सम्यक् सम्प्राप्यात्मानस्तत्र प्रवर्तयिष्यन्ते ।

आशासे श्रीमदाशुक्रविर्मुनिवरो गीर्वाणवाणीजुपां विदुपां मनस्तोपाय जैनागमसूत्राणां
साराविवोधाय च अन्येषामपि जैनागमानामित्थ सरलाः मुस्पष्टाश्च वृत्तीर्विधाय तांस्तान्
सूत्रग्रन्थान् देवगिरा मुस्पष्टयिष्यति ।

अन्ते च “मुनिवरस्य परिश्रमं सफलयितुं सरलां मुबोधिनी चेमां सूत्रवृत्तिं स्वाध्या-
येन सनाथयिष्यन्त्यवश्यं सुयोग्या हंसनिष्ठाः पाठकाः । ” इत्याशास्ते—

विक्रमाब्द २००२
श्रावणकृष्णा प्रतिपदा
लुधियाना

उपाध्याय आत्मारामो जैनमुनिः ।

ऐसेही :—

मध्यभारत सैलाना—निवासी श्रीमान् रतनलालजी डोसी श्रमणोपासकजैन लिखते हैं कि:—

श्रीमान की की हुई टीकावाला उपासकदशांग सेवक के दृष्टि-गत हुआ, सेवक अभी उसका मनन कर रह है यह ग्रन्थ सर्वांग-सुन्दर एवम् उच्चकोटि का उपकारक है।

निरयावलिकासूत्रका सम्मतिपत्र

आगमनवारिधि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-जैनाचार्य-पूज्यश्री

आत्मारामजी महाराजकी तरफ का आया हुआ

सम्मतिपत्र

लुधियाना. ता. ११ नवम्बर ४८

श्रीयुत गुलाबचन्दजी पानाचंदजी । सादर जयजिनेन्द्र ।।

पत्र आपका मिला ! निरयावलिका विषय पूज्य श्रोजीका स्वास्थ्य ठीक न होनेसे उनके शिष्य प. श्री हेमचन्द्रजी महाराजने सम्मति पत्र लिख दिया हैं आपको भेज रहे हैं ! कृपया एक कोपी निरयावलिका की ओर भेज दीजिये और कोई योग्य सेवा कार्य लिखते रहे !

भवदीय

गुजरमल-वलदंतराय जैन

सम्मति:

(लेखक जैनमुनि प. श्री हेमचन्द्रजी महाराज)

सुन्दरबोधिनीटीकया समलङ्कृतं हिन्दी-गुर्जरभाषानुवादसहितं च श्रीनिरयावलिका-सूत्रं मेधाविनामल्पभेदसां चोपहाक भविष्यतीति सुदृढं मेऽभिमतम्, सस्कृतटीकेयं सरला सुबोधा मुल्लिता चात एव अन्वर्थनाम्नी चाप्यस्ति । सुगमत्वात् प्रत्येकदुर्वोधपद व्याख्यायुतत्वाच्च टीकेषा सस्कृतसाधारणज्ञानवतामप्युपयोगिनी भाविनीत्यभिप्रैमि । हिन्दी-गुर्जरभाषानुवादादपि एतद्भाषाविज्ञानां महीयसे लाभाय भवेतामिति सम्यक् संभावयामि ।

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवार पूज्यश्री घामीलालजी महाराजानां परि श्रमोऽयं प्रशसनीयो धन्यवादाहार्थं ते मुनिसत्तमाः । एवमेव श्रीसमीरमल्लजी-श्री कन्हैयालालजी मुनिवरेष्य-योर्नियोजनकार्यमपि श्लाघ्यं, तावपि च मुनिवरो धन्यवादाहो स्तः ।

सुन्दरप्रस्तावनाविषयानुक्रमादिना समलङ्कृते सूत्ररत्नेऽस्मिन् यदि शब्दकोपोऽपि दत्तः स्यात्तर्हि वरतरं स्यात् । यतोऽस्यावश्यकतां सर्वऽप्यनेकषविद्वांसोऽनुभवन्ति ।

पाठकाः सूत्रस्याध्ययनाध्यापनेन लेखकनियोजकमहोदयानां परिश्रमं सफल्यिष्यन्ती-त्यागास्महे । इति ।

श्री उपासकदशाङ्ग सूत्र परत्वे जैन समाजना अग्रगण्य जैनधर्मभूषण
महान विद्वान् संतोष् तेमज विद्वान् श्रावकोष् तन्मतिथो सगर्भी छे
तेमना नाधो नीचे प्रमाणे छे

- (१) लुधियाना—सम्बत् १०८९, आश्विन पूर्णिमा का पत्र, श्रुतज्ञान के भंडार आगम-
रत्नाकर जैनधर्मदिवार श्री १००८ श्री उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज,
तथा न्यायव्याकरणवेत्ता श्री १००७ तच्छिष्य श्री मुनि हेमचन्द्रजी महाराज.
- (२) लाहौर—वि० सं० १९८९ आश्विन वदि १३ का पत्र, पण्डित रत्न श्री १००८
भागचन्द्रजी महाराज तथा तच्छिष्य पण्डित रत्न श्री १००७ श्री त्रिलोकचंद्र जी
महाराज.
- (३) खिचन से ता. ९-११-३६ का पत्र, क्रियापात्र स्थविर श्री १००८ श्री भारतरत्न
श्री समरथमलजी महाराज.
- (४) वालाचौर—ता १४-११-३६ का पत्र, परम प्रसिद्ध भारतरत्न श्री १००८ श्री
शतावधानीजी श्री रत्नचन्द्रजी महाराज.
- (५) बम्बई—ता. १६-११-३६ का पत्र, प्रसिद्ध कवीन्द्र श्री १००८ श्री कि नानचन्द्रजी
महाराज.
- (६) आगरा—ता. १८-११-३६, जगद् वल्लभ श्री १००८ श्री जैन दिवाकर श्री
चौथमलजी महाराज, गुणवन्त गणीजी श्री १००७ श्री साहित्य प्रेमी श्री प्यार
चन्द्रजी महाराज.
- (७) हैदराबाद (दक्षिण) २५-११-३६ का पत्र स्थविरपदभूषित भाग्यवान् पुरुष श्री तारा-
चन्द्रजी महाराज तथा प्रसिद्ध वक्ता श्री १००७ श्री सोभागमलजी महाराज.
- (८) जयपुर—ता २६-११-३६ का पत्र, संप्रदाय के गौरववर्धक आंतरवभावी श्री १००८
श्री पूज्य श्री खूबचन्द्रजी महाराज
- (९) अम्बाला—ता. २९-११-३६ का पत्र, परम प्रतापी पंजाब केशरी श्री १००८
श्री पूज्य श्री रामजी महाराज.
- (१०) सेठाना—ता २९-११-३६ का पत्र, शास्त्रों के ज्ञाता श्रीगान् ग्दलालजी डोसी
- (११) खीचन—ता ०-११-३६ का पत्र, पंडितरत्न न्यायतीर्थ मुश्रावक श्रीयुद् माधव-
लालजी

ता. २५ ११-३६

सादर जय जिनैन्द्र

आपका भेजा हुआ उपासक दशांग सूत्र तथा पत्र मिला यहां विराजित प्रवर्तक

वयोवृद्ध श्री १००८ श्री ताराचंदजी महाराज पण्डित श्री किशनलालजी महाराज आदि
 ठाण १४ सुख शांति में विराजमान हैं आपके वहां विराजित जैनशास्त्राचार्य पूज्यपाद
 श्री १००८ श्री घासीलाल जी महाराज आदि ठाणा तब से हमारी वन्दना अर्ज कर
 सुख शांति पूछे आपने उदासकदशांग सूत्र के विषय में यहां विराजित मुनिवरों की
 सम्मती मगाई उसके विषय में वहां श्रीगोभागमजी महाराज ने फाम्याया है कि वर्तमान
 में स्थानकवासी समाज में अनेकानेक विद्वान मुनि महाराज मौजूद हैं। मगर जैनशास्त्र
 की वृत्ति रचनेका साहस जैसा घासीलालजी महाराज ने किया है वैसा अन्य ने किया हो
 ऐसा नजर नहीं आता दूसरा यह शास्त्र उपयोगी तो यों है संस्कृत प्राकृत हिन्दी और
 गुजराती भाषा होनेसे चारों भाषा वाले एक ही पुस्तक से लाभ उठा, सकते हैं जैन
 समाज में ऐसे विद्वानों का गौरव बढे यही शुभ कामना है आशा है कि स्थानकवासी
 संघ विद्वानों की कदर करना सीखेगा। योग्य लिखे शेष शुभ

भवदीय

जयनलाल रामलाल कीमती

+

आगरा से:—

श्रीजैनदिवाकर प्रसिद्धवदता जगद्वल्लभ मुनि श्रीचोथमलजी महाराज व पंडित
 रत्न सुव्याख्यानी गणीजी श्री प्यारचन्द जी महाराज ने इस पुस्तक को अतीव पसन्द
 की है।

श्रीमान् न्यायतीर्थ पण्डित

माधवलालजी खीचन से लिखते हैं कि:—

उन पंडितरत्न पद्मभाग्यवंत पुरुषों के सामने उनकी अगाधतत्त्वगवेपणा के विषय
 में मैं नगण्य क्या सम्मति दे सकता हूँ :

परन्तु:—

मेरे दो मित्रों ने जिन्होंने इसको पढा है बहुत सराहना की है वारतव में ऐसे
 उत्तम व सबके समझाने योग्य ग्रन्थों की बहुत आवश्यकता है और इस समाज का तो
 ऐसा ग्रन्थ ही गौरव बढा सकते है—ये दोनों ग्रन्थ वास्तव में अनुपम है ऐसे ग्रन्थरत्नोंके
 सुप्रकाशने यह समाज अमावास्या के घोर अन्धकार में दीपावली का अनुभव करती हुई
 महावीर के अमूल्य वचनोंका पान करती हुई अपनी उन्नति में अग्रसर होती रहेगी।

—: :-

ता. २०-११-३६

अन्जाना (पंजाब)

पत्र आपका मिला श्री श्री १००८ पंजाब केजरी पूज्य श्री काशीरामजी महाराज की सेवा में पढ़कर सुना दिया। आपकी भेजी हुई उपासकदशाङ्ग सूत्र तथा गृहिधर्म-कल्पतरु की एक प्रति भी प्राप्त हुई है, ऐसे ग्रन्थरत्नों के प्रकाशित करवाने की बड़ी आवश्यकता है। यह पुरुषार्थसराहनीय है।

आपका

शशिभूषणशास्त्री

अध्यापक जैन हाई स्कूल

अम्बाला शहर.

शान्त स्वभावी वैराग्य मूर्ति तत्व वारिधि, धैर्यवान श्री जैनाचार्य पूज्यवर श्री श्री १००८ श्री खूबचन्दजी महाराज साहेबने सूत्र श्री उपासक दशाङ्गजी को देखा। आपने फरमाया कि पण्डित मुनी वासीलालजी महाराज ने उपासक दशाङ्ग सूत्रकी टीका लिखने में बड़ा ही परिश्रम किया है। इस समय इस प्रकार प्रत्येक सूत्रोंकी संशोधक पूर्वक सरल टीका और शुद्ध हिन्दी अनुवाद होनेसे भगवान निर्ग्रन्थों के प्रवचनों के अपूर्व रस का लाभ मिल सकता है।

*

बालाचोर से भारतरत्न शतावधानी पंडित मुनि श्री १००८ श्री रतनचन्दजी फरमाते हैं कि :-

उत्तरोत्तर जोतां मूल सूत्रनी संस्कृतटीकाओ रचवायां टीकाकारे स्तुत्य प्रयास कर्यो छे, जे स्थानकवामी समाज माटे मगरुरी लेवा जेवुं छे, वली करांचीना श्री सवे सारा कागलमां अने सारा टाइपमां पुस्तक छपावी प्रगट कर्युं छे जे एक प्रकारनी साहित्य सेवा बजावी छे।

*

बम्बई शहर में विराजमान कवि मुनि श्री नानचन्द जी महाराजने फरमाया है कि पुस्तक सुन्दर है प्रयास अच्छा है।

*

खीचन से रथविर क्रिया पात्र मुनि श्री रतनचन्दजी महाराज और पंडितरत्न मुनि सम्रथमलजी महाराज श्री फरमाते हैं कि-चिद्वान महात्मा पुरुषोंका प्रयत्न सराहनीय है क्या जैनागम श्रीमद् उपासक दशाङ्ग सूत्र की टीका, एवं उसकी सरल सुबोधनी शुद्ध हिन्दी भाषा बड़ी ही सुन्दरता से लिखी है।

*

श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री श्री श्री १००८ जैनधर्म दिवाकर जैनागमरत्नाकर श्रीमज्जैनाचार्य श्री पूज्य

घासीलालजी महाराज चरणवन्दन स्वीकार हो ।

अपरञ्च समाचार यह है कि आपके भेजे हुए ९ गास्र मास्टर सोभालालजी के द्वारा प्राप्त हुए, एतदर्थ धन्यवाद ! आपश्रीजीने तो ऐसा कार्य किया है जो कि हजारों वर्षों से किसी भी स्थानकवासी जैनाचार्य ने नहीं किया ।

आपने स्थानकवासीजैनसमाज के ऊपरजो उपकार किया है वह कदापि भुलाया नहीं जा सकता और नहीं भुलाया जा सकेगा ।

हम तीनों मुनि भगवान महावीर से अथवा शासनदेव से प्रार्थना करते हैं कि आपकी इस वज्रमयी लेखनी को उत्तरोत्तर शक्ति प्रदान करे ता कि आप जैन समाज के ऊपर और भी उपकार करते रहे और आप चिरञ्जीव हों ।

हम हैं आप के मुनि तीन
उदपुर मुनि सत्येन्द्रदेव—मुनि लखपतराय—मुनि पद्मसेन
*

इतवारी बाजार

नागपुर ता. १९-१२-५६

प्रखर विद्वान जैनाचार्य मुनिराज श्री घासीलालजी महाराजद्वारा जो आगमोद्धार हुआ और हो रहा है सचमुच महाराजश्री का यह स्तुत्य कार्य है । हमने प्रचारकजी के द्वारा नौ सूत्रों का सेट देखा और कइ मार्मिक रथलो को पढा, पढ कर विद्वान मुनिराज-श्री की शुद्ध श्रद्धा तथा लेखनीके प्रति हार्दिक प्रमन्नता फट पडी ।

वास्तव में मुनिराज श्री जैन समाज पर ही नहीं उतर मनाज पर भी महा उपकार कर रहे हैं । जान किसी एक समाज का नहीं होता वह सभी समाज की अमोल निधि है जिसका एक एक सेट हर शहर गांव और घर घर में होना आवश्यक है ।

साहित्यरत्न

गोहनमुनिसोहनमुनि जैन

श्रमण सधना प्रचार मंत्री पण्डित देशरी महाराज श्री प्रेमचन्द्र महाराज
नेत्रोश्री राजकौटमां पधारेलो हुता त्यारे तेओना तग्दथी शास्त्रोने माटे जेमलो अतिप्राय

शास्त्रोद्वार सुमिति तग्दथी पूज्यपाद शास्त्र वारिधि पठितगाज स्वामीश्री घासीला-
लाल महाराजद्वारा शास्त्रोद्धारुने जे कार्य थन ग्यु छे ते कार्य जैन समाज तेमा पास
करीने स्थानकवासी जैन समाजने माटे भूणभूत मौलिक सन्द्विनिनी जटने गजधुन करवा
वाणुं छे

नेटका पाकर आ कार्य अति प्रशसनीय छे माटे हरेक व्यक्तिने तेमा यथाशक्ति
भोग देवानी पास आवश्यकता छे अने तेथी ओ राजीगः कार्य जटथी जटरी संपूर्ण पने
पार पाडी शक्य अने न नता श्रुतजानने लाभ भेणवी शके.

દરીયાપુરી સંપ્રદાયના પૂજ્ય આચાર્ય શ્રી ઇશ્વરલાલજી મહારાજ સાહેબના
સૂત્રો સંબંધે વિચારો
નમામિ વીરં ગિરી સારધીરં

પૂજ્ય પાદ જ્ઞાન પ્રવરશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ તથા પંડિતશ્રી કનૈયાલાલજી મહારાજ
આદિ થાણા છની સેવામાં-

અમદાવાદ શાહપુર ઉપાશ્રયથી મુનિ દયાનંદજીના ૧૦૮ પ્રણિપાત
આપ સર્વે થાણાઓ સુખ સમાધિમાં હશે નિરંતર ધર્મધ્યાન ધર્મારાધનમાં લીન હશે.
સૂત્ર પ્રકાશન કાર્ય ત્વરીત થાય એવી ભાવના છે દશવૈકલિક તથા આચારાગના એક
એક ભાગ અહીં છે ટીકા ખૂબ સુંદર, સરળ અને પંડિતજનોને સુપ્રિય થઈ પડે તેવી છે.
સાથે સાથે ટીકા વીનાના મૂળ અને અર્થ સાથે પ્રકાશન થાય તો શ્રાવકગણુ તેનો વિશેષ
લાભ લઈ શકે. અત્રે પૂજ્ય આચાર્ય ગુરૂદેવને આખે મોતીયો ઉતરાવ્યો છે અને સાફ
છે એજ

આસો શુદ્ધ ૧૦, મંગળવાર ત. ૨૫-૧૦-૫૫

પુનઃ પુનઃ શાતા ઇચ્છતો,
દયા મુનિના પ્રણિપાત.

*

દરીયાપુરી સંપ્રદાયના પંડિત રત્ન ભાઈચંદ્રજી મહારાજનો અભિપ્રાય
શ્રી

રાણપુર તા. ૧૬-૧૨-૧૯૫૫

પૂજ્યપાદ જ્ઞાનપ્રવર પંડિતરત્ન પૂજ્ય શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ આદિમુનિવરોની
સેવામાં. આપ સર્વે સુખ સમાધિમાં હશે

સૂત્ર પ્રકાશનનું કામ સુંદર થઈ રહ્યું છે તે બાણી અત્યંત આનંદ. આપના પ્રકાશિત
થયેલા કેટલાક સૂત્રો જોયાં સુંદર અને સરલ સિદ્ધાંતના ન્યાયને પુષ્ટિ કરતી ટીકા પંડિત-
રત્નોને સુપ્રિય થઈ પડે તેવી છે સૂત્ર પ્રકાશનનું કામ ત્વરિત પૂર્ણ થાય અને ભાવિ આત્મા-
ઓને આત્મકલ્યાણ કરવામાં સાધનભૂત થાય એજ અભ્યર્થના

લી. પંડિતરત્ન બાળક્રમચારી
પૂ. શ્રી ભાઈચંદ્ર મહારાજ ની
આજ્ઞાનુસાર શાન્તિમુનીના
પાયવંદન સ્વીકારશે

તા ૧૧-૫-૫૬
વીરમગામ

ગૃહાધિપતિ પૂજ્ય મહારાજ શ્રી જ્ઞાનચંદ્રજી મહારાજના સંપ્રદાયના આત્માર્થી,
ક્રિયાપાત્ર, પંડિતરત્ન, મુનિશ્રી સમરથમલજી મહારાજનો અભિપ્રાય.

ખીચનથી આવલ તા. ૧૧-૨-૫૬ ના પત્રથી ઉદ્ધિત,

પૂજ્ય આચાર્ય ઘાસીલાલજી મહારાજના હસ્તક જે સૂત્રોનું લખાણ સુંદર અને સરળ
ભાષામાં થાય છે તે સાહિત્ય, પંડિત મુનિશ્રી સમરથમલજી મહારાજ, સમય એાછો મળ-

વાને કારણે સંપૂર્ણ જોઈ શક્યા નથી, છતાં જોટલું સાહિત્ય જોયું છે, તે બહુ જ સાઈ અને મનન સાથે લખાયેલું છે તે લખાણ શાસ્ત્ર આજ્ઞાને અનુરૂપ લાગે છે. આ સાહિત્ય દરેક શ્રદ્ધાળુ જીવોને વાંચવા યોગ્ય છે આમાં સ્થાનકવાસી સમાજની શ્રદ્ધા, પ્રરૂપણા અને ફરસણાની દૃઢતા શાસ્ત્રાનુકૂળ છે. આચાર્ય શ્રી અપૂર્વ પરિશ્રમ લઈ સમાજ ઉપર મહાન ઉપકાર કરે છે.

દી. કીશનલાલ પૃથ્વીરાજ માલુ
સુ ખીચન.

દી'બડી સંપ્રદાયના સદાનંદી સુનીશ્રી છોટાલાલજી મહારાજનો અભિપ્રાય

શ્રી વીતરાગદેવે-જ્ઞાનપ્રચારને તીર્થંકર નામ ગોત્ર બાંધવાનું નિમિત્ત કહેલ છે. જ્ઞાન પ્રચાર કરનાર, કરવામાં સહાય કરનાર, અને તેને અનુમોદન આપનાર જ્ઞાનાવર્ણિય કર્મને ક્ષય કરી-કેવળ જ્ઞાનને પ્રાપ્ત કરી પરમપદનાં અધિકારી બને છે શાસ્ત્રજ્ઞ-પરમ શાન્ત, અને અપ્રમાદિ પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ પોતે અવિશ્રાન્તપણે જ્ઞાનની ઉપાસના અને તેની પ્રલાવના અંતેક વિકટ પ્રસંગોમાં પણ કરી રહ્યા છે. તે માટે તેઓશ્રી અનેકશઃ ધન્યવાદના અધિકારી છે વંદનીય છે-તેમની જ્ઞાન પ્રલાવનાની ધગશ ઘણા પ્રમાદિઓને અનુકરણીય છે. જેમ પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ પોતે જ્ઞાનપ્રચાર માટે અવિશ્રાન્ત પ્રયત્ન કરે છે તેમજ-શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિના કાર્યવાહકો પણ એમા સહાય કરીને જે પવિત્ર સેવા કરી રહેલ છે. તે પણ ખરેખર ધન્યવાદના પૂર્ણ અધિકારી છે.

એ સમિતિના કાર્યકરોને મારી એક સૂચના છે કે:-

શાસ્ત્રોદ્ધારક પ્રવર પડિત અપ્રમાદિ સત ઘાસીલાલજી મહારાજ જે શાસ્ત્રોદ્ધારનું કામ કરી રહેલ છે. તેમા સહાય કરવા માટે-પડિતો વિગેરેના માટે જે ખર્ચો થઈ રહેલ છે. તેને પહોચી વળવા માટે સાઈં સરખું ફંડ જોઈએ. એના માટે મારી એ સૂચના છે કે:-શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિના મુખ્ય કાર્યવાહકો,-જો બની શકે તો પ્રમુખ પોતે અને બીજા બે ત્રણ જણાઓ ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, અને કચ્છમા પ્રવાસ કરી મેમ્બરો બનાવે અને આર્થિક સહાય મેળવે

જો કે અત્યારની પરિસ્થિતિ વિષમ છે વ્યાપારીઓ, ધંધાદારીઓને પોતાના વ્યવહાર સાચવવા પણ મુશ્કેલ બન્યા છે. છતાં જો સલાવિત ગૃહસ્થો પ્રવાસે નીકળે તો જરૂર કાર્ય સફળ કરે એવી મને શ્રદ્ધા છે.

આર્થિક અનુકૂળતા થવાથી શાસ્ત્રોદ્ધારનું કામ પણ વધુ સરલતાથી થઈ શકે. પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ ન્યાં સુધી આ તરફ વિચરે છે ત્યાં સુધીમા એમની જ્ઞાન શક્તિનો જોટલો લાભ લેવાય તેટલો લઈ લેવો. કદાચ સૌરાષ્ટ્રમા વધુ વખત રહેવાથી તમને હવે બહાર વિહરવાની ઈચ્છા થતી હોય તો શાન્તિલાઈ શેઠ જેવાએ વિનંતી કરી અમદાવાદ પધરાવવા અને ત્યાં-અનુકૂળતા સુજળ-બે ત્રણ વર્ષની સ્થિરતા કરાવીને તેમની પાસે શાસ્ત્રોદ્ધારનું કામ પૂર્ણ કરાવી લેવું જોઈએ.

થોડા વખતમા જામજોધપુરમા શાસ્ત્રોદ્ધાર કમીટી મળવાની છે તે વખતે ઉપરની સૂચના વિચારાય તો ઠીક.

ફરી શાસ્ત્રોદ્ધારક પૂજ્ય શ્રીધાસીલાલજી મહારાજને એમની આ સેવા અને પરમ કલ્યાણ કારક પ્રવૃત્તિને માટે વાર વાર અભિનંદન છે. શાસનનાયક દેવ તેમના શરિરાદીને સશક્ત અને દીર્ઘાયુ રાખી સમાજ ધર્મની વધુ ને વધુ સેવા કરી શકે ૐ અસ્તુ.

આતુર્માસ સ્થળ. લીંબડી } લિ
સાં. ૨૦૧૦ શ્રાવણ વદ ૧૩.૨૩૨ } સદાનદી જૈનમુનિ છોટાલાલજી

*

શ્રીવર્ધમાન સંપ્રદાય પૂજ્ય શ્રીપુનમચંદ્રજી મહારાજનો અભિપ્રાય

શાસ્ત્ર વિશારદ પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રીધાસીલાલજી મહારાજશ્રીએ જૈન આગમો ઉપર જે સંસ્કૃત ટીકા વગેરે રચેલ છે તે માટે તેઓશ્રી ધન્યવાદને પાત્ર છે, તેમણે આગમો ઉપરની સ્વતંત્ર ટીકા રચીને સ્થાનકવાસી જૈન સમાજનું ગૌરવ વધાર્યું છે. આગમો ઉપરની તેમની સંસ્કૃત ટીકા ભાષા અને ભાવની દૃષ્ટિએ ઘણીજ સુંદર છે સંસ્કૃત રચના માધુર્ય તેમજ અલંકાર વગેરે ગુણોથી સુકત છે વિદ્વાનોએ તેમજ જૈન સમાજના આચાર્યો ઉપાધ્યાયો વગેરે એ શાસ્ત્રો ઉપર રચેલી આ સંસ્કૃત રચનાની કદર કરવી જોઈએ અને હરેક પ્રકારનો સહકાર આપવો જોઈએ

આવા મહાન કાર્યમાં પંડિતરત્ન પૂજ્ય શ્રીધાસીલાલજી મહારાજ જે પ્રયત્ન કરી રહ્યા છે તે આલૌકિક છે. તેમનું આગમ ઉપરની સંસ્કૃત ટીકા વગેરે રચવાનું ભગીરથ કાર્ય શીઘ્ર સફળ થાય એજ શુભેચ્છા સાથે

અમદાવાદ

તા ૨૧-૪-૫૬ રવિવાર

મહાવીર જ્યંતિ

મુનિપૂર્ણચંદ્રજી

ખંભાત સંપ્રદાયના મહાસતી શારદાબાઈ સ્વામીનો અભિપ્રાય

લખતર તા. ૨૫-૪-૫૬

શ્રીમાન શેઠ શાંતીલાલભાઈ મગળદાસ ભાઈ

પ્રમુખ સાહેબ અખિલ ભારત જ્વે. સ્થા. જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ

મુ અમદાવાદ

અમો અત્રે દેવગુરૂની કૃપાએ સુખરૂપ છીએ વિ, માં આપની સામિતિ દ્વારા પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રી ધાસીલાલજી મહારાજ સાહેબ જે સૂત્રોનું કાર્ય કરે છે તે પૈકીનાં સૂત્રોમાંથી ઉપાસક દશાગ સૂત્ર, અનુત્તરોપપાતિક સૂત્ર દશવૈકલિક સૂત્ર વિગેરે સૂત્રો જોયા તે સૂત્રો સંસ્કૃત હીન્દી અને ગુજરાતી ભાષાઓમાં હોવાને કારણે વિદ્વાન અને સામાન્ય જનોને ઘણુંજ લાભદાયિક છે. તે વાચન ઘણુંજ સુંદર અને મનોરંજન છે આ કાર્યમાં પૂજ્ય આચાર્ય શ્રી જે અથાગ પુરૂષાર્થે કાર્ય કરે છે તે માટે વાર વાર ધન્યવાદને પાત્ર છે આ સૂત્રોથી સમાજને ઘણું લાભનું કારણ છે

હસ સમાન ખુદ્ધિવાળા આત્માઓ સ્વપરના લેદથી નિખાલસ ભાવનાએ અવલોકન કરશે તો આ સાહિત્ય સ્થાનકવાસી સમાજ માટે અપૂર્વ અને ગૌરવ લેવા જેવું છે માટે હરેક ભવ્ય આત્માઓને સુચન કરું છું કે આ સૂત્રો પોતપોતાના ઘરમાં વસાવાળી સુંદર તકને ચુકશે નહિ. કારણ આવા શુદ્ધ પવિત્ર અને સ્વપરંપરા ને પુષ્ટીરૂપ સૂત્રો મળતાં બહુ

મુશ્કેલ છે. આ કાર્યને આપશ્રી તથા સમિતિના અન્ય કાર્યકરો જે શ્રમ લઈ રહ્યા છે. તેમાં મહાન નિર્જરાતુ કારણ જોવામાં આવે છે તે બદલ ધન્યવાદ. એજ

લી. શારદાબાઈ સ્વામી
બલાત સંપ્રદાય

*

બરવાળાસંપ્રદાયના વિદુષીમહાસતીજી મોંઘીબાઈ સ્વામીનો અભિપ્રાય

ધધુકા તા ૨૭-૧-૫૬

શ્રીમાન શેઠ શાન્તીલાલ મંગળદાસભાઈ

પ્રમુખ અં ભં શ્વેં સ્થા જૈનશાસ્ત્ર ઉદ્ધાર સમિતિ
મુ. રાજકોટ.

અત્રે ખીરાજતા ગું ગું ભ ડાર મહાસતીજી વિદુષી મોંઘીબાઈ સ્વામી તથા હીરાબાઈ સ્વામી આદિઠાણા બન્ને સુખશાતામાં ખીરાજે છે, આપને સુચન છે કે અપ્રમત અવસ્થામાં રહી નિવૃત્તિ ભાવને મેળવી ધર્મધ્યાન કરશોજી એજ આશા છે

વિશેષમાં અમને પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રીધાસીવાલજી મહારાજના રચેલાં સૂત્રો ભાઈ પોપટ ધનજીભાઈ તરફથી ભેટ તરીકે મળેલાં તે સૂત્રો તમામ આદ્યોપાંત વાગ્યા મનન કર્યાં અને વિચાર્યાં છે તે સૂત્રો સ્થાનકવાસી સમાજને અને વીતરાગ માર્ગને ખૂબજ ઉન્નત બનાવનાર છે તેમાં આપણી શ્રદ્ધા એટલી ન્યાય રૂપથી ભરેલી છે તે આપણા સમાજ માટે ગૌરવ લેવા જેવું છે. હંસ સમાન આત્માએ જ્ઞાન ઝરણાએથી આત્મરૂપ વાડીને વિક્સીત કરશે ધન્ય છે આપને અને સમિતિના કાર્યકરોને જે સમાજ ઉત્થાન માટે કોઈની પણ પરવા કર્યા વગર જ્ઞાનનું દાન ભવ્ય આત્માએને આપવા નિમિત્તરૂપ થઈ રહ્યા છે. આવા સમર્થ વિદ્વાન પાસેથી સંપૂર્ણ કાર્ય પુરૂ કરાવશો તેવી આશા છે.

એજ લિ. બરવાળા સંપ્રદાયના વિદુષી

મહાસતીજી મોંઘીબાઈ સ્વામી

ના ફરમાનથી લી ખોડીદાસ ગણેશભાઈ-ધધુકા

સ્થાનકવાસી જૈન સંઘના પ્રમુખ

+

અદ્યતન પદ્ધતિને અપનાવનાર વડોદરા કોલેજના એક વિદ્વાન મોરેસરનો અભિપ્રાય

સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયના મુનિશ્રી ધાસીજી મહારાજ જૈનશાસ્ત્રોના સંસ્કૃત ટીકાબદ્ધ ગુજરાતીમાં અને હિન્દીમાં ભાષાંતરો કરવાના ઘણા વિકટ કાર્યમાં વ્યાપ્ત થયેલા છે શાસ્ત્રો પૈકી જે શાસ્ત્રો પસિદ્ધ થયાં છે તે હું જોઈ શક્યો છું, મુનિશ્રી પોતે સંસ્કૃત, અર્ધમાગધી હિન્દી ભાષાઓના નિષ્ણાત છે, એ એમનો ટુંકો પરિચય કરતાં સહજ જણાઈ આવે છે શાસ્ત્રોનું સંપાદન કરવામાં તેમને પોતાના, શિષ્યવર્ગનો અને વિશેષમાં ત્રણ પંડિતોનો સહકાર મળ્યો છે, તે જોઈ મને આનંદ થયો. સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયના અગ્રેસરોએ પંડિતોનો સહકાર મેળવી આપી મુનિશ્રીના કાર્યને સરળ અને શિષ્ટ બનાવ્યું છે સ્થાનકવાસી સમાજમાં વિદ્યતા ઘણી ઝોછી છે તે દિગ્બર, મૂર્તિપૂજક શ્વેતાબર વગેરે જૈનદર્શનના પ્રતિનિધિઓના ઘણા સમયથી પરિચયમાં આવતાં હું વિરોધના ભય વગર, ઠહી શકું. પૂ. મહાનજનો આ પ્રયાસ

સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયમાં પ્રથમ છે એવી મારી માન્યતા છે. સંસ્કૃત સ્પષ્ટીકરણો સારાં આપવામાં આવ્યાં છે ભાષા શુદ્ધ છે એમ હું ચોક્કસ કહી શકું છું ગુજરાતી ભાષાંતરો પણ શુદ્ધ અને સરળ થયેલા છે. મને વિશ્વાસ છે કે મહારાજશ્રીના આ સ્તુત્ય પ્રયાસને જૈનસમાજ ઉત્તેજન આપશે અને શાસ્ત્રોના ભાષાંતરોને વાચનાલયમાં અને કુટુંબોમાં વસાવી શકાય તે પ્રમાણે વ્યવસ્થા કરશે.

પ્રતાપગંજ, વડોદરા
તા. ૨૭-૨-૧૯૫૬

કેશવલાલ હિંમતરામ
એમ. એ.

*

મુંબઈની બે કોલેજોના પ્રોફેસરોનો અભિપ્રાય.

મુંબઈ તા ૩૧-૩-૫૬

શ્રીમાન શેઠ શાંતીલાલ મંગળદાસ

પ્રમુખ: શ્રી અખિલ ભારત શ્વેત સ્થાન જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ,
રાજકોટ.

પૂજ્યાચાર્ય શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજે તૈયાર કરેલા આચારંગ, દશવૈકાલીક આવશ્યક, ઉપાસકદશાંગ વગેરે સૂત્રો અમે જોયા. આ સૂત્રો ઉપર સંસ્કૃતમાં ટીકા આપવામાં આવી છે અને સાથે સાથે હિંદી અને ગુજરાતી ભાષાંતરો પણ આપવામાં આવ્યાં છે સસ્કૃત ટીકા અને ગુજરાતી તથા હિંદી ભાષાંતરો જોતાં આચાર્ય શ્રીના આ ત્રણે ભાષા પરના એકસરખા અસાધારણ પ્રભુત્વની સચોટ અને સુરેખ છાપ પડે છે આ સૂત્ર ગ્રંથોમાં પાને પાને પ્રગટ થતી આચાર્યશ્રીની અપ્રતિમ વિદ્વતા મુગ્ધ કરી દે તેવી છે ગુજરાતી તથા હિંદીમાં થયેલા ભાષાંતરમાં ભાષાની શુદ્ધિ અને સરળતા નોંધપાત્ર છે એથી વિદ્વજન અને સાધારણ માણસ ઉભયને સંતોષ આપે એવી એમની લેખિનીની પ્રતીતિ થાય છે. ૩૨ સૂત્રોમાંથી હજુ ૧૩ સૂત્રો પ્રગટ થયા છે બીજાં ૭ સૂત્રો લખાઈને તૈયાર થઈ ગયાં છે. આ બધાં જ સૂત્રો જ્યારે એમને હાથે તૈયાર થઈને પ્રગટ થશે ત્યારે જૈન સૂત્ર-સાહિત્યમાં અમૂલ્ય સંપત્તિરૂપ ગણાશે એમાં સંશય નથી આચાર્યશ્રીના આ મહાન કાર્યને જૈન સમાજનો-વિશેષતઃ સ્થાનકવાસી સમાજનો સંપૂર્ણ સહકાર સાપડી રહેશે એવી અમે આશા રાખીએ છીએ.

પ્રો. રમણલાલ ચીમનલાલ શાહ
સેન્ટ ઝેવિયર્સ કોલેજ, મુંબઈ.
પ્રો. તારા રમણલાલ શાહ.
સોશિયા કોલેજ, મુંબઈ.

*

રાજકોટની ધર્મેન્દ્રસિંહજી કોલેજના પ્રોફેસર સાહબનો
અભિપ્રાય.

જયમહાલ

જાગનાથ પ્લોટ

રાજકોટ, તા ૧૮-૪-૫૬

પૂજ્યાચાર્ય પં. શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ આજે જૈન સમાજ માટે એક એવા કાર્યમાં વ્યાપ્ત થયેલા છે કે જે સમાજ માટે બહુ ઉપયોગી થઈ પડશે. મુનિશ્રીએ તૈયાર કરેલાં

આચારાંગ, દશવૈકાલિક, શ્રી વિપાકશ્રુત વિ. મેં જોયા આ સૂત્રો જોતાં પહેલીજ નજરે મહારાજશ્રીનો સસ્કૃત, અર્ધમાગધી, હિન્દી તથા ગુજરાતી ભાષાઓ ઉપરનો અસાધારણ કાબુ જણાઈ આવે છે એક પણ ભાષા મહારાજશ્રીથી અબજાણી નથી આપણે બાણીએ છીએ કે એ સૂત્રો ઉચ્ચ અને પ્રથમ કોટિના છે. તેની વસ્તુ ગંભીર વ્યાપક અને જીવનને તલસ્પર્શી છે. આટલા ગહન અને સર્વગ્રાહ્ય સૂત્રોનું ભાષાંતર પૂઠ ઘાસીલાલજી મહારાજ જેવા ઉચ્ચ કોટિના મુનિરાજને હાથે થાય છે તે આપણા અહોભાગ્ય છે યંત્રવાદ અને ભૌતિકવાદનાં આ જમાનામાં જ્યારે ધર્મભાવના ઓસરતી જાય છે એવે વખતે આવા તત્વજ્ઞાન આધ્યાત્મિકતાથી ભરેલાં સૂત્રોનું સરળ ભાષામાં ભાષાંતર દરેક જ્ઞાસુ, મુમુક્ષુ અને સાધકને માર્ગદર્શક થઈ પડે તેમ છે જૈન અને જૈનેતર, વિદ્વાન અને સાધારણ માણસ, સાધુ અને શ્રાવક દરેકને સમજણ પડે તેવી સ્પષ્ટ, સરળ અને શુદ્ધ ભાષામાં સૂત્રો લખવામાં આવ્યા છે મહારાજશ્રીને જ્યારે જોઈએ ત્યારે તેમના આ કાર્યમાં સકળાયેલા જોઈએ છીએ. એ ઉપરથી મુનિશ્રીના પરિશ્રમ અને ધગશની કલ્પના કરી શકાય તેમ છે. તેમનું જીવન સૂત્રોમાં વણાઈ ગયું છે

મુનિશ્રીના આ અસાધારણ કાર્યમાં પોતાના શિષ્યોનો તથા પડિતોનો સહકાર મળ્યો છે. મને આશા છે કે જો દરેક મુમુક્ષુ આ પુસ્તકોને પોતાના ઘરમાં વસાવશે અને પોતાના જીવનને સાચા સુખને માર્ગે વાળશે તો મહારાજશ્રીએ ઉઠાવેલો શ્રમ સંપૂર્ણપણે સફળ થશે.

પ્રો. રસિકલાલ કસ્તુરચંદ ગાંધી

એમ. એ એલ એલ બી,

ધર્મેન્દ્રસિંહજી કોલેજ

રાજકોટ (સૌરાષ્ટ્ર)

મુંબઈ અને ઘાટકોપરમાં મળેલી સભાએ લિનાસર કોન્ફરન્સ તથા

સાધુ સંમેલનમાં મોકલાવેલ ઠરાવ.

હાલ જે વખતે શ્રી શ્વેતાંબર સ્થાનકવાસી જૈન સઘ માટે આગમ-સંશોધન અને સ્વતંત્ર ટીકાવાળા શાસ્ત્રોદ્ધારની અતિ આવશ્યકતા છે અને જે મહાનુભાવોએ આ વાત દીર્ઘ દ્રષ્ટિથી પહેલી પોતાના મગજમાં લઈ તે પાર પાડવા મહેનત લઈ રહ્યા છે તેવા મુનિ મહારાજ પંડિતરત્ન શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ કે જેઓને સાદડી અધિવેશનમાં સર્વાનુમતે સાહિત્ય મંત્રી નીમ્યા છે તેઓશ્રીની દેખરેખ નીચે આ ભા. શ્વે. સ્થા. જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ જે એક મોટી વગવાળી કમિટી છે તેની મારફતે કામ થઈ રહ્યું છે જેને પ્રધાનાચાર્યશ્રી તથા પ્રચાર મંત્રીશ્રી તથા અનેક અનુભવી મહાનુભાવોએ પોતાની પસંદગીની મહોર છાપ આપી છે અને છેલ્લામાં છેલ્લા વડોદરા યુનિવર્સિટીના પ્રોફેસર કેશવલાલ કામદાર એમ. એ. એ પોતાનું સવિસ્તર પ્રમાણપત્ર આપ્યું છે તે શાસ્ત્રોદ્ધાર કમિટીના કામને આ સંમેલન તથા કોન્ફરન્સ હાર્દિક અભિનંદન આપે છે અને તેમના કામને જ્યાં જ્યાં અને જે જે જરૂર પડે-પંડિતની અને નાણાની-પોતાની પાસેના કડમાથી અને જાહેર જનતા પાસેથી મદદ મળે તેવી ઈચ્છા ધરાવે છે.

આ શાસ્ત્રો અને ટીકાઓને જ્યારે આટલી બધી પ્રશંસાપૂર્વક પસંદગી મળી છે ત્યારે તે કામને મદદ કરવાની આ કોન્ફરન્સ પોતાની ફરજ માને છે અને જે કાંઈ ત્રુટી હોય

તં પં. -૨. શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજની સાનિધ્યમાં જઈ, બતાવીને સુધારવા પ્રયત્ન કરવો. આ કામને ટલ્લે ચઢાવવા જેવું કોઈપણ કામ સત્તા ઉપરના અધીકારીઓના વાણી કે વર્તનથી ન થાય તે જેવા પ્રમુખ સાહેબને લલામાણુ કરે છે.

(સ્થા. જૈન પત્ર તા ૪-૫-૫૬)

*

સ્વતંત્ર વિચારક અને નિહર લેખક 'જૈન સિદ્ધાંત' ના તંત્રોશ્રી શેઠ નગીનદાસ ગીરધરલાલનો અભિપ્રાય

શ્રી સ્થાનકવાસી શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ સ્થાપીને પૂ. શ્રી. ઘાસીલાલજી મહારાજને સૌરાષ્ટ્રમાં ખોલાવી તેમની પાસે ખત્રીસે સૂત્ર તૈયાર કરવાના હિલચાલ ચાલતી હતી ત્યારે તે હિલચાલ કરનાર શાસ્ત્રજ્ઞ શેઠ શ્રી દામોદરદાસભાઈ સાથે મારે પત્રગ્ચત્રદાર ચાલેલો ત્યારે શેઠ શ્રી દામોદરદાસભાઈએ તેમનાં એક પત્રમાં મને લખેલું કે—

“આપણા સૂત્રોના મૂળ પાઠ તપાસી શુદ્ધ કરી સંસ્કૃત સાથે તૈયાર કરી શકે તેવા સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયમાં મુનીશ્રી ઘાસીલાલજી મ. સિવાય મને કોઈ વિશેષ વિદ્વાન મુનિ જેવામા આવતા નથી લાંબી તપાસને અંતે મે મુનિ શ્રીઘાસીલાલજી પ ને પસંદ કરેલા છે ”

શેઠ શ્રી દામોદરદાસભાઈ પોતે વિદ્વાન હતા. શાસ્ત્રજ્ઞ હતા તેમ વિચારક પણ હતા. શ્રાવકો તેમજ મુનિઓ પણ તેમની પાસેથી શીક્ષા વાંચના લેતા, તેમ જ્ઞાન ચર્ચા પણ કરતાં એવા વિદ્વાન શેઠશ્રીની પસંદગી યથાર્થ જ હોય એમાં નવાઈ નથી અને પૂ. શ્રી. ઘાસીલાલજીમ. ના બનાવેલાં સૂત્રો જેતાં સૌ કોઈને ખાત્રી થાય તેમ છે કે દામોદરદાસભાઈએ તેમજ સ્થાનકવાસી સમાજે જેવી આશા શ્રી ઘાસીલાલજી મ. પાસેથી રાખેલી તે ખરાખર ફલીભૂત થયેલ છે.

શ્રી વર્ધમાન શ્રમણસંઘના આચાર્ય શ્રી આત્મારામજી મહારાજે શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજના સૂત્રો માટે ખાસ પ્રશંસા કરી અનુમતિ આપેલ છે, તે ઉપરથી જ શ્રી ઘાસીલાલજી મ. ના સૂત્રોની ઉપયોગિતાની ખાત્રી થશે.

આ સૂત્રો વિદ્યાર્થીને, અભ્યાસીને તેમજ સામાન્ય વચકને સર્વને એક સરખી રીતે ઉપયોગી થઈ પડે છે, વિદ્યાર્થીને તેમજ અભ્યાસીને મૂળ તથા સંસ્કૃત ટીકા વિશેષ કરીને ઉપયોગી થાય તેમ છે ત્યારે સામાન્ય હિંદી વાચકને હિંદી અનુવાદ અને ગુજરાતી વાચકને ગુજરાતી અનુવાદથી આખું સૂત્ર સરળતાથી સમજાય જાય છે.

કેટલાકોને એવો ભ્રમ છે કે સૂત્ર વાંચવાનું આપણું કામ નહિ, સૂત્રો આપણને સમજાય નહિ. આ ભ્રમ તદ્દન ખોટો છે. ખીજા કોઈપણ શાસ્ત્રીય પુસ્તક કરતાં સૂત્રો સામાન્ય વાચકને પણ ઘણી સરળતાથી સમજાઈ જાય છે સામાન્ય માણસ પણ સમજી શકે તેટલા માટે જ ભ. મહાવીરે તે વખતની લોક ભાષામાં (અર્ધ માગધી ભાષામાં) સૂત્રો બનાવેલાં છે એટલે સૂત્ર વાંચવાં તેમજ સમજવામાં ઘણાં સરળ છે.

માટે કોઈ પણ વાંચકને એનો ભ્રમ હોય તો તે કાઠી નાંખવો અને ધર્મનું તેમજ ધર્મના સિદ્ધાંતોનું સાચું જ્ઞાન મેળવવા માટે સૂત્રો વાચવાને ચૂકવું નહિ. એટલું જ નહિ પણ જરૂરથી પડેલા સૂત્રોજ વાંચવા

સ્થાનકવાસીઓમા આ શ્રી સ્થા જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિએ જે કામ કર્યું છે અને કરી રહી છે તેવું કોઈ પણ અસ્થાયી આજ સુધી કર્યું નથી સ્થા જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિ-

તિના છેલ્લા રિપોર્ટ પ્રમાણે બીજાં છ સૂત્રો લખાયેલ પડયાં છે, જે સૂત્રો-અનુયોગદ્વાર અને ઠાણાંગ સૂત્ર-લખાય છે તે પણ થોડા વખતમાં તૈયાર થઈ જશે. તે પછી બાકીના સૂત્રો હાથ ધરવામાં આવશે.

તૈયાર સૂત્રો જલ્દી છપાઈ જાય એમ ઇચ્છીએ છીએ અને સ્થા. બંધુઓ સમિતિને ઉત્તેજન અને સહાયતા આપીને તેમનાં સૂત્રો ધરમાં વસાવે એમ ઇચ્છીએ.

‘જૈન સિદ્ધાન્ત’ પત્ર-મે ૧૯૫૫.

*

શ્રુત ભક્તિ

(પૂ. આચાર્ય શ્રી કમ્બરલાલજી મ. સા. ની આજ્ઞા અનુસાર લખનાર)

દ. સં. ના જૈન મુનિ શ્રી દયાનંદજી મહારાજ

ત. ૨૩-૬-૫૬ શાહપુર, અમદાવાદ,

આજે લગભગ ૨૦ વર્ષથી શ્રદ્ધેય પરમપૂજ્ય, જ્ઞાન દિવાકર પં. મુનિશ્રી ઘાસીલાલજી મ ચરમ તીર્થ કર લગવાન મહાવીરના અનુત્તર, અનુપમ ન્યાય યુક્ત, પૂર્વાપર અવિરોધ, સ્વપર કલ્યાણકારક, ચરમ શીતળ વાણીના ઘોતક એવા શ્રીજિનાગમ પર પ્રકાશ પાડે છે તેઓશ્રી પ્રાચીન, પૌર્વાત્ય સંસ્કૃતાદિ અનેક ભાષાના પ્રખર પડિત છે અને જિન વાણીનો પ્રકાશ સંસ્કૃત, ગુજરાતી અને હિંદીમાં મૂળ શબ્દાર્થ, ટીકા, વિસ્તૃત વિવરણ સાથે પ્રકાશમાં લાવે છે એ જૈન સમાજ માટે અતિ ગૌરવ અને આનંદનો વિષય છે.

ભ૦ મહાવીર અત્યારે આપણી પાસે વિદ્યમાન નથી. પરંતુ તેમની વાણી રૂપે અક્ષર દેહ ગણુધર મહારાજેએ શ્રુત પરંપરાએ સાચવી રાખ્યો. શ્રુત પરંપરાથી સચવાતું જ્ઞાન જ્યારે વિસ્મૃત થવાનો સમય ઉપસ્થિત થવા લાગ્યો ત્યારે શ્રી દેવદ્વિગ્ણિ ક્ષમાશ્રમણે વલ્લીપુર-વળામાં તે આગમોને પુસ્તકો રૂપે આરૂઠ કર્યો આજે આ સિદ્ધાન્તે આપણી પાસે છે. તે અર્ધ માગધી પાલી ભાષામાં છે અત્યારે આ ભાષા લગવાનની, દેવોની તથા જનગણની ધર્મ ભાષા છે તેને આપણા શ્રમણો અને શ્રમણીઓ તથા મુમુક્ષુ શ્રાવક શ્રાવિકાઓ મુખપાઠ કરે છે, પરંતુ તેનો અર્થ અને ભાવ ઘણા થોડાઓ સમજે છે.

જિનાગમ એ આપણાં શ્રદ્ધેય પવિત્ર ધર્મસૂત્રો છે એ આપણી આખો છે તેનો અભ્યાસ કરવો એ આપણી સૌની-જૈન માત્રની ફરજ છે તેને સત્ય સ્વરૂપે સમજાવવા માટે આપણાં સદ્ભાગ્યે જ્ઞાન દિવાકર શ્રી ઘ.સીલાલજી મહારાજે સત્સંકલ્પ કર્યો છે અને તે લિખિત સૂત્રોને પ્રગટાવી શાસ્ત્રોદ્ધાર સમીતી દ્વારા જ્ઞાન પરબ વહેતી કરી છે. આવા અનુપમ કાર્યમાં સકળ જૈનોનો સહકાર અવશ્યક હોવો ઘટે અને તેનો વધારેમાં વધારે પ્રચાર થાય તે માટે પ્રયત્નો કરવા ઘટે.

ભ૦ મહાવીરને ગણુધર ગૌતમ પૂછે છે કે હે લગવાન; સૂત્રની આરાધના કરવાથી શુ ક્ષણ પ્રાપ્ત થાય છે ? લગવાન તેનો પ્રતિ ઉત્તર આપે છે કે શ્રુતની આરાધનાથી છવેના અજ્ઞાનનો નાશ થાય છે અને તેઓ સંચારના કલ્લેશોથી નિવૃત્તિ મેળવે છે. અને સંસાર કલ્લેશોથી નિવૃત્તિ અને અજ્ઞાનનો નાશ થતા મોક્ષ કળની પ્રપ્તિ થાય છે.

આવા જ્ઞાન કાર્યમાં મૂર્તિપૂજક જૈનો, દિગંબરો અને અન્ય ધર્મીઓ હજારો અને લાખો રૂપીયા ખર્ચે છે હિંદુ ધર્મમાં પવિત્ર મનાતા ગ્રંથ ગીતાના સેંકડો નહિ પણ હજારો ટીકા

અથો દુનિયાની લગભગ સર્વ ભાષાઓમાં પ્રગટ થયા છે ઈસાઈ ધર્મના પ્રચારકો તેમના પવિત્ર ધર્મગ્રન્થ બાઈબલના પ્રચારાર્થે તેનું જગતની સર્વભાષાઓમાં ભાષાંતર કરી, તેને પડતર ઈરતા પણ ધર્મી ઓછી કિમતે વેચી ધર્મ સૂત્રોનો પ્રચાર કરે છે. મુસ્લીમ લોકો પણ તેમના પવિત્ર મનાતા ગ્રન્થ કુરાનનું પણ અનેક ભાષાઓમાં ભાષાંતર કરી સમાજમાં પ્રચાર કરે છે. આપણે પૈસા પરનો મોહ ઉતારી ભગવાનનાં સિદ્ધાંતોનો પ્રચાર કરવા માટે તન, મન, ધન સમર્પણ કરવા જોઈએ. અને સૂત્ર પ્રકાશનના કાર્યને વધુ ને વધુ વેગ મળે તે માટે સક્રિય પ્રયત્નો કરવા જોઈએ આના પવિત્ર કાર્યમાં સાપ્રત્યાયિક મતભેદો સૌએ ભૂલી જવા જોઈએ અને શુદ્ધ આશયથી થતા શુદ્ધ કાર્યને અપનાવી લેવું જોઈએ. સમિતિના નિયમાનુસાર રકમ ભરી સમીતિના મલ્લ્ય અવશ્ય થનવું જોઈએ. ધાર્મિક અનેક ખાતાઓના મુકાબલે સૂત્ર પ્રકાશનનું-જ્ઞાન પ્રચારનું આ ખાતું ગર્વશ્રેષ્ઠ ગણાવું જોઈએ,

આ કાર્યને વેગ આપવાની સાથે સાથે એ આગમો-ભગવાનની એ મહાવાણીનું પાન કરવા પણ આપણે હરહંમેશ તત્પર રહેવું જોઈએ. જેથી પરમ શાન્તિ અને જીવન સિદ્ધિ મેળવી શકાય.

સ્થા. જૈન. તા. ૫-૭-૫૬)

શ્રી અ. ભા. શ્વે. સ્થા. જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિનાં પ્રમુખશ્રી વગેરે

રાણપુર

પરમ પવિત્ર સૌરાષ્ટ્રની પુણ્ય ભૂમિ પર જ્યાંથી શાન્ત-શાન્તિવિશારદ અપ્રમાદિ પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રી ધાસીલાલજી મહારાજનાં પુનિત પગલા થયા છે ત્યારથી ઘણા લાંબા કાળથી લાગુ પડેલ જાનાવરણિય કર્મનાં પડળ ઉતારવાનો શુભ પ્રયાસ થઈ રહ્યો છે. અને જે પ્રવચનની પ્રલાવના તેઓશ્રી કરી રહ્યા છે તે અનંત ઉપકારક કાર્યમાં તમે જે અપૂર્વ સહાય આપી રહ્યા છો તે માટે તમો સર્વને ધન્ય છે અને એ શુભ પ્રવૃત્તિના શુભ પરિણામોનો જનતા લાભ લ્યે છે. મને તો સમન્વય છે કે સાધુજી છઠે ગુણુસ્થાનકે હોય છે પણ પૂજ્ય શ્રી ધાસીલાલજી મહારાજ તો બહુધા સાતમે અપ્રમત ગુણુસ્થાનકે જ રહે છે એવા અપ્રમત માત્ર પાચ-માત સાધુઓ. જે સ્થાનકવાસી જૈન સમાજમાં હોય તો સમાજનું શ્રેય થતાં જરાએ વાર ન લાગે. સમાજકાશમા સ્થાન જૈન સંપ્રદાયનો દિવ્ય પ્રભાકર જળ-હળી નીકળે- પ ણુ વો દિન..

શ્રીશાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિને મહારી એક નમ્ર સૂચના છે કે-પૂજ્યશ્રીની વૃદ્ધાવસ્થા છે, અને કાર્યપ્રણાલિકા યુવાનોને શરમાવે તેવી છે તેમને ગામોગામ વિહાર કરવા અને શાસ્ત્રોદ્ધારનું કાર્ય કરવું તેમાં ઘણી શારીરિક-માનસિક અને વ્યવહારિક ગુરુકેલી વેઠવી પડે છે. તો કોઈ યોગ્ય સ્થળ કે જ્યાંના શ્રાવકો ભક્તિવાળા હોય વાડાના રાગના વિષથી અલીપ્ત હોય એવા કોઈ સ્થળે શાસ્ત્રોદ્ધારનું કાર્ય પૂર્ણ થાય ત્યાં સુધી સ્થીરતા કરી શકે એના માટે પ્રબંધ કરવો જોઈએ. ખીજા કોઈ એવા સ્થળની અનુકુળતા ન મળે તો છેવટ અમદાવાદમાં યોગ્ય સ્થળે રહેવાની સગવડતા કરી અપાય તો વધુ સારૂ. મહારી આ સૂચના પર ધ્યાન આપવા ફરી યાદ આપુ છું ફરીવાર પૂજ્ય આચાર્યશ્રીને અને તેમના સત્કાર્યના સહાયકોને મારા અભિનંદન પાઠવું છું તે સ્વીકારશોજી

લિ. સદાન દી જૈનમુનિ છોટાલાલજી,

“ જૈન સિદ્ધાંતના ” તંત્રીશ્રીનો અભિપ્રાય.

સ્થાનકવાસીઓમાં પ્રમાણભૂત સૂત્રો બહાર પાડનારી આ એકની એક સંસ્થા છે. અને એના આ છેલ્લા રિપોર્ટ ઉપરથી જણાય છે કે તેણે ઘણી સારી પ્રગતિ કરી છે તે જોઈ આનંદ થાય છે.

મૂળ પાઠ, ટીકા, હિંદી તથા ગુજરાતી અનુવાદ સહિત સૂત્રો બહાર પાડવાં એ કાંઈ સહેલું કામ નથી. એ એક મહાભારત કામ છે અને તે કામ આ શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ ઘણી સફળતાથી ખાર પાડી રહી છે તે સ્થાનકવાસી સમાજ માટે ઘણા ગૌરવનો વિષય છે અને સમિતિ ધન્યવાદને પાત્ર છે.

સમિતિ તરફથી નવસૂત્રો બહાર પડી ચૂક્યાં છે, હાલમાં ત્રણ સૂત્રો છપાય છે. નવ સૂત્રો લખાઈ ગયા છે અને જામુદ્દીપ પ્રતિષ્ઠિતિ તથા નંદીસૂત્ર તૈયાર થઈ રહ્યાં છે.

હાલમાં તંત્રી શ્રી સાકરચંદ લાઠિયા સમિતિના કામમાં જ તેમનો આગો વખત ગાળે છે અને સમિતિના કામકાજને ઘણો વેગ આપી રહ્યા છે તેમના ખંત માટે ધન્યવાદ.

અને આ મહાભારત કામના મુખ્ય કાર્યકર્તા તો છે વૈષ્ણવૃદ્ધ પડિત મુનિશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ મૂળ પાઠનું અંશોધન તથા સંસ્કૃત ટીકા તેઓશ્રી જ તૈયાર કરે છે. મુનિશ્રીનો આ ઉપકાર આખાય સ્થા. જૈન સમાજ ઉપર ઘણો મહાન છે. એ ઉપકારનો બહલો તો વાળી શકાય તેમજ નથી.

પરંતુ આ સમિતિના ચેરબર બની, તેના બહાર પડેલાં સૂત્રો ઘરમાં વસાવી તેનું અધ્યયન કરવામાં આવે તો જ મહારાજ શ્રીનું થોડું ઋણ અદા કર્યું ગણાય.

લગવાને કહ્યું છે કે પઠ્યં જાણં તથો દયા પહેલું જ્ઞાન પછી દયા, દયા ધર્મને યથાર્થ સમજવો હોય તો લગવાનની વાણીરૂપ આપણા સૂત્રો વાંચવાં જોઈએ તેનું અધ્યયન કરવું જોઈએ અને તેનો લાવાર્થ યથાર્થ સમજવો જોઈએ.

એટલા માટે આ શાસ્ત્રોદ્ધારસમિતિના સર્વ સૂત્રો દરેક સ્થા. જૈને પોતાના ઘરમાં વસાવવાં જોઈએ સર્વ ધર્મજ્ઞાન આપણા સૂત્રામાં જ સમાયલું છે અને સૂત્રો સહેલાઈથી વાચીને સમજી શકાય છે, માટે દરેક સ્થા. જૈન આ સૂત્રો વાચે એ ખાસ જરૂરનું છે.

“ જૈન સિદ્ધાંત ” ડીસેમ્બર-૫૬

✱

શ્રી ઉપાશક દશાંગ સૂત્રને માટે અભિપ્રાય.

મૂળ સૂત્ર તથા પૂ. મુનિશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજે બનાવેલ સંસ્કૃત છાયા તથા ટીકા અને હિંદી તથા ગુજરાતી અનુવાદ સહિત.

પ્રકાશક—અ. ભા. શ્વે. સ્થાનકવાસી જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ, ગરેડીઆ કૂવા રોડ, શ્રીન લોજ પાસે, રાજકોટ. (સૌરાષ્ટ્ર) પૃષ્ઠ ૬૧૬ ખીણ આવૃત્તિ બેવડું (ચોટ) ૬૨. પાકું બેકેટ સાથે સને ૧૯૫૬ કિંમત રૂ. ૮-૮-૦

આપણા મૂળ બાર અંગ સૂત્રોમાંનું ઉપાશકદશાંગ એ સ્વામી એક અંગ છે, એમાં લગવાન મહાવીરના દશ ઉપાશકો શ્રાવકોનાં જીવનચરિત્રો આપેલા છે તેમાં પહેલું અંગિત અંગ શ્રાવકનું આવે છે.

આનંદ શ્રાવકે જૈન ધર્મની અગીકાર કરી અને બારવત લગવાન મહાવીર પાસે અંગીકાર કરી પ્રતિજ્ઞા (પ્રત્યાખ્યાન) લીધા તેનું સવિસ્તર વર્ણન આવે છે. તેની અંતર્ગત અનેક

वषयो जेवा हे, अलिगम, लोकालोकास्वल्प, नवतत्त्व, नरऽ देवलोक वगेरेतुं वषुंन पाणु आवे छे

आनंद श्रावके ञार व्रत लीधां ते ञारे व्रतनी विगत अतिथारनी विगत वगेरे ञंधु आपेलुं छे, ते ञ प्रमाणे ञीज नव श्रावकेनी पाणु विगत आपेल छे

आनंद श्रावकेनी प्रतिज्ञाभां अरिहत चेइयाई शण्ड आवे छे भूर्तिपूजके भूर्तिपूज सिद्ध करवा माटे तेनो अर्थ अरिहंतनु चैत्य (प्रतिमा) जेवा करे जे. पाणु ते अर्थ तदन ञोटो छे. अने ते ञग्याजे आगण पाछणना संबंध प्रमाणे तेनो जे ञोटो अर्थ ञंधु ञेयतो ञ नथी ते मुनिश्री धासीलालजम.जे तेरनी टीकाभां अनेक रीते प्रमाणे आपी साधित करेल छे अने अरिहत चेइयाई नो अर्थ साधु थाय छे ते ञतावी आपेल छे

आ प्रमाणे आ सूत्रभांथी श्रावकेना शुद्ध धरणी साहिती भणे छे ते उर्रांत ते श्रावकेनी ञद्धि, रहैठाणु, नगरी वगेरेना वषुंनो उपरथी ते वषतनी सामाजिक स्थिति. रीत-रिवाज राजव्यवस्था वगेरे ञाणतोनी साहिती भणे छे.

जेठले आ सूत्र दरेक श्रावके अवश्य वाचवु लेधजे जेटलु ञ नहि पाणु वारवार अध्ययन करवा माटे धरभां वसाववु लेधजे.

पुस्तकेनी शईयातभां वद्धमान श्रमणु सधना आचार्यश्री आत्मभारमज अडाराजनुं संभति पत्र तथा ञीज साधुजे तेमज श्रावकेना संभति पत्रो आपेला छे, ते सूत्रनी प्रमाणभूततानी ञात्री आपे छे.

“ जैन सिद्धान्त ” ज्ञान्युगारी, प७

*

॥ श्री ॥

दो शब्द

जैन सामज में श्री दशवैकालिक सूत्रका स्थान बहुत ऊँचा है यह सूत्र कदके प्रकार में भले छोटा है। किन्तु इस सूत्र का महत्व बहुत बड़ा है। त्रीदशवैकालिक सूत्र का अध्ययन करना मानो गुनिधर्म में प्रवेश करने की प्राथमिक पाठशाला में प्रवेश करना है। यदि मुनि अधिक प्रज्ञावान हो तो ज्ञानमें ग्यारह अंगसूत्र से लेकर चौदापूर्वतक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यदि मुनि कम प्रज्ञावान है। अधिक परिश्रम करने पर भी ज्ञानावरणीय कर्मोदय के कारण ज्ञान नहीं बढ़ता तो श्री दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन कर अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है इस सूत्र में आत्मसाधन के सभी विषय मौजूद हैं। भले इस सूत्र का स्थान अग या उपाग सूत्रों में नहीं है। फिर भी इस सूत्र का महत्व अधिक है। हमसे जीवाजीवका ज्ञान पाच सगिति तीन गुणि इर्या मापा एणणा गौचरी की वीधी आदी सभी आवश्यक कार्यनाम मौजूद है श्री दशवैकालिक सूत्र कंठस्थ यदि है तो मुनि अपनी समय यात्रा का निर्दोषपालन कर सकता है। इसीलिये दिक्षार्थी भाई बहिनो को सब से पहिले इसका अध्ययन कराया जाता है। प्रतिज्ञमण के बाद इसका नम्बर आता है कई श्रावक श्राविज्ञाए इसे कंठस्थ करलेते हैं। कई नित्य इसका लाभ्याय करते हैं। इस सूत्र की विरचित टीका श्रीमद् जेनाचार्य श्रीधासीलालजी मा०

सा० ने कर समाज पर महान उपकार किया है । इससे समाज आचार्य श्री का सदा ऋणी रहेगी और आचार्य श्री के स्वर्गवास नाद शास्त्रज्ञ पं० मुनि श्री. श्री कनैयालालजी मा०सा० जो कार्य पूज्य श्री का अपूर्ण रहा था उसको पूर्ण करने का बीडा उठाया इससे समाज मुनिश्रीकनैयालालजी मा० का ऋणी रहेगी मुनिश्री के सदुपदेश से प्रभावित होकर सिवाना (मारवाड) निवासी सुश्राविका पानकुँवर बहन धर्म पत्नी श्रीधीगडमलजी सा० कानुगा इस सूत्रको छपवाने में अर्थ सहायक बनी

श्री पानकुँवर बहन का संक्षिप्त परिचय

श्री पानकुँवर बहन का जन्म सिवाना निवासी बागरेचा श्री मुलतानमलजी की भार्या बरजूबाई की कुक्षी से हुवा श्रीमुलतानमलजी धर्मप्रेमी श्रावक है । और अपनीपुत्री मे धर्मके सुसस्कार डाले और विवाह के पश्चात श्रीधीगड मलजी कानुगा की मातुश्रीायारीबाई की धर्म प्रेरणा अच्छी रही इससे आप दिनो दिन धर्म मे दृढ़ बनती रही अपने प्रतिक्रमणा थोकडे बोल चाल का काफी अध्ययन किया और अत्यंत श्रद्धावान श्राविका बनगइ आप कई प्रकार की नित्य तपश्चर्या करती रहती है सादा जीवन शांत स्वभाव आपका खास गुणहै पुण्य व सामाजिक कार्यों मे अग्रणी रहती है । महिलाओ मे धर्मन्याय बोल चाल सीखाने का प्रयत्नशील रहती है श्रेष्ठ श्री कानुगाजी समाज के उत्थान के कार्यमे सदैव भाग लेतेरहते है श्रीधीगडमलजी सिवाना श्रीवर्द्धमान स्थानकवासी श्रावक सब के कोषाध्यक्ष पद पर सुशोभित है और समाज की सेवा कर रहे है मै आपसे अनुरोध करता हूँ की आगे भी इसी प्रकार सामाजिक कार्यों मे भागलेते रहेगें और आप शास्त्रोद्धार समिती के आद्यमुखी है आप जहाँ भी दान पुण्य का कार्य आता है अगवानी रहते है—

निवेदेक

मुलतानमल राँका

सिवाना

मन्त्री श्री अमरजैन जोध सस्थान सिवाना

श्री दशवैकालिक सूत्रकी विषयानुक्रमणिका

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठ
	प्रथम अध्ययन	
१	मङ्गलाचरण धर्ममहिमा—	१-४
२	अहिंसा का स्वरूप—	५-८
३	सयमका स्वरूप एवं मुखवत्तिका सवन्धि विचार	९-५१
४	तपके भेदों का निरूपण	५२-६४
५	गोचरी विधिमें भ्रमर का दृष्टान्त	६५-७६
६	भिक्षाग्रहणविषयक शिष्यकी प्रतिज्ञा	७७-७८
७	साधुओं का स्वरूप कथन—	७८-८१
	दूसरा अध्ययन	
८	श्रामण्य में अधिकारी का लक्षण—	८२-८६
९	त्यागी का स्वरूप कथन—	८७-८८
१०	कामरागके दोषों का विचार—	८९
११	कामराग निवारण का उपाय—	१०६
१२	छोड़े हुए भोगोंका पुन, अगीकार करनेमें सर्पका दृष्टान्त—	१०६-११२
१३	राजीमती के द्वारा प्रतिबोध को प्राप्त हुआ रथनेमी का सयममें स्थिर- भाव रहने से पुरुषोत्तमत्व की सिद्धि—	११२-११६
	तीसरा अध्ययन	
१४	मुनियों के आचार का निरूपण में महर्षियों के स्वरूपनिरूपण—	११७-१२१
१५	(५२) अनाचीर्ण	१२१-१२८
१६	शय्यातर विचार—	१२८-१३०
१७	वसति याचन विधि—	१३०-१३२
१८	शय्यातर के घरमें कल्पकल्प की विधि—	१३२-१३८
१९	(५२) अनाचीर्ण—	१३८-१४४
२०	अनाचीर्ण त्यागी मुनिका स्वरूप—	१४४-१४६
२१	उपसहार अध्ययन समाप्ति—	१४७-१५०
	चतुर्थ अध्ययन	

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठ
२२	प्रवचन सबन्धी आप्तोपदेश—	१५१-१५२
२३	भगवत् शब्द का अर्थ तथा षट् जीवनिकाय का स्वरूप	१४३-१७५
२४	षट् जीवनिकाय के दण्ड परित्याग का उपदेश	१७५-१८५
२५	प्राणानिपातादि पचअप्रत एवं रात्री भोजन विरमण	१८५-२०४
२६	शिष्य का महाव्रत स्वीकार	२०५-
२७	पृथ्विकायादि षट्काययतना का स्वरूप कथन	२०६-२२७
२८	अयतना से दुःख फल प्राप्ति का कथन एवं यतनावान को पापबन्धन- न होने का कथन	२२७-२३४
२९	ज्ञान प्राप्ति का उपाय	२३४-२३५
३०	सयमज्ञ का परिचय	२३६-२३७
३१	पुण्य का स्वरूप एवं जीवों के कर्मबन्ध के स्वरूप कथन	२३८-२५४
३२	मोक्ष का स्वरूप	२५५-२६२
३३	पुण्यादि ज्ञानसे भोग का विचार	२६२-२६४
३४	भोग के विचार से सयोगादि का त्याग एवं सवरधर्म तथा शुक्ल ध्यान व लोकस्वरूपका कथन	२६४-२६८
३५	शैश्वेयीकरण का स्वरूप तथा अयोगी ध्यान की सिद्धि और लिङ्गो के उर्ध्व स्वरूपगमन का कथन	२७९-२८८
३६	सुगति धर्म फल किस को दुर्लभ एवं किस को सुलभ है उसका कथन	२८८-२९०
३७	चारित्र का महत्व एवं अध्ययन का उपसहार	२९१-२९३

पांचवां अध्ययन

३८	पांचवां अध्ययन की अवतरणिका	२९४-२८५
३९	भक्तपान गवेषण की विधि	२९५-२९६
४०	गोचरी में चित्त की स्थिरता का उपदेश	२९७-२९८
४१	गोचरी गमन की विधि	२९८-३००
४२	विषममार्गसे जाने में सयमविराधनाका सभव	३०१ ३०२
४३	गमनमें पृथ्वीकायकी यतना रखने का विचार	३०२-
४४	अपूकायादिकी यतनाका विचार	३०३-
४५	चतुर्थ महाव्रत-ब्रह्मचर्य यतनाका विचार	३०४-३०६

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठ
४६	मार्ग गमन में यतनाका विचार	३०७-३०८
४७	गोचरीमें कायचेष्टा का विचार	३०९-३१३
४८	गोचरीमें कुल (गृह) प्रवेगविधि का विचार	३१३-३१७
४९	भिक्षा के लिये स्थितमुनिकी कायचेष्टा का विचार	३१८-३१९
५०	गृहस्थके घर स्थित रहनेका विचार	३१९-३२२
५१	पाकादिकार्यमें लीकी उपस्थितिका विचार	३२२-३२३
५२	सहरणमें चतुर्भङ्गीका विचार	३२४-३३०
५३	पुर कर्मका कथन	३३१-३३४
५४	पश्चात्कर्मका कथन	३३४-३३७
५५	आहार गृहणमें विवेक विचार	३३७-३४३
५६	अंकित-मुद्रित आहार गृहणका निषेध	३४३-३४४
५७	दानादि क लिये या पुण्यके लिये उपकल्पित आहार गृहणका निषेध	३४५-३५१
५८	त्रैदोशिक क्रीतकृतादि आहारका विचार	३५१-३५०
५९	निःशुद्धित आहार गृहणकी आज्ञा	३५७-३५८
६०	तेजोविराधनामें आहार गृहणका निषेध	३५८-६६१
६१	दुर्गममार्ग में गमन का निषेध	३६२-३६३
६२	मालाहत भिक्षाका निषेध	३६३-३६६
६३	आहार गृहण विवेक विचार	३६६-३६८
६४	त्याज्य फलो के नामोल्लेख	३६८-३७०
६५	पान गृहण विधि	३७०-३७७
६६	कारणोपस्थितिमें गोचरीमें आहारविधि	३७८-३८१
६७	आहारमें आये बीजादिका परिठवनकी विधि	३८१-३८२
६८	उपाश्रय में आकरही आहार करने का कथन	३८३-३८४
६९	गोचरीमें अतिचारोकी आलोचनविधि	३८४-३८५
७०	कायोत्सर्गमें चिन्तनप्रकार	३८६-३८७
७१	अन्यमुनियोको आहार गृहणके लिये प्रार्थनाका विचार	३८७-३९०
७२	आहार का उपभोगकी विधि	३९०-३९४

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठ
७३	मुधा दाता एवं मुधा उपभोक्ताका मोक्षगमन का कथन पाचवें अध्ययन का दूसरा उद्देश	३९४-३९५
७४	अपर्याप्त आहार होने पर पुनर्गोचरी गमन की विधि	३९६-३९९
७५	समय की मर्यादानुसार गोचरी गमन का कथन	३९९-४०१
७६	गोचरी में क्षेत्र यतना का कथन	४०१-४०३
७७	भिक्षाके लिये गृहप्रवेश विधि	४०३-४०६
७८	पुष्प सस्पर्शहस्तसे भिक्षालेनेका निषेध	४०७-४०८
७९	सचित्त हरितकाय गृहणका निषेध	४०८-४०९
८०	सचित्त आहार पान लेनेका निषेध	४१०-४११
८१	भिक्षाचरणमें विवेकशील होने का कथन	४११-४१८
८२	भिक्षामें चोरी का निषेध एवं चोरी के दोष	४१८-४२२
८३	मद्यपान का निषेध	४२३-४२४
८४	मद्य सेवन करनेवाले के दोषका कथन	४२५-४२९
८५	मद्यपान के दोषोंका त्याग करनेवालेका गुण कथन	४३०-४३२
८६	तपचोर के दोष कथन	४३३-४३५
८७	तपचोर को अनिष्ट फल प्राप्तिका कथन	४३६-४३७
८८	उपसहार	४३७-४४०

समाप्त

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥



जैनाचार्य—जैनधर्मदिवाकर—पूज्य श्रीघासीलालव्रतिविरचितया
आचारमणिमञ्जूपाख्यया व्याख्यया समलङ्कृतं

श्रीदशवैकालिकसूत्रम्

卐

मङ्गलाचरणम्.

नम्री भूतपुरन्दरादिमुकुट, भ्राजन्मणिच्छायया,
चित्रानन्दकरी सदा भगवतो, यस्याङ्घ्रिलक्ष्मीः परा ।
यद्विज्ञाननिरन्तमिन्धुलहरी, मग्नाः स्वकर्मक्षयं,
कृत्वाऽनन्तसुखस्य धाम भविनः, प्रापुः श्रये तं जिनम् ॥१॥
विमलः केवलाऽऽलोक,—प्रभासंभारभासुरः ।
त्रिजगन्मुकरो धीरो, वीरो विजयतेतराम् ॥२॥
श्रीसुधर्मा महावीर-लब्धस्तनोज्ज्वलो गणी ।
निबन्ध तदुक्तार्थं, नमस्तस्मै दयालवे ॥३॥
अथैतत्करुणालब्ध,—विवेकामृतबिन्दुना ।
दशवैकालिकव्याख्या, घासीलालेन तन्यते ॥४॥

अथ प्रथममध्यनयम्

मूलम्—धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

छाया—धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टम्, अहिंसा संयमस्तपः ।

देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥१॥

सान्वयार्थः—अहिंसा=प्राणव्यपरोपणका त्याग करने तथा जीवोंकी रक्षा करनेरूप अहिंसा संजमो=सयम और तपो=तप (यह) धम्मो=धर्म उक्किट्टं=उत्कृष्ट—सबसे श्रेष्ठ मंगलं=मङ्गल है—कल्याणकारी है । जस्स=जिसका मणो=मन सया=सदा—हमेशां धम्मो=धर्म में (लगा रहता है) तं=उसको देवावि=देवताभी नमंसंति=नमस्कार करते हैं, अर्थात् निरन्तर धर्ममें लीन प्राणी देवोंद्वारा भी पूज्य हो जाते हैं ॥१॥

टीका—‘धम्मो मंगल’—मित्यादि । धर्मः=धरति=प्राणीनो दुर्गतौ पतनाद् रक्षति शुभे स्थाने च स्थापयति यः स तथोक्तः । उक्तञ्च—

“दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते पुनः ।

धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥१॥” इति ।

उत्कृष्टम्=उत्तमं, मङ्गलं=मङ्गलस्वरूपम्, कस्तादृशो धर्मः ? इत्यत आह—अहिंसा संयमस्तप इति । तत्राऽहिंसा नाम हिंसावर्जनं प्राणिप्राणरक्षणं तदिच्छा चेति । न हिंसा—अहिंसेति विग्रहे अहिंसाया अभावरूपत्वेनाऽवस्तुतया किमपि कार्यं प्रति कारण-

हिन्दी-भाषानुवाद.

धम्मो मंगल मित्यादि । जो नरक आदिमें गीरते हुए प्राणियोंको बचावे और स्वर्ग-मोक्ष आदि शुभस्थानोंमें पहुंचावे उसे धर्म कहते हैं ।

कहा भी है—“दुर्गतिमें पडते हुए जीवोंकी रक्षा करता है और फिर उन्हें शुभगतिमें पहुंचाता है, इसीसे वह धर्म कहलाता है ” ॥ अर्थात् जो दुःखोंसे छुड़ाकर प्राणियोंको अनन्त सुखकी प्राप्ति कराता है वही धर्म है ।

धर्म उत्कृष्ट मङ्गल है । अहिंसा, सयम और तप, ये तीनों उसके लक्षण हैं ।

अहिंसा—हिंसाका त्याग करना अर्थात् प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करना और उनके प्राणोंके रक्षणकी इच्छा रखना अहिंसा है । हिंसाके अभावको अहिंसा कहा जाय

गुजराती-भाषानुवाद.

‘धम्मो मंगल’ मित्यादि जे नरक आदि दुर्गतिमां पडता प्राणीओने अथावे अने स्वर्ग मोक्ष आदि शुभ स्थानोमां पहुंचावे तेने धर्म कहे छे

कहुं पद्य छे के—“दुर्गतिमां पडता लोवोनी रक्षा करे छे अने पछी तेमने शुभ गतिमां पहुंचावे छे, तेथी ते धर्म कहेवाय छे ” अर्थात् दुःखोथी छोडावोने प्राणीओने अनन्त सुखनी प्राप्ति जे करावे छे, ते धर्म छे

धर्म उत्कृष्ट मंगल छे, अहिंसा, सयम अने तप, जे त्रय तेना लक्षणो छे.

अहिंसा—हिंसानो त्याग करवो अर्थात् प्राणीओना प्राणुनी रक्षा करवो अने तेमना प्राणीनी रक्षा करवानी इच्छा राखवो जे अहिंसा छे हिंसाना अभावने अहिंसा कहेवामां

त्वाऽनापत्तिरतोऽहिंसाऽपि भावरूपैव, तेन प्राणरक्षणमप्यहिंसाशब्दार्थः सिध्यति । ये तु स्वतः परतो वा प्राणिप्राणरक्षणमहिंसेति न मन्यन्ते ते तु अहिंसाशब्दरहस्यानभिज्ञा एवेति बोध्यम् ।

उक्तं हि भगवता प्रश्नव्याकरणे प्रथमसवरद्वारे—

“ इमं च णं सव्वजीवरक्खणदयद्वाए पावयणं भगवया सुकहिय ” इत्यादि । सकलजीवानां रक्षणं प्राणव्यपरोपणवारणं प्राणरक्षणोपयोगी व्यापार इति यावत् तदर्थं, दया=परदुःखप्रहाणेच्छा तदर्थं चेदं प्रवचनं भगवता सुकथितमित्यर्थः,

उक्तञ्च दयाशब्दार्थो वाचस्पत्याभिधाने—

“यत्नादपि परक्लेशं, हर्त्तुं या हृदि जायते ।

इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ ! सा दया परिकीर्तिता ॥१॥ ” इति ।

तस्मात् सर्वप्राणिनां रक्षणं रक्षणेच्छा चेति द्वयमेवाहिंसातत्त्वं सकलधर्ममूलञ्चेति ।

उक्तञ्च संस्तारकप्रकीर्णकटीकायाम्—

तो अहिंसा अभावरूप हो जायगी । अभाव किसी कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकता, इस कारण अहिंसा से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, अतएव अहिंसा को भावरूप (वस्तुरूप) मानना उचित है, और जब कि वह वस्तुरूप है तो प्राणों की रक्षा करना अहिंसाशब्द का अर्थ सिद्ध हुआ । जो जीवों की रक्षा करने कराने को अहिंसा नहीं मानते वे अहिंसा के यथार्थ तत्त्वको नहीं जानते ।

भगवानने प्रश्नव्याकरणके प्रथम सवरद्वार में कहा है—“समस्त जीवों की रक्षा (मरते हुएको, अपने या दूसरोंके द्वारा बचाना) और दया (दुःखोंसे छुड़ानेकी इच्छा) के लिए इस प्रवचन का उपदेश दिया है ”।

वाचस्पत्य महाकोशमें कहा भी है—“हे भूमिसुरश्रेष्ठ ! प्रयत्नसे पर प्राणियोंके क्लेशको निवारण करनेके लिए हृदयमें जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे दया कहते हैं ” ॥१॥

आवे तो अहिंसा अभाव-रूप थर्ष जशे. अभाव केर्ष कायने प्रति कारण थर्ष शक्तुं नथी, तेथी करीने अहिंसाथी स्वर्ग मोक्षनी प्राप्ति नहि थाय. अटके अहिंसांने लावर्ष (वस्तुर्ष) मानवी न उचित छे. अने ने ते वस्तुर्ष छे, तो प्राणोनी रक्षा करवी अवे. अहिंसा शब्दने अर्थ सिद्ध थयो. जेअथो वेनी रक्षा करवी-करावनी अने अहिंसा नथी मानता तेअथो अहिंसांना यथार्थ तत्त्वे नद्यता नथी.

भगवाने प्रश्नव्याकरणना प्रथम सवरद्वारमा कहु छे के— “अथा जेवानी रक्षा (मरता जेवने चेतें अथवा जीवने द्वारा बचाववा) अने दया (दुःखथी छोडाववानी इच्छा)ने भाटे आ प्रवचनने उपदेश आये छे. ”

वाचस्पत्य महाकोशमां यथु कहुं छे के—“ हे भूमिसुरश्रेष्ठ ! प्रयत्न वडे पर प्राणीअेना क्लेशनुं निवारणु करवाने भाटे हृदयमां जे इच्छा उत्पन्न थाय छे तेने दया कहे छे. ” ॥१॥

“न तद्दानं न तद्दयानं, न तज्ज्ञानं न तत्तपः ।

न सा दीक्षा न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ॥१॥ इति ।

तथा—“मूलं धम्मस्म दया, तयणुगयं सव्वमेवऽणुट्ठाणं ।

सिद्धं जिणिदसमणं, मग्गिज्जइ तेणिह दयात् ॥१॥” इति धर्मरत्नप्रकरणे ।
भगवतोऽपि पञ्चदशे शतके प्रोक्तम्—

“तए णं अहं गोयमा ? गोसालस्स मंखलिपुत्तम्म अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स तेयपडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं निसिरामि, जाए सा ममं रोयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिणा तेयलेस्सा पडिहया” इति ।

हे गौतम ! मंखलिपुत्रस्य गोशालकस्यानुकम्पनार्थं बालतपस्विनो वैश्यायनस्य तेजःप्रतिसहरणार्थं च मया शीतलां तेजोलेख्यामुद्भव्य तदीयोष्णा तेजोलेख्या प्रतिहतेत्यर्थः तत्र ‘अणुकंपणट्ठयाए’ ‘तेयपडिसाहरणट्ठयाए’ इति पदद्वयेन गोशालकरक्षणार्थं भगवतस्तेजोलेख्यासमुद्भव इति स्पष्टो भवति ।

सथारगपडन्नाकी टीकामें कहा है—“वह दान दान नहीं, वह ध्यान ध्यान नहीं, वह ज्ञान ज्ञान नहीं, वह तप तप नहीं, वह दीक्षा दीक्षा नहीं और वह भिक्षा भिक्षा नहीं, जहाँ कि दया नहीं है । अर्थात् दयारहित सब क्रियाएँ मिथ्या यानी निष्फल हैं” ॥ २ ॥

धर्मरत्नप्रकरणमें भी कहा है—“धर्मका मूल दया है, दयापूर्वक की हुई समस्त क्रियाएँ सफल होती हैं, इसलिए जिनेन्द्रके मार्गमें दयावान् ही धर्मका अधिकारि हो सकता है” ॥ ३ ॥

उक्त कथनसे यह स्पष्ट हो गया कि मरते हुए प्राणीको बचाना भी अहिंसा है ।

भगवतीसूत्रके पन्द्रहवें शतकमें भगवान् श्रीगौतमसे कहते हैं—

“हे गौतम ! मंखलिपुत्र गोशालककी अनुकम्पा करनेके लिए मैंने शीतल तेजोलेख्यासे बालतपस्वी वैश्यायनके द्वारा निकाली हुई उष्ण तेजोलेख्याका तेज शान्त करके उसे बचाया” ।

यहां यह सदेह हो सकता है कि यदि बचाने में धर्म होता तो भगवान्ने अपने समवसरणमें स्थित सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नामक शिष्यो को क्यों न बचाया ?

सथारगपडन्नाकी टीकामें कुछ छे के— “अे दान दान नथी, अे ध्यान ध्यान नथी, अे ज्ञान ज्ञान नथी, अे तप तप नथी, अे दीक्षा दीक्षा नथी, अने अे भिक्षा भिक्षा नथी के अयां दया नथी, अर्थात् दयारहित अधी क्रियाअे मिथ्या अेटले निष्फल छे ” ॥ २ ॥

धर्मरत्नप्रकरणमें पणु कुछ छे के—“धर्मनुं भूण दया छे, दयापूर्वक करेदी अधी क्रियाअे सफल थाय छे, तेथी जिनेन्द्रना मार्गमें दयावान् न धर्मने अधिकारी थई शकै छे ” ॥३॥

उक्त कथनथी अे स्पष्ट थई गयु उ भरता प्राणीने अयाववे अे पणु अडिंसा छे भगवतीसूत्रना पंद्रहवां शतकमें भगवान् श्री गौतमने कहे छे के—“हे गौतम ! बालतपस्वी वैश्यायन द्वारा काढवायां आवेदी उष्ण तेजोलेख्याना तेजने शीतल तेजोलेख्याथी शांत करीने, मंखलिपुत्र गोशालकनी उपर दया करवा माटे अे तेने अयाववे। ”

न च रक्षणं यदि धर्मस्तर्हि स्वसमवसरणे वर्तमानौ सर्वानुभूतिमुनक्षत्रनामानौ शिष्यौ किं न भगवता रक्षितौ ? इति वाच्यम्, भगवतः सर्वज्ञतया तयोरायुःसमाप्ति-सन्दर्शनात् । ननु यथा समाप्तायुषं कोऽपि नैव रक्षितुं प्रभवति तथा विद्यमानायुषं न कोऽपि हन्तुं शक्नुयात् ? इति चेन्न, त्रिपष्टिशलाकापुरुषान् देवान् नारकांश्च विहायान्येषां प्राणिनामायुषः सत्त्वेऽपि विषशस्त्रादिभिरकालमरणसम्भवात्, ईदृशस्याकालमरणस्य बहुशः शास्त्रे प्रतिपादितत्वाच्च, अत एवाऽऽयुषः सत्त्वेऽपि प्राणिनां प्राणव्यपरोपणं सम्भवतीति ग्रन्थविस्तरभिया विरमामः । एवञ्चाहिंसाशब्दस्योक्तार्थः सुस्पष्ट एव ।

इसका समाधान यह है कि—भगवान् सर्वज्ञ थे, इसलिए किसका आयुष्य कितना अवशेष है या समाप्त हो चुका है इसे वे अपने निर्मल केवल ज्ञानसे जानते थे । सर्वानुभूति और सुनक्षत्र शिष्योंका वर्तमान आयुष्य समाप्त हो चुका था ।

प्रश्न—जैसे वर्तमान आयुष्य समाप्त होने पर कोई किसीको बचा नहीं सकता वैसे ही आयुष्य रहते हुए कोई किसीको प्राणरहित भी नहीं कर सकता ?

उत्तर—ऐसी शङ्का करना भी उचित नहीं है । क्योंकि त्रिपष्टिशलाकापुरुष, देवता और नारकोके सिवाय समस्त प्राणियोंकी आयु रहते हुए भी विष शस्त्र आदि कारणोंसे अकालमृत्यु भी हो सकती है, यह बात शास्त्रसिद्ध है, अत एव आयुष्यके सद्भावमें भी प्राणोंका व्यपरोपण हो सकता है । विस्तार भयसे इस प्रकरणको यहाँ ही समाप्त करते हैं ।

प्राणिप्राणरक्षण और उसकी इच्छाको अहिंसा कहते हैं । यह सिद्धान्त हुआ ।

अहीं ओवो स देह थर् शके छे के—जे अथाववामा धर्म थाय छे तो लगवाने पोताना सम्भवसरणुमां रहेला सर्वानुभूति अने सुनक्षत्र नामना शिष्योने केम न अथाव्या ?

ओनु समाधान ओ छे के—लगवान् सर्वज्ञ हुता, तेथी केतुं आयुष्य केटलुं अवशेष रह्यु छे अथवा समाप्त थर् यूक्यु छे ते लगवान् पोताना निर्मल केवल ज्ञानथी जाण्युता हुता सर्वानुभूति अने सुनक्षत्र शिष्योनुं वर्तमान आयुष्य समाप्त थर् यूक्यु हुतुं.

प्रश्न—जेम वर्तमान आयुष्य समाप्त थनाथी केध केधने अथावी शकतुं नथी; तेमज आयुष्य जाकी होय तो केध केधने प्राणुरहित पणु करी शकतुं नथी

उत्तर—ओवी शका करवी ज उचित नथी, केमके त्रिपष्टिशलाकापुरुष, देवता अने नारकीओ सिवाय भीज अथा प्राणीओनु आयुष्य जाकी होय तो पणु विष, शस्त्र, आदि कारणोथी तेमनु अकालमृत्यु पणु थर् शके छे. ओ वात शास्त्रसिद्ध छे. ओटले आयुष्यनेा सद्भाव होवा छतां पणु प्राणोनु व्यपरोपणु थर् शके छे

वधारे विस्तार नहि करवाना हेतुथीआ प्रकरणने अही ज समाप्त करीओ छीओ.

प्राणिप्राणरक्षण अने तेनी इच्छाने अहिंसा कहे छे ओवो सिद्धान्त थये।

अथ प्राणिप्राणरक्षणं तदिच्छा चेति द्वयम् 'अहिंसे'—ति सिद्धान्तितम् । अहिंसा—इत्यत्र का नाम हिंसेति चेदुच्यते—

हिंसा नाम प्रमादपारवश्यात् प्राणव्यपरोपणम् । प्रमादश्च मद्य-विषयकषाय-निद्रा-विकथाभेदात्पञ्चधा, यद्वा अज्ञान-सशय-विपर्यय-राग-द्वेष-स्मृतिभ्रंश-योगदुष्प्रणिधान-धर्मानादरभेदादष्टविधः । सा च हिंसा त्रिविधा द्रव्यतो भावत उभयतश्चेति तत्र—

द्रव्यतो हिंसा=आत्मनो विशुद्धपरिणामस्य सत्त्वेऽप्यकस्मादनिच्छया जन्तुविराधनं, यथा—भिक्षाचर्यादौ प्रवृत्तस्य समितिगुप्त्यादिधारकस्य चलनार्थं पादोत्थाने कृते एकेन चरणेन तिष्ठतः साधोरुत्थापितचरणतले तदानीं कुतश्चिद्भयाद् दुर्लक्ष्यकारणवशाद्वा वेगेन समागतस्य कस्यचिद् द्वीन्द्रियादिजन्तोरितस्ततः साधुना तद्रक्षणप्रयासे कृतेऽपि अकस्माच्चरणतलसलयतया विराधनम् ।

अहिंसा शब्द घटक जो हिंसा शब्द है उसका अभिप्राय क्या है / इस पर कहते हैं—प्रमादके वश होकर प्राणका अतिपात करना हिंसा है ।

प्रमाद—(१) मद्य, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा और (५) विकथाके भेदसे पांच प्रकारका, अथवा (१) अज्ञान, (२) सशय, (३) विपर्यय, (४) राग, (५) द्वेष, (६) स्मृति-भ्रंश, (७) योगदुष्प्रणिधान, (८) धर्मानादर, के भेदसे आठ प्रकारका है ।

हिंसा तीन प्रकारकी है—(१) द्रव्यहिंसा, (२) भावहिंसा और (३) उभयहिंसा ।

(१) द्रव्यहिंसा—आत्माके परिणाम विशुद्ध होने पर भी अकस्मात् दृष्टाके विना ही जन्तुको पीडा हो जाना द्रव्यहिंसा है, जैसे—आहार विहार आदिमें प्रवृत्त मगिति और गुप्तिके धारण करनेवाले मुनिने जब एक चरण उठाया तो उठाये हुए चरणके नीचे हिंसा मगती गी अन्य कारणसे कोई द्वीन्द्रिय आदि लघुकाय जीव अचानक नीचे आ जाय और मानु उनको रक्षा करनेका प्रयत्न भी कर रहे हों, फिर भी अचानक दब जानेसे दिगमना होना । इस

एवंविधा च हिंसा काययोगस्य चपलतया सर्वथा परिहर्तुमशक्येति व्यवहारन-
यमात्रगम्या ।

भावतो हिंसा=प्राणव्यपरोपणेच्छालक्षण आत्मनोऽशुद्धपरिणामः, यथा-मकरनाम्नो
जलजन्तुविशेषस्य भूप्रदेशे लब्धजन्मा तण्डुलदध्नोऽन्तर्मुहूर्त्तार्थयुक्तोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रगर्भनिवा-
सानन्तरमुत्पादशीलस्तण्डुलाभिधानो मत्स्यविशेषस्तत्र स्थित एवावलोकयति--

मकरोऽयं मत्स्यानशितुं तावत्तुण्डतस्तोयमाकर्षति, ततश्च जलवेगादाननान्तःस-
मागतेषु प्रचुरतरेषु मीनेषु पश्चात्तानवरुध्याऽऽस्यगतं नीरं निस्सारयति तदा दशाना-
न्तरावकाशनिर्गतोदकवेगतो बहुतरं मीना लघुतरा निस्सरन्त्येव । एवं बहिर्व्रजस्तान्नि-
रीक्ष्यासौ तण्डुलमत्स्यो मनसि विभावयति--

प्रकारकी हिंसा, शरीरके योगकी चपलताको सर्वथा दूर करना अत्यन्त कठिन होनेके कारण
व्यवहारनयमात्र है ।

(२) भावहिंसा-प्राणोंसे रहित करनेकी इच्छारूप आत्माका अविशुद्ध परिणाम,
भावहिंसा कहलाती है ।

जैसे-मगर नामके जलचर-जीव-विशेषकी भोंह पर बारीक चाँवलके समान शरीरवाला
एक तन्दुल नामका मत्स्य होता है, वह अन्तर्मुहूर्त्त गर्भमें रहकर जन्म लेता है; उसकी आयु
अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकी होती है । गर्भज न होनेके कारण उसको मन होता है । वह वहाँ (भोंह
पर) बैठा हुआ मगरका कृत्य देखता है कि वह मगर जलजन्तुओंको खानेके लिए पहले अपने
मुँहमें पानीको खींचता है, फिर पानीके वेगसे आईहुई मछलियों को मुँहमें रोककर जब पानीको
निकालता है तब दाँतोंके छिद्रों द्वारा पानीके साथ-साथ बहुतसी छोटी २ मछलियाँ निकल
जाती हैं, तब निकलतो हुई मछलियोंको देखकर तन्दुलमत्स्य विचारता है कि--

एव अयानक पग नीचे आवी जय, अने मुनि अनी रक्षा करवाने प्रयत्न पशु करी रखा
डोय, तो पशु अयानक दण्डाँ जवाथी विराधना थाय. आ प्रकारनी हिंसा, शरीरना
योगनी चपलताने सर्वथा दूर करनी अत्यन्त कठिन होवाने कारणे व्यवहारनयमात्र छे.

(२) भावहिंसा-प्राणुथी रहित करवानी इच्छारूप आत्मानु अविशुद्ध परिणाम
अे भावहिंसा कहलाय छे.

जैसे-मगर नामना अेक जलचर प्राणीनी लम्बर पर बाधा जेवा बारीक शरीर-
वाला अेक तन्दुल नामना मत्स्य थाय छे. अे मत्स्य अन्तर्मुहूर्त्त गर्भमां रहीने जन्म ले
छे तेनुं आयुअ अन्तर्मुहूर्त्त जेटकुं डोय छे त गर्भज एव होवाने लीधे तेने मन थाय
छे ते मगरना लम्बर पर जेठोजेठो मगरनुं कृत्य ज्युअे छे के आ मगर जलमाना ज्युअेने
जावाने भाटे पडेला पोताना भेडांमां पाणीने जे ये छे, पछी पाणीना वेगथा आवेली भाछली
अेने भेडांमां रोकीने ज्यारे पाणीने कठी नाजे छे, त्यारे दांतना छिद्रो द्वारा पाणीनी
साथे साथे धणीय नानी नानी भाछलीअे जडार नीकणी जय छे. अे नीकणी जती भाछ-

संयमः । संयमः=संयमनं=सम्यगुपरमण सावधयोगादिति संयमः, स च सप्तदशविधः, तदुक्तं समवायाङ्गे—

“सत्तरसविधे संजमे पणत्ते—(१) पृथ्वीकायसंजमे (२) आउकायसंजमे (३) तेउकायसंजमे (४) वाउकायसंजमे (५) वणस्तइकायसंजमे (६) वेइंदियसंजमे (७) तेइंदियसंजमे (८) चउरिंदियसंजमे (९) पंचिंदियसंजमे (१०) अजीवकायसंजमे (११) पेहासंजमे (१२) उवेहासंजमे (१३) अवहद्दु(परिद्धावणा)संजमे (१४) पमज्जणासंजमे (१५) मणसंजमे (१६) वयसंजमे (१७) कायसंजमे” इति ।

छाया—सप्तदशविधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—(१) पृथिवीकायसंयमः (२) अप्कायसंयमः (३) तेजस्कायसंयमः (४) वायुकायसंयमः (५) वनस्पतिकायसंयमः (६) द्वीन्द्रियसंयमः (७) त्रीन्द्रियसंयमः (८) चतुरिन्द्रियसंयमः (९) पञ्चेन्द्रियसंयमः (१०) अजीवकायसंयमः (११) प्रेक्षासंयमः (१२) उपेक्षासंयमः (१३) अपहृत्यसंयमः (१४) प्रमार्जनासंयमः (१५) मनःसंयमः (१६) वाक्संयमः (१७) कायसंयमः ।

तत्र (१) पृथिवीकायसंयमः=सचित्तपृथिव्या हस्तपादादिना संघट्टनादिविरतिः

हरिणको मारनेको इच्छास वाण चलाता है और उससे उसके प्राणोका नाश हो जाता है ।

संयम—सावधयोगसे सम्यक्प्रकारसे निवृत्त होनेको संयम कहते हैं । वह सतरह प्रकारका है । समवायाङ्गके सतरहवें समवायमें कहा है—(१) पृथिवीकायसंयम, (२) अप्कायसंयम, (३) तेजस्कायसंयम, (४) वायुकायसंयम, (५) वनस्पतिकायसंयम, (६) द्वीन्द्रियसंयम, (७) त्रीन्द्रियसंयम, (८) चतुरिन्द्रियसंयम, (९) पञ्चेन्द्रियसंयम, (१०) अजीवकायसंयम, (११) प्रेक्षासंयम, (१२) उपेक्षासंयम (१३) अपहृत्यसंयम (परिष्ठापनासंयम), (१४) प्रमार्जनासंयम, (१५) मनःसंयम, (१६) वाक्संयम, (१७) कायसंयम ।

(१) पृथिवीकायसंयम=हाथ पैर इत्यादिसे सचित्त पृथिवीका संघट्टन (सघटन) आदिका वर्जन करना ।

એ હિ સામાં આત્માના અશુદ્ધ પરિણામ તથા પ્રાણનો નાશ બંને રહેલા હોય છે જેમકે—કોઈ પારથી હરણને મારવાની ઇચ્છાથી બાણ છોડે છે અને એ રીતે હરણના પ્રાણનો નાશ થઈ જાય છે.

સંયમ—સાવધયોગથી સમ્યક્ પ્રકારે નિવૃત્ત થવું તેને સંયમ કહે છે. સંયમ સત્તર પ્રકારનો છે. સમવાયાગના સત્તરમા સમવાયમાં તે પ્રકારો કહ્યા છે (૧) પૃથિવીકાય સંયમ, (૨) અપ્કાસંયમ, (૩) તેજસ્કાયસંયમ, (૪) વાયુકાયસંયમ, (૫) વનસ્પતિકાયસંયમ, (૬) દ્વીન્દ્રિયસંયમ, (૭) ત્રીન્દ્રિયસંયમ, (૮) ચતુરિન્દ્રિયસંયમ, (૯) પંચેન્દ્રિયસંયમ, (૧૦) અજીવકાયસંયમ (૧૧) પ્રેક્ષાસંયમ, (૧૨) ઉપેક્ષાસંયમ, (૧૩) અપહૃત્યસંયમ (પરિષ્ઠાપના સંયમ), (૧૪) પ્રમાર્જનાસંયમ, (૧૫) મનઃ સંયમ, (૧૬) વાક્સંયમ, (૧૭) કાયસંયમ

(૧) પૃથિવીકાયસંયમ—હાથ પગ ઇત્યાદિથી સચિત્ત પૃથિવીનું સંઘટન (સ્પર્શ) વગેરેને વર્જવું.

(२) अप्कायसंयमः=सचित्तजलस्य संघट्टनाद्यकरणम्, (३) तेजस्कायसंयमः=पचनपाचनादिनिमित्तकाऽनलारम्भनिवर्त्तनम्; (४) वायुकायसंयमः=वस्त्रपात्रव्यजनवक्त्रादिसमुत्पन्नवायुजनितवायुकायोपमर्दननिवृत्तिः, तत्र वस्त्रपात्राणामयतनया निक्षेपणादानप्रक्षेपनिपातनादिकारणवशात्, तथा तेषां (वस्त्रपात्राणां) व्यजनपर्णशाखादीनां च विधूननेन वायुकायविराधनं भवति । अनावृतमुखेन संभाषणे च तन्निर्गतोष्णवायुना तद्विराधनं जायते । (५) वनस्पतिकायसंयमः,=तरुलतिकादिहरितकायमात्रस्य संघट्टनादिवर्जनम् । एव (६) द्वीन्द्रियादि—(९) पञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां सर्वथाऽनुपमर्दनं तत्तत्संयमः (१०) अजी-

(२) अप्कायसंयमः=सचित्त जलका संघटा (स्पर्श) आदि न करना ।

(३) तेजस्कायसंयमः=पचन पाचन आदि किसी प्रयोजनके लिए अग्निके संघटा आदिका वर्जन करना ।

(४) वायुकायसंयमः=वस्त्र, पात्र, पंखा, फूक आदिसे उत्पन्न हुए वायुद्वारा वायुकायकी विराधनाका वर्जन करना ।

वस्त्र, पात्रोको अयतनासे रखनेसे, अयतनासे लेनेसे, फेकनेसे, गिरानेसे, तथा वस्त्र, पात्र, पंखा, आदिको हिलाकर वायुकायकी उदीरणा करनेसे तथा बोलते समय उष्णवायु निकलनेके द्वारा मुखसे वायुकायकी विराधना होती है ।

वनस्पतिकायसंयमः—वृक्ष, लता आदि हरित कायके संघटा आदिसे निवृत्त होना ।

(६-७-८-९) द्वीन्द्रियादिसंयमः=द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुर्गिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय, जीवोका सर्वथा उपमर्दन न करना तत्तत्संयम, अर्थात् द्वीन्द्रियसंयम, त्रीन्द्रियसंयम, चतुरिन्द्रियसंयम, पञ्चेन्द्रियसंयम कहलाता है ।

(२) अप्कायसंयमः—सचित्त जलस्य संघट्टन आदि न करवुं

(३) तेजस्कायसंयमः—राधवुं, रंधाववुं वगैरे इति प्रयोजनने भाटे अग्निना संघट्टन आदिने वर्जवुं

(४) वायुकायसंयमः—वस्त्र, पात्र, पंजा, डूँठ इत्यादिथी उत्पन्न धमोला वायुद्वारा वायुकायनी विराधना वर्जवुं

वस्त्र, पात्रो इत्यादिने अयतनापूर्वक गणवाथी, अयतनापूर्वक लेवाथी, डूँठवाथी पाउवाथी, तथा वस्त्र-पात्र-पंजा वगैरेने इलावीने वायुकायनी उदीरणा करवाथी तथा मोलनी वधते सुभना उना वायुथी वायुकायनी विराधना धाय छे

(५) वनस्पतिकायसंयमः—वृक्ष, लता आदि हरितकायना संघट्टन आदिनी निवृत्त करवुं

(६-७-८-९) द्वीन्द्रियादिसंयमः—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुर्गिन्द्रिय, अने पञ्चेन्द्रिय इत्येते सर्वथा उपमर्दन न करवुं, ते ते प्रकृतो अयम, अर्थात् द्वीन्द्रियसंयम, त्रीन्द्रियसंयम, चतुर्गिन्द्रियसंयम अने पञ्चेन्द्रियसंयम इति वाय छे

वकायसंयमः=बहुमूल्यवतां वस्त्रपात्रादीनामनुपादानाम्, उपादेयवस्त्रपात्रादीनां सयत्नमुपादानं स्थापनं च, (११) प्रेक्षासंयमः=वसतिवस्त्रपात्रादीनां सयतनं सविधि प्रतिलेखनम्, (१२) उपेक्षासंयमः=संयममार्गं क्लेशमाकलयतोऽसंयममार्गं प्रवर्तमानस्य वा स्वात्मनः परस्य वा असंयमदोषान् संयमगुणांश्चावबोध्य सयमयोगेषु प्रवर्तनं संयमसमीपानयनलक्षणं सयमसामीप्यदर्शनमित्यर्थः । यद्वा प्रेक्षासंयमः=सकृत्प्रतिलेखनम् । उपेक्षासयमः=पुनः पुनः प्रतिलेखनम् । (१३) अपहृत्य(परिष्ठापना) सयमः=उच्चारादीनां विधिना समुत्सर्गः परिष्ठापनमित्यर्थः । (१४) प्रमार्जनासंयमः=विधिना वसतिपात्रादेः परिशोधनम् । (१५-१६-१७) मनोवाक्कायसयमः=अकुशलानां मनोवाक्कायानां निरोधेन कुशलानामुदीरणम् । तत्राऽऽर्त्तरोद्घ्यानपरिहारपूर्वकधर्मशुक्रध्यानप्रवर्तनं मनःसयमः ।

(१०) अजीवकायसयमः=बहुत मूल्यवाले वस्त्र पात्र आदिका गहण न करना, तथा कल्पनीय वस्त्र पात्र आदि को यतनाके साथ लेना और रखना ।

(११) प्रेक्षासंयमः=वसती, वस्त्र, पात्र, पाट, पाटला, आदिका यतनापूर्वक सविधि प्रतिलेखन करना ।

(१२) उपेक्षासंयमः-सयममार्गमें अनुकूल प्रतिकूल परीषहोसे क्लेशका अनुभव करनेवाले अथवा असंयममें प्रवृत्ति करनेवाले स्वपरकी आत्माको सयमके गुण और असयमके दोष समझाकर फिर संयममार्गमें प्रवृत्त करना । अथवा वस्त्र पात्र आदिके उपभोग करते समय एक बार प्रतिलेखन करना प्रेक्षासयम है, और वारंवार चारो ओरसे प्रतिलेखन करना उपेक्षासयम है ।

(१३) अपहृत्य(परिष्ठापना)सयमः-यतनापूर्वक उच्चार-प्रसवणको त्यागना ।

(१४) प्रमार्जनासयमः-यतनाके साथ वसती वस्त्र पात्र आदिको पूँजना (प्रमार्जन करना)

(१०) अजीवकायसयमः—मूल्यवान् वस्त्र पात्र आदिने ग्रहण न करना, तथा कल्पिते वा वस्त्र पात्र आदिने यतनापूर्वक लेना तथा राखना

(११) प्रेक्षासंयमः—वसती, वस्त्र, पात्र, पाट, पाटला इत्यादिने यतनापूर्वक तथा विधिसर प्रतिलेखन करना

(१२) उपेक्षासंयमः—सयममार्गमा अनुकूल-प्रतिकूल परीषहोत्थी क्लेशानो अनुभव करनारा, अथवा असंयममां प्रवृत्ति करनारा, स्वपरना आत्माओने संयमना गुण तथा असयमना दोष समझवीने पछी संयममार्गमां प्रवृत्त करना अथवा वस्त्र-पात्र आदिने उपभोग करती वभते ओकवार प्रतिलेखन करवुं ओ प्रेक्षासंयम छे, अने वारंवार आरे आनुओत्थी प्रतिलेखन करवुं ओ उपेक्षासंयम छे.

(१३) अपहृत्य (परिष्ठापना) सयमः—यतनापूर्वक उच्चार-प्रसवणने परठववां-त्यजवां.

(१४) प्रमार्जनासयमः—यतनापूर्वक वसती वस्त्र पात्र आदिने पूँजवां (प्रमार्जवां).

(१५) मनः सयमः—अकुशल मनने निरोध करीने कुशल मननी प्रवृत्ति करवी,

सावद्यपरिहारपूर्वकनिरवद्यभाषणं वाक्संयमः । अयतनापारंहारेण यतनापुरस्सरकायप्रवर्तनं कायसंयमः इति विवेकः ।

प्रकारान्तरेणापि संयमः सप्तदशविधः, यथा—

“पञ्चास्रवाद्विरमणं, पठचेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः ।

दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥१॥” इति ।

तत्र पञ्चास्रवविरमणं=पञ्चास्रवाः प्राणातिपातादय एतेभ्यो विरमणं=निवृत्तिः (५), पठचेन्द्रियनिग्रहः=तत्तद्विषयेष्वप्रवर्तनम्, इष्टानिष्टेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणमित्यर्थः (१०), कषायजयः=उदयभावमप्राप्नुवतां क्रोधादीनां चतुर्णां निरोधः, उदयभावं प्राप्तानां च तेषां निष्फलीकरणम् (१४) दण्डत्रयविरतिः=दण्ड्यते=रत्नत्रयैश्वर्यापहारा-दसारीक्रियते आत्मा यैगिति दण्डास्तेषां त्रयं दण्डत्रयं=मनोदण्ड-वचोदण्ड-कायदण्ड-लक्षणास्त्रयो दण्डा इत्यर्थः, तस्माद्विरतिः=निवृत्तिः (१७) ।

(१५) मनःसंयम—अकुशल मनका निरोध करके कुशल मनकी प्रवृत्ति करना, अर्थात् आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानका त्याग करके धर्म और शुक्लध्यानमें मनको लगाना ।

(१६) वचनसंयम—अशुभ (सावद्य) वचनका त्यागकर शुभ (निरवद्य) वचन बोलना ।

(१७) कायसंयम—अयतनाको छोडकर यतना पूर्वक ही कायकी प्रवृत्ति करना ।

संयमके सत्तरह भेद दूसरे प्रकारसे भी होते हैं, जैसे—प्राणातिपात आदि पाच आस्रवोंका विरमण (५), पांच इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें राग न करना अनिष्ट विषयोंमें द्वेष न करना (१०) उदयमें न आये हुए क्रोध आदि चार कषायोंका निरोध करना और उदयमें आये हुएको निष्फल करना, जैसे—क्रोधका उदय होने पर क्षमा रखना, मानका उदय होने पर मार्दव भाव रखना, मायाका उदय होने पर सरलता रखना, और लोभकषायका उदय होने पर निर्लोभता धारण करना (१४) ज्ञान आदि गुणोंका अपहरण (नाश) करके आत्माको दरिद्र बनाने वाले मनदण्ड वचनदण्ड, और कायदण्डका त्याग करना (१७),

अर्थात् आर्त्तध्यान अने रौद्रध्यानना त्याग करीने धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानमा मनने लगाउवुं

(१६) वचनसंयम—अशुभ वचनना त्याग करीने शुभ वचन बोलवना

(१७) कायसंयम—अयतनाने त्यजने यतनापूर्वक कायकी प्रवृत्ति करवनी

संयमना सत्तर भेद पाँच प्रकारसे पाँच आस्रव छे लगेके प्राणातिपात आदि पाँच आस्रवोंको निवृत्त (५), पाँच इन्द्रियोंका इष्ट विषयोंमा राग न करवनी, अनिष्ट विषयोंमा द्वेष न करवनी (१०), उदयमा न आवेके क्रोध आदि चार कषायोंको निरोध करवनी अने उदयमा आवेकाने निरोध करवा लेभके क्षमा रखना उदय भना उमा मायाका उदय भना मार्दवभाव मायाको मायाको उदय भना सरलता रखवना, अने लोभकषायको उदय भना निर्लोभता धारण करवनी (१४) ज्ञान आदि गुणोंका अपहरण (नाश) करके आत्माको दरिद्र बनाने वाले मनदण्ड वचनदण्ड, और कायदण्डका त्याग करवनी (१७)

पूर्व वायुकायसंयमविषये प्रोक्तं यत्—‘अनावृतमुखेन संभाषणे मुखनिर्गतोष्णवायुना वायुकायविराधनं जायते’ इति, तत्र केचिदेवं वदन्ति—आत्मा हि भाषणकाले चतुःस्पर्शवतो भाषावर्गणापुद्गलान् गृह्णाति तैर्वायुकायस्य विराधना न संभवति तस्यापि चतुःस्पर्शवत्त्वादिति ।

तेषामपर्याप्तमेतत्कथनम्, वस्तुतस्तु आत्मा पूर्व चतुःस्पर्शकपुद्गलानेव गृह्णाति किन्तु संभाषणसमये तैजसशरीर संगृह्यैव भाषापुद्गला निस्सरन्तीति तैजसशरीरसम्बन्धेन तेषु स्पर्शवन्तो जायन्ते तस्मादनिवार्या वायुकायविराधना ।

। मुखवस्त्रिकाविचारः ।

ननु मुखोष्णवायुनाऽपि यदि वायुकायविराधनं तर्हि मुनिना कथं वायुकायसंयमः ? इति चेत् न, यतो भगवता श्रीतीर्थङ्करेण मुनीनां वायुकायसंयमार्थं मुखवस्त्रिकावन्धनं प्रतिपादितम् ।

पहले वायुकायसंयममे कहा है कि—बोलते समय मुखसे निकलनेवाली वायु गर्म होती है और इसी कारण उससे वायुकायके जावोकी विराधना होती है ।

यहाँ कुछ लोगोका कहना है कि आत्मा चार स्पर्शवाले भाषावर्गणाके पुद्गलोको ग्रहण करती है और चार स्पर्शवाले पुद्गलो से वायुकायकी विराधना नहीं हो सकती, क्यों कि वायुकायके जीवभी चार स्पर्शवाले होते हैं । उनका यह कथन अधूरा है । बात वास्तव में यह है कि आत्मा ग्रहण तो चार स्पर्शवाले पुद्गलो का ही करती हैं किन्तु भाषण करते समय तैजस शरीरको ग्रहण करके ही भाषा—पुद्गल निकलते हैं । तैजस शरीरके सम्बन्धसे भाषा—पुद्गल आठ स्पर्शवाले हो जाते हैं, और आठ स्पर्शवाले होने से उनसे वायुकाय आदि की विराधना अवश्य होती है ।

मुखवस्त्रिकाविचार.

जब मुखसे निकलनेवाली वायुसे वायुकाय को विराधना होती है, तो मुनि वायुकायका

पूर्वे वायुकाय-संयममा नो क्लृप्ते ष्टे—पुद्गले मोठे जोलवासा मुभमांथी नीकणता गरम वायु वडे वायुकायना जवोनी विराधना थाय छे त्या केटलाक दोकोनुं कडेवु ओपुं छे के आत्मा चार स्पर्शवाणा भाषावर्गणा पुद्गलोने अडणु करे छे अने चार स्पर्शवाणा पुद्गलोथी वायुकायनी विराधना थर् शकती नथी. केभके वायुकायना जवो पक्षु चार स्पर्शवाणा डोय छे ओमनु ओ कथन अधूरे छे. वस्तुतः वात ओवी छे के आत्मा अडणु तो चार स्पर्शवाणा पुद्गलोनु न करे छे, किन्तु जोलती वभते तैजस शरीरने अडणु करीने न भाषापुद्गलो नीकणे छे तैजस शरीरना संबंधथी भाषा—पुद्गल आठ स्पर्शवाणा थर् जय छे, अने आठ स्पर्शवाणा थवाथी, तेनाथी वायुकाय आदिनी विराधना अवश्य थाय छे.

मुखवस्त्रिकाविचार

नो मुभमांथी निकणनारा वायुथी वायुकायनी विराधना थाय छे, तो मुनि वायुकायने

तद्विना हि श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तौ षोडशतमशतकस्य द्वितीयोद्देशे भगवता शक्रेन्द्र-
स्यापि भाषणं सावद्यत्वेन परिकथितं, तथाहि—

गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जूहत्ताणं भासं भासति
ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भास भासइ । जाहे णं सक्के देविंदे देवराया
सुहुमकायं णिज्जूहत्ताणं भास भासइ ताहे सक्के देविंदे देवराया असावज्जं भासं
भासइ' इत्यादि ।

'गौतम ! यदा शक्रो देवेन्द्रो देवराजः सूक्ष्मकायमपोह्य भाषां भाषते तदा शक्रो
देवेन्द्रो देवराजः सावद्यां भाषां भाषते । यदा शक्रो देवेन्द्रो देवराजः सूक्ष्मकायं दत्त्वा
भाषां भाषते तदा शक्रो देवेन्द्रो देवराजः असावद्यां भाषां भाषते' इति संस्कृतम् ।

अयमाशयः—मुखवस्त्रिकाधारणं विना भाषणे वायुकायादिविराधनस्य दुर्वारतया
भाषा सावद्या भवतीति ।

एतद्व्याख्याने अभयदेवसूरिणाऽपि—“जीवसंरक्षणतोऽनवद्या भाषा भवति, अन्या
तु सावद्या” त्युक्तम् । ‘सुहुमकायं अणिज्जूहत्ताणं’ इत्यस्य हि वस्त्रमपोह्य मुखोपरि
वस्त्रमदत्त्वे (मवद्ध्वे) त्यर्थः । यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां भाषाया निरवद्यत्वं सावद्यत्वं च

सयम कैसे पाल सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वायुकायके सयमके लिए ही
तीर्थंकर गणधर भगवान्ने मुखवस्त्रिका धारण करना बताया है । श्रीभगवतीमूत्र के सोलहवें
शतक के दूसरे उद्देशमें भगवान्ने विना मुखवस्त्रिकाके इन्द्र महाराजके भाषणको भी सावद्य
बताया है, यथा—“गोयमा !” इत्यादि ।

तात्पर्य यह है कि मुखवस्त्रिका धारण किये विना भाषण करने से वायुकायकी विराधना
अनिवार्य है, अत एव वह भाषा सावद्य है । इसका व्याख्यान करते हुए अभयदेवमूरि लिखते
हैं—“जीव संरक्षणतोऽनवद्या भाषा भवति अन्या तु सावद्या ।”—अर्थात् जीवों की रक्षा होनेसे
भाषा निरवद्य होती है और इससे भिन्न (जीवों की घात करने वाली) भाषा सावद्य होती है ।
मूल पाठके ‘सुहुमकायं अणिज्जूहत्ताणं’ इस पदका अर्थ यह है कि—‘मुख पर वस्त्र न धारण

सयम कैसे करते पाणी शक्ये छे ? ओ प्रश्नको उत्तर ओ छे के वायुकायना सयमने माटे १
तीर्थंकर गणधर भगवाने मुखवस्त्रिका धारण करवानुं बताया छे । श्रीभगवती-मूत्रना
सोणमा शतकना षीठ उद्देशमा मुखवस्त्रिका धारणना इन्द्र महाराजना भाषणने पण
भगवाने सावद्य बताया छे :-‘गोयमा’ इत्यादि

तात्पर्य ओ छे के मुखवस्त्रिका धारण कर्था विना भाषण करवाधी वायुकायनी विराधना
अनिवार्य छे, तथी करीने ओ भाषा सावद्य छे ओनुं व्याख्यान करवा अशयदेव सूरि लोग
छे के “ जीवसंरक्षणतोऽनवद्या भाषा भवति अन्या तु सावद्या ” अर्थात् जीवोंनी रक्षा
धवाधी भाषा निरवद्य थाय छे अने ओधी भिन्न (जीवोंनी घात करवापणी) भाषा
सावद्य होय छे । मूल पाठना ‘सुहुमकायं अणिज्जूहत्ताणं’ पदना अर्थ ओ छे :- ‘भाष पर

भवति, भाषाभिव्यक्तिश्च मुखान्द्रवतीति मुखे ध्रियमाणं वस्त्रं 'मुखवस्त्रिका' शब्देन शास्त्रे न्यवह्रियते ।

'शक्र' इत्येव वक्तव्ये 'देवेन्द्रो देवराजः' इति विशेषणोक्त्या दिव्यशक्तिमत्त्वेऽपि तस्य मुखवस्त्रिकाधारणाभावे यदि सवद्या भाषा तर्हि औदारिकशरीरधारिणां का वात्ते ? ति ध्वनितम् ।

सा च मुखवस्त्रिका वायुकायादिप्राणिप्राणसंरक्षणोपयोगि-मुखोपरिवन्धनीयमुख-परिमित-सदोरकाऽट्टपुटवस्त्रखण्डविशेषः । अत्रायं मङ्ग्रहः- -

“वाउकायाऽरक्खण्डं, वज्जर्ड ज सया मुहे ।

सदोरट्टपुडं वत्थं, वुत्ता सा मुहवत्थिया ॥ १ ॥

मुहमाणा जर्डळिगं, मच्चसंजमकारणं ।

पमत्थभावणावुट्टही-हेऊ य मुहवत्थिया ॥ २ ॥” इति ।

करके' जहाँ वस्त्र धारण नहीं वहाँ भाषा सावध होती है, और जहाँ वस्त्र धारण होता है वहाँ भाषा निरवध होती है । भाषा मुम्बने निकलनी है, इसलिए मुख पर धारण किया जानेवाला वस्त्र मुखवस्त्रिका कहलाता है ।

मूलमें 'शक्र' कहनेसे ही टन्द्रका बोध हो सकता था, किन्तु देवेन्द्र और देवराज विशेषणों का देना यह सिद्ध करता है कि जब दिव्य शक्तिमान् होने पर भी मुखवस्त्रिका न धारण करनेसे उसकी भाषा सावध होती है तो औदारिक शरीर-धारियों की बात ही क्या है ? उनकी भाषा अवश्य ही सावध होगी ।

वह मुखवस्त्रिका वायुकाय आदिके प्राणियोंकी रक्षाके लिये उपयोगी, मुख पर बांधने योग्य, मुखके बराबर डोरा सहित आठ पुटवाला, वस्त्रका खण्डविशेष है । यहाँ सग्रहगाथाएँ हैं-वाउ इत्यादि,

वस्त्र न धारणु करीने' जहाँ वस्त्र धारणु नहीं, त्यां लाषा सावध छे अने जया वस्त्र धारणु थाय छे त्यां लाषा निरवध छे लाषा मुणभाथी नीकणे छे तेथी मुण पर धारणु करवाभा आवनाइ' वस्त्र 'मुणवस्त्रिका' कडेवाय छे

मूणभा 'शक्र' कडेवाथी छन्दनो जोध थर्ध शकतो हुतो, परन्तु देवेन्द्र अने देवराज विशेषणो अे सिद्ध करे छे के जे दिव्य शक्तिमान् होवा छतां पणु मुणवस्त्रिका न धारणु करवाथी अेनी लाषा सावध थाय छे तो औदारिक-शरीरधारीअेनी वात न शी ? अेनी लाषा पणु नइर न सावध न थाय.

अे मुणवस्त्रिका वायुकाय आदिना प्राणीअेनी रक्षाने भाटे उपयोगी, मुण पर बांधवा येअ्य मुणनी बराबर, डोरासहित आठपुटवाणो वस्त्रना षडविशेष छे. अही सग्रह गाथाअे छे-‘वाउ’ इत्यादि

ननु भाषणसमये हस्तेनापि वस्त्रमादाय मुखाच्छादने उक्तजीवरक्षा निर्वहति किमन्यदापि मुखवस्त्रिकावन्धनेन ? इति चेदुच्यते -

न केवलं भाषणसमय एव जीवविराधनासंभवः, यतो हस्तेन वस्त्रमादाय मुखाच्छादने जीवरक्षा संभवेत्, किन्तु दीर्घश्वासनिःश्वासाभ्यां, जृम्भातः, स्वभावादकस्मादपि च, तथा निद्रावस्थायां मुखव्यादानाच्च तत्सम्भव इति न हस्तेन मुखोपरि वस्त्रं धारयन्तः सम्यग् जीवरक्षां सर्वदा कर्त्तुं प्रभवन्ति, वस्त्रेण मुखमाच्छाद्य प्रसुप्तस्यापि निद्रायां पार्श्वपरिवर्तनेन वस्त्रापसरणे सति क उपायस्तदानीं सूक्ष्मव्यापिसम्पातिमजीवसचित्तरजःप्रवेशवारणार्थं दीर्घोष्णनिःश्वासोच्छ्वासजनितवायुकायविराधनापरिहारार्थं च । तथा चोक्तं योगशास्त्रे तृतीयप्रकाशे समाशीतितमश्लोकस्य स्वोपज्ञविवरणे हेमचन्द्राचार्येण—“मुखवस्त्रमपि सम्पातिमजीवरक्षणादुष्णमुखवातविराध्यमानवाह्यवायुकायजी-

यहाँ यह आश्चर्य की जा सकती है कि जब बोलनेका काम पड़े तब हाथमें कपडा लेकर मुँह ढँक लेनेसे वायुकाय आदि जीवोकी रक्षा हो सकती है, जब बोलते नहीं उस समय भी मुखवस्त्रिका बांध रखनेसे क्या लाभ है ?

इसका उत्तर यह है कि केवल बोलते समय ही मुखसे हवा नहीं निकलती जिससे हाथमें बत्त लेकर मुँह ढँक लेनेसे जीवोकी रक्षा हो जाय । किन्तु दीर्घ श्वासोच्छ्वास लेनेसे, जंभाई लेनेसे, स्वभावसे, अकस्मात्, तथा निद्रावस्था में मुख खुला रहनेसे भी हवा निकलती है । अतएव मुख पर हाथसे वस्त्र लगानेसे जीवोकी सम्यक् प्रकार सर्वदा रक्षा नहीं हो सकती । वस्त्रसे मुँह ढँक कर सोया हुआ व्यक्ति नींद में करवट (पसवाडा) बदलता है तब वस्त्र खिसक जाता है । उस समय सूक्ष्म, व्यापी और सपातिम जीव तथा सचित्त रज आदि मुखमें जानेसे कैसे रुक सकते हैं ? तथा दीर्घश्वासोच्छ्वाससे होने वाली वायुकायकी विराधना का क्योकर परिहार हो सकता है ? इन्हे रोकने का उपाय ही क्या है ? हेमचन्द्राचार्य

अहो ऐवी आश का करी शक्य छे के न्यारे भोलवानुं काम पडे त्यारे हाथमा कपडुं लधने भेडां ठांकी देवाथी वायुकाय आदि जिवोनी रक्षा थधं शक्ये छे. न्यारे भोलवानुं न होय्ये, त्यारे पणुं मुखवस्त्रका बांधी राधवाथी शो लाल छे ?

ऐनेो उत्तर ऐ छे के केवण भोलती वधते न मुखमाथी हवा नीकणती नथी के ऐथी हाथमा वस्त्र लधने भेडां ठांकी देवाथी जिवोनी रक्षा थधं नय. किन्तु दीर्घ श्वासोच्छ्वास देवाथी, जंभासु भावाथी, स्वभावथी अकस्मात् तथा निद्रावस्थामां भेडां पुढुं रडेवाथी पणुं हवा नीकणे छे. तेथी भेडां पर हाथ वडे वस्त्र लगाडवाथी जिवोनी सम्यक् प्रकारे सर्वदा रक्षा थधं शक्यती नथी वस्त्रथी भेडां ठांकीने सूनेली व्यक्ति उधमा न्यारे पासुं गडलावे छे त्यारे वस्त्र थसी नय छे ते समये सूक्ष्म, व्यापि अने सपातिम जिव तथा सचित्त रज आदि मुखमा नवाथी केवी रीते रोकथ शक्ये ? तथा दीर्घ श्वासोच्छ्वासथी थनारी वायुकायनी विराधनानो केवी रीते परिहार थधं शक्ये ? तेने रोकवानो उपाय न शो छे. ?

वरक्षणान्मुखे धूलिप्रवेशरक्षणाच्चोपयोगी”ति ।

तथा चोत्तराध्ययनसूत्रे तृतीयाध्ययने श्रीलक्ष्मीवल्लभीयायां नवमगाथाव्याख्यायां सप्तमनिहवोदाहरणेऽपि—

“तथा सम्पातिमाः सत्त्वाः, सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे ।

तेषां रक्षानिमित्तं च, विज्ञेया मुखवस्त्रिका ॥१॥” इति ।

ओघनिर्युक्तौ द्वादशाधिकसप्तशततम (७१२)—गाथाऽप्येवमेव बोधयति—

“संपातिमरयरेणु,—पमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्ति ।

नासं मुहं च बंधइ, तीए वसहिं पमज्जंतो ॥७१२॥”

“संपातिमरजोरेणुप्रमार्जनार्थं वदन्ति मुखपत्रीम् ।

नासिकां मुखं च बध्नाति, तथा वसतिं प्रमार्जयन् ॥७१२॥

इति संस्कृतम् ।

वसतिं प्रमार्जयता घ्राणे मुखे चैतद्वयेऽपि मुखवस्त्रिका बन्धनीया, अन्यदा मुख एवेत्याशयः, अन्यथा भगवतीसूत्राद्यनेकागमविरोधापत्तिर्दुर्वारा स्यात् ।

कहते हैं मुखवस्त्र,० इत्यादि—

अर्थात् “मुखवस्त्र, सपातिम जीवोकी रक्षा करता है, मुख से निकलने वाले उष्ण वायु द्वारा विराधित होनेवाले बाह्य वायुकायके जीवोकी रक्षा करता है, तथा मुहमें धूली नहीं घुसने देता, इसलिये वह उपयोगी है ।”

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे उद्देशकी टीकामें कहा है—‘तथा सम्पातिमा’ इत्यादि,

अर्थात् “सपातिम, सूक्ष्म और व्यापी जीवोकी रक्षा के लिए मुखवस्त्रिका समझनी चाहिये” ॥१॥

ओघनिर्युक्ति ७१२ वीं गाथामें कहा है—“तथा सपातिमाः” इत्यादि ।

अर्थात् “संपातिम जीव, सचित्त रज तथा रेणुकी रक्षा करनेके लिये मुखवस्त्रिका का कथन करते हैं । और जब वसतिकी प्रमार्जना करे तब नाक और मुख दोनो बांधे ।”

हेमचंद्राचार्य कहे छे के “मुखवस्त्र०” इत्यादि

अर्थात्—मुखवस्त्र संपातिम जीवोकी रक्षा करे छे, मुखकी नीपणना उष्ण वायु द्वारा विराधित तथा वायुकायता जीवोकी रक्षा करे छे, तथा मुखका धूल घुसना हेतु नहीं, तेथी ते उपयोगी छे

श्रीउत्तराध्ययन सूत्रना त्रीण उद्देशनी टीकामा कहु छे के ‘तथा सम्पातिमा’ इत्यादि अर्थात्—“सपातिम, सूक्ष्म और व्यापी जीवोकी रक्षा के लिये मुखवस्त्रिका समझनी चाहिये” (१)

ओघनिर्युक्ति ७१२ वीं गाथामा कहु छे के—संपातिमाः इत्यादि अर्थात्—“सपातिम जीव, सचित्त रज, तथा रेणुकी रक्षा करनेके लिये मुखवस्त्रिका का कथन करते हैं और जब वसतिकी प्रमार्जना करे तब नाक और मुख दोनो बांधे ।”

एवमेव प्रवचनसारोद्धारं त्रयोविंशत्यधिकपञ्चशततमगाथायां विद्यते, तथा प्रकरण-
रत्नाकरस्यापि तृतीय भागे, उत्तराध्ययनसूत्रस्य कमलसंयमोपाध्यायविरचित-सर्वार्थसिद्धि-
टीकायां तृतीयाध्ययनेऽप्येवमेव । एवं विशेषावश्यकबृहद्बृत्तावप्युक्तम् ।

किञ्चाऽऽगमविरोधोऽपि तेषां (अवद्धमुखवस्त्रिकाणां) दुर्वार एव, तथाहि—भगवती
सूत्रे द्वितीयशतकस्य प्रथमोद्देशके स्कन्दकानगरस्यानशनकाले 'नमोत्थु णं' पाठविधौ—

“पुरत्थाभिमुद्दे संपलियंकनिसण्णे करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए
अंजलिं कदडु एव वयासी” इत्याद्युक्तम्,

तत्राञ्जलिबद्धस्य करद्वयस्य शिरसि स्थापने पद्मासनसंस्थः स्कन्दकोऽनगरः कथं
तन्मते 'नमोत्थु णं' पाठमनावृतमुखेन व्यधात् । अनावृतमुखेन हि मुनयो न भाषन्ते,

अर्थात् अन्य समयमें सिर्फ मुखही बांधे, यह तात्पर्य हुआ, अन्यथा श्रीभगवतीसूत्र
आदि अनेक आगमोका विरोध अनिवार्य होगा ।

इसीप्रकार प्रवचनसारोद्धारकी ५२३ वीं गाथामें कहा है । तथा प्रकरणरत्नाकारके
तीसरे भागमें, फिर श्रीउत्तराध्ययनसूत्रकी कमलसंयमोपाध्यायविरचित सर्वार्थसिद्धि नामकी तीसरे
अध्ययनकी टीकामें भी इसी प्रकार कहा है और ऐसेही विशेषावश्यक बृहद्बृत्तिमें भी कहा है ।

जो मुख पर मुखवस्त्रिका नहीं बांधते, उनके मतमें आगम-विरोध अनिवार्य है । श्री
भगवती-सूत्र २३०, १३० में स्कन्दक अनगरके अनशन समय में नमोत्थुणं के पाठकी
विधिमें कहा है— पुरत्था० इत्यादि ।

इसमें विचारणी विषय यह है कि अञ्जलि बांध कर दोनों हाथ सिर पर धर कर
पद्मासन लगाकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठे हुवे स्कन्दक अनगरने 'नमोत्थुणं' पाठ
खुल्ले मुखसे कैसे उच्चारण किया, क्योंकि दोनों हाथ सिर पर रखे हुए थे । और खुले मुखसे

अर्थात्—अन्य समयमा सिर्फ मुखही बांधे, ये तात्पर्यार्थ थये, अगर येवा अर्थ
नहीं करवामां आवे तो श्रीभगवतीसूत्र आदि अनेक आगमोका विरोध अनिवार्य अनशे.
येवीज रीते प्रवचनसारोद्धारनी परउ भी गाथामां कछुं छे तथा प्रकरणरत्नाकरनी
त्रीज आगमा, अने श्रीउत्तराध्ययन सूत्रनी कमलसंयमोपाध्यायविरचित सर्वार्थ-सिद्धि नामनी
त्रीज अध्ययनी टीकामा पण्युं न कछुं छे, येवीज रीते विशेषावश्यक बृहद्बृत्तिमां
पण्युं कछुं छे.

येओ मुख पर मुखवस्त्रिका बांधता नहीं, तेमना मतमां आगम-विरोध अनिवार्य
छे भगवतीसूत्र २३१ उ. मां स्कंदक अनगरना अनशन समयमा 'नमोत्थु णं' ना
पाठनी विधिमां कछुं छे—“पुरत्था०” इत्यादि.

येमा विचारणीय विषय ये छे के अंजलि बांधीने, जेउ हाथ शिर पर धारण
करीने, पद्मासन, लगावीने, पूर्व दिशा तरफ मुख करीने जेठेला स्कंदक अनगरने 'नमोत्थु णं'
पाठनुं खुल्ले मुखे केवी रीते उच्चारण कथुं ? केभके जेउ हाथ माथा पर राखेला उता.

तथाविधभाषणस्याऽऽगमप्रतिषिद्धत्वात् ।

किञ्च—अन्तकृदशाङ्गपठे वर्गेऽतिमुक्ताख्ये पञ्चदशाध्ययने—

“तए णं अइमुत्ते कुमारे भगवं गोयसं एवं वयासी—एह ण भंते ! तुव्भे जाणं अहं तुव्भं भिक्खं दवावेमि त्ति कट्ठु भगवं गोयसं अंगुलीए गेण्हइ, गिण्हित्ता जेणेव सए गेहे तेणेव उवागए” इत्यभिहितम् ।

तत्र भिक्षाचर्या गतस्य गौतमस्वामिनो भिक्षापात्रधारणप्रतिवद्वैकहस्ताद्गुलित्वं सुतरामेव सिद्धम् । इतरस्य तु करस्याङ्गुली अतिमुक्तकुमारेण गृहीतायां सत्यां तस्य भगवतो गौतमस्वामिनो हस्तेन सुखोपरि सुखवस्त्रिकाधारणं नोपपद्यते, सूक्ष्मव्यापि-सम्पातिमजीवसचित्तरजः प्रवेशादिवारणाय तदानीमपि सुखवस्त्रिकाधारणमावश्यकमेव ।

किञ्चावश्यके ‘इच्छामि खमासमणो ! वंदिउ’ इत्यादि—क्षमाश्रमणदानसूत्रस्य व्याख्यायां तद्दीकाकारेण हरिभद्रसूरिणाऽपिहितम्—

“अयं च प्रकृतसूत्रार्थः—अवग्रहाद्विहितो विनेयोऽर्द्धावनतकायः करद्वयगृही-

तो मुनि बोलते नहीं, क्योंकि ऐसा बोलना तो शान्तसे निषिद्ध है ।

श्रीअन्तकृतदशाङ्गके ६ वर्गमें ‘अतिमुक्त’ गोर्पक पन्द्रहवे अव्ययनमें कहा है—“तएण” इत्यादि ।

इस कथनसे भिक्षाचरी (गोचरी) के लिए गये हुवे श्रीगौतमस्वामीने हाथमें भिक्षाका पात्र लिया था, यह बात स्वयं सिद्ध है और दूसरे हाथ की अंगुली अतिमुक्त कुमारने पकड़ ली थी । इस प्रकार जब दोनों हाथ श्रीगौतमस्वामीके रुंधे हुए थे तो सुखवस्त्रिका नहीं रही होगी ? किन्तु सूक्ष्म, व्यापी, संपातिम जीव तथा मचित्तरजका प्रवेश रोकनेके लिए गुणवस्त्रिकाकी उस समय भी आवश्यकता थी ।

आवश्यक सूत्रमें “इच्छामि खमासमणो ! वदिउ” इत्यादि क्षमा श्रमणदान सूत्रकी व्याख्यामें व्याख्याकार हरिभद्रसूरिने भी कहा है “अयं” इत्यादि,

अने पुढे मुझे तो मुनि बोले नहि, कएण्हे जेम बोलेवु’ शास्त्रधी निषेद छे.

अन्तकृतदशाङ्गना ६ वर्गमां ‘अतिमुक्त’ शीर्षक पंद्रहमा अध्ययनमा ऋणु छे ‘तए णं’ इत्यादि

आ कथन मुज्जण भिक्षाचरी (गोचरी) ने भाटे जएवैला श्री गौतम स्वामीजे जेठ हाथमां भिक्षातु पात्र लीधुं इतु जे तान स्वयंपिद्ध छे एने छीत्त दायती नागणी अतिमुक्त कुमारे पकडी लीधी इती जे प्रक्षर जे श्री गौतम स्वामीना जेठ हाथ पकड जवा इतां, ते ते वणते दायवटे सुभवच्छिडा सुण पर देवी दीने दाणी जाय ? किन्तु सूक्ष्म, व्यापी, संपातिम जेवे तथा मचित्तरजने प्रवेश रोक्वने भाटे जे अनेगे पात्र सुभवच्छिडकी आवश्यकता इती

आवश्यक—अत्रमां ‘इच्छामि खमासमणो वदिउ’ इत्यादि . नागम ६ . पृ. १००
आमा व्याख्याकार हरिभद्रसूरिने भी कहा है “अयं” इत्यादि

તરજોહરણો વન્દનાયોદ્યત એવમાહ-ઇચ્છામિ-અભિલપાધિ હે ક્ષમાશ્રમણ ! વન્દિતું નમ-
ત્કારં કર્ત્વં ભવન્તમિતિ ગમ્યતે” ઇત્યાદિ ।

અત્ર ‘કરદ્વયગૃહીતરજોહરણઃ’ ઇતિ વિશેષણં કથયતા હરિમદ્રસૂરિણા ‘મુખોપરિ
મુખવસ્ત્રિકાવન્ધનં ભગવદ્ભિષેત’ મિતિ પ્રકટીકૃતમ્, અન્યથા ક્ષમાશ્રમણસૂત્રોચ્ચારણકાલે
કરદ્વયસ્ય રજોહરણગ્રહણે પ્રતિવદ્ધતયા મુખોપરિ મુખવસ્ત્રિકાસ્થાપનસ્યોપાયાન્તરાસમ્ભવાત્
ક્ષમાશ્રમણદાનમેવ નિર્વિષયં સ્યાત્ । અનાદૃતમુખેન તુ મુનીનાં ભાષણમેવાડ્ગમપ્રતિપિ-
દ્ધમિતિ નાત્ર કેપાઠિચ્છિદ્ધિવાદઃ ।

કિન્ન ક્ષમાશ્રમણદાને સમ્બોધનશબ્દપ્રયોગે ગુરોઃ સ્વાભિમુખીકરણાર્થં સવિશેષ-
પ્રયત્નપૂર્વકોચ્ચૈઃસ્વરેણ સુસ્પષ્ટોચ્ચારણં વિધેયમસ્તિ ન ત્વવ્યક્તધ્વનિનેત્યુપાયાન્તરેણ
મુખાવરણસ્ય કર્તુમશક્યતયોક્તજીવવિરાધના પરિહર્તુમશક્યૈવ ।

અન્યચ્ચ તત્રૈવ ક્ષમાશ્રમણદાને ગુરુનિદેશાનન્તરમ્-“અહોકાયં, કાયસંફાસં”
ઇત્યસ્ય વ્યાખ્યાયાં તેનૈવ હરિમદ્રસૂરિણા વ્યાખ્યાત, તથાહિ—

યહાં “દોનો હાથોમ્ રજોહરણ લેકર” એસા કહને વાલે હરિમદ્રસૂરિને યહ પ્રગટ ક્રિયા
હૈ કિ મુખ પર મુખવસ્ત્રિકા બાંધનેકી ભગવાનકી આજ્ઞા હૈ । અન્યથા જવ દોનો હાથોમ્ રજોહરણ
લે લિયા તવ મુખ પર મુખવસ્ત્રિકા ધારણ કરનેકે લિએ અન્ય ઉપાય અસમ્ભવ હૈ । ઓર ખુલે મુખ
બોલનેસે ક્ષમાશ્રમણ દેના હો વ્યર્થ હો જાયગા । સાધુઓંકો ખુલે મુખ સે બોલના શાસ્ત્રવિરુદ્ધ હૈ,
ઇસ વિષયમ્ કિસીકો વિવાદ નહીં હૈ । દૂસરી બાત યહ હૈ કિ ક્ષમાશ્રમણદાનમ્
‘હે ક્ષમાશ્રમણ !’ ઇસ સમ્બોધનકા પ્રયોગ ક્રિયા હૈ । ઇસલિએ ગુરુકો અપની ઓર અભિમુખ
કરને કે લિએ વિશેષપ્રયત્નપૂર્વક સ્પષ્ટ ઉચ્ચારણ કરનેકી આવશ્યકતા હૈ । અવ્યક્ત ભાષાસે
સમ્બોધન કરના સમ્ભવ નહીં હૈ । ઇસ પ્રકાર જવ દૂસરે ઉપાયસં મુખ નહીં ઢંકા જા
સકા તો ઉલ્લિખિત જીવોકી વિરાધના અનિવાર્ય હૈ । ઇસકે સિવાય ઇસી ક્ષમાશ્રમણ-
દાનમ્ ગુરુકી આજ્ઞાકે અનન્તર “અહોકાયં કાયસંફાસં” ઇસકા ઉચ્ચારણ મુખવસ્ત્રિકા

અહીં ‘ખેઉ હાથમાં રજોહરણ લઈને’ એમ કહેતાં હરિમદ્રસૂરિએ એમ પ્રકટ કર્યું” છે
કે મુખ પર મુખવસ્ત્રિકા બાંધવાની ભગવાનની આજ્ઞા છે. નહિ તો જો ખેઉ હાથમાં રજો-
હરણ લઈ લીધો એટલે મુખ પર મુખવસ્ત્રિકા ધારણ કરવાને માટે અન્ય ઉપાય અસંભવિત
છે, અને ખુલ્લે મુખે ખોલવાથી ક્ષમાશ્રમણ આપવાનું જ વ્યર્થ બને તેથી સાધુઓએ
ખુલ્લે મુખે ખોલવું એ શાસ્ત્રવિરુદ્ધ છે, એ સંબંધમાં તો કોઈને વાધો નથી ખીજી વાત
એ છે કે ક્ષમાશ્રમણદાનમાં ‘હે ક્ષમાશ્રમણ’ એવો સંબોધનનો પ્રયોગ કહેલો છે. તેથી
કરીને ગુરુને પોતાની તરફ અભિમુખ કરવાને માટે વિશેષ-પ્રયત્ન-પૂર્વક સ્પષ્ટ ઉચ્ચારણ
કરવાની જરૂર છે અવ્યક્ત ભાષાથી સંબોધન કરવાનો સંભવ નથી. એ રીતે જો ખીજા
ઉપાયથી મુખ ન ઢાંકી શકાય તો ઉપર લખ્યા મુજબ જીવોની વિરાધના થયા વિના રહે
નહિ એ ઉપરાંત ક્ષમાશ્રમણદાનમાં ગુરુની આજ્ઞાની પછી ‘અહોકાયં કાયસંફાસં’ એવું

लोकं हि अनुचितवार्त्ताश्रवणसमये झटिति कर्णपिधानं हस्ताभ्यामेव विधीयमानं दृश्यते तस्मात् साव्या हस्ताभ्यां कर्णा पिधाय प्रतिवचनदाने मुखवस्त्रिकाधारणं बन्धनं विना नोपपद्यते, तदभावे वायुकायादिजीवविराधनाऽवश्यम्भाविनी ।

किञ्च मुखवस्त्रिकाबन्धनमन्तरेण पट्कायविराधना दुष्परिहार्या, तथाहि—गुखे सूक्ष्म-सचित्तरजःप्रवेशेन पृथिवीकायस्य, वृष्ट्यादिवशात्सचित्तजलकणानामाकस्मिकनिपातेन धूमिकायाः प्रवेशेन वाऽप्ट्कायस्य, तथा यत्र कुत्रापि स्फुलिङ्गा उत्पतन्ति तत्राऽऽकस्मिक-सूक्ष्मस्फुलिङ्गनिपातेन तेजस्कायस्य, मुखस्योष्णश्वासनिःश्वासाभ्यां वाह्यवायुकायस्य, 'जत्थ जलं तत्थ वणं'. इतिप्रामाण्याज्जलनान्तरीयकतया मुखे सचित्तजलविन्दुनिपातेनैव वनस्पतिकायस्यापि, तथा सम्पातिम-व्यापि-सूक्ष्म-जीवसम्पातेन त्रसकायस्य विराधना भवतीति ।

अनुचित वात सुनते समय लोकमें भी झटपट हाथोंसे कान मून्द लेने पर विना मुखवस्त्रिका बाँधे उत्तर देना युक्त नहीं हो सकता । यदि मुखवस्त्रिका के बाँधे विना उत्तर दिया तो वायुकाय आदि जीवोंको विराधना अवश्य हुई ।

मुखवस्त्रिकाके बाँधे विना पट्कायकी विराधनाका परिहार नहीं हो सकता । मुखमें सूक्ष्म सचित्त रजका प्रवेश होनेसे पृथ्वीकायकी विराधना होती है । बरसा होने पर सचित्त जलकणोंके अकस्मात् ही मुखमें चले जानसे अथवा मुखमें धूँअर के चले जाने से अप्ट्कायकी विराधना होती है । इधर-उवर उडनेवाली अग्निकी चिनगारी कदाचित् मुखमें घुस जाय तो तेजस्कायकी हिंसा होती है । मुखस निकलती हुई गर्म सांससे बाह्य वायुकायकी विराधना होती है । 'जहाँ अप्ट्काय है वहाँ वनस्पतिकाय भी होता है ' (जत्थ जलं तत्थ वण) इस प्रमाणसे मुखमें सचित्त जल गिरनेसे ही वनस्पति कायकी विराधना होती है । तथा सपातिम, व्यापी और सूक्ष्म जीवोंके घुसनेसे त्रसकायकी भी विराधना होती है ।

अनुचित वात आलजती वणते लोकाम् । पणु अटपट हाथथी कान ढाकवामा आवे येवुं लेवामां आवे छे येवी हासतमां जेउ हाथथी जेउ कान ढाकी देतां, मुखवस्त्रिका बांध्या विना उत्तर आपवो युक्त नथी होतो । जे मुखवस्त्रिका बांध्या विना उत्तर आपवामां आवे तो वायुकाय आदि जीवोनी विराधना अवश्य थाय ।

मुखवस्त्रिका बांध्या विना पट्कायनी विराधनानो परिहार थछ शकतो नथी । मुखमा सूक्ष्म सचित्त रजनो प्रवेश थवाथी पृथ्वीकायनी विराधना थाय छे. (१) बरसाद पडतां सचित्त जलकणो अकस्मात् मुखमा जवाथी अथवा मोढामा आकण जवाथी अप्ट्कायनी विराधना थाय छे (२) अडां-तडी उडती अग्निनी चिणुगारी कदाय मुखमा पेसी जय तो तेजस्कायनी हिंसा थाय छे (३) मुखमाथी नीकणता गरम श्वासथी बाह्य वायुकायनी विराधना थाय छे (४) जया अप्ट्काय छे त्यां वनस्पति कायपणु होय छे' (जत्थ जलं तत्थ वणं) जेप्रमाणुथी मुखमा सचित्त जल पडवाथी वनस्पतिकायनी पणु विराधना थाय छे. (५) तथा संपातिम, व्यापी अने सूक्ष्म जीवो पेसी जवाथी त्रसकायनी पणु विराधना थाय छे (६).

किञ्च मुखवस्त्रिकाबन्धने प्रमादवतः षट्कायविराधना दुर्वारा, यतः प्रतिलेखनकालेऽन्यस्मै तत्प्रत्याख्यानदानेऽपि प्रतिलेखनोपयोगाभावेन प्रमाददोषाविष्टः सन् षट्कायविराधको भवतीति भगवतोत्तराध्ययनसूत्रे प्रतिपादितम्, तथाहि—

“पडिलेहणं कुणंतो, मिहो क्हं कुणइ जणवयकहं वा ।

देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥ १ ॥

पुहवी—आउक्काए, तेऊ—वाऊ—वणस्सइ—तसाणं ।

पडिलेहणापमत्तो, छण्हंपि विराहओ होइ ॥ १ ” इति ।

तर्हि का वार्त्ता ये मुखवस्त्रिकाबन्धनमन्तरेण तिष्ठन्ति तेषां प्रमाददोषस्तज्जनित-षट्कायविराधना नापतेत् ? आगमे हि मुखवस्त्रिकाबन्धनपरित्यागे दोषबाहुल्यं प्रदर्शितं तच्च प्रागेवप्रतिपादितम् ।

इत्थं च यथा नौकादौ सूक्ष्मेऽपि सुपिरे सति नद्यादौ तन्निमज्जनान्महती हानिः, अल्पीयस्या अपि हीरककणिकाया भक्षणे प्राणानामेव नाशः वृश्चिकस्येपदंशनेऽपि सकलशरीरव्यथनम्, कण्टकाग्रमात्रे वाणाग्रमात्रे च कचिदङ्गे निखाते सकलाङ्गपीडा, नेत्रेऽ

मुखवस्त्रिकाके बाँधनेमें जो साधु प्रमादी होता है उसको षट्कायकी विराधना अवश्य लगेगी क्योंकि भगवानने उत्तराध्ययनसूत्रमें कहा है कि—“प्रतिलेखन करनेमें जो साधु प्रमादी है तथा प्रतिलेखनके समय साधु परस्पर बातें करे, जनपद आदिकी कथा करे, पचक्खाण देवे, बाँचे अथवा वंचावे तो वह षट्कायका विराधक होता है” तो जो मुखवस्त्रिका बाँधे बिना रहते हैं उनको प्रमाद-दोष तथा प्रमादजन्य षट्कायकी विराधनाका दोष कैसे नहीं लगेगा ? अर्थात् जरूर लगेगा । मुखवस्त्रिकाके नहीं बाँधनेमें आगमोंमें जो बहुतसे दोष कहे गये हैं वे तो पहले प्रतिपादित कर ही चुके हैं ।

इस प्रकार जैसे नावमें छोटासा छेद होनेपर नदी आदिमें डूब जाने से महान् हानि होती है, छोटीसी हीराकी कनीका भक्षण करनेसे प्राणोका ही नाश होता है, विच्छूके थोडासा काट खानेसे सार जमीनमें व्यथा होती है, कांटे या तीक्ष्ण जगसी नाँक किसी जगमें घुस

मुखवस्त्रिका बाधनामा ते साधु प्रमादी होय छे तेने षट्कायकी विराधना अवश्य लाग्य छे केभके भगवाने उत्तराध्ययनसूत्रमा कह्यु छे के—“प्रतिलेखन कुन्ती वणने ते साधु परस्पर वार्त्तालाप करे, देसकथा आदि कथा करे, पचक्खाण देवे, पौ व बाँचे अथवा वंचावे ते ते षट्कायको विराधक लाग्य छे” ते जोम छे ते ते मुखवस्त्रिका बाधना वगैर छे तेने प्रमाददोष अने प्रमादजन्य षट्कायकी विराधनाको दोष तेने नदी वागे व जगानु जावय्य ताने. मुखवस्त्रिका नहीं बाधनामा आगमोमा दोष अजावय्य छे ते तेने परित्या कर्त्तुं सुक्या जेने

ते प्रकार जेभे नावमा नावु छिद पडवती ते नदी आदिमा डूबी जएवत करे दानी पाय छे, नानी चण्णी हीरा मणीनु लडन, कण्टकी प्राणोका नाश लाग्य छे, तीक्ष्ण जगसी आणा शरीरमा लाग्य करे व्यथा लाग्य छे, कटा य तीक्ष्ण दानी चण्णी

णुतरस्यापि रजःकणस्य निपाते नेत्रोपघातः, नासिकाग्रमात्रे स्वल्पेऽपि देहभागे छिन्ने समग्रशरीरशोभोपघातः, स्वल्पेनाऽप्याधाकर्मादिसिक्थेन मिश्रितेऽन्नादौ पूतिकर्मदोषदू-
पितमाहारजातं भवति, स्वल्पेऽपि जिनवचनसन्देहे सर्वचारित्रनाशो जायते, तथैव स्वल्पेऽपि
काळे मुखवस्त्रिकावन्धनोपेक्षया षट्कायविराधनायां सत्यां चातुर्मासिकप्रायश्चित्ताधिकारि-
तापत्तिः । तथाचोक्तं निशीथसूत्रे द्वादशोद्देशकेऽष्टमसूत्रादारभ्य द्वादशसूत्रं यावत्—

“जे भिक्खू० पुढवीकायस्स कलमायमवि समारंभइ, समारंभंतं वा साइज्जइ ।
एवं जाव वणस्सइकायस्स आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं”

पुनरपि निशीथभाष्ये संयमघातद्वारे महिकाद्यपकाययतनार्थं प्रोक्तम्—

“वासत्ताणावरिया णिक्कारणे ठंति, कज्जे जतणाए ।

हत्थऽच्छिगुलिसण्णा, पोत्तंतरियावभासंति ॥१॥ इति ।

(नि. भाष्य उ. १९ गा. ५७)

छाया—वर्षात्राणावृता निष्कारणे तिष्ठन्ति, कार्ये यतनया ।

हस्ताक्ष्यङ्गुलीसञ्ज्ञा, पोतान्त एव भाषन्ते ॥१॥ इति ।

चूर्णिकारेण “पोत्तंतरियावभासंति” इति पदस्य चूर्णो हस्तभ्रुवादिसङ्केतेन यदि

जाय तो सब अंगमें भयंकर पीडा होने लगती है, आँखमें छोटीसी किरकिली घुस जानेसे आँखमें तकलीफ होती है, जरासी नाक कट जानेसे सब शरीरकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, आधाकर्म आदि आहारका एक भी सीथ मील जानेसे सब आहार पूतिकर्मदोष से दूषित हो जाता है जिन-
वचनोमें तनिक भी सन्देह करनेसे समस्त चारित्र का नाश हो जाता है, वैसे ही थोड़ी देर भी मुखवस्त्रिका बांधनेकी उपेक्षा करनेसे षट्कायकी विराधना होती है, अतः चातुर्मासिक प्रयश्चित्त लगता है । निशीथसूत्रके बारहवे उद्देशके आठवे सूत्रसे बारहवें सूत्रतकमें कहा है—“जे भिक्खू०”, इत्यादि, फिरभी निशीथ सूत्रके भष्यमें संयमघात नामक द्वारके अन्दर, धूँवर आदि अपकायकी यतनाके लिए कहा है ‘वासत्ताणा०’ इत्यादि,

इस गाथामें आये हुए ‘पोत्तंतरियावभासति’ इस पदकी चूर्णि करते समय चूर्णिकारने

अंगमा पेसी ज्वाथी अंगमां पीडा थवा लागे छे, आंभमा नानु सरथुं क्खुं पेसी ज्वाथी आंभमां तक्कीइ थाय छे, नानुं सरथुं नाठ क्पाथं ज्वाथी आभा शरीरनी सुंदरता नष्ट थथं नय छे, आधाकर्म आदि आहारनु अेक क्खु पणु मणी ज्वाथी ज्थे आहार पूतिकर्म दोषथी दूषित थथं नय छे जिनवचनोमा लगार पणु सदेह करवाथी समस्त चारित्रो नाश थथं नय छे, तेम थोडो वणत पणु सुभवस्त्रिका बांधवानी उपेक्षा करवाथी षट्कायनी विराधना थाय छे तेथी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लागे छे, निशीथसूत्रना पारमा उद्देशाना आठमा सूत्रथी पारमा सूत्र सुधीमा क्खु छे के ‘जे भिक्खू०’ इत्यादि,

वर्णा निशीथसूत्रना भाष्यमा ‘संयमघात’ नामना द्वारमां अकण आदि अपकायनी यतना करती वणते क्खुं छे के ‘वासत्ताणा०’ इत्यादि,

साधवो नावगच्छन्ति तदाऽवश्यवक्तव्ये सति “मुहपोत्तियअंतरिया जयणाए भासंति” इति प्रतिपादितम् ।

अनेन स्पष्टं सिध्यति—यत् मुखवस्त्रिका साधूनां मुखे पूर्व बद्धाऽऽसीदिति तेनैव कारणेन ‘मुखपोतान्त एव यतनया मन्दं—मन्दं भाषन्ते’ इत्युक्तम् ।

किञ्च विधिप्रपाग्रन्थे चारित्रातिचारप्रायश्चित्ताधिकारे मुखवस्त्रिकामन्तरेण भाषणनिषेधः प्रतिपादितः ।

किञ्च पूर्वोक्तदिशा पट्कायविराधकस्य तद्विराधनावर्जनपरकभगवदाज्ञाभङ्गदोषप्रसङ्गः । तथा च सति अविधिविधानं, ततो मिथ्यात्वं, तस्माच्चारित्रविराधना ततश्च दीर्घसंसारित्वं प्रपद्येत, अत एवाऽऽज्ञाभङ्गकर्तृगुरुतरप्रायश्चित्तं प्रदर्शितम् । उक्तं हि बृहत्कल्पभाष्ये—

“अवराहे लहुगयरो, आणाभंगंमि गुरुतरो किहणु ? ।

आणाए चिय चरणं, तब्भंगे किं न भगं तु ? ॥१॥” इति ।

कहा है—अगर साधु हाथ आँख आदिके इगारेसे नहीं समझ सके और बोलना ही जरूरी समझे तो ‘मुखवस्त्रिकाके अंदर ही यतनासे (धीरे—धीरे) बोले’ इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुओंके मुख पर मुखवस्त्रिका पहले बांधी हुई थीं इसी कारण को लेकर ही मुखवस्त्रिकाके अंदर ही यतनासे (धीरे धीरे) बोले’ ऐसा कहा है ।

फिर ‘विधिप्रपा’ नामके ग्रन्थमें भी चारित्रके अतिचारोका प्रायश्चित्त कहते समय मुखवस्त्रिकाके विना बोलनेका स्पष्ट निषेध किया गया है ।

तथा—पूर्वोक्त रीतिसे पट्कायकी विराधना करनेवालेको भगवान्की “पट्कायकी विराधनाका त्याग करना” इस आज्ञाके भंग करनेका दोष लगता है, यह दोष लगनेसे अविधिका विधान, अत्रिधिका विधान करनेसे मिथ्यात्व, मिथ्यत्वसे चारित्रकी विराधना और चारित्रकी विराधनासे दीर्घसंसारित्वकी प्राप्ति होती है । इसीसे आज्ञाभंगका गुरुतर प्रायश्चित्त लगता है ।

बृहत्कल्पभाष्यमें कहा है—“अवराहे” इत्यादि,

आधी सिद्ध थाय छे के साधुओना मुण पर मुणवस्त्रिका बांधेदी इती आ क्षणने लीधे न ‘पोत्तंतरियावभासंति’ आ पन्नी शृणिं क्खना शृणिंशक्रे इत्थं छे के—“साधु धशाराथी न समणे अने ओलधुं न पडे ने। ने। मुणवस्त्रिकानी अहं न यतनाथी ओदे”

वणी ‘विधिप्रपा’ नामना ग्रन्थमा पाणु आचरिता अनिचारेणी शृणिता प्रक्षुण्णं मुणवस्त्रिका वगरे ओलवानो निषेध कथ्ये छे ।

तथा—पूर्वोक्त रीतिसे पट्कायकी विराधना करनेवालेको भगवान्की “पट्कायकी विराधनाका त्याग करवो” आ आज्ञाके भंग करनेका दोष लगता है, यह दोष लगनेसे अविधिका विधान, अत्रिधिका विधान करनेसे मिथ्यात्व, मिथ्यत्वसे चारित्रकी विराधना और चारित्रकी विराधनासे दीर्घसंसारित्वकी प्राप्ति होती है । इसीसे आज्ञाभंगका गुरुतर प्रायश्चित्त लगता है ।

बृहत्कल्पभाष्यमें कहा है—“अवराहे” इत्यादि

सर्वमेव चारित्रं भगवदाज्ञायामेव व्यवस्थितम्, अतस्तद्भङ्गे मूलोत्तरगुणादिकं वस्तु किं न भग्नम् ? अपि तु सर्वमपि भग्नमिति हेतोस्तत्र गुरुतरप्रायश्चित्तं युक्तमेवेति भावः । तस्मात्—मुखोपरि मुखवस्त्रिकावन्धन सकलजैनागमप्रतिपाद्यमिति सिद्धम् । एवं च भगवतीसूत्रे 'सुहुमकायं अणिज्जूहिताणं' इति वाक्यस्य सूक्ष्मकायं=मुखवस्त्रिकाम् 'अणिज्जूहिता' = अपोह्य परित्यज्य = अवद्ध्वेत्यर्थो बोध्यः, एवमन्यत्राप्युहनीयम् ।

यत्तु आचारासूत्रे उच्छ्वासादिकाले मुखपिधानोपदेशेन मुखवस्त्रिका करेणैव धारणीया न तु दोरकेणेति तत्तत्समये एव मुखवस्त्रिकया घ्राणमुखादिपिधान विधेयमिति च प्रतीयते, दोरकावलम्बने मुखवस्त्रिकायाः सदा धारणीयत्वे तु पुनर्मुखपिधानोपदेशो व्यर्थः स्यादिति वदन्ति तदज्ञानमूलम् । आचाराङ्ग-सूत्रपाठो हि तावदेवं विद्यते—

“से भिक्खू वा २ उस्सासमाणे वा नीसासमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा

समस्त चारित्र भागवान्की आज्ञामें ही है । भगवान्की आज्ञाका भग होने पर मूलगुण उत्तरगुण आदि सभी नष्ट हो जाते हैं । अतः आज्ञाभगमें गुरुतर प्रायश्चित्त देना युक्त ही है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि मुख पर मुखवस्त्रिका बाधना सब जैनशास्त्रोंमें प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार भगवती सूत्रके 'सुहुमकायं अणिज्जूहिताणं' वाक्यका अर्थ यह समझना चाहिये कि 'मुखवस्त्रिका त्याग करके अर्थात् न बांध करके' ऐसा सब जगह समझना चाहिए ।

प्रश्न—आचाराङ्गसूत्रमें उच्छ्वास आदि लेते समय मुख ढँकने का उपदेश दिया है । इससे यह प्रतीत होता है कि मुखवस्त्रिका हाथमें ही रखनी चाहिए, डोरेसे नहीं बांधनी चाहिए, अमुक—अमुक समय पर ही जब उच्छ्वास आदि आवे तब ही नाक या मुख ढँक लेना चाहिए । डोरेसे मुखवस्त्रिका धारण करना उचित हो तो पुनः मुख ढकनेका उपदेश व्यर्थ हो जायगा ।

उत्तर—ऐसा प्रश्न करना अज्ञानता है । आचाराङ्ग सूत्रका पाठ ऐसा है ।

समस्त चारित्र भागवान्की आज्ञामां न रडेलु छे. भागवान्की आज्ञानो लंज थवाधी भूणशुष्ण उत्तर शुष्ण आदि अधुं नष्ट थध नय छे. तेथो आज्ञाल गमां शुडतर प्रायश्चित्त आवे छे. अे रीते सिद्ध थयुं के मुख पर मुखवस्त्रिका बांधवी अेवुं अधां जैनशास्त्रोमां प्रतिपादन करेळुं छे अेटला भाटे भगवती-सूत्रना 'सुहुमकायं अणिज्जूहिताणं' अे वाक्यनो अर्थ अेम समजवो जेधअे के 'मुखवस्त्रिकानो त्याग करीने अर्थात् न बांधीने' अे प्रमाणे अधी नग्याअे समजवु .

प्रश्न—आचाराङ्ग-सूत्रमा उच्छ्वास आदि लेती वधते मुख ढाकवानो उपदेश आये छे. अेथी अेम प्रतीत थाय छे के मुखवस्त्रिका हाथमा न राखवी जेधअे, दोरानी बांधवी जेधअे नहि. अमुक अमुक समये न न्यारे उच्छ्वास आदि आवे त्यारे न नाक या मुख ढांकी देवुं जेधअे, दोरानी मुखवस्त्रिका धारण करवी उचित होय तो पछी पुनः मुख ढांकवानो उपदेश व्यर्थ थध नशे.

उत्तर—अेवो प्रश्न करवो अज्ञानता छे. आचाराङ्ग-सूत्रनो पाठ अेवो छे—

જંભાયમાણે વા ઉઢોણ વા વાયનિસર્ગં વા કરેમાણે પુઢ્વામેવ આસયં વા પોસયં વા પાણિના પરિપેહિત્તા તઓ સંજયામેવ ડસસિજ્જ વા જાવ વાયનિસર્ગં વા કરેજ્જા” (સૂત્ર ૧૦૯) ઇતિ ।

છાયા—“સ મિહુર્વાર ઉચ્છ્વાસન્ વા, નિઃશ્વસન્ વા, કાસમાનઃ (કાસં કુર્વન્) વા ક્ષુવન્ (ક્ષુતં કુર્વન્) વા, ‘જમ્ભમાણો વા’, ડદ્ધિરન્ વા, (અધિષ્ઠાનેન) વાતનિસર્ગં વા કુર્વન્ પૂર્વમેવ આસ્યક વા પોષકં વા પાણિના પરિપિધાય તતઃ સંયત એવ ઉચ્છ્વાસેદ્ વા યાવદ્ વાતનિસર્ગં વા કુર્યાત્ ” ઇતિ સ સ્કૃતમ્ ।

અત્ર “આસયં” ઇતિ લક્ષણાવૃત્ત્યા ઘ્રાણસ્યાપિ બોધકમ્, “ઉસ્સાસમાણે વા નીસાસમાણે વા છીયમાણે વા” ઇતિ પદાનિ લક્ષણાયાં તાત્પર્યગ્રાહકાણિ । ‘આસયં’ ઇત્યસ્ય મુખમાત્રપરત્વે તુ પાણિના તત્પરિવિધાનેડપિ ઘ્રાણજન્યોચ્છ્વાસાદિયતનાયા અનુપપત્તેઃ ।

અનેન સૂત્રેણ ‘ઉચ્છ્વાસાદિકાલે આસ્યકપોષકપરિપિધાન પાણિના વિધેય મિતિ બોધયતો ભગવતસ્તાત્પર્યં મુખવસ્ત્રિકયા પિધાને કલ્પયન્તઃ પઞ્ડિતાભિમાનિન એવમનુયોક્તવ્યાઃ—‘પાણિ’ શબ્દસ્ય મુખવસ્ત્રિકારૂપોડર્થઃ કિં વાચ્યો લક્ષ્યો વ્યજ્જ્યો વા ? । નાઘઃ,

“મિહુ શ્વાસોચ્છ્વાસ લેતે સમય, ખાંસતે સમય, છીંકતે સમય, જમ્ભાતે સમય, ડકારતે સમય તથા અધોવાયુકા ત્યાગ કરતે સમય પહેલે મુખ અથવા મલદ્વારકો હાથસે ઢેકકર ફિર યતનાપૂર્વક શ્વાસ લેવે યાવત્ અધોવાયુકા ત્યાગ કરે ” ।

યહાં ‘આસયં (મુખ) પદ લક્ષણાકે દ્વારા ઘ્રાણકામી બોધ હૈ । ‘ઉસ્સાસમાણે વા નિસ્સાસમાણે વા છીયમાણે વા’ યે પદ લક્ષણામેં તાત્પર્યકે ગ્રાહી હૈ । ‘આસયં’ પદસે કેવલ મુખકા અર્થ લિયા જાય તો હાથસે મુખ ઢેક લેનેપર મી નાકસે નિકલનેવાલે ઉચ્છ્વાસ આદિકી યતના નહીં હો સકતો ઇસ સૂત્રસે ઉચ્છ્વાસ લેતે સમય આસ્યક ઓર પોષક (મલદ્વાર) કો હાથસે ઢેક લેના ઑહિયે,’ એસા ભગવાન્ બતાતે હૈ, ફિર મી નામધારી પંડિત ‘મુખવસ્ત્રિકાસે ઢેકના ઑહિયે’ એસા અર્થ નિકાલતે હૈ । ડનસે હમ પૂછતે હૈ કિ તુમ હાથકા અર્થ મુખવસ્ત્રિકા કરતે હો સો વહ અર્થ વાચ્ય હૈ, યા લક્ષ્ય

“લિહુ શ્વાસોચ્છ્વાસ લેતી વખતે, ઉધરસ ખાતી વખતે છીંકતી વખતે, ખગાસુ ખાતી વખતે, ઓડકાર ખાતી વખતે તથા અધોવાયુનો ત્યાગ કરતી વખતે, પહેલાં મુખ અથવા મળદ્વારને હાથથી ઢાકીને પછી યતના પૂર્વક શ્વાસ યાવત્ અધોવાયુનો ત્યાગ કરે ”

અહીં ‘આસયં’ (મુખ) શબ્દ લક્ષણાદ્વારા ઘ્રાણનો પશુ બોધક છે ‘ઉસ્સાસમાણે વા નિસ્સાસમાણે વા છીયમાણે વા’ એ પદો લક્ષણામા તાત્પર્યનાં ગ્રાહી છે આસ્ય શબ્દથી કેવળ મુખનો અર્થ લેવામા આવે તો હાથથી મુખ ઢાકી લેવા છતાં પશુ નાકથી નીકળનાર ઉચ્છ્વાસ આદિની યતના થઈ શકતી નથી

આ સૂત્રથી ઉચ્છ્વાસ લેતી વખતે આસ્યક અને પોષક (મલદ્વાર) ને હાથથી ઢાકી લેવું જોઈએ એમ ભગવાન્ ખતાવે છે, છતાં પશુ નામધારી પંડિત મુખવસ્ત્રિકાથી ઢાકવું જોઈએ’ એવો અર્થ કાઢે છે એમને અમે પૂછીએ છીએ કે તમે હાથનો અર્થ મુખવસ્ત્રિકા કરો છો, તો એ અર્થ વાચ્ય છે, યા લક્ષ્ય છે કે વ્યજ્ય છે ? પહેલો પદ તો ખરાબ નથી

अभिधाशक्तिग्राहकव्याकरणकोशादिभिरुक्तार्थात्, 'पञ्चशास्त्रः शयः पाणि'—रित्यमर-
कोशव्याख्यायां पञ्च शाखा इवाङ्गुलयोऽस्येति पञ्चशास्त्रः शेतैऽस्मिन् सर्वमिति शयः,
('पुंसि' ३।३।१२१।) घः । पणायन्त्यनेनेति पाणिः 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इत्य-
स्मात् 'अशिपणाय्योरुडायलुकौ च' (उ० ४।१३३) इतीण्, 'आयप्रत्ययस्य लुक् च'
—ति व्युत्पादनेन तत्र करवाचकत्वस्यैव लाभाच्च ।

नापि द्वितीयः, मुख्यार्थकरणकपिधानतात्पर्यस्य निर्वाधेन तात्पर्यानुपपत्तिरु
पलक्षणाबीजस्याभावात् ।

नापि तृतीयः, मुख्यार्थतात्पर्यकत्वेनैव करेण पायुपिधानस्यापरकरेण मुखघ्राण-
पिधानस्य चोपपत्त्या व्यङ्ग्यार्थमुखवस्त्रिकातात्पर्यकत्वकल्पनाया अनावश्यकत्वात्, अनौ-

या व्यङ्ग्य है १। पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अभिधाशक्तिके ग्राहक व्याकरण कोप
आदिकोमें यह अर्थ नहीं मिलता। अमरकोषमें हाथके तीन नाम दिये है—(१) पञ्चशास्त्र (२)
शय और (३) पानी। व्याख्यामें बताया है कि शाखा जैसे पांच अंगुलियाँ होती है इसलिए इसे
पञ्चशास्त्र कहते है उसमें सब वस्तुएँ सोती (रखी जाती) है इसलिए शय कहते है। उससे सब
लेनदेन आदि व्यवहार होते है अतः उसे पाणि कहते है। "अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च" (उ०-
४।१३३) इससूत्रसे 'इण्' होता है और 'आय' प्रत्ययका लुक होता है। ऐसी व्युत्पत्ति करनेसे
'कर' का वाचक ही होता है। दूसरा भी पक्ष (लक्ष्य अर्थ वहाँ माना जाता है जहाँ मुख्य (जा-
ब्दिक) अर्थ लेनेमें किसी प्रकारकी बाधा आती हो। यहाँ पर 'हाथसे ढँक कर' ऐसा अर्थ करने
में कोई बाधा नहीं आती, इसलिए लक्षणा नहीं हो सकती, अतः यह लक्ष्य अर्थ भी नहीं है।

तीसरा (व्यङ्ग्य अर्थ मानना) भी पक्ष बाधित है। जब प्रधान अर्थ लेनेसे एक हाथसे मल
द्वार ढँकना और दूसरे हाथसे नाक-मुखका ढँकना युक्त है तो व्यङ्ग्य अर्थ (मुखवस्त्रिकाके तात्पर्यकी

कारण के अभिधा शक्तिना आडक व्याकरण के आदिमां अे अर्थ नथी भणतो. अमर-
कोषमां हाथनां त्रणु नाम आभ्यां छे. (१) पञ्चशास्त्र, (२) शय अने (३) पाणि तेनी
व्याख्यामा अताव्यु छे के शाखा लेवी पांच आंगणीयो हाथ छे तेथी तेने 'पञ्चशास्त्र' कडे
छे. अेमां अधी वस्तुयो सूत्रे (राभवामां आवे) छे तेथी तेने 'शय' कडे छे. ते वडे अधी
लेणुहेणु वगेरेने। वडेवार थाय छे तेथी अेने 'पाणि' कडे छे अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च
(उ० ४ १३३) अे सूत्रथी इण् शाय छे अने आय प्रत्ययने। लुक थाय छे. अेवी व्युत्पत्ति
करवाथी कर ने। वाचक न अने छे.

धीने पक्ष पणु (लक्ष्य अर्थ मानवे) अराअर नथी. लक्ष्य अर्थ त्यां मानवामां
आवे छे के न्यां सुष्य (शाब्दिक) अर्थ लेवामां कोर्ष प्रकाग्नी आधा आवे. अडी 'हाथथी
ढांकीने' अेवे अर्थ करवामा कोर्ष आधा आवती नथी, तेथी लक्षणा अर्थ शक्ति नथी,
अटले अे लक्ष्य अर्थ पणु नथी.

त्रीने पक्ष (व्यंग्य अर्थ मानवे) पणु आधित छे. न्यारे प्रधान अर्थ लेवाधी अेक

ચિત્યાચ્ચ । વાયુનિસર્ગાનન્તરં ક્ષુતે જાયમાને પાયુનિર્ગતવાયુસંસ્ટૃયા મુખવસ્ત્રિકયા મુખઘ્રાણપિધાનસ્યાનૌચિત્યમાપામરપ્રતીતમેવ ।

પાણિશબ્દેઽજહલ્લક્ષણાવૃત્તિ સ્વીકૃત્ય પાણિસ્થિતમુખવસ્ત્રિકયે' ત્યર્થકલ્પનેઽપિ નોક્તાનૌચિત્યદોષનિસ્તારઃ । અપિચ-આસ્યક-પોપકૈતદુભયપરિપિધાને પાણિનેત્યેકમેવ સાધનમુક્તં, તત્ર પાણિસ્થિતમુખવસ્ત્રિકાયેર્થાઙ્ગીકારે દીર્ઘોચ્છ્વાસાદીનામધોવાયુનિસર્ગ-સ્ય ચ યૌગપદ્યે સતિ કથમેકયૈવ પાણિસ્થિતયા મુખવસ્ત્રિકયા યુગપદેવ ઘ્રાણં મુખં પાયુશ્ચાઽઽવરીતું શક્યત્ इति "પાણિણા પરિપેહિત્તા" इति ભગવદ્વાક્યસ્યાનુપપત્તિઃ । ન ચ 'એકપાણિસ્થિતયા મુખવસ્ત્રિકયાઽઽસ્યકમ્, અપરપાણિસ્થિતયા પાયુવસ્ત્રિકયા પોપકં પરિપિધાયે' ત્યર્થાઙ્ગીકારેણ સમાધાને સુશકમિતિ વાચ્યમ્, સકૃદુચ્ચરિતન્યાયવિરોધેન તાદૃશાર્થકલ્પનાયાઃ કત્તુમશક્યત્વાત્ ।

કલ્પના કરના) અનાવશ્યક ઓર અનુચિત છે । અધોવાયુ નિકલતે હી કિસીકો છીંક આને લો તો ડસી અધોવાયુવાસિત મુખવસ્ત્રિકાસે 'મુખ' ઓર નાક મૂદના બિલકુલ અનુચિત છે ઓર ડેસ અનૌ-ચિત્યકો હરેક સમજ સકતા છે ।

યદિ 'પાણિ' શબ્દમેં અજહલ્લક્ષણા વૃત્તિ માનકર 'પાણિ' (હાથ) સે પાણિમેં સ્થિત મુખ-વસ્ત્રિકા અર્થ લોગે તો મી અનૌચિત્ય દોષ નહીં હટ સકતા । ઢૂસરી બાત યહ છે કિ મુખ ઓર મલદ્વાર ઢેકનેકા પાણિરૂપ એક હી સાધન બતાયા છે । યદિ ડેસકા અર્થ મુખવસ્ત્રિકા કિયા જાવે તો જબ એક હી સાથ અધોવાયુ ઓર દીર્ઘ ઉચ્છ્વાસ આવેગા તબ એક હી મુખવસ્ત્રિકા મલદ્વાર પર લગાઈ જાવેગી યા મુંહપર ? ઓર યદિ સાથ હી છીંક મી બાયગી તો વહી નાકમેં કૈસે લગાઈ જાવેગી ? ક્યૌંકિ એક મુખવસ્ત્રિકાસે એકસાથ હી સબ દ્વાર નહીં ઢેકે જા સકતે । અતઃ 'પાણિણા પરિપેહિત્તા' યહ ભગવાનકા વચન ઠીક નહીં બૈઠેગા । યદિ એસા સમાધાન કરના ઢાહો કિ એક હાથ-

હાથથી મળદ્વાર ઢાંકવું અને ખીજા હાથે નાક-મુખને ઢાંકવું યુક્ત છે તો વ્યગ્યાર્થ (મુખ-વસ્ત્રિકાના તાત્પર્યની કલ્પના કરવી) અનાવશ્યક અને અનુચિત છે અધોવાયુ નીકળતી વખતે જ ઢેકીને છીંક આવવા લાગે તો એ અધોવાયુથી વાસિત મુખવસ્ત્રિકાથી મુખ અને નાક ઢાંકવાં એ બિલકુલ અનુચિત છે. અને એ અનૌચિત્યને સૌ ઢેકી સમજી શકે છે

જે 'પાણિ' શબ્દમાં અજહલ્લક્ષણા વૃત્તિ માનીને, 'પાણિ' (હાથ) થી પાણિમા સ્થિત મુખવસ્ત્રિકાનો અર્થ લેશે તો પણ અનૌચિત્ય દોષ દૂર થઈ શકતો નથી ખીજા વાત એ છે કે મુખ અને મળદ્વાર ઢાંકવાનું પાણિરૂપ એકજ સાધન બતાવ્યું છે. જે એનો અર્થ મુખ વસ્ત્રિકા કરવામા આવે તો જ્યારે એકી સાથે અધોવાયુ અને દીર્ઘ ઉચ્છ્વાસ આવશે ત્યારે એક જ મુખવસ્ત્રિકા મળદ્વાર પર લગાડવામાં આવશે કે મુખ પર ? અને જે સાથે જ છીંક પણ આવશે તો તે નાક પર કેવી રીતે લગાડવામા આવશે ? કારણ કે એક મુખવસ્ત્રિકાથી એકી સાથે બધા દ્વાર ઢાંકી શકાતા નથી. તેથી 'પાણિણા પરિપેહિત્તા' એવું લગવાનું વચન ખરાખર ખંધ બેસશે નહિ. જે એવું સમાધાન કરવા ઇચ્છે કે એક

किञ्च तेषामयौगपद्येऽपि पायुपिधायकवस्त्रखण्डे मुखवस्त्रिकात्वकल्पनं परमभ्रान्तिमूलम्, मुखपात्र्वोरैक्याभावात् । अनावृतस्यैव मुखादेवरावरणे तात्पर्यसत्त्वे परिपिधायेत्यत्र परीत्युपसर्गप्रयोगस्याऽऽनर्थक्यापत्तिश्च, अपिपूर्वकादपि ल्यप्प्रत्ययसिद्धेः ।

किञ्च—‘आवृतस्य पुनरावरणं व्यर्थमेवेति हेतोरनावृतस्यैवाऽऽवरणार्थमयमुपदेशः’ इति वदतस्तव हस्तवस्त्रिकाधारकस्य मते पोषकस्य परिधानवसनानावरणीयतापत्तिः, अन्यथा परिधानवस्त्रावृतपोषकावरणोपदेशस्य वैयर्थ्यापत्तिरित्युभयथाऽपि न दोषनिस्तारः । तस्मात्—‘आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहिता’ इति भगवद्वाक्यस्य ‘मुखवस्त्रिका करणैव धारणीया नतु दोरकेणे’—त्यर्थकल्पनं साहसमात्रम् ।

की मुँहपत्तोसे मुँह और दूसरे हाथके पायुवस्त्रसे मलद्वार ढक लेवेंगे, सो ठीक नहीं है। ‘सकृदुच्चरितन्याय’ से ऐसी कल्पना करना शक्य नहीं है।

अधोवायु और छींक आदि एक साथ न भी हो तो भी अधोवायुको यतना करनेवाले वस्त्रको मुखवस्त्रिका कहना भारी भूल है, क्योंकि मुख और मलद्वार एक चीज नहीं है—दोनों अलग अलग हैं। यदि खुले मुख बोलनेका तात्पर्य हो तो ‘परिपेहिता’ पदमें ‘परि’ उपसर्ग व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि ‘अपि’ उपसर्गपूर्वक धातुसे भी ल्यप् प्रत्यय होता है।

ढँके हुएको फिर ढाँकना वृथा ही है, वगैर ढँके हुए को ढँकनेके लिए यह उपदेश दिया है।—यदि हाथमें मुँहपत्ति रखने वाले ऐसा कहेंगे तो यह सिद्ध हो जायगा कि उनका मलद्वार सदा अनावृत (उघडा हुआ) रहता है। नहीं तो आवृतको फिर आवरण करनेका उपदेश व्यर्थ हो जायगा। अतएव—‘आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहिता’ इस भगवद्वाक्य का यह अर्थ निकालना कि- मुखवस्त्रिका हाथ ही में रखनी चाहिए डोरेसे मुख पर नहीं बाँधना चाहिए ऐसी कल्पना करना साहसमात्र है।

हाथनी मुँहपत्तिथी मुण्ठ अने भीन्हा हाथना पायुवस्त्रथी मणद्वार ढाडी देवाशे, तो ते भराभर नथी, कारण के सकृदुच्चरितन्यायथी अेवी कल्पना करवी शक्य नथी.

अधोवायु अने छींक आदि अेकी-साथे न होय तो यण्ठ अधोवायुनी यतना करनारा वस्त्रने मुण्ठवस्त्रिका कडेवी अेभोटी भूल छे, कारण के मुण्ठ अने मणद्वार अेक थीन् नथी. जेठे अलग अलग छे ते पुढले मुण्ठे जोखवानुं तात्पर्य होय तो परिपेहिता शब्दमा परि उपसर्ग व्यर्थ थई जशे कारण के अपि उपसर्ग पूर्वक धातुथी यण्ठ ल्यप् प्रत्यय थाय छे.

‘ढाँकेवाने इरीथी ढाँकवु अे वृथा छे, तेथी ढाँकया वगरनाने ढाँकवाने माटे आ उपदेश आथे छे.’—जे हाथमा मुँहपत्ती राखनार अेम कडेशे तो अेम सिद्ध थशे के अेनुं मणद्वार सदा अनावृत (उघाडुं) रहे छे. नहि तो आवृतने इरी आवरणु करवाने उपदेश व्यर्थ जनी जशे तेथी इरी आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहिता’ अे भगवद्वाक्यने अेवो अर्थ काढवो के ‘मुण्ठवस्त्रिका हाथमां ज राखवी जेठे अे, दोराथी मुण्ठ पर बाधवी न जेठे अे’ अेवी कल्पना करवी अे साहसमात्र छे.

मम तु सूक्ष्मव्यापिसम्पातिमवायुकायादिजीवविराधनापरिहारार्थं वद्धमुखवस्त्रिक-
स्योच्छ्वासादिकाले मुखोद्गतवायुवेगेन मुखतो दोरकावल्ग्विततदपगमसम्भावनायाः
सत्त्वेन तन्निवारणाय मुखवस्त्रिकाऽऽवृतस्यापि मुखस्य पाणिना परिपिधानमावश्यकमेव ।
एवं परिधानवस्त्राऽऽवृतस्यापि पोषकस्य परिपिधानं विधेयमेव, उच्छ्वासादीनां यौगपद्ये-
ऽयौगपद्य वा एकेन करेण घ्राणमुखपिधानम्. अपरेण पायुपिधानं विधेयमिति भावः ।

पाणिनेत्यत्रैकवचनमपि पाणित्वजातावन्वयविवक्षयेत्युभयपाणिबोधकत्वेऽप्यनुकूलमेव ।

किञ्च पाणिशब्दस्य मुख्यार्थवाधाऽभावेन मुख्यार्थवाधमूलिका लक्षणापि नाङ्गीक-
रणीया भवति । तथा चोक्तसूक्ष्मव्यापिप्रभृतिविविधजीवहिंसावारणाय सदैव सदोरकमु-
खवस्त्रिकाधारणं नैतत्सूत्रतो विरुध्यते, किन्तु परिपिधायेत्यत्र परिशब्दप्रयोगेण भगवान्
मुखवस्त्रिकापिहितस्यैव मुखस्य पिधानमावेदयतीत्यलं पल्लवितेन ।

हमारे मतसे सूक्ष्म, व्यापी, सपातिम तथा वायुकाय आदि जीवोकी विराधनासे बचनेके
लिए मुखवस्त्रिका बँधी हुई होने पर भी उच्छ्वास आदिके समय मुखसे निकलने वाले वायुके वेगसे
मुखवस्त्रिकाके खिसक जानेकी सभावना रहती है, इसलिए उस सभावनाको दूर करनेके वास्ते
मुखवस्त्रिकासे आवृत मुखको फिर हाथसे आवृत करना आवश्यक है। इसी प्रकार चोलपट्ट होने
पर भी अधोवायुके विषयमें समझना चाहिए। उच्छ्वास आदि एक ही साथ होवें तो एक हाथ
से मुख और नाक ढँकले और दूसरे हाथसे अधोवायुकी यतना करे।

“पाणिणा” यद्यपि एक वचन है, इसलिए हमारे मतके अनुकूल ही है।

यहाँ पाणि” शब्दके मुख्य अर्थमें बाधा नहीं है अतः लक्षणा भी मानना योग्य नहीं है,
क्योंकि लक्षणा वहीं होती है जहाँ मुख्य अर्थ में बाधा आती हो। इसलिए उक्त सूक्ष्म व्यापी
वगैरह विविध जीवोकी विराधनासे बचने के वास्ते सदैव डोरा सहित मुखवस्त्रिका मुख पर बांधना

अमारे मते सूक्ष्म, व्यापी, सपातिम तथा वायुकाय आदि जीवोकी विराधनाथी
अथवाने माटे मुखवस्त्रिका बांधी डोवा छता उच्छ्वास आदिने समये मुखथी नीकणता
वायुना वेगथी मुखवस्त्रिका अथी नवानी सभावना रहे छे तेथी अे सभावनाने
दूर करवाने माटे मुखवस्त्रिकाथी ढाकेला मुखने पक्षु हाथथी ढांकवानी आवश्यकता छे. अे
रीछे अेअपट्ट डोवा छता पक्षु अधोवायुना विषयमा समझवु उच्छ्वास आदि ने अेकी
साथे न थाय तो अेक हाथथी मुख अने नाक ढांकी देवां अने पीन हाथथी अधोवायुनी
यतना करवी

पाणिणा ने के अेकवचन छे तोपक्षु पाणित्व अतिमा अन्वय थवाथी अेउ हाथने।
आधक थाय छे तेथी अमारे मते ते शब्द अनुकूल छे.

अही पाणि शब्दना मुख अर्थमां बाधा नहीं तेथी लक्षणा पक्षु मानवा योग्य
नथी, कारण के लक्षणा त्या थाय छे के न्या मुख अर्थमां बाधा आवती डोय तेथी
करीने उक्त सूक्ष्म, व्यापी वगैरे विविध जीवोकी विराधनाथी अथवाने माटे सदैव डोरा
साथे मुखवस्त्रिका बांधवी अे अत्रथी विशुद्ध नथी, परन्तु परिपेक्षिता अही परि. उपसर्गना

केचित्तु—“विपाकसूत्रे मृगापुत्राध्ययने—“तए णं सा मिया देवी तं कट्टसगडियं
अणुकड्डेमाणीर जेणेव भूमिधरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छत्ता चउप्पुडेणं वत्थेणं मुह
बंधमाणी भगवं गोयमं एवं वयासि—तुव्भेवि णं भंते ! मुहपोत्तियाए मुह बंधेह । तए
णं से भगवं गोयमे मियाए देवीए एवं बुत्त समाणे मुहपोत्तियाए मुह बंधइ” इत्युक्तं,
तस्यायमाशयः—मृगापुत्रं दर्शयितुं प्रवृत्ता मृगादेवी भूमिगृहद्वारोद्घाटनकाले दुर्गन्धाघ्राण-
वारणाय चतुष्पुटेन वस्त्रेण स्वमुखं बध्नुती भगवन्तं गौतमं जगाद—हे भदन्त ! त्वमपि
मुखपोत्तिकया मुखं बधान, ततः स भगवान् गौतमो मृगादेव्यैवमुक्ताः सन् मुखपोत्तिकया
मुखं बध्नाति (स्म) इति । इदमनेन सुस्पष्टं प्रतीयते—गौतमस्वामिनो मुखोपरि मुखव-
स्त्रिका बद्धा नासीत् किन्तु हस्त एव धृतेति, अत एव मृगादेवी दुर्गन्धाघ्राणप्रतिबन्धाय
“तुव्भेवि णं भंते ! मुहपोत्तियाए मुह बंधेह” इति प्रार्थितवतीत्याहुः’ तन्न सम्यक्
—उष्णमुखवायुतः सम्पातिमसूक्ष्मव्यापिजीवानां रक्षणार्थं बाह्यवायुकायरक्षार्थं च मुखवस्त्रि-

इस सूत्रसे विरुद्ध नहीं है । परन्तु ‘परिपेहिता ‘परि’ उपसर्गके प्रयोगसे प्रगट है कि श्रीमहावीर प्रभुने
मुहपत्ति से पिहित (ढँकेहुए) मुखको पुनः पिधान करना प्रतिपादित किया है ।

कोई कोई ऐसा कहते हे कि विपाकसूत्रमें मृगापुत्रके अध्ययनमें ऐसा लिखा है— “तए णं
सा” इत्यादि

इसका आशय यह है कि मृगादेवी जब मृगापुत्रको आहार देनेके लिए भोयरेके किवाड खोलने
लगी तब नाकमें दुर्गन्ध आनेका निवारण करनेके लिए चार पड़वाला वस्त्र मुख पर बांधकर भगवान्
गौतमस्वामीसे कहने लगी— ‘हे भदन्त । आप भी मुखवस्त्रिकासे मुख बांध लीजिये’ । मृगादेवीका
कथन सुनकर भगवान् श्री गौतम मुखवस्त्रिकासे मुख बांधते है (बांध लिया) । ‘इससे यह बिलकुल
स्पष्ट है कि पहले श्रीगौतमस्वामीके मुख पर मुखवस्त्रिका नहीं बंधी हुई थी, किन्तु हाथमें थी, इसीसे
मृगादेवीने मुखवस्त्रिका बांधनेकी प्रार्थना की थी । उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मुखको

प्रयोगथी स्पष्ट थाय छे के महावीर प्रभुने मुहपत्तिथी पिहित (ढाँकेला) मुभने पुन
ढाँकुवानुं प्रतिपादित क्युं छे.

कैध कैध ऐम कडे छे के विपाकसूत्रमाभू गापुत्रना अध्ययनमां लण्युं छेके—“तए णं सा”
इत्यादि. ऐने आशय ऐ छे के मृगादेवी ज्यारे मृगापुत्रने आहार देवाने माटे लोअरानां
कमाउ जोखवा लागी त्यारे नाकमां दुर्गंध आवती निवारवाने माटे चार पडवाणुं वस्त्र
मुभ पर आधीने लगवान गौतम स्वामीने कडेवा लागी के-डे लदन्त । आप पणु मुभ--
वस्त्रिकाथी मुभ आंधी ल्यो. मृगादेवीनुं कथन सालणीने लगवान् गौतम मुभवस्त्रिकाथी
मुभ आधे छे (आंधी लीधु.) आथी ऐ तदन स्पष्ट थाय छे के पडेला गौतम स्वामीना
मुभ पर मुभवस्त्रिका आंधेली नडेती, किन्तु हाथमां हती, तेथी मृगादेवीऐ मुभवस्त्रिका
आंधवानी प्रार्थना करी हती. ऐमनुं ऐ कडेवुं अराअर नथी, कारणु के मुभना उष्ण
वायुथी संपातिम, सूक्ष्म अने व्यापी जिवोनी रक्षा करवाने माटे तथा बाह्य वायुकायनी

काचन्धनस्य सकलजैनागमतात्पर्यविषयतया मुखवस्त्रिका बद्धा नासीदिति कल्पनं तावन्मिथ्यात्वविलसितं सकलागमविरुद्धं च । इदमत्र तत्त्वम्—दुर्गन्धाघ्राणवारणाय 'मुह बंधेह' इति प्रार्थनाऽनुपपन्ना, मुखेन गन्धग्रहणानुपपत्तेः, तस्मादत्र 'मुह' शब्दो न मुखमात्रपरः किन्तु यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्दस्य प्रवाहरूपे शक्यार्थे (मुख्यार्थे) घोषान्वयतात्पर्यानुपपत्त्या तत्समीपवर्तिनि तीरे लक्षणावृत्त्या तात्पर्यमिति मन्यते, तथा मुखे बद्धाया एव तस्याः पुनस्तत्रैव बन्धनार्थप्रार्थना निष्फलतया नोपपद्यते, किञ्च दुर्गन्धाघ्राणवारणोद्देशेनापि तत्प्रार्थना नोपपद्यते, मुखमात्रबन्धने कृतेऽपि घ्राणेन्द्रियस्याऽनावरणेन तदुद्देशसिद्धयसंभवादिति मुखमात्रे बन्धनान्वयतात्पर्यस्यानुपपत्त्या तत्समीपवर्तिनि घ्राणेऽपि

उष्ण वायुसे सपातिम, सूक्ष्म और व्यापी जीवोंकी रक्षा करनेके लिए तथा बाह्य वायुकायकी रक्षा करनेके लिए मुखवस्त्रिका बांधना सब जैन-आगमोंमें तात्पर्यरूपसे विधान किया गया है । इस-लिए उनके मुख पर मुखवस्त्रिका नहीं बंधी थी' ऐसा कहना मिथ्यात्वका ही प्रलाप है और सब शास्त्रोंसे विरुद्ध है । तात्पर्य यह है कि दुर्गन्धसे बचनेके लिए मुख बांधनेकी प्रार्थना उचित नहीं है क्योंकि मुखसे गन्धका ग्रहण नहीं होता । अतएव यहाँ मुखसे केवल मुखही अर्थ नहीं है । जैसे "गंगामें घोष (अहीरोकी वसती) है । इस वाक्यसे ऐसा मतलब नहीं निकल सकता कि गंगाकी बीचधारमें अहीरोका वसती है, क्योंकि ऐसा होना अनुपपन्न है । अतएव जब वाक्यके मुख्य (शाब्दिक) अर्थमें बाधा आती हो तब लक्षणासे दूसरा मतलब लेना पडता है कि गंगाके किनारे अहीरोकी वसती है । इसीप्रकार मुखवस्त्रिका जब पहलेसे बंधी हुई है तब पुनः बांधनेकी प्रार्थना व्यर्थ पडती है, तथा दुर्गन्ध नाकमें न घुसने देनेके लिए मुख बांधनेकी प्रार्थना युक्त नहीं है, क्योंकि मुख बांध लेनेपर भी दुर्गन्धका आना नहीं रुक सकता, अतः यहाँ मुख बांधनेका अर्थ अयुक्त होनेसे मुखके समीपवर्ती नासिका बांधनेका तात्पर्य लक्षणासे विदित होता है । लक्षणाका आश्रय

रक्षा करवाने भाटे मुखवस्त्रिका बांधनी ऐवुं अथां जैन-आगमोंमा तात्पर्यरूपे विधान करवायां आब्युं छे तेथी अभना मुख पर मुखवस्त्रिका बांधेदी नडोती अभ कडेवुं छे मिथ्यात्वनेो न प्रताप छे अने अथां शास्त्रोथी (विरुद्ध छे तात्पर्यं छे छे के दुर्गंधथी अथवाने भाटे मुख बांधवानी प्रार्थना उचित नथी, कारण के मुखथी गंधतुं अडधु थतु नथी. अटले अडीं मुखथी केवण मुखनेो न अर्थ थतो नथी. अभ "गंगामां घोष (आडीं रानी वसती) छे" अे वाक्यथी ऐवी मतलब नथी नीकणी शकती के गगानी वच्ये पाणीना प्रवाहमां अडीरोनी वसती छे, केभके अभ डोवु अनुपपन्न छे अटले के न्यारे वाक्यना मुख (शाब्दिक) अर्थमा बाधा आवे छे त्यारे लक्षणाथी जील मतलब लेवी पडे छे, के गंगाने किनारे अडीरोनी वसती छे अे रीते मुखवस्त्रिका ने पडेलेथी बाधी राजेदी छे तो पुनः बांधवानी प्रार्थना अर्थ अने छे. तथा दुर्गंध नाकमां न पेअवा देवाने भाटे मुख बांधवानी प्रार्थना करवी युक्त नथो कारण के मुख बांधी देवा छता दुर्गंध आववानुं रोकै शकतुं नथी अटले अडीं मुख बांधवानी अर्थ अयुक्त होवथी मुखनी निकट आवेवुं

लक्षणावृत्त्या तात्पर्यमिति गम्यते । लक्षणाश्रयणस्याऽऽवश्यकत्वादेवाऽऽचाराङ्गसूत्रेऽपि—“से भिक्खू वा२ उस्सासमाणे वा नीसासमाणेवा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डोए वा वायनिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपे-
हिता” इत्यादिपाठः संगच्छते, तत्राप्यास्यकशब्दे लक्षणाश्रयणाऽभावे तु पाणिनाऽऽस्यक-
परिपिधाने सति तज्जन्योच्छ्वासादियतनाया उपपत्तावपि घ्राणजन्योच्छ्वासनिःश्वास-
क्षुतयतनाया अनुपपत्त्या तेषामागमविरोधः सुस्पष्ट एव ।

नन्वेवं मुखवस्त्रिका भवतु बन्धनीया तथापि दोरकस्य बन्धने निर्वन्धनताऽऽ-
गमतो न लभ्यते, तथा च तत्प्रान्तभागेनापि बन्धनं मुसम्पादम्, अलभ्येतेन दोरकपरि-
ग्रहेणेति चेन्न, मुखवस्त्रिकाबन्धनस्य शास्त्रप्रतिपाद्यतायां सिद्धायां तत्राल्पमेव दोरकस-

लेना आवश्यक होनेसे ही आचाराङ्गसूत्रका “से भिक्खू वा० ” इत्यादि पाठ ठीक बैठता है ।
वहाँ पर भी यदि ‘आसयं’ (मुख) शब्दमें लक्षणाका आश्रय न लिया जाय तो हाथसे मुख ढँक
लेने पर मुखजन्य उच्छ्वास निःश्वास आदिकी यतना संभव हो सकती है किन्तु घ्राणजन्य
उच्छ्वास—निःश्वास छींककी यतना नहीं हो सकती । अतः उन लोगोके मतमें आगमसे विरोध
होना स्पष्ट है ।

प्रश्न—उक्त प्रकारसे मुख पर मुखवस्त्रिका बाँधना तो सिद्ध हुआ किन्तु डोरा लगाकर बाँधना
आगममें कहीं नहीं पाया जाता । इसलिए मुखवस्त्रिकाके छोर (पल्ला) से भी उसे बाँध सकते हैं,
डोराकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—उनका यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि जब यह सिद्ध हो चुका कि आगममें मुखवस्त्रि-
काका बाँधना प्रतिपादित किया गया है तो छोटेसे दोरेसे निर्दोषपूर्वक बन्धनकी सिद्धि होने पर

नाक बाधवानु तात्पर्यं लक्षणाया विहितं थायं छे लक्षणाया आश्रयं देवा आवश्यकं होवाथी
न आचारांग सूत्रेण “से भिक्खू वा० ” इत्यादि पाठ परापर अध जेसे छे

तेमां पणु जे आसयं (मुख) शब्दमां लक्षणाया आश्रयं देवामा न आवे तो हाथथी
मुख ढांकी देता मुखजन्य उच्छ्वास निःश्वास आदिनी यतना संलवित थयं शके छे, किंतु
घ्राणजन्य उच्छ्वास—निःश्वास छींकनी यतना थयं शकती नथी. अटदे जे दोरकेना मतमां
आगमथी विरोध थायं छे जे स्पष्ट छे.

प्रश्न—जे प्रकारे मुख पर मुखवस्त्रिका बाँधवानुं तो सिद्ध थयु, परन्तु दोरे लगावीने
बाधवानुं आगममां कथांय मणी आवतु नथी तेथी करीने मुखवस्त्रिकाना छेडाथी पणु
तेने बांधी शकय छे. दोरानी शी आवश्यकता छे ?

उत्तर—जेवुं कथन परापर नथी, कारणुं के जे सिद्ध थयं चूकयुं छे के आगममां
मुखवस्त्रिका बाँधवानुं प्रतिपादित करवामां आव्युं छे तो नाना सरणा दोराथी निर्दिष्टता
पूर्वक बाँधननी सिद्धि थता यस्मिन्ने मतिन करनारे भीजे प्रकार काममां देवे जे अनुचित
छे, मुखवस्त्रिकाना छेडाथी शिरनी पाछण न्यूनताने कारणे गांठ न बांधी शकवाथी मुख-

પેક્ષ્ય નિરવદ્યપ્રકારેણ તવ્વન્ધનસિદ્ધૌ સત્યાં ચારિત્રમાલિન્યાપાદકપ્રકારાન્તરાશ્રયણસ્યા-
નોચિત્યાત્, મુખવસ્ત્રિકાપ્રાન્તભાગેન શિરઃપશ્ચાદ્ભાગે ન્યૂનતાવશાદ્ગ્રન્થિવિરહપ્રાપ્તાવુચિ-
તાધિકતન્માનકલ્પનાયામુત્સૂત્રપ્રરૂપણાપત્તેશ્ચ ।

કિન્ચ મુખવસ્ત્રિકાયા વન્ધનં દોરકેણૈવ સમુચિતં ભગવદભિપ્રેતં ચ, લોકે હિ વન્ધનં
ગુણેનૈવ પ્રસિદ્ધં તત્રાપિ યથાયોગ્યમેવ સૂત્રદોરકાદયસ્તદર્થમાદીયન્તે, યથા પુષ્પપુસ્ત-
કવસનાદિવન્ધનાર્થી યથાક્રમં મૃદુમેવ દોરકમુપાદત્તે ।

કિન્ચ-સામાચરીગ્રન્થે-“મુખવસ્ત્રિકાં પ્રતિલેખ્ય મુખે વદ્ધ્વા પ્રતિલેખયતિ રજો-
હરણમ્” इत्युक्तं देवचन्द्रसूरिणाऽपि । अत्र मुखवस्त्रिकाया वन्धनक्रियाकर्मत्वेन प्रतिपाद-
नात् तदौचित्याच्च सा दोरकरूपमनुरूपं करणमपेक्षत एव । तत्प्रान्तभागेन ग्रन्थिदाने
तु तत्र करणत्वकल्पनं देवचन्द्रसूरिविरुद्धमयुक्तं च, कर्मत्व-करणत्वयोर्विरोधात् ।

ચારિત્રકો મલિન કરને વાળે દૂસરે તરીકે કામમેં લાના અનુચિત હૈ । મુખવસ્ત્રિકાકે છોરસે સિરકે
પીછે ન્યૂનતાકે વશસે ગાંઠ ન લગા સકનેસે મુખવસ્ત્રિકાકે ઉચિત પ્રમાણસે અધિકકી કલ્પના કરની
પડેગી, ઓર એસી કલ્પના કરનેસે ઉત્સૂત્રપ્રરૂપણાકા દોષ લોગા ।

દૂસરી વાત યહ હૈ કિ ડોરેસે હી મુખ પર મુખવસ્ત્રિકા બાંધના ઉચિત હૈ ઓર યહી વાત
ભગવાનકો મી ઇષ્ટ હૈ । લોકમેં કિસી વસ્તુકા બાંધના ડોરેસે હી પ્રસિદ્ધ હૈ । ડસમેં મી યથાયોગ્ય
સૂત્રકા ડોરા આદિ બાંધનેકે કામમેં લાયે જાતે હૈ, જૈસે ફૂલ પુસ્તક યા કપડા બાંધને વાળે
ક્રમશઃ કોમલ ડોરેકો હી કામમે લાતે હૈ ।

સામાચારી ગ્રન્થ મેં દેવચન્દ્રસૂરિને લિખા હૈ “મુખવસ્ત્રિકાં પ્રતિલેખ્ય મુખે વદ્ધ્વા પ્રતિલેખયતિ
રજોહરણમ્, ડસ વાક્ય મેં મુખવસ્ત્રિકાકો બાંધનેરૂપ ક્રિયાકા કર્મ વતાયા હૈ ઓર વહ ઉચિત
મી હૈ । ડસલિયે વહ (ક્રમ) મુખવસ્ત્રિકાકે અનુરૂપ કરણકો અપેક્ષા રખતી હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ
કિ જબ મુખવસ્ત્રિકા કર્મ હૈ તવ કરણ મી કોઈ હોના ચાહિયે ઓર વહ કરણ અર્થાત્ જિસસે

વસ્ત્રિકાને ઉચિત પ્રમાણથી વધારે (લાંબી) રાખવાની કલ્પના કરવી પડશે, અને એવી કલ્પના
કરવાથી ઉત્સૂત્રપ્રરૂપણાને દોષ લાગશે.

બીજી વાત એ છે કે દોરાથી જ મુખ પર મુખવસ્ત્રિકા બાંધવી ઉચિત છે અને એ જ
વાત ભગવાનને પણ ઇષ્ટ છે ડોકોમાં કોઈ વસ્તુને બાંધવાનું કાર્ય દોરાથી જ પ્રસિદ્ધ છે
તેમાં પણ યથાયોગ્ય સૂતરને દોરા વગેરે બાંધવાના કામમાં લેવામાં આવે છે, જેમકે ફૂલ,
પુસ્તક યા કપડું બાંધનારા ક્રમશઃ કોમળ દોરાને જ કામમાં લે છે

સામાચારી ગ્રન્થમાં દેવચન્દ્રસૂરિએ લખ્યું છે “મુખવસ્ત્રિકાં પ્રતિલેખ્ય મુખે વદ્ધ્વા
પ્રતિલેખયતિ રજોહરણમ્” એ વાક્યમાં મુખવસ્ત્રિકાને બાંધવારૂપ ક્રિયાનું કર્મ બતાવ્યું
છે અને તે ઉચિત પણ છે તેથી કરીને એ (ક્રિયા) મુખવસ્ત્રિકાને અનુરૂપ દોરારૂપ કરણની
અપેક્ષા રાખે છે તાત્પર્ય એ છે કે જો મુખવસ્ત્રિકા કર્મ છે તો કરણ પણ હોવું જોઈએ.
અને એ કરણ અર્થાત્ જેવડે બાંધવારૂપ ક્રિયા થાય છે તે દોરા જ હોવો જોઈએ. ગાંઠ

मुखवस्त्रिकाबन्धनार्थं कर्णयुगले शस्त्रेण छिद्रकरणं तु अतीवाऽज्ञानविजृम्भितम्, छिद्रकरणस्य शास्त्रानुक्ततया शस्त्रप्रयोगसाध्यतया दुष्करतया च तदपेक्षया निरवद्यत्वेन दोरकाश्रयणस्यैवोचित्यात् ।

नन्वेवं दोरकाश्रयणे सदोरकमुखवस्त्रिकाधारकाणां भाषणकाले मुखोत्पतितजलकणैराद्रीभूतायां मुखवस्त्रिकायामशुचिस्थानतया समूर्च्छिमजीवा उत्पद्येरन्, हस्तेन मुखवस्त्रिकाधारणे तु न तथाविधजीवोत्पत्तिसम्भवः तथा च दोरकपरिग्रहो दुराग्रहमात्रमिति चेन्न, मुखोत्पन्नजलकणानां भगवता जीवोत्पत्तिस्थानतयाऽनुक्तत्वात् । न चैतेषां जलकणानां खेलांशतयाऽशुचिस्थानतया वा जीवोत्पत्तिस्थानत्वं प्रतीयत इति वाच्यम्, तत्र

बाँधनारूप क्रिया होती है डोरा ही होना चाहिए । गाँठ लगानेमें करणत्वकी कल्पना करना देवचन्द्रसूरिसे विरुद्ध और अयुक्त है क्योंकि कर्मत्व और करणत्वको विरोध है ।

मुखवस्त्रिका बाँधनेके लिए कानो में छेद कर लेना तो बड़ी भारी अज्ञानता है, क्योंकि साधुपनेके लिए किसी अवयवको छेदना शास्त्रों में निषिद्ध है और शस्त्रसाध्य होनेसे दुष्कर भी है । उसकी अपेक्षा निर्दोषरूपसे डोरेका आश्रय लेना ही उचित है ।

प्रश्न—डोरेका आश्रय लेनेसे दोरासहित मुखवस्त्रिका मुख पर धारण करनेवालोकीमुखवस्त्रिका भाषण करते समय मुखसे निकलनेवाले पानी के कणोंसे गीली हो जायगी और गीली होनेसे अशुचिस्थान हो जानेके कारण वहाँसमूर्च्छिम जीवोकी उत्पत्ति होगी । हाथमें मुखवस्त्रिका धारण करनेसे समूर्च्छिम जीवोकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसलिए डोराका ग्रहण करना दुराग्रहमात्र है ।

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि मुखसे निकलने वाले जलके कणोंको भगवान्ने जीवोत्पत्तिका स्थान नहीं बताया है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि वे जलकण खेलके अंश है,

भाँधवामां करणत्वनी कल्पना करवी ये देवचन्द्रसूरिथी विरुद्ध छे अने अयुक्त छे, कारण के कर्मत्व अने करणत्वने विरोध छे.

मुखवस्त्रिका भाँधवाने कानमां छिद्र पडावी देवा ये तो लारे अज्ञानता छे, कारण के साधुपणाने माटे केअ अवयवने छेदुं शास्त्रमां निषिद्ध छे अने शस्त्रसाध्य होवाथी दुष्कर पणु छे अने अद्वै निर्दोष रूपे दोराने आश्रय लेवे न उचित छे.

प्रश्न—दोराने आश्रय लेवाथी दोरा—सहित मुखवस्त्रिका मुख पर धारण करनाराम्योनी मुखवस्त्रिका लापणु करती वपते मुखमांथी नीकणता पाणीना कण्ठोथी लीनी थरु नशे अने लीनी थवाथी अशुचिस्थान थरु नवाना कारणे त्या समूर्च्छिम लोवानी उत्पत्ति थशे, हाथमां मुखवस्त्रिका धारणु करवाथी समूर्च्छिम लोवानी उत्पत्ति थती नथी तथा करीने दोरानुं अणु करवुं ये दुराग्रह थाय छे.

उत्तर—अम कडेवुं उचित नथी, कारण के मुखथी नीकणता नजना कण्ठाने लगवाने लोवोत्पत्तिनुं स्थान अताणुं नथी अम पणु न कडी शक्य के ये नजणु अेल (कड) ना अशुप होय छे अने तेथी अशुचि—स्थान छे अने अशुचिस्थान होवाथी लोवोत्पत्ति-

खेलांशताप्रतीतेभ्रान्तिमूलकत्वात् । वैद्यकशास्त्रे हि खेलस्य मुखजलकणानां च भेदः सुस्पष्टः, तथाहि खेलशब्दः श्लेष्मण्यर्थे वर्तते, आमाशयो, हृदय, कण्ठः, शिरः, सन्धियश्चैतानि श्लेष्मणः स्थानानि, तथाचोक्तं भावप्रकाशे—

“आमाशयेऽथ हृदये, कण्ठे शिरसि सन्धिषु ।

स्थानेष्वेषु मनुष्याणां, श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात् ॥” इति,

अस्य स्वरूपं धर्माश्रोक्ता सुश्रुतसंहितायां—

“श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः, पिच्छलः शीत एव च ।

मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्, विदग्धो लवणः स्मृतः ॥” इति,

इसलिए अशुचिस्थान है और अशुचिस्थान होनेसे जीवोत्पत्तिके स्थान है । क्योंकि उन जल कणोंको खेल (कफ) का अंश समझना भ्रान्तिमूलक है । खेल शब्दका अर्थ श्लेष्म है । आमाशय हृदय, कंठ, सिर और सन्धियाँ श्लेष्म के स्थान है । भावप्रकाश में लिखा है ।

आमाशयेऽथ हृदये कण्ठे शिरसि सन्धिषु ।

स्थानेष्वेषु मनुष्याणां, श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात् ॥१॥

अर्थात्—आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिर और सन्धिभाग, इन स्थानों में मनुष्यों को अनुक्रम से कफ रहता है ।,,

सुश्रुतसंहितामें श्लेष्मका स्वरूप और गुण इस प्रकार बताये हैं

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छलः शीत एव च ।

मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्, विदग्धो लवणः स्मृतः ॥ १

अर्थात्—श्लेष्म (कफ) सफेद, गुरु, चिकना, पिच्छल और शीत होता है । नहीं जला

नां स्थान छे. ये जलकणोभां उद्देशेन अथ समन्वेद्ये ये भ्रान्तिमूलक छे खेल शब्दने अर्थ श्लेष्म छे आमाशय, हृदय, कंठ, शिर અને सन्धि ये श्लेष्मनु स्थान छे भावप्रकाशमां लब्धुं छे के—

आमाशयेऽथ हृदये, कण्ठे शिरसि सन्धिषु ।

स्थानेष्वेषु मनुष्याणां, श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात् ॥

अर्थात्—“आमाशय हृदय कंठ, शिर અને सन्धिलाग ये स्थानोभा मनुष्योने अनुक्रमणी कइ रहे छे”

सुश्रुतसंहितामा श्लेष्मनुं स्वरूप અને गुण आ प्रकारे जताव्या छे :—

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छलः शीत एव च ।

मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः ॥

अर्थात्—“श्लेष्म (कइ) सफेद, गुरु, चिकना, पिच्छल, અને शीत होय छे नदि जणेवो या जयेवो कइ मधुर होय छे અને पाके या जणेवो कइ भारो होय छे. ”

मुखजलस्य तु रसनामूलं तदग्रभागश्चेतिद्वयमुत्पत्तिस्थानम्, इदं च चर्वितस्यान्नस्य पिण्डीभवने कण्ठनलिकयाऽधोनयने पाचने च निमित्तम् । अत एव योगचिन्तामणौ प्रथमाध्याये-

“रसाऽसृङ्मांसमेदोऽस्थि मज्जाशुक्राणि धातवः ।

इयुक्त्वा कस्य धातोः किं मलम् ? इति प्रदर्शयितु पुनरभितम्-

“जिह्वानेत्रकपोलानां जलं पित्तं च रञ्जकम्,” इत्यादि ।

जिह्वानेत्रकपोलानां जलं रसधातोर्मलं, रञ्जकं पित्तं रुधिरस्य मलमिति तदर्थः । इत्थं जिह्वाकपोलदेशे जायमानं जलं मुखजलं, तदीयकणिका एव भाषणकाले कदाचिद् बहिरुत्पतन्तीति विशदीभवति, श्लेष्मा तु न कस्यचिद् धातोर्मलं, स हि दोषत्रयान्तः-पातित्वात्तत्स्वरूपम्, अत एव योगचिन्तामणौ प्रथमाध्याये धातुमलतः पृथक्कृत्य दोष-

हुधा या कच्चा कफ मधुर होता है और पका या जला हुआ नमकीन होता है ।

मुखजलके केवल दो उत्पत्तिस्थान हैं-(१) जिह्वाका मूल और (२) जिह्वाका अग्रभाग । यह मुखजल चबाये हुए अन्नको पिण्ड बनाने तथा कण्ठकी नलीके नीचे लेजाने तथा पचानेका कारण है । इसीसे योगचिन्तामणि ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें “रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः” ऐसा कह कर किस धातुका क्या मल है, सो बतानेके लिए फिर कहा है-“जिह्वानेत्रकपोलानां, जलं पित्तं च रञ्जकम्” । अर्थात् जीभ, नेत्र और गालका जल रसधातुका मल है तथा रंजक पित्त रुधिरका मल है । इसप्रकार जीभ और गालोंमें उत्पन्न होनेवाला जल मुखका जल कहलाता है और उसीकी कणिका भाषण करते समय कभी-कभी बाहर निकल जाती है, यह बात स्पष्ट है । श्लेष्मा किसी धातुका मल नहीं है, वह तीन दोषोंमेंसे एक दोष है, इसीसे योगचिन्तामणिमें धातुओंके मलोसे पृथक् करके तीन दोष अलग बताये हैं, देखो शारीरक प्रकरण “कलाः सप्ताशयाः” इत्यादि श्लोक ५ ।

मुष्णानां मात्र ये उत्पत्ति स्थाने होय छे (१) जिह्वानुं मूल अने (२) जिह्वा (अग्र)ने अग्रभाग ये मुष्ण आयेला अन्नने पित्त बनाववानु तथा कण्ठनी नलीनी नीचे लक्ष्णवानु तथा पचाववानुं कारण छे. तेथी योगचिन्तामणि ग्रन्थना प्रथम अध्यायमां रसासृङ्मांसमेदोऽस्थि मज्जाशुक्राणि धातवः अने कडीने सात धातुओ अतावी छे ते पछी कर्ष धातुने कयो मण छे ते अताववाने माटे कहुं छे के जिह्वानेत्रकपोलानां जलं पित्तं च रञ्जकम् । अर्थात्-जिह्वानेत्र अने गालनुं जल-रस धातुने मल छे तथा रंजक पित्त रुधिरने मल छे. अने रीते जिह्वानेत्र अने गालसा उत्पन्न थनाइ जल मुष्णनुं जल कडेवाय छे अने तेनी कणिकाओ भाषण करती वभते कोर्ष-कोर्ष वार अडार नीकणी जाय छे ते बात स्पष्ट छे. श्लेष्म कोर्ष धातुने मल नथी, ते त्रयु दोषोमांने अेक दोष छे तेथी योगचिन्तामणिमां धातुओना मलोथी नूदा पाडीने त्रयु दोष अलग अतावेला छे. नुओ शारीरक प्रकरण “कलाः सप्ताशयाः” इत्यादि श्लोक ५.

अने रीते स्पष्ट थाय छे के मुष्णनुं जल अने श्लेष्मथी लिन्न छे.

त्रयोपादानं कृतं, यथा शारीरकप्रकरणे—

“कलाः सप्ताशयाः सप्त, धातवः सप्त तन्मलाः ।
 सप्तोपधातवः सप्त, त्वचः सप्त प्रकीर्त्तिताः ॥ १ ॥
 त्रयो दोषा नवशतं, स्नायूनां सन्धयस्तथा ।
 दशाधिकं च द्विशतमस्थनां च द्विशतं मतम् ॥ २ ॥
 सप्तोत्तरं मर्मशतं, शिराः सप्तशतं तथा ।
 चतुर्विंशतिराख्याता, धमन्यो रसवाहिकाः ॥ ३ ॥
 मांसपेश्यः समाख्याता, नृणां पञ्चशतं बुधैः ।
 स्त्रीणां च विंशत्यधिकाः, कण्डराश्चैव षोडश ॥ ४ ॥
 नृदेहे दश रन्ध्राणि, नारीदेहे त्रयोदश ।
 एतत्समासतः प्रोक्तं, विस्तरेणाधुनोच्यते ॥ ५ ॥” इति ।

एवं च मुखजलस्य खेलतो भेदः स्पष्ट एव । न च खेलशब्दस्य निष्ठीवनार्थ-
 कतया निष्ठीवनात्मके मुखजले खेलशब्दप्रवृत्त्या तस्यापि जीवोत्पत्तिस्थानत्वं दुर्वारमे-
 वेति वाच्यम्, निष्ठीव्यते=निरस्यते=प्रक्षिप्यते यत्तन्निष्ठीवनमिति ‘नि’ पूर्वकात् ‘ष्ठीवु
 निरसने’ इति धातोर्वाहुलकात् कर्मणि ल्युटि निष्पन्नस्य निष्ठीवनशब्दस्य योगेन
 मुखनिर्गतपदार्थमात्रे प्रयोगो भवति, एवं च निष्ठीवनशब्दस्यैव प्रक्षिप्तखेलाद्यर्थकत्वं
 सिध्यति न तु खेलशब्दस्य निष्ठीवनार्थकत्वम्, तथा च मुखनिर्गतजलकणेषु न जीवो-

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुखका जल श्लेष्मसे भिन्न है ।

प्रश्न—‘खेल’ शब्दका अर्थ ‘थूक’ है, और थूक तथा मुखजल एक ही है । अतः मुख-
 जलमें खेल शब्दकी आवृत्ति होनेसे वह जीवोत्पत्तिका स्थान होगा ही ।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि ‘निष्ठीवन’ शब्द ‘नि’—उपसर्गपूर्वक ‘ष्ठीवु
 निरसने’ धातुसे बना है । अतः मुखसे निकलने वाला कोई भी पदार्थ निष्ठीवन कहलाता है ।
 इससे यह सिद्ध होता है कि त्यागा हुआ खेल आदि निष्ठीवन कहला सकता है किन्तु निष्ठीवन
 ‘खेल’ नहीं कहला सकता । इसलिए मुखसे निकलने वाले जलकणों में जीवोत्पत्तिकी सिद्धि नहीं
 होती, क्योंकि जीवोत्पत्तिके स्थानोंमें ‘निष्ठीवन’ शब्द नहीं दिया है । वास्तवमें निष्ठीवन शब्द

प्रश्न—‘खेल’ शब्दने। अर्थ ‘थूक’ छे, अने थूक तथा मुखजल ओक न छे. ओटले
 मुखजलमां खेल शब्दनी प्रवृत्ति धवाथी ते जीवोत्पत्तितुं स्थान थशे न

उत्तर—ओम कडेपुं अशअर नथी. निष्ठीवन शब्द ‘नि’—उपसर्ग—पूर्वक ष्ठीवु निरसने
 धातुथी अन्थे छे ओटले मुखथी नीकणतो डेअर पदार्थ निष्ठीवन कडेवाय छे तेथी ओम
 सिद्ध थाय छे के त्यागेले। खेल आदि निष्ठीवन कडे शकय छे, परन्तु निष्ठीवन ‘खेल’
 नथी कडे शकतो तेथी मुखथी नीकणता नलकणोमां जीवोत्पत्तिनी सिद्धि धती नथी,
 कारण के जीवोत्पत्तिनां स्थानोमां ‘निष्ठीवन’ शब्द आथे नथी वस्तुतः निष्ठीवन शब्द
 लावद्युक्त होवाथी प्रक्षेपणरूप निरसन क्रियाने वाचक छे. ओम भानपुं युक्त छे. अर्थात्

त्पत्तिसिद्धिः, जीवोत्पत्तिस्थानपरिगणने निष्ठीवनशब्दानुपादानात् । वस्तुतस्तु निष्ठीवन-
शब्दस्य भावव्युद्भन्ततया प्रक्षेपणात्मकनिरसनक्रियावाचित्वं युक्तम्, अतएव—

“रक्तनिष्ठीवनं दाहो, मोहश्छर्दन-विभ्रमौ ।

प्रलापः पिटिका तृष्णा, रक्तप्राप्ते ज्वरे तृणाम् ॥” इति,

रक्तज्वरलक्षणं प्रतिपादयता माधवनिदानकृता निर्गमनेऽप्यर्थे निष्ठीवनशब्दः
प्रयुक्तः । क्वलीकृतस्य द्रव्यस्य मुखान्निरसनेऽपि निष्ठीवनत्वमुक्तं, भावप्रकाशे यथा—

“वातपित्तकफघ्नस्य द्रव्यस्य क्वल मुखे ।

अर्धं निःक्षिप्य संचर्व्य, निष्ठीवेत् क्वले विधिः ॥” इति,

तिब्बअकब्बराख्ये वैद्यकग्रन्थे पञ्चमाध्याये प्रथमप्रकरणेऽपि जिह्वामूलतो मुख-
जलोत्पत्तिः स्पष्ट प्रतिपादिता । शरीरविज्ञाने च मुखजलस्य पाचनशक्तिमत्त्वं प्रकटितम् ।

अशुचिस्थानतया मुखजलस्य जीवोत्पत्तिस्थानत्वापादनं तु सर्वथा निर्मूलमेव,
तथाहि—यावन्ति जीवोत्पत्तिस्थानानि सन्ति तानि प्रज्ञापनासूत्रे निर्दिष्टानि, यथा—

भावव्युद्भन्त होनेसे प्रक्षेपणरूप निरसन क्रियाका वाची है, ऐसा मानना युक्त है । अर्थात्
निष्ठीवनका वास्तविक अर्थ है क्षेपण करना, या त्यागना । इसीसे ‘माधवनिदान’ कर्ताने रक्तज्वर
के लक्षण बताते समय निकलनेके अर्थमें निष्ठीवन शब्दका प्रयोग किया है—

रक्तनिष्ठीवनं दाहो, मोहश्छर्दनविभ्रमौ ।

प्रलापः पिटिका तृष्णा, रक्तप्राप्ते ज्वरे तृणाम् ॥ १ ॥

भावप्रकाशमें कौर (क्वल)के बाहर निकालनेको निष्ठीवन कहा है—“वातपित्त०” इत्यादि,
‘तिब्ब अकब्बर’ नामक यूनानी वैद्यक ग्रन्थमें भी जीह्वके मूलसे मुखजलकी उत्पत्ति
स्पष्टरूपसे बताई गई है “जीभकी जड़में एक मांसका लोथडा है जिसमेंसे लुआव और मुखका
पानी निकलता है और जीभको तर रखता है और खानेकी चीजोंमें मिला करता है ।” तथा
‘शरीर विज्ञान’ नामक ग्रन्थमें मुखजलके विषयमें लिखा है उसमें पचानेको शक्ति होती है ।

निष्ठीवननो वास्तविक अर्थ छे—क्षेपणु करतुं या त्यागवु. तेथी ‘माधवनिदान’ कर्ताये रक्त-
ज्वरना लक्षणो अतावती वथते नीकलवाना अर्थमा निष्ठीवन शब्दने प्रयोग कर्यो छे,

रक्तनिष्ठीवनं दाहो, मोहश्छर्दनविभ्रमौ ।

प्रलापः पिटिका तृष्णा, रक्तप्राप्ते ज्वरे तृणाम् ॥१॥

भावप्रकाशमा कोणीयानुं अहार नीकाणवुं अने निष्ठीवन कडेल छे— वातपित्त० इत्यादि.
‘तिब्ब अकब्बर’ नामक यूनानी वैद्यक अथमा पणु अलना मूलमाथी मुअजलनी
उत्पत्ति स्पष्टरूपे अतावी छे, “अलना मूलमा आसने दोथो छे जेमाथी लुआव अने
मुअनुं पाणी नीकणे छे अने अलने तर राणे छे अने आवानी अनेमां मज्या करे छे,”
अने “शरीरविज्ञान” नामना अथमा मुअजलना विषयमा लण्युं छे के अनेमां पचाववानी
शक्ति होय छे.

“उच्चारणेषु वा पासवणेषु वा खेलेषु वा सिंघाणेषु वा वंतेषु वा पित्तेषु वा पूयेषु वा सोणेषु वा सुकेषु वा सुकपुद्गलपरिसाडेषु वा विगयजीवकलेवरेषु वा थीपु-रिससंजोषु वा णगरनिद्धमणेषु वा सव्वेषु चैव असुइद्वाणेषु, एत्थ णं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छिंति” इति । अत्र “सव्वेषु चैव असुइद्वाणेषु” इत्यस्य “सर्वेषु चैव अशुचिस्थानेषु” इति संस्कृतम्, अशुचिनां स्थानानि अशुचिस्थानानि तेषु=अशुचिस्थानेषु, यत्रानेकेषामशु-चीनामुच्चारादीनां स्थितिस्तत्रेत्यर्थः ।

अयमाशयः—यथा पृथिव्यादीनां परकायशस्त्रेण परिणत्वे सति सचित्तत्वमपग-च्छति तथोच्चारादीनां प्रस्रवणादिसाङ्कर्ये सति समूच्छिमजीवोत्पत्तिस्थानत्वापगमः

‘अशुचिस्थान होनेसे मुखजल जीवोत्पत्तिका स्थान है । ऐसा कहना वेजड है । जीवोत्पत्तिके जितने स्थान है उन सबका निर्देश प्रज्ञापनासूत्रमें किया है “उच्चारणेषु वा” इत्यादि ।

अर्थात् “उच्चार (विष्ठा) में, प्रस्रवण (मूत्र) में, कफमें, नाकके मैलमें, कैमें, पित्तमें, पीवमें, खूनमें, शुक्रमें, शुक्रपुद्गलपरिशाट (शुष्क शुक्रपुद्गलके फिर भीने होने) में, प्राणीको लारमें, स्त्रीपुरुषके संयोगमें, नगरकी गटरमें, इन सब अशुचियोंके स्थानोंमें समूच्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं ।” यहाँ सब अशुचियोंके स्थानोंसे तात्पर्य यह है कि जहाँ उच्चार आदि अनेक अशु-चियोंकी स्थिति हो वह स्थान ।

मतलब यह कि—परकाय शस्त्रसे परिणत होने पर पृथिवीकाय आदि अचित्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जब उच्चार आदि प्रस्रवण आदिके साथ मिल जाते हैं, तब उनमें समूच्छिम जीवोको उत्पन्न करनेकी शक्ति रहती है या नहीं ? शिष्यके ऐसे प्रश्नकी समावना होने पर खुलासा करनेके लिए अलग कहा है कि “सब अशुचिस्थानोंमें ।” इस वाक्यका “उक्त अशु-चियोंके स्थानोंके सिवाय अन्य स्थानोंमें” यह अर्थ नहीं है । उपर्युक्त कथन करनेसे यह स्वयं

‘अशुचिस्थान होवाथी सुभजल लोवोत्पत्तिनु स्थान छे’ अम उडेपु भिलकुल अमूलक छे लोवोत्पत्तिनां नेटलां स्थानो छे अे अधानो निर्देश प्रज्ञापना-सूत्रमा करेवो छे : उच्चारणेषु वा इत्यादि. “उच्चार (विष्ठा)मा, प्रस्रवण (पिसाण)मां, कफमा, नाकना लीटमां, वमन उदरीमा पित्तमा, पइमा, दोडीमा, शुक्र-वीर्यमा, शुक्रपुद्गलपरिशाटमां (शुक्रना सुकायला पुद्गल लीना थवामा), प्राणीना सुउदांमा स्त्रीपुरुषना समागममा, नगरनी भाणो (गटरा) मां अे अधां अशुचिना स्थानोमां समूच्छिम मनुष्य उत्पन्न थाय छे ” अडीं सर्व अशुचि-स्थानो तात्पर्य अे छे के न्या उच्चार आदि अनेक अशुचियोनी स्थिति होय ते स्थान आयुं तात्पर्य अे छे के न्या

मतलब अे छे के—परकाय शस्त्रथी परिणत थता पृथिवीकाय आदि अचित्त थथ नय छे, अे-रीने न्यादे उच्चार आदि प्रस्रवण आदिनी साथे मगी नय छे, त्यादे तेमां समूच्छिम लोवोने उत्पन्न करवानी शक्ति के छे के नकि ? शिष्यना अेवा प्रश्ननी समावना होवाथी खुलासा करवानी माटे गूडं कछु छे के “सब अशुचिस्थानो स्थानो सिवाय अन्य स्थानोमां ” अे वाक्यनो अर्थ “ उक्त अशुचियोनां स्थानो सिवाय अन्य स्थानोमां ”

स्यादिति शिष्यशङ्कासंभावनायां तन्निरसनार्थमेव पृथक्कृत्येदमुक्तम्—“सर्वेषु चैव असुइष्टाणेषु” इति, न त्वत्रानुक्तानामशुचीनां स्थानेषु, इति तदाशयः । एतेनोच्चारादीनां समूर्च्छिमजीवोत्पत्तिस्थानत्वादेव तत्साङ्ख्येऽपि तादृशजीवोत्पत्तिस्थानत्वं सुतरां सिद्धमिति “सर्वेषु चैव असुइष्टाणेषु” इति पुनरभिधानमसङ्गतं व्यर्थं च स्यादितिवादिनः परस्ताः, उक्तशङ्कावारणाय तथाऽभिधानस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

अयमर्थश्च भगद्वाक्यादेव स्फुटीभवति, तथाहि—सर्वेषां मुखनिर्गतपदार्थानां जीवोत्पत्तिस्थानत्वे लाववानुरोधेन “मुहनिग्गणेषु सर्वेषु चैव दर्वेषु” इत्येव वक्तव्ये पुनः खेलेषु वा वंतेषु वा पित्तेषु वा” इति तत्तन्नामनिर्देशप्रयत्नो भगवत्कृतो व्यर्थः स्यात्, तस्मान्निर्दिष्टेतरपदार्थे जीवोत्पत्तिर्न भवतीति स्पष्टं प्रतीयते । अथवा अणीयस्सु भाषणकालिकेषु मुखोत्पत्तितजलकणेषु जीवोत्पत्तौ सत्यां भगवता शिष्याणां स्पष्टप्रतिपत्तये—“खेलेषु वा वंतेषु वा” इत्यादिवत् “मुहजलकणेषु वा” इति वाक्येन तेऽपि पृथक्कृत्य निर्देष्टव्याः स्युः, इति मुखजलकणानां भगवदनुक्तत्वान्न तत्र जीवोत्पत्तिर्भ-

सिद्ध हो गया कि जब उच्चार आदि समूर्च्छिम जीवो की उत्पत्तिके स्थान है तब उन स्थानोंमेंसे यदि दो या तीन आदि मिल जावें तो भी वे जीवोकी उत्पत्तिके स्थान रहेंगे । अतएव जो लोग ऐसा कहते हैं कि पूर्वोक्त अर्थ करनेसे ‘सर्वेषु चैव असुइष्टाणेषु’ कहना व्यर्थ और असंगत हो जायगा, वे परास्त हो गये । क्योंकि शिष्यकी पूर्वोक्त शकाका निवारण करनेके लिए उस कथनकी आवश्यकता है ।

यह अर्थ भगवानके वचनसे ही निकलता है, क्यों कि यदि मुखसे निकलने वाले सब पदार्थ जीवोत्पत्तिके स्थान होते तो संक्षेप करनेके लिए केवल इतना कह देते कि ‘मुहनिग्गणेषु सर्वेषु चैव दर्वेषु’ अर्थात् मुखसे निकलने वाले सब पदार्थोंमें समूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं । “खेलेषु वा वंतेषु वा पित्तेषु वा” इस प्रकार अलग अलग भगवान् न फरमाते । इसलिए सूत्रमें निर्देश किये हुए पदार्थोंके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें जीवोकी उत्पत्ति नहीं होती, यह बात स्पष्ट

अवे। नथी. उपर मुखअ कथन करवाथी अे स्वयसिद्ध थध गयु के ले उच्चार आदि समूर्च्छिम अवेनी उत्पत्तिनां स्थान छे तो अे स्थानोमा ले अे या त्रयु आदि भणी अय तो ययु ते अवेनी उत्पत्तिनां स्थानो रडेशे. तेथी करीने अे दोडो अेम डडे छे के पूर्वोक्त अर्थ करवाथी सर्वेषु चैव असुइष्टाणेषु डडेयु व्यर्थ अने असंगत थध अशे, तेअो परास्त थध गया. कारणु के शिष्यनी पूर्वोक्त शकानुं निवारणु करवा भाटे अे कथननी आवश्यकता छे.

आ अर्थ लगवानना वचनोमाथी अ नीकणे छे. कारणु के ले मुखथी नीकणनारा अथा पदार्थो अवेत्पत्तिनां स्थानो डेत तो संक्षेप करवाने केवण अेटयु अ डडी डेत के ‘मुहनिग्गणेषु सर्वेषु चैव दर्वेषु अर्थात् मुखथी नीकणनारा अथा पदार्थोमां समूर्च्छिम अवे उत्पन्न थाय छे ‘खेलेषु वा वंतेषु वा पित्तेषु वा’ अे प्रमाणे लगवान् अलग अलग डडेत नाडु. तेथी करीने सूत्रमां निर्देशेला पदार्थो सिवाय अन्य कोर पदार्थोमां अवेनी

વતીતિ નિશ્ચીયતે । इदमत्र तत्त्वम्—

शिष्याणां जीवोत्पत्तिस्थानप्रतीतिं विना सम्यक् संयमपालनं न स्यादिति हेतोः स्पष्टीकृत्य सकलानि समूर्च्छिमजीवोत्पत्तिस्थानानि बोधयितुं भगवता तत्तन्नामनिर्देश-
प्रयत्नोऽङ्गीकृतः, साकल्येन समूर्च्छिमजीवोत्पत्तिस्थानपरिगणनतात्पर्याभावे तु भग-
वान्—“सर्वेषु चैव असुइद्वाणेषु” इत्येव ब्रूयात्, उच्चारप्रस्रवणादीनामप्यशुचिस्थान-
तयैव तादृशजीवोत्पत्तिस्थानत्वप्रतीतिसिद्धेः, तथा च तत्तदशुचिस्थाननिर्देशस्य वैयर्थ्या-
पत्तिः । जीवोत्पत्तिस्थानपरिगणनतात्पर्याङ्गीकारे तु कियत्स्वशुचिस्थानेषु समूर्च्छिम-

પ્રતીત હોતી હૈ । અથવા યદિ ભાષણ કરતે સમય નિકલે હુણ થોડેસે જલકળોમ્ જીવોકી ઉત્પત્તિ હોતી તો શિષ્યોકો સ્પષ્ટ બોધ કરાનેકે લિણ ભગવાને જૈસે ‘ઁલેસુ વા વંતેસુ વા’, ઈત્યાદિ અલગ અલગ નામ ગિનાયે હૈ વૈસે હી “મુહજલકળેસુ વા” ંસા ંર ંક સૂત્રપાઠ રલ દેતે । અતઃ નિશ્ચિત હૈ કિ મુલ્સે નિકલને વાલે જલકળોમ્ સમૂર્ચ્છિમ જીવ ઉત્પન્ન નહીં હોતે, ક્યોંકિ ભગવાને ંસે જીવોત્પત્તિકા સ્થાન નહીં વતાયા હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—શિષ્ય જબતક યહ ન જાનલે કિ જીવોકે ઉત્પત્તિસ્થાન કોન કોન હૈ ? તવ તક સયમકા સમ્યક્ પ્રકાર પરિપાલન નહીં કર સકતે । ઈસીસે ભગવાને જીવોત્પત્તિકે સ્થાનોકા ખુલાસા જ્ઞાન કરાનેકે લિણ અલગ અલગ નામ ગિનાયે હૈ । યદિ સમૂર્ચ્છિમ જીવોકી ઉત્પત્તિકે સવ સ્થાન ગિના-
નેકા મતલબ ન હોતા તો સિર્ફ ‘સર્વેસુ ચેવ અસુઈદ્વાણેસુ’ (અશુચિ કે સવ સ્થાનોમ્) ઈતના હી કહ દેતે । ક્યોંકિ ંચ્ચાર પ્રસ્રવણ આદિ સમી અશુચિસ્થાન હોનેકે કારણ સમૂર્ચ્છિમ જીવોંકી ઉત્પત્તિકે સ્થાન હૈ, યહ વાત પ્રતીતિસે સિદ્ધ હૈ । ંસી અવસ્થામ્ અલગ—અલગ નામ ગિનાના અકારણ હો જાયગા । અગર ંસા માને કિ જીવોંકી ઉત્પત્તિકે સ્થાન ગિનાનેકા મતલબ હૈ તો

ઉત્પત્તિ થતી નથી ંવે વાત સ્પષ્ટ પ્રતીત થાય છે અથવા જો ભાષણ કરતી વખતે નીકળતા થોડા જલકળોમાં જીવોની ઉત્પત્તિ થતી હોય તો શિષ્યોને સ્પષ્ટ બોધ કરાવવાને લગવાને જોમ ‘ઁલેસુ વા વંતેસુ વા’ ઈત્યાદિ અલગ અલગ નામ ગણાવ્યા છે તેમ ‘મુહજલકળેસુ વા’ ંવે ંક વધારે સૂત્રપાઠ રાખ્યો હોત તેથી કરીને નિશ્ચિત છે કે મુખથી નીકળનારા જલકળોમાં સમૂર્ચ્છિમ જીવો ઉત્પન્ન થતા નથી, કારણ કે લગવાને ંને જીવોત્પત્તિનું સ્થાન બતાવ્યું નથી

તાત્પર્ય ં છે કે—ત્યાં સુધી શિષ્ય જાણી ન લે કે જીવોના ઉત્પત્તિ સ્થાન ક્યા ક્યાં છે, ત્યાં સુધી તે સયમનું સમ્યક્ પ્રકારે પરિપાલન કરી શકતો નથી તેથી લગવાને જીવો ઉત્પત્તિનાં સ્થાનોનું ખુલાસાથી જ્ઞાન કરાવવાને અલગ અલગ નામો ગણાવ્યા છે જો જીવોની ઉત્પત્તિના બધા સ્થાનો ગણાવવાની મતલબ ન હોય તો માત્ર ‘સર્વેસુ ચેવ અસુ-
ઈદ્વાણેસુ’ (અશુચિનાં બધા સ્થાનોમા) ંટલુ જ કહી દેત કારણ કે ંચ્ચાર પ્રસ્રવણ આદિ બધા અશુચિસ્થાનો હોવાને કારણે સમૂર્ચ્છિમ જીવોની ઉત્પત્તિના સ્થાન છે, ં વાત પ્રતીતિથી સિદ્ધ છે ંવે સ્થિતિમા અલગ અલગ નામો ગણાવવા અહેતુક થઈ નય અગર ંમ માને કે જીવોની ઉત્પત્તિના સ્થાનો ગણાવવાની મતલબ છે તો જ્ઞાનસુ શિષ્યોને

जीवा उत्पद्यन्ते ? इति जिज्ञासोपशमो न स्यादिति तत्तदशुचिस्थाननिर्देशस्य नानर्थक्यं, प्रत्युताऽऽवश्यकतया सार्थक्यमेव, अतएव “उवर्त्थिदियनिग्गएसु दव्वेसु वा” (उपस्थेन्द्रियनिर्गतेषु द्रव्येषु) इत्यनुक्त्वा पुनः पुनः—“पासवणेसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा सोणिएसु वा थीपुरिससंजोएसु वा” इति तत्तन्नाम्ना भगवान्नुपादिशत्, अन्यथा “स्त्रीपुरुषसंयोगातिरिक्तेषु केवलशुक्रशोणितादिषु समूर्च्छिमजीवा उत्पद्यन्ते न वा ?” इति संशयानपगमे सति मुनीनां संयमपालनं संकटापन्नं स्यादिति ।

वस्तुतस्तु भाषणकाले मुखोत्पतितानां जलकणानामशुचित्वमेव निर्मूलतया दुर्वचम्, शास्त्रे प्रज्ञापनासूत्रोक्तेषून्चारादिष्वेवाशुचिशब्दप्रयोगदर्शनात्, मुखोत्पतितजलकणार्थे तत्प्रयोगानुपलब्धेभ्यः, तथाहि व्यवहारसूत्रभाष्ये तृतीयोद्देशके —

जिज्ञासु शिष्यो का सन्देह तव तक दूर नहीं हो सकता जब तक उन्हें साफ न बता दिया जाय कि किन-किन जगहों में समूर्च्छिम जीवोंका जन्म होता है । इसलिए अलग-अलग गिनाना वृथा नहीं है, किन्तु आवश्यक होनेसे सार्थक है, इसी कारण “उवर्त्थिदियनिग्गएसु वा” (उपस्थेन्द्रियनिर्गतेषु) ऐसा न कहकर बारंबार ‘पासवणेसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा सोणिएसु वा थीपुरिससंजोएसु वा’ इस प्रकार हरेकका अलग-अलग नाम गिना कर भगवान्ने कथन किया है । ऐसा कथन न करते तो यह संशय बना रहता कि स्त्रीपुरुषके सभोगके सिवाय केवल शुक्र शोणित आदिमें समूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं या नहीं ? इस प्रकारके सन्देहसे मुनियोंको संयम-पालन करना मुश्किल हो जाता ।

वास्तवमें मुखसे निकलने वाले जलकणोंको अशुचि कहना ही खोटा है, क्योंकि शास्त्रमें प्रज्ञापनासूत्रोक्त उच्चार आदि हो ‘अशुचि’ शब्दसे कहे गये हैं, और मुखसे निकलने वाले जलकणके अर्थमें ‘अशुचि’ शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता । व्यवहारसूत्रके भाष्यमें, तीसरे

संछेड त्यां सुधी हूर नहि थं शके के जया सुधी तेभने साइ न भतावी देवामा आवे के कं कं जयाओमां समूर्च्छिम जिवोना जन्म थाय छे, तेथी करीने अलग अलग गण्णावपुं ओ वृथा नथी, किन्तु आवश्यक होवाधी सार्थक छे कारणे उवर्त्थिदियनिग्गएसु वा’ (उपस्थेन्द्रियनिर्गतेषु) ओम न डडेतां वारंवार ‘पासवणेसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा सोणिएसु वा थीपुरिससंजोएसु वा’ ओ रीते हरेकना अलग अलग नामो गण्णावीने लगवाने कथन कर्युं छे. ओपु कथन न करत तो ओ संशय पडत के स्त्री-पुरुषना संयोग विना केवण शुक्रशोणित आदिमां समूर्च्छिम जिवो उत्पन्न थाय छे के नहि ? ओ प्रकारना संछेडथी मुनियोने संयम पालन करवानुं मुश्किल थं पडत.

वास्तवमां सुभमाथी नीकणनारा जणकणोने अशुचि कडेवा ओ ओटुं छे, कारणे के शास्त्रमां प्रज्ञापनासूत्रोक्त उच्चार आदिने ज अशुचि शब्दथी ओणभाववामा आव्या छे अने सुभमाथी नीकणनारा जणकणुना अर्थमां अशुचि शब्दने प्रयोग भणा आवतो नथा व्यवहार सूत्रना भाष्यमां, त्रीण उद्देशमा ‘दव्वे भावे असुई’ धत्यादि २८६ भी गाथानु व्या-

“દ્રવ્યે ભાવે અસુઈ ભાવે આહારવંદનાદીહિં” इत्यादिगाथा-(२८६) व्याख्या-
 नावसरे - “अशुचिद्विधा-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र योऽशुचिना लिप्तगात्रो यो वा
 पुरीषमुत्सृज्य पुतौ न निर्लेपयति स द्रव्यतोऽशुचिः” इत्युक्तम्, किञ्च-“द्वे भावे असुई
 द्रव्यंमि विट्टमादिलित्तो उ ।” इत्यादिगाथा-(२८७) व्याख्यानावसरे “अशुचिद्विधा
 द्रव्ये भावे च, तत्र द्रव्ये विष्टादिना लिप्तः, आदिशब्दा-मूत्रश्लेष्मादिपरिग्रहः” इत्य-
 मिहितम् । प्रज्ञापनासूत्रोक्ता उच्चारदय एवाशुचिपदस्यार्थ इत्याशयेनैव प्रकृते द्रव्य-
 भावभेदेन द्विधा विभाजितेऽप्यशुचिपदार्थे मुखनिर्गतविप्रुपामनुपादानं कृतम् । आवश्य-
 कसूत्रे वन्दनाख्यतृतीयाध्ययने एकादशाधिकैकशततम-(१११)-गाथाव्याख्यायां हरि-
 भद्रसूरिणाऽप्यशुचिस्थानशब्दस्य विदप्रधानस्थानार्थकत्वमुक्तम् । एवमेव दर्शनशुद्धि-

उद्देशमें “द्वे भावे असुई” इत्यादि २८६ वीं गाथाका व्याख्यान करते समय कहा है- अशुचि
 दो प्रकारकी है (१) द्रव्य अशुचि और (२) भाव अशुचि । जिस व्यक्तिका शरीर अशुचिसे
 लिप्त हो अथवा जो विष्टाका त्याग करके (टूटी जाकर) मलद्वार नहीं धोता उस व्यक्तिको
 द्रव्यसे अशुचि कहते हैं, इत्यादि ।

तथा इसी व्यवहार भाष्यके तीसरे उद्देशको ‘द्वे भावे असुई द्रव्यंमि विट्टमादिलित्तो
 उ’ इस २८७ वीं गाथाकी व्याख्या करते समय टीकाकारने कहा है-विष्टाआदिसे लिप्तको द्रव्य
 अशुचि कहते हैं । यहाँ आदि शब्दसे मूत्र और श्लेष्म आदिको ग्रहण करना चाहिए, ऐसा
 कहा है । प्रज्ञापनासूत्रमें कहे हुए उच्चार आदि ही अशुचि पदका अर्थ है, इसी आशयसे
 प्रकृतमें द्रव्य भावका भेद कर देने पर भी अशुचि पदार्थोंमें मुखसे निकलने वाले जलकणोका
 ग्रहण नहीं किया है ।

आवश्यकसूत्रके वन्दना नामक तीसरे अध्ययनमें हरिभद्रसूरिने १११वीं गाथाकी व्याख्या
 करते समय अशुचि शब्दका अर्थ विदप्रधान स्थान किया है । दर्शनशुद्धि नामक ग्रन्थमें भी

ખ્યાન કરતી વખતે કહ્યું છે કે—

અશુચિ એ પ્રકારની છે . (૧) દ્રવ્ય અશુચિ અને (૨) ભાવ અશુચિ. જે વ્યક્તિનું
 શરીર અશુચિથી લેપાયલું હોય અથવા જે વિષ્ટાને ત્યાગ કરીને (બાજુ બંધને) મળદ્વાર
 નથી ધોતો એ વ્યક્તિને દ્રવ્યથી અશુચિ કહે છે, ઇત્યાદિ

તથા—એ વ્યવહારસૂત્ર ભાષ્યની ‘દ્રવ્યે ભાવે અસુઈ દ્રવ્યંમિ વિટ્ટમાદિલિત્તો ઉ’ એ ૨૮૭
 મી ગાથાની વ્યાખ્યા કરતી વખતે કહ્યું છે કે—

વિષ્ટાઆદિથી લિપ્તને દ્રવ્ય અશુચિ કહે છે અહીં ‘આદિ’ શબ્દથી મૂત્ર અને શ્લેષ્મ
 આદિનું ગ્રહણ કરવું જોઈ એમ કહ્યું છે. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમા કહેલા ઉચ્ચાર આદિ જ અશુચિ
 શબ્દનો અર્થ છે, એ આશયથી પ્રકૃતમા દ્રવ્યભાવનો ભેદ બતાવતા છતાં પણ અશુચિ
 પદાર્થોમા મુખથી નીકળતા જળકણોને ગ્રહણ કર્યા નથી.

આવશ્યક સૂત્રના વંદના નામક ત્રીજા અધ્યયનમા હરિભદ્ર સૂરિએ ૧૧૧ મી ગાથાની
 વ્યાખ્યા કરતા અશુચિ શબ્દનો અર્થ વિદપ્રધાન સ્થાન એમ કર્યો છે દર્શનશુદ્ધિ નામક ગ્રંથમાં

नामके ग्रन्थेऽपि प्रतिपादितम् । उत्तराध्ययनसूत्रे एकोनविंशोऽध्ययने द्वादशगाथाव्याख्यायां भावविजयगणिनाऽपि—“अशुचिभ्यां=शुक्रशोणिताभ्यां संभवम्=उत्पन्नम् अशुचिसम्भवम्” इत्युक्तम् । तत्रैव कमलसंयमोपाध्यायेनापि सर्वार्थसिद्धिटीकायाम्—“अशुचिसम्भवम्=अशुचिरूपशुक्रशोणितोत्पन्नम्”—इति व्याख्यातम्, सूत्रकृताङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयाध्ययने नरकवर्णने पट्पठितम्-(६६) सूत्रे—‘असुई’ इत्यस्य टीकायाम्—“अशुचयो विष्टासृक्क्लेदप्रधानत्वात्” इति शीलाङ्गाचार्येण कथितम् । क्लेदः प्रस्वेदः (पसीना) इति हिन्दीशब्दसागरकोशः । स च मुखजलाद्भिन्न इत्यतिरोहितमेव सर्वेषाम् । प्रस्वेदेऽपि न समूर्च्छिमजीवोत्पत्तिः, तत्परिगणने तस्यानुक्तत्वात् । पिण्डनिर्युक्तौ च पूतिकर्मदोषभेदस्य द्रव्यपूतेरुदाहरणे अशुचिगन्धशब्दस्य पुरीषगन्धार्थकत्वं निगदितम् ।

ऐसा ही प्रतिपादन किया है । उत्तराध्ययनसूत्रमें उन्नीसवें अध्ययनकी बारहवीं गाथाकी व्याख्या करते समय भावविजयगणिने कहा है—“अशुचिभ्यां=शुक्रशोणिताभ्यां संभवम्=उत्पन्नम् अशुचिसंभवम् ।” इसी सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि नामक टीकामें कमलसंयम उपाध्यायने ऐसा व्याख्यान किया है—“अशुचिसंभवम्=अशुचिरूप-शुक्रशोणितोत्पन्नम् ।

सूत्रकृताङ्गसूत्रमें द्वितीय श्रुतस्कन्धके द्वितीय अध्ययनमें नरकके वर्णनमें ६६ वे सूत्रमें ‘असुई’ पदकी टीकामें शीलाङ्गाचार्यने कहा है—“अशुचयो विष्टासृक्क्लेदप्रधानत्वात् ।” यहाँ क्लेद पसीनाको कहा है । यह बात सबको विदित ही है कि मुखसे निकलने वाले जलकण और पसीना एक नहीं है दोनो अलग-अलग है । पसीनेमें भी समूर्च्छिम जीव उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि समूर्च्छिम जीवोके उत्पत्तिस्थानोकी गिनती करते समय भगवान्ने पसीना नहीं कहा है । पिण्डनिर्युक्तमें पूतिकर्मदोषके भेद द्रव्यपूतिके उदाहरणमें ‘अशुचिगन्ध’ शब्दको विष्टा-गन्ध वाले अर्थमें प्रयोग किया है ।

પણ એવું જ પ્રતિપાદન કર્યું છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં ૧૯ માં અધ્યયનની બારમી ગાથાની વ્યાખ્યા કરતાં ભાવવિજયગણિએ કહ્યું છે કે—અશુચિભ્યાં = શુક્રશોણિતાભ્યાં સંભવમ્ = ઉત્પન્નમ્ અશુચિસંભવમ્ । આ સૂત્રની સર્વાર્થસિદ્ધિ નામક ટીકામાં કમલસંયમ ઉપાધ્યાયે એવું વ્યાખ્યાન કર્યું છે કે—અશુચિસંભવમ્ અશુચિરૂપ શુક્રશોણિતોત્પન્નમ્ ।

સૂત્રકૃતાંગ સૂત્રના દ્વિતીય શ્રુતસ્કન્ધના બીજા અધ્યયનમાં નરકના વર્ણનમાં ૬૬ માં સૂત્રમાં અસુઈ શબ્દની ટીકામાં શીલાંગાચાર્યે કહ્યું છે કે અશુચયો વિષ્ટાસૃક્ક્લેદપ્રધાનત્વાત્ । અહીં ક્લેદ પરસેવાને કહ્યો છે એ વાત સૌ જાણે છે કે મુખથી નીકળતા જળકણ અને પરસેવા એક નથી-એઉ જુદા-જુદા છે. પરસેવામાં પણ સમૂર્ચ્છિમ જીવો ઉત્પન્ન થતા નથી, કારણ કે સમૂર્ચ્છિમ જીવોનાં ઉત્પત્તિસ્થાનોની ગણતરી કરતી વખતે લગવાને પરસેવા કહેલો નથી. પિંડનિર્યુક્તમાં પૂતિકર્મદોષના ભેદ દ્રવ્યપૂતિના ઉદાહરણમાં અશુચિ ગંધ શબ્દનો વિષ્ટા-ગંધવાળા અર્થમાં પ્રયોગ કર્યો છે.

मानवधर्मशास्त्रेऽपि भाषणकालिकमुखोद्गतविप्रुपां मेध्यत्वमेवोक्त नत्वशुचित्वं,
यथा मनुस्मृतौ पञ्चमाध्याये—

“मक्षिका विप्रुपञ्छाया, गोरश्वः सूर्यरश्मयः ।

रजो भूर्वायुरग्निश्च, स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ ५ ॥” १३३॥ इति ।

किञ्च दोरकाश्रयणमेव हिसानिदानं मत्वा हस्तेन शिरःपश्चाद्भागे ग्रन्थिदानेन
वा मुखवस्त्रिकां धारयताऽपि भाषणकालिकमुखोत्पतितजलकणेषु संमूर्च्छिमजीवोत्पत्ति-
स्थानत्वाभावोपपादनाय प्रकृतोपात्तानि प्रमाणान्यवश्यं शरणीकरणीयानि, अन्यथा तेषा-
मपि धर्मोपदेशकाले द्विहोरापर्यन्त भाषणे मुखोपरि मुखवस्त्रिकाधारणस्याऽऽवश्यकतया
तत्र मुखोत्पतितजलकणैरार्द्रतापत्तिर्वारयितुमशक्यैव, लोके हि अनावृतमुखेन पुस्तकं
पठतां परं प्रति ब्रुवता च मुखविप्रुपः पुस्तके परदेहे च पतन्त्यो लक्ष्यन्ते, पुनः समीपत-

मानवधर्मशास्त्रमें भाषण करते समय निकलने वाले जलकणोंको अगुचि नहीं कहा है ।
मनुस्मृति पाँचवाँ अध्याय—

“मक्षिका विप्रुपञ्छाया, गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।

रजो भूर्वायुरग्निश्च, स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत् ॥, ॥५॥१३३ ।

डोरा धारण करनेको ही हिंसोका कारण मान कर हाथसे अथवा सिरके पीछे गाँठ लगा
कर मुखवस्त्रिका धारण करने वालो को भी इन प्रमाणोंकी शरण लेनी चाहिए; जो यह
बतानेके लिए यहाँ दिये गये है कि भाषण करते समय मुखसे निकलने वाले जलकणोंमें सम-
मूर्च्छिम जीव उत्पन्न नहीं होते, अन्यथा धर्मोपदेश देते समय वे दो-दो तीन तीन घण्टे बोलते
है उस समय मुखवस्त्रिका धारण करना आवश्यक होनेके कारण मुखसे निकलने वाले जल-
कोंसे मुखवस्त्रिका गीला हो जायगी और इस आपत्ति का निवारण करना शक्य नहीं है ।

लोकमें खुले मुह पुस्तक पढ़नेवालोंके तथा दूसरोंसे वार्तालाप करने वालोंके मुखसे

मानवधर्मशास्त्रमा भाषणु करती वपते नीकणता जलकणाने अशुचि कहा नथी मनु-
स्मृतिना पाचमा अध्यायमां कथुं छे—

मक्षिका विप्रुपञ्छाया, गौरश्व सूर्यरश्मयः ।

रजो भूर्वायुरग्निश्च, स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत् ॥५-१३३ ।

डोरा धारण करनेके लिये हिंसोका कारण माननी अथवा सिरके पीछे गाँठ
वालीने मुखवस्त्रिका धारण करना आवश्यक है जो यह बतानेके लिए यहाँ दिये गये है कि भाषण करते समय मुखसे निकलने वाले जलकणोंमें सम-
मूर्च्छिम जीव उत्पन्न नहीं होता, अन्यथा धर्मोपदेश देते समय वे दो-दो तीन तीन घण्टे बोलते
है उस समय मुखवस्त्रिका धारण करना आवश्यक होनेके कारण मुखसे निकलने वाले जल-
कोंसे मुखवस्त्रिका गीला हो जायगी और इस आपत्ति का निवारण करना शक्य नहीं है ।

लोकमें खुले मुह पुस्तक पढ़नेवालों तथा दूसरोंके साथ वार्तालाप करनेवालोंके

स्वर्तिमुखवस्त्रिकायां न ताः पतिष्यन्तीति कल्पना किं दुराग्रहं नावेदयेदित्यलम् ।

नन्वेवं सूक्ष्मव्यापिसम्पातिमवायुकायादिजीवविराधनापरिहारार्थमेव यदि सदा सदोरकमुखवस्त्रिकाबन्धने सावधानता विधीयते तर्हि भोजनकाले तदपसारणावश्यक-
तया कथं तादृशजीवविराधनापरिहारः ? इति चेच्चित्तमवधेहि ।

अत्र चतुर्थाध्ययने—“जयं भुंजतो भासंतो पावं कम्मं न वंधइ”, इति भगव-
ताऽभिहितम्, प्रागुक्तरीत्या मुखवस्त्रिकाबन्धनस्याऽऽवश्यकत्वेऽपि तदपसारणमन्तरेण
‘भुंजतो’ इति पदबोध्याया भोजनक्रियाया अनुपपत्त्या भोजनकाले मुनीना मुखवस्त्रिका
मोचनीयेति गम्यते, अत एवात्र—“जयं भुंजतो” इत्यस्य यथाकल्पलब्धान्तप्रान्ताद्येवा-

जलकण निकल कर पुस्तक पर तथा दूसरेकी देह पर गिरते हुए देखे जाते हैं । फिर मुखके पास ही रहनेवाली मुखवस्त्रिका पर कण नहीं गिरेंगे, ऐसी कल्पना करना दुराग्रहको ही प्रगट करता है ।

प्रश्न—सूक्ष्म, व्यापी संपातिम तथा वायुकाय आदि जीवों की विराधनासे बचनेके लिए ही यदि सदा डोरा सहित मुखवस्त्रिका बाँधनेमें सावधानी रखी जाती है तो भोजन करते समय उन जीवों की विराधनासे कैसे बच सकते हैं ? क्योंकि उस समय मुखवस्त्रिका खोल लेना आवश्यक है ।

उत्तर—चित्त लगाकर सुनो । इसी (दशवैकालिक) के चौथे अध्ययनमें भगवान्ने कहा है “जयं भुंजतो भासतो पावं कम्मं न वंधइ ।” अर्थात् यतनापूर्वक आहार करने और भाषण करनेसे पापकर्मका बन्ध नहीं होता है । पहले कहे गये प्रमाणोंसे मुखवस्त्रिका बांधना सिद्ध होने पर भी उसके निकाले बिना ‘भुजतो’ पदसे बोध्य भोजनक्रिया नहीं हो सकती । इससे ऐसा तात्पर्य निकलता है कि भोजन करते समय मुनिको मुखवस्त्रिका हटा देनी चाहिये । अतः

भुभमाथी जलकण नीकणीने पुस्तक पर तथा भीजना शरीर पर पडता जेवामा आवे छे तो पछी भुभनी पासे ज रडेनारी भुभवस्त्रिका पर कण नहि पडे, जेवी कटपना करवी जे दुराग्रहने प्रकट करे छे

प्रश्न—सूक्ष्म, व्यापी, संपातिम तथा वायुकाय आदि जीवों की विराधनाधी जयवाने भाटे ज जे सदा होरा साथे भुभवस्त्रिका बांधवामा सावधानी राखवामा आवे छे तो भोजन करती वખते जे जीवों की विराधनाधी जेवी रीते जयी शकाय ? कारण के जे वખते भूभवस्त्रिका छोडी नाखवानी जर पडे छे

उत्तर—चित्त राखीने सांभलो आ (दशवैकालिकना) ज योथा अध्ययनमां लगवाने कछु छे के ‘जयं भुंजतो भासंतो पाव कम्मं न वंधइ’ अर्थात् यतनापूर्वक आहार करवाधी पापकर्मना बंध थतो नथी पूर्वोक्त प्रमाणोधी भुभवस्त्रिका बांधवी जे सिद्ध थया छतां पण जेने कही नांख्या विना भुंजतो शब्दधी बोध्य भोजनक्रिया थध शकती नथी. तेधी जेपु तात्पर्य नीकणे छे के भोजन करती वખते मुनिजे भुभवस्त्रिका हटावी देवी जेध जे

शनं मण्डलदोषवर्जनपूर्वकमभ्यवहरमाणः, इत्येवाशयो न तु मुखवस्त्रिकां बद्ध्वैव भुञ्जान इति, तथा चोक्तयतनापूर्वकभोजनकाले मुखवस्त्रिकापसारणमागमानुकूलमेवेति न तस्य पापकर्मबन्धनहेतुत्वम्, अनेनैवाऽऽशयेन च—“पावं कम्मं न बंधइ” इत्युक्तं भगवता ।

एव च भगवत्तीर्थङ्करगणधरादिवचनपर्यालोचनेन निरवशेषसंशयतिमिरापगमपुरस्सरं प्रकाशमाने मानसे वायुकायादिविराधनापरिहाराय सदोरकमुखवस्त्रिकाबन्धनं साहादं स्थानमासादयति । रागद्वेषदोषाकलितचेतसां भगवद्वचनामृतरसास्वादवञ्चितानां विविधसंशयपराहते चेतसीममर्थं दुर्लक्ष्यमभिलक्ष्य हस्तदुष्प्राप्यमर्थमाकलयितुं सोपानमिवालम्बनं तेभ्यः पुरस्कर्तुं सप्रमाणमेतत् सम्यगुपपादितम् । अत्र प्रमाणतयोपन्यस्तग्रन्थनामानि विनेयवृद्धिवैमल्याय निर्दिश्यन्ते—

- | | |
|--|-------------------------|
| (१) श्री-भगवतीसूत्रम् । | (१५) निशीथसूत्रम् । |
| (२) हितशिक्षारासः । (श्रावकऋषभदासकृतः) | (१६) बृहत्कल्पभाष्यम् । |
| | (१७) व्यवहारभाष्यम् । |
| (३) हरिवलमच्छीरासः (मुनिलब्धिविजयकृतः) | (१८) आचाराङ्गसूत्रम् । |
| | (१९) विपाकसूत्रम् । |

‘जयं भुञ्जतो’ पदका “कल्पके अनुसार प्राप्त हुआ अन्त प्रान्त आदि आहार मण्डलदोषों का त्याग करके भोगता हुआ” ऐसा अर्थ समझना चाहिए । ऐसा नहीं कि मुखवस्त्रिका बाँधे-बाँधे आहार करे । अत एव उक्त-यतना-पूर्वक भोजनकालमें मुखवस्त्रिका त्याग देना आगमके अनुकूल है, अतः उससे पापकर्मका बन्ध नहीं होता । इसी आशयसे भगवान्ने ‘पावं कम्मं न बन्धइ’ कहा है ।

इस प्रकार भगवान् तीर्थङ्कर गणधरादिकोके वचनोको पर्यालोचना करनेसे सकलसगथरूप अन्धकारके दूर हो जानेके कारण प्रकाशमान ऐसे हृदयमें वायुकाय आदिकी विराधनाका दोष टालनेके लिए दोरासहित मुखवस्त्रिकाका बान्धना आल्हादपूर्वक स्थानको धारण करता है ।

रागद्वेषरूपी दोषोसे दूषित भगवद्वचनामृतके रसास्वादसे वचित पुरुषोके अनेक दुर्विकल्पो-से पराहत हुए चित्तमें इस अर्थको दुर्लक्ष्य समझकर उनके लिए हाथसे न प्राप्त होनेवाली

अटले ‘जयं भुञ्जतो’ पदको अर्थ ‘कल्पके अनुसार प्राप्त थयेवा अंत प्रात आदि आहार मंडल-दोषोको त्याग करीने लोगवता’ अये प्रमाणे समझवे जेधये अये न समझवुं जेधये के मुखवस्त्रिका बांधी राभीने आहार करे अटले उक्त-यतनापूर्वक भोजनकालमें मुखवस्त्रिको त्याग करवे अये आगमने अनुकूल छे तेथी पापकर्मको बंध थतो नथी अये आशयथी लगवाने पावं कम्मं न बंधइ कहु छे

अये प्रकारे लगवान् तीर्थंकर गणधरादिना वचनोनी पर्यालोचना क्वथाथी सकल संशयइय अंधकार हर थधे लगवाने लीये प्रकाशमान अयेवा हृदयमा, वायुकाय आदिनी विराधनको दोष टालवाने माटे दोरासहित मुखवस्त्रिको बांधवु ते आल्हादपूर्वक स्थानने धारण करे छे

रागद्वेष रूपी दोषथी दूषित, भगवद्वचनामृतको रसास्वादथी वचित अयेवा पुरुषोको अनेक दुर्विकल्पोथी परास्त अयेवा चित्तमा आ अर्थने दुर्लक्ष्य समझने तेभने माटे हाथथी

- | | |
|---------------------------------------|-------------------------------------|
| (४) योगशास्त्रम् (हेमचन्द्राचार्य०) | (२०) सामाचारी । (देवचन्द्रसूरिकृता) |
| (५) ओधनिर्युक्तिः । | |
| (६) प्रवचनसारोद्धारः । | (२१) प्रज्ञापनासूत्रम् । |
| (७) प्रकरणरत्नाकरः । | (२२) भावप्रकाशः । |
| (१०) उत्तराध्ययनसूत्रटीकाः ३ । | (२३) सुश्रुतसंहिता । |
| (१) सर्वार्थसिद्धिटीका । | (२४) योगचिन्तामणिः । |
| (२) भावविजयकृतवृत्तिः । | (२५) माधवनिदानम् । |
| (३) पाईटीका । | (२६) तिव्वअकव्वर । |
| (११) विशेषावश्यकबृहद्वृत्तिः | (२७) शरीरविज्ञानम् । |
| (१२) अन्तकृद्दशाङ्गम् । | (२८) मानवधर्मशास्त्रम् । |
| (१३) आवश्यकसूत्रटीका । (हारिभद्रीया) | (२९) पिण्डनिर्युक्तिः । |
| | (३०) सूत्रकृताङ्गम् । |
| (१४) ज्ञाताधर्मकथाङ्गम् । | (३१) दशवैकालिकसूत्रम् । इति । |

॥ इति मुखवस्त्रिकाविचारः ॥

तपः=तपति-ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं कर्म दहतीति तपः, तच्च बाह्याभ्यन्तरभेदाद्विधा, तत्र बाह्यं तपः पञ्चविधम्, तथा चोक्तम्—

“अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य वज्झो तवो होइ ॥ १ ॥”, इति ।

छाया—“अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः ।

कायव्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ॥ १ ॥”

(१) अनशनं=चतुर्थभक्तादिपाण्मासिकान्तं यावज्जीवनं वाऽशेषाहारपरिहारः । (२)

वस्तुकी प्राप्तिके लिए सोपान (सीढी) की तरह आलम्बन अगाडी रखकर यह सब सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है । यहां विनीत शिष्यकी बुद्धिका विकासके लिए प्रमाणरूपसे दिये गये ग्रन्थोंकी कुछ नामावली संस्कृत टीकामें दी गई है, पाठकगण वहा देख लेवे ॥

॥ इति मुखवस्त्रिकाविचार ॥

तप—जिससे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म भस्म हो जावे उसे तप कहते है । वह दो प्रकारका है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर । बाह्य तप छह प्रकारका है—

न प्राप्त थनारी वस्तुनी प्राप्तिने माटे सोपान (सीढी)ना जेपुं आद अन आगण राणीने आ अधु सप्रमाण प्रतिपादित करवामा आव्युं छे

अडीं विनीत शिष्यनी बुद्धिना विकासने माटे प्रमाणरूपे आपेला ग्रंथानी नामावली स स्मृतटीकाभां आपवामा आवी छे, त्यांथी पाठकैअये जेध देखी.

इति मुखवस्त्रिकाविचार समाप्त

तप—जेथी ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म भस्मीभूत थध जय तेने तप कहे छे. तप जे प्रकारनुं छे (१) बाह्य अने (२) आभ्यन्तर बाह्य तप छ प्रकारनुं छे—(१) अनशन, (२) अनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायकलेश, (६) संलीनता

ऊनोदरिका=यावताऽन्नादिनोदरं परिपूर्यते तत्र कवलमात्रमपि न्यूनयित्वाऽभ्यवहरणम् ।
 (३) भिक्षाचर्या=स्वाध्यायाविरोधियथाविधिविशुद्धभिक्षाकृते चरणम् (४) रसपरित्यागः
 =दुग्धादिविकृतित्याग । (५) कायक्लेशः=शीतोष्णादिसहिष्णुत्वं केशलुञ्चनं च । (६)
 सलीनता=स्त्रीपशुपण्डकरहितवसती कूर्मवदङ्गोपाङ्गाद्याकुञ्चनपूर्वकावस्थानम् । आभ्यन्तर-
 मपि तपः पङ्क्तिर्धर्म, तथा चोक्तम्—

“ पायच्छित्तं विणश्रो वेयावच्चं तहेव सज्ज्ञाओ ।

ज्ञाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भितरो तवो ॥ १ ॥ ” इति ।

(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) काय-
 क्लेश, (६) सलीनता ।

(१) अनशन=इहलोक परलोक सम्बन्धी कामनारहित चतुर्थभक्त, षष्ठभक्त, अष्टमभक्त,
 आदि छहमासी तप पर्यन्त, अथवा यावज्जीवन सपूर्ण आहारका परित्याग करना अनशन तप
 कहलाता है ।

(२) ऊनोदरी=जितने अन्नसे उदरकी पूर्ति हो जाती है उससे एक ग्रास भी कम आहार
 करनेको ऊनोदरी तप कहते हैं । इससे स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाएं अच्छीतरह निभती है ।

(३) भिक्षाचर्या=जिससे स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाओंमें विघ्न न आवे, इसप्रकार
 शास्त्रानुकूल विधिसे विशुद्ध भिक्षाके लिए पर्यटन करना भिक्षाचर्या तप कहलाता है ।

(४) रसपरित्याग=दूध, दही, घृत, तैल, मीठका त्याग करनेको रसपरित्याग कहते हैं ।

(५) कायक्लेश=शीत, उष्ण आदिका सहन करना, अथवा केशलोच करनेको कायक्लेश
 तप कहते हैं ।

(६) सलीनता=स्त्री-पशु-पण्डकरहित वसतीमें कछुवेकी तरह भङ्गोपाङ्ग सकुचित करके
 स्थित होना सलीनता तप कहलाता है ।

(१) अनशन—इहलोक परलोक सम्बन्धी कामना रहितपण्ये, चतुर्थ भक्त, षष्ठ
 भक्त, अष्टम भक्त (सर्गं अथ उपवास, अथ उपवास, त्रय उपवास) आदि छ मासी तप
 सुधी अथवा लवनपर्यंत संपूर्ण आहारना परित्याग करवे। अथ अनशन-तप कहेवाय छे.

(२) ऊनोदरी—जेठला अन्नथी उदर भराय तेथी अथ केणिये मात्र पण्ये अथे
 आहार करवे ते ऊनोदरी तप कहेवाय छे. तेथी स्वाध्याय, ध्यान, आदि क्रियाअने
 सारी रीते निभाव थाय छे

(३) भिक्षाचर्या—जेथी स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाअनेमां विघ्न न आवे, अथ
 प्रकारे शास्त्रानुकूल विधिथी विशुद्ध भिक्षाने माटे पर्यटन करवु अथ भिक्षाचर्या तप कहेवाय छे

(४) रसपरित्याग—दूध, दही, घी, तेल, मीठाअने त्याग करवे अथे रसपरित्याग
 कहे छे.

(५) कायक्लेश—ठंड, ताप आदिने सहन करवा अथवा केशलोच करवे अथे काय
 क्लेश तप कहेवाय छे.

(६) सलीनता—स्त्री-पशु-पण्डकरहित वसतीमा (स्थानमा) कायअनी चं अथे गोपात्र

छाया—“प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः ।

ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ॥ १ ॥ ”

- तत्र (१) प्रायश्चित्तम्=उपचिताऽतीचारशोधनं, यथाऽऽलोचनाप्रतिक्रमणादि ।
 (२) विनयः=गुर्वाधाराधनं, यथाऽभ्युत्थानाऽऽसनप्रदानाभिवादनतन्मनोऽनुकूलप्रवृत्त्यादि ।
 (३) वैयावृत्यं=साधूनामशनपानाद्यानयनादिना साहाय्यकरणम् । (४) स्वाध्यायः=श्रुत
 धर्माधनं, स च वाचना-पृच्छना-परिवर्तनाऽनुप्रेक्षा-धर्मकथाभेदात् पञ्चविधः । (५)

आभ्यन्तर तपके भी छह भेद है—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, (६) व्युत्सर्ग ।

(१) प्रायश्चित्त=लगेहुए अतिचारोकी विशुद्धि करना प्रायश्चित्त तप है, जैसे आलोचना, प्रतिक्रमण आदि करना ।

(२) विनय=गुरु आदिकी आराधना करना विनय है । गुरु आदिके आने पर खड़ा होना, आसन देना, वन्दना करना, उनके मनके अनुकूल प्रवृत्ति करना आदि अनेक प्रकारका विनय होता है ।

(३) वैयावृत्य=अशन पान आदि लाकर मुनियोको सहायता पहुचाना वैयावृत्य (वैयावृत्त) तप कहलाता है ।

(४) स्वाध्याय=श्रुतज्ञानका आराधना करना स्वाध्याय है । स्वाध्यायके पांच भेद है—(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा ।

शिष्योको आगम पढ़ानेको ‘वाचना’ कहते है । सद्भावसे संगय दूर करनेके लिए, अथवा तत्त्वका निश्चय करनेके लिए पृच्छना ‘पृच्छना’ कहलाता है । शुद्ध उच्चारण करके बार-बार

संकेतीने रडेवु ते संदीनता तप कडेवाय छे

आलय तर तपना पणु छ लेदो छे. (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, (६) व्युत्सर्ग.

(१) प्रायश्चित्त—लागेला अतिचारेनी विशुद्धि करवी ओ प्रायश्चित्त तप छे, जेभके आलोचना, प्रतिक्रमण वगेरे करवा

(२) विनय—गुरु आदिनी आराधना करवी ओ विनय छे. गुरु आदि आवे त्यारे उला थवु, आसन आपवु, वदना करवी, जेमना मनने अनुकूल प्रवृत्ति करवी वगेरे अनेक प्रकारे विनय थाय छे

(३) वैयावृत्य —अशन पान आदि लापीने मुनियोने सहाय आपवी आदि वैयावृत्य (वैयावृत्त) तप कडेवाय छे

(४) स्वाध्याय—श्रुतज्ञाननी आराधना करवी ओ स्वाध्याय छे स्वाध्यायना पांच लेदो छे (१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा, अने (५) धर्मकथा शिष्योने आगम लघुववा अने पोते लघुवु ओ वाचना कडेवाय छे. सद्भावपूर्वक

ધ્યાનમ્=એકમાત્રાવલમ્બનેન પવનાસંપૃક્તદીપશિખાયા ઇવ ચિત્તસ્ય સ્થિરીકરણમ્ ।

યદ્યપિ તચ્ચતુર્વિધમ્ આર્તિ-રૌદ્ર-ધર્મ-શુક્લભેદાત્, તથાપિ ધર્મ-શુક્લ લક્ષણં દ્વયમેવોપાદેયં પૂર્વદ્વયસ્ય કર્મબન્ધહેતુત્વાત્ । (૬) વ્યુત્સર્ગ=કાયાદિસંચાલનનિવૃત્તિપૂર્વક-સોપયોગાવસ્થાનમ્ । એવં વાહ્યાભ્યન્તરભેદેન દ્વાદશવિધં તપઃ સિદ્ધમ્ ।

નન્તુ અહિંસા-સંયમ-તપ-સ્વરૂપસ્ય ધર્મસ્યોત્કૃષ્ટમંગલત્વં પ્રતિપાદ્યતે તત્ર તપસોઽનશ-નાદિલક્ષણદુઃખરૂપત્વેન મોક્ષહેતુત્વં ન પ્રાપ્નોતિ, તદ્દિ અસાતવેદનીયકર્મોદયાત્મકમ્,

મનન કરના 'અનુપ્રેક્ષા' હૈ । ધર્મકી ચર્ચા યા ઉપદેશ કરનેકો 'ધર્મકથા' કહતે હૈ ।

(૫) ધ્યાન=વાયુકે સ્પર્શ નહીં હોનેસે જૈસે દોપકકી જ્યોતિ સ્થિર હો જાતી હૈ, વૈસેહી મનકો કિસી એક વિષયમેં સ્થિર કરલેનેકો ધ્યાન કહતે હૈ ધ્યાન યદ્યપિ આર્તિ, રૌદ્ર,, ધર્મ ઓર શુક્લ કે ભેદસે ચાર પ્રકારકા હૈ, તથાપિ યહાં ધર્મ ઓર શુક્લ યે દો શુભ ધ્યાન હો ઉપાદેય હૈ, યહી દોનો તપમેં અન્તર્ગત હૈ, પહેલેકે દો અશુભ ધ્યાન કર્મબન્ધનકે કારણ હૈ ।

(૬) વ્યુત્સર્ગ=કાયા આદિકે વ્યાપારકો, તથા કષાય આદિકો ત્યાગકર ઉપયોગસહિત રહનેકો 'વ્યુત્સર્ગ' કહતે હૈ ।

ઇસ પ્રકાર વાહ્ય ઓર આમ્યન્તરકે ભેદ મિલકર તપકે સબ વારહ ભેદ હોતે હૈ ।

પ્રશ્ન—અહિંસા, સંયમ ઓર તપરૂપ ધર્મકો ઉત્કૃષ્ટ મંગલ બતલાયા હૈ, લેકિન અનશન આદિ તપ ભોજન આદિકા ત્યાગ કરનેસે હોતે હૈ, ઇસલિલ્લે વે દુઃખ હૈ ઓર દુઃખ મોક્ષકા કારણ નહીં હો સકતા, ક્યોકિ દુઃખ અસાતવેદનોય કર્મકે ઉદયસે હોતા હૈ । ભગવાનુને મી

સંશય દૂર કરવા માટે, અથવા તત્ત્વનો નિશ્ચય કરવા માટે પૃચ્છા કરવી-પૂછવું એ પૃચ્છના કહેવાય છે શુદ્ધ ઉચ્ચારણ કરીને વારંવાર આવૃત્ત કરવું તે પરિવર્તના કહેવાય છે. ભણેલા અર્થનું વારંવાર મનન કરવું એ અનુપ્રેક્ષા છે. ધર્મની ચર્ચા અથવા ઉપદેશ કરવો એ ધર્મકથા કહેવાય છે.

(૫) ધ્યાન—વાયુનો સ્પર્શ નહિ થવાથી જેમ દીવાની જ્યોત સ્થિર રહે છે, તેવી રીતે મનને કોઈ એક અવલંબનમાં સ્થિર કરી લેવું એ ધ્યાન કહેવાય છે ધ્યાન આર્તિ, રૌદ્ર, ધર્મ અને શુક્લ એવા ભેદે કરીને ચાર પ્રકારનું છે, તે પશુ અહીં ધર્મ અને શુક્લ એ એ શુભ ધ્યાન જ ઉપાદેય છે એ એ ધ્યાન તપમાં અંતર્ગત છે, પહેલાં એ અશુભ ધ્યાન કર્મબંધના કારણ છે.

(૬) વ્યુત્સર્ગ—કાયા આદિના વ્યાપારને તદા કષાય આદિને ત્યજીને ઉપયોગ સહિત રહેવું એ વ્યુત્સર્ગ કહેવાય છે

એ પ્રમાણે બાહ્ય અને આભ્યંતરના ભેદ મળીને તપના એકદર બાર ભેદ થાય છે

પ્રશ્ન—અહિંસા, સંયમ અને તપ રૂપ ધર્મને ઉત્કૃષ્ટ મંગલ બતલાવેલ છે, પરન્તુ અનશન આદિ તપ ભોજનાદિનો ત્યાગ કરવાથી થાય છે, તેથી એ દુઃખ છે અને દુઃખ મોક્ષનું કારણ થઈ શકતું નથી; કારણ કે દુઃખ અસાતાવેદનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન

भगवताऽपि क्षुत्पिपासादयः परीपहा वेदनीयकर्मोदयस्वरूपत्वेनाऽभ्यधायिपत ।

कर्मक्षयो हि यद्यपि मोक्षाङ्गत्वेन श्रूयतेऽति शास्त्रे, कर्मोदयस्य तु न क्वचिन्मोक्ष-
हेतुत्व शास्त्रे लोके वा प्रथितम् । एवं सति तस्योत्कृष्टमङ्गलात्मकधर्मरूपत्वकथनमयुक्तम् ।

दुःखरूपत्वेन तपसो मोक्षसाधनत्वस्वीकारे तु व्याधिनाऽऽतुरस्य, राजदण्डेन
तस्करस्य, कशादिघातेनाश्वादेः, दशविधक्षेत्रवेदनया नाराकाणां, श्वासोच्छ्वासमात्रप्रमित-
कालेऽपि सार्द्धसप्तदशमितजन्ममरणनिमित्तकाऽनन्तघोरवेदनायुक्तानां निगोदजीवानां च
मोक्षापत्तिः, तेषामपि भवदभिमतमोक्षहेतुदुःखसद्भावादिति ।

यही प्रतिपादन किया है कि—“क्षुधा पिपासा आदि परीपह वेदनीय कर्मके उदयसे होते हैं ।”
कर्मका क्षय तो मोक्षका कारण हो सकता है, परन्तु यह कहीं नहीं सुना कि कर्मका उदय
भी मोक्षका कारण है । यह बात न किसी शास्त्रमें है और न लोकमेंही प्रसिद्ध है, इसलिए जब
कि तप, कर्मोदयजन्य होनेसे मोक्षका कारण नहीं हो सकता तो उसे उत्कृष्ट मंगल क्यों कहा
है ? यदि दुःखरूप तपको मोक्षका कारण मानलिया जाय तो अनेक दोष आते हैं, वे ये हैं
कि जो पुरुष रोगसे अत्यन्त पीड़ा पा रहा है उसे मोक्ष होजाना चाहिये, राजदण्डसे दुःख भोग-
नेवाले चोर डाकुओंको मोक्ष होना चाहिए, घोड़ोपर कोड़ोको मार पडती है, वे दुःखी होते हैं;
अतः उन्हेंभी मोक्ष मिलना चाहिये । इसी प्रकार, क्षेत्रवेदनासे दुःखी नारकी जीवोको तथा
एक श्वासोच्छ्वासमें साढे सतरह वार जन्ममरणके अनन्त काल तक दुःख पाने वाले निगोदिया
जीवोको मुक्तिको प्राप्ति होनी चाहिये । अधिक कहा तक कह २ संसारके समस्त प्राणी जन्म,
मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसयोग आदि भाति—भातिके दुःखोंसे दुःखी है अत एव सबहीको मोक्ष
मिलजाना चाहिये, क्योंकि दुःखको यहा मोक्षका कारण माना है ।

थाय છે ભગવાને પણ એમ જ પ્રતિપાદન કર્યું છે કે—“ભૂખ તરસ આદિ પરીપહ વેદનીય
કર્મના ઉદયથી જ થાય છે ” કર્મનો ક્ષય તો મોક્ષનું કારણ હોઈ શકે છે પરંતુ એવું
ક્યાંય સાબ્યું નથી કે કર્મનો ઉદય પણ મોક્ષનું કારણ છે. એ વાત કેઈ શાસ્ત્રમાં નથી
તેમજ લોકમાં પ્રસિદ્ધ નથી, તેથી જ તપ કર્મોદયજન્ય હોઈને મોક્ષનું કારણ થઈ શકતો
નથી તો તેને ઉત્કૃષ્ટ મંગલ કેમ કહ્યો છે ? જો દુઃખરૂપ તપને મોક્ષનું કારણ માનવામાં
આવે તો અनेક દોષો આવે છે, જેમકે—જે પુરૂષ રોગથી અત્યંત પીડા પામી રહ્યો હોય
તેનો મોક્ષ થઈ જવો જોઈએ, રાજદંડથી દુઃખ ભોગવવા વાળા ચોર ડાકુઓનો મોક્ષ થવો
જોઈએ, ઘોડા પર ચાણુકનો માર પડે છે તેથી તે દુઃખી થાય છે, તેથી તેને પણ મોક્ષ
મળવો જોઈએ એજ પ્રમાણે ક્ષેત્રવેદનાથી દુઃખી એવા નારકી જીવોને તથા એક શ્વાસો-
ચ્છ્વાસમાં સાડી સત્તરવાર જન્મ-મરણનાદુઃખો અનંતકાળ સુધી પામનારા નિગોદિયા
જીવોને પણ મુક્તિની પ્રાપ્તિ થવી જોઈએ વધારે શું કહીએ ? જગતના બધા પ્રાણીઓ
જન્મ, મરણ, ઈષ્ટનો વિયોગ, અનિષ્ટનો સયોગ વગેરે તરેહ તરેહના દુઃખથી દુઃખી છે.
એટલે એ બધાને મોક્ષ મળી જવો જોઈએ, કાન્ય કે હ પાને અહીં મોક્ષના કારણરૂપ માન્યું છે.

કિञ્ચાલમેતેન વિશેષવિચારેણ જન્મજરામરણેઽવિયોગાઽનિષ્ઠસંયોગાઘનેઠ્ઠવિધદુઃખ-
યુક્તાઃ સર્વે એવ સંસારિણા ઇત્યવિશેષેણ સર્વેષાં મોક્ષાપત્તિઃ સ્યાત્ ।

એતદુક્તં ભવતિ—તપઃ સમાચરતઃ ક્ષુત્પિપાસાદયઃ સમુદ્ભવન્તિ, તતશ્ચ પ્રવલદુઃખમ્,
એતન્ન ચિત્તવિક્ષેપસ્ય હેતુઃ, સતિ ચ તસ્મિન્ અપ્રશસ્તં ધ્યાનં, તસ્માન્નિવૃત્ત્યં કર્મવન્ધઃ,
તતશ્ચ ચતુર્ગતિકસંસારપરિભ્રમણરૂપ મહદમઙ્ગલમિતિ કથંકથમપ્યર્હિસાસંયમવિશિષ્ટસ્યાપિ
તપસો મોક્ષહેતુત્વરૂપમુત્કૃષ્ટમઙ્ગલત્વં ન સમ્ભવદુક્તિકમિતિ ।

અત્રોચ્યતે—તપો ન તાવદ્ દુઃખાત્મક, દુઃખં હિ નામાઽશ્નાતવેદનીયકર્મોદયવિપાકઃ
પીડાલક્ષણ આત્મપરિણામઃ, તપશ્ચર્યાગર્ભિતાઽનશનાદિવ્યાપારસ્ય ન પીડાત્મકાઽઽત્મ-
પરિણામરૂપત્વમ્ ।

જો અનશન આદિ તપ કરતા હૈં ઉસે ક્ષુધા પિપાસા આદિ પરીપહ હોતે હૈં । પરીપહ
હોનેસે તીવ્ર દુઃખ હોતા હૈં । દુઃખસે ચિત્તકા વિક્ષેપ હોતા હૈં । ચિત્તકે વિક્ષેપસે અશુભ ધ્યાન
હોતા હૈં । અશુભ ધ્યાનસે કર્મકા વન્ધ હોતા હૈં । કર્મવન્ધસે ચાર ગતિયોમેં ભ્રમણ કરના પડતા
હૈં, ઇસપ્રકાર યહ બડા અમંગલ હૈં । જો પ્રવલ અમંગલ હૈં વહ અહિસા ઓર સયમસે યુક્ત
હોનેપર ઢી ઉત્કૃષ્ટ મંગલ નહીં હો સકતા । અમૃતમેં વિષ મિલા દેનેસે ક્યા વિષ અમૃત હો સકતા
હૈં । કદાપિ નહીં । ઇસલિએ તપકો મોક્ષકા કારણ માનના ઉચિત નહીં હૈં ।

ઉત્તર—તપકો દુઃખ કહના યુક્ત નહીં હૈં, વહ દુઃખરૂપ નહીં હૈં । કચોકિ અસાતાવેદ-
નીય કર્મકે ફલોકો, જો આત્માકા હી એક વિભાવ પરિણામ હૈં, ઓર પીડારૂપ હૈં ઉસે દુઃખ
કહતે હૈં । અનશન આદિ તપ પીડારૂપ પરિણામ નહીં હૈં, અતઃ ઉન્હેં દુઃખ નહીં કહા જા સકતા ।
દૂસરી વાત યહ હૈં—ગંકાકારને કહા હૈં કિ તપ મોક્ષકા કારણ નહીં હૈં । કચોકિ વહ દુઃખ હૈં ।
યહાં “તપ મોક્ષકા કા કારણ નહીં” યહ પ્રતિજ્ઞા હૈં ઓર કચોકિ વહ દુઃખ હૈં” યહ હેતુ હૈં ।
હેતુકા સદા એસા હી પ્રયોગ કરના ચાહિયે જો પ્રતિવાદીકો ઢી સિદ્ધ હોવે । યદિ “વહ દુઃખ

જે અનશન આદિ તપ કરે છે તેને ભૂખ-તરસ આદિ પરીપહ થાય છે પરીપહથી
તીવ્ર દુઃખ થાય છે દુઃખથી ચિત્તને વિક્ષેપ થાય છે. ચિત્તના વિક્ષેપથી અશુભ ધ્યાન
થાય છે અશુભ ધ્યાનથી કર્મને વન્ધ થાય છે કર્મવન્ધથી ચારે ગતિઓમા પરિભ્રમણ
કરવુ પડે છે એ રીતે એ મોટું અમંગલ છે જે પ્રણવ અમંગલ છે તે આહિમા અને
સંયમથી યુક્ત થવા છતાં પણ ઉત્કૃષ્ટ મંગલ થઈ શકતુ નથી અમૃતમા વિષ મેળવવાથી શું
વિષ અમૃત થઈ શકે છે ? કદાપિ નહિ તેથી તપને મોક્ષનું કારણ માનવુ એ ઉચિત નથી.

ઉત્તર—તપને દુઃખ કહેવું એ યુક્ત નથી તે દુઃખરૂપ નથી કારણ કે એ સાતાવેદ-
નીય કર્મ કે જે આત્માને જે એક વિભાવ પરિણામ છે અને પીડારૂપ છે, તેને દુઃખ કહે
છે. અનશન આદિ તપ પીડારૂપ પરિણામ નથી, તેથી તેને દુઃખ કહી શકાય નહિ ણી
વાત આ છે. શકાકારે કહુ કે તપ મોક્ષનું કારણ નથી, કારણ કે તે દુઃખ છે; પરન્તુ
અહીં “ તપ મોક્ષનું કારણ નથી ” એ પ્રતિજ્ઞા છે અને “ કારણ કે તે દુઃખ છે ” એ

किञ्च तपः पक्षीकृत्य मोक्षसाधनत्वाभावसाध्ये यदुक्तं दुःखरूपत्वसाधनं तदयुक्तं, तस्य दुःखजयरूपत्वेन स्वरूपासिद्धेः ।

तत्र (तपसि) जायमानाः क्षुत्पिपासादयः आत्मनः प्रवर्द्धमानविशुद्धपरिणामेन विजिता सन्त पीडालक्षणं कार्यं न जनयन्ति । एतेन क्षुत्पिपासादीनां कर्मोदयस्वरूपत्वेऽपि स्वकार्यकारणाऽक्षमतया चित्तविक्षेपाजनकत्वं सिद्धम् । अतएव भगवताऽपि क्षुत्पिपासादिपरीषहस्य तपसश्च पृथक्त्वेन प्रतिपादनं विहितम् ।

है" यह हेतु सिद्ध होता तो शंकाकारका साध्य सिद्ध हो सकता, परन्तु वह सिद्ध नहीं है । क्योंकि पहले बतला चुके है कि तप दुःख नहीं है । अत एव यह हेतु स्वरूपसेही असिद्ध है । तप दुःखरूप नहीं बल्कि दुःखको विजय करना तप कहलाता है ।

अनशन आदि तपसे होनेवाले क्षुधा आदि परीषह आत्माके बढ़ते हुए विशुद्ध परिणामसे जीत लिये जाते हैं । क्षुधा दुःख अवश्य है परन्तु उसे तप नहीं कहते, बल्कि क्षुधा पर विजय पानेको तप कहते है । क्षुधाको जीतना दुःख नहीं परन्तु सुख है अत एव तप सुखरूप है । क्योंकि तपश्चर्या करनेवालेको भूखकी परवाह ही नहीं रहती । इसलिए शंकाकारका यह कहना ठीक नहीं है कि तपसे पीडा उत्पन्न होती है । इस कथनसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो गई कि क्षुधा आदि परीषह वेदनीय कर्मके उदयसे होते है, परन्तु वे पीडा नहीं उत्पन्न कर सकते । और जब उनसे पीडा नहीं उत्पन्न हो सकती तो चित्तमें विक्षेप भी नहीं हो सकता । चित्तमें विक्षेप न होनेसे कर्मका बन्ध भी नहीं हो सकता । उलटा क्षुधा आदिको जीतनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है और आते हुए कर्मोंका निरोध होनेसे संवर भी होता है । इसलिए भगवान् महावीर स्वामीने क्षुधा आदि परीषह और तपको अलग अलग कहा है ।

हेतु छे. हेतुने प्रयोग सदा अवेो करवेो जेधअे के जे प्रतिवादीने मते पणु सिद्ध होय. जे "ते दुःख छे" अे हेतु सिद्ध होत तो शंकाकारतु साध्य सिद्ध करी शकत, परतु अे सिद्ध नथी; कारणु के पडेदां अतावी यूध्या छीअे के तप अे दुःख नथी अेटवे अे हेतु स्वइपथी ज असिद्ध छे. तप दुःखइय नथी, अटके दुःख उपर विजय भेणववेो अे तप कडेवाय छे.

अनशन आदि तपथी अनारा क्षुधा आदि परीषह आत्माना वधता जता विशुद्ध परिणामथी अतार्थ जय छे. क्षुधा अे दुःख अवश्य छे. परंतु तेने तप कडी शकय नहि, अटके क्षुधा पर विजय प्राप्त करवेो अे तप कडेवाय छे क्षुधाने अतवी अे दुःख नथी परंतु सुण छे अेटवे तप सुअइय छे, केमके तपश्चर्या करनाराअेने भूअनी परवा ज नथी होती. तेथी शंकाकारतु अे कडेवुं अराअर नथी के- 'तपथी पीडा उत्पन्न थाय छे.' आ कथनथी अे बात सारी रीते सिद्ध थध गध के क्षुधा आदि परीषह वेदनीय कर्मना उदयथी थाय छे परंतु ते पीडा उत्पन्न करी शकती, नथी. अने जे तेथी पीडा उत्पन्न नथी थती तो चित्तमां विक्षेप पणु थध नथी शकते उट्टुं क्षुधा आदिने अतवाथी कर्मनी निर्जरा थाय छे अने आवता कर्मोना निरोध थवाथी संवर पणु थाय छे. तेथी भगवान् महावीर

यद्यनशनादिकं सर्वत्र दुःखात्मकमेव मन्येत तदा—सिद्धानामपि अशनाद्यग्राहितयाऽ-
नन्तदुःखसद्भावप्रसङ्गः केन वार्येत । एवं च मोक्षमार्गे प्रवर्तकस्य शास्त्रस्य तदुक्तधर्मानुष्ठा-
नस्य च वैयर्थ्यापत्तिः ।

अयं भावः—यथा व्यधितस्य व्याधिपरिजिहीर्षया स्वयमेव लङ्घनादिप्रवृत्तिः मणि-
मौक्तिक-माणिक्य प्रवाल-हेम-हीरक-रजतादीनां व्यवहर्तुः स्वयमेव सिन्धुतरणगहनभयान-
कवनगमनदुर्गमपथभ्रमणप्रवृत्तिः पीडालक्षणात्मकपरिणामं न जनयति, अन्यथा हि प्रति-
कूलकर्मणि समुत्साहपूर्वकस्वतः प्रवृत्तिर्नोपपद्यते, तथा, मुनयोऽपि वक्ष्यमाणभावनया

एक बात और भी है—सिद्ध भगवान् कभी आहार नहीं लेते । यदि अनशनको दुःख मान लिया जाय तो उन्हें भी दुःखी मानना पड़ेगा । जब सिद्ध भी दुःखी होंगे तो मोक्षमार्गकी प्ररूपणा करनेवाले शास्त्र व्यर्थ होजावेंगे, और उन शास्त्रोके अनुसार की हुई क्रियाएँ भी व्यर्थ हो जायँगी । क्योंकि दुःखी बननेके लिए कोई बुद्धिमान तैयार नहीं होगा । मतलब यह है कि—जैसे अपना रोग दूर करनेके लिए रोगीकी स्वयं ही लंघनमें प्रवृत्ति होती है । अथवा हीरे, मोती, मूंगे, सोने, चांदी आदिकी प्राप्तिके लिए मनुष्य, दुस्तर समुद्र तैरते है, अथवा अपनी इच्छासे ही मोती आदिकी प्राप्तिके लिए गहरे समुद्रमें गोते लगाते है । बड़े बड़े गहन और भयानक जंगलोमें गर्मी आदि अनेक कष्ट उठाते है, दुर्गम मार्ग में लाभकेलिए घूमते फिरते है, फिर भी अपने मनमें उसे दुःख नहीं मानते न पीडाका अनुभव करते है, यदि लंघन करनेमें और गोते लगाने आदिमें कष्ट मालूम होता तो विना किसीके दबावके अपनी इच्छासे ही उत्साहपूर्वक क्यों प्रवृत्ति करते ? इसी प्रकार मुनिराज भी अपनी आत्माकी विशुद्धिके लिए अपने आपही प्रसुदित

स्वामीये क्षुधा आदि परीषद् अने तपने णुदा-णुदां कडेला छे

अेक णीण वात अेम छे के-सिद्ध भगवान् कदापि आहार देता नथी ले अनशनने दुःख मानी देवामां आवे तो तेमने पणु दुःखी न मानवा पडे, ले सिद्ध पणु दुःखी होय तो मोक्षमार्गनी प्ररूपणा करनाइ शास्त्र व्यर्थ णनी जय, अने अे शास्त्रोने अनुसरीने करवाभा आवती क्रियाअे पणु व्यर्थ थाय, कारण के दुःखी थवाने केई बुद्धिमान तैयार नहि थाय, मतलब अे छे के-अेम पोतानो रोग दूर करवाने माटे रोगी पोतानी भेजे न लांघणु करवाभा प्रवृत्त थाय छे, अथवा हीरा, मोती, माणिक, सोनु आदी आदिनी प्राप्ति माटे मनुष्य दुस्तर समुद्रने तरे छे, अथवा पोतानी धंछाथी न मोती आदिनी प्राप्ति माटे ठा समुद्रमा दुण्डी मारे छे, मोटा मोटां धीय अने भयानक जंगलोमा टाढ तापनां अनेक कष्टो उठावे छे, दुर्गम रस्ताअेमा लालने माटे लटकतो इरे छे तोपणु पोताना मनमा तेने दुःख मानतो नथी के पीडानो अनुभव करतो नथी, ले लंघन करवाभां अने दुण्डी मारना आदिमा कष्टनो अनुभव थतो होत तो केईअे ह्याण्या के आशय कर्था विना पोतानी न धंछाथी, मनुष्य उत्साह पूर्वक केम प्रवृत्ति करत ? अेन रीते मुनिराज पणु पोताना आत्मानी विशुद्धिने माटे पोतानी भेजे न प्रसुदित ल वयी अनशन आदि तपश्चर्या करे

तपसि पीडां नानुभवन्ति, तथाहि—

इह संसारे (१) स्वकृतदुष्कृतसन्ततिवशान्नरकेषु नारका कियन्तो भिद्यन्ते, कियन्तस्तैलयन्त्रे तिलसर्पपादिवन्नष्पीडयन्ते, ताम्रादिभाजनवच्च कियन्तः कुटयन्ते, कियन्तो दाखुवद्विदार्यन्ते, कियन्त शूलशय्यायां स्वाप्यन्ते कियन्त शिलोपरि वस्त्रवत्ताडयन्ते, अनन्तक्षुत्पिपासादिभिः परिभूयन्ते, इत्येवं विविधदुःखसन्ततिमनुभवन्ति ।

(२) अथ तिर्यञ्चोऽपि केचित् सकलेशं शीतोष्णौ सहमाना, केचिद् गुरुतरं भारं वहमाना, केचिद्वेत्रादिना ताडयमाना, केचिन्मांसार्थिभिर्विविधैस्तीक्ष्णाग्रशस्त्रैश्छिद्यमाना, केचिच्च शङ्कुनिवद्धा प्रवलैः क्षुत्पिपासादिभिः परिभूयमाना लक्ष्यन्ते ।

(३) एवं मनुष्यगतिं प्राप्ता अपि केचिदन्धत्वं, केचिद्ब्रह्मिणत्वं केचित् पद्गुत्वं,

भावसे अनशन आदि तपस्या करते हैं । ऐसा करनेमें उन्हें तनिकभी दुःख नहीं होता ।

(१) संसारमें अपने किये हुए कर्मों के कारण कईएक नरकमें जाकर परमाधर्मीद्वारा भाड़े आदिसे भेदे जाते हैं कईएक घानीमें तिल या सरसोकी तरह पोले जाते हैं । कईएक तांबे पीतल आदिके वर्तनोंकी तरह कूटे जाते हैं । कईएक काठकी भाँति करवतसे चीरे जाते हैं । कईएक तीक्ष्ण कांटोके बिलौने पर सुलाये जाते हैं । कईएक शिलापर कपडोकी तरह पछाड़े जाते हैं, और अनन्त भूख प्यास आदि नाना प्रकारके असह्य क्लेश पाते हैं । इस प्रकार भाँति—भाँतिके दुःखोका वे अनुभव करते हैं ।

(२) तिर्यञ्च गतिमें भी कोई २ तिर्यञ्च दुःखके साथ गर्मी सर्दी सहते हैं, किसी पर भारी बोझ लादा जाता है, कोई-कोई कोडोंकी मार खाते हैं, कोई २ पैसे (तीखे) शस्त्रोंसे छेदे जाते हैं, कोई-कोई खूंटीसे बंधे हुए भूख-प्यास आदि नाना प्रकारके दुःख भोगते हुए देखे जाते हैं ।

(३) यदि भाग्योदयसे मनुष्यगति मिल जाय तो उसमें भी सैकड़ो दुःख भोगने पड़ते

छे अथ कर्वाभा तेने जरा यणु दु भ यतु नथी.

(१) जगतभा पोताना करेलां कर्मेने कारणे केटलाक जेवो नरकमां जेने परमाधर्मीद्वारा लाला आदिथी छेदाय-लेदाय छे. केटलाक धाणीमां तले अथवा सरसवनी पेठे पिदाय छे. केटलाके तांभा पीतणनां वासणोनी जेम कुटाय-पीटाय छे केटलाके लाकडानी पेठे करवतथी वडेराय छे केटलाकने तीक्ष्ण काटानां भिछानां पर सुवाडवामां आवे छे. केटलाकने कपडानी पेठे शिलापर पछाडवामां आवे छे, अने अनन्त भूख-तरस आदि नाना प्रकारना असह्य क्लेश पमाडवामां आवे छे अे प्रमाणे तरेड तरेडनां दुःषोने अनुभव अे जेवो करे छे.

(२) तिर्यञ्च गतिमा यणु केध केध तिर्यञ्च दुःख साथे टाठ-ताय सहन करे छे; केटलाक पर भारे भोने लाहवामां आवे छे, केध केध आणुकना भार भाय छे, केध केधने काटील शास्त्रोथी छेहवामां आवे छे, केध केध पू टिअे य धाअेला भूख-तरस आदि नाना प्रकारनां दुःषो लोणवता जेवामां आवे छे.

(३) जे लाज्योदयथी मनुष्यगति भणी जय तो तेमां यणु से कडो दु षो लोणववां पडे

केचित्कासश्वासादिरोगं, केचिद्दारिद्र्यं च संग्राह्य, हीना दीनास्तत्तपीडापरिहाराक्षमा विवि-
धदुर्दशामापन्ता, स्थविरे कलत्रपुत्रादिभिरप्यनादृता क्षुत्पिपासादिभिर्वाध्यमाना म्रियन्ते ।

(४) देवा अपि परोत्कर्षनिरीक्षणेष्व्याद्वेषादिजनिताऽन्तस्तापस्य प्रतिकर्तुमशक्यतया
प्रायो दुःखभाज एव दृश्यन्ते ।

इत्येवमपारपाराचारतरलतरङ्गमङ्गमालायमानजन्मजरामरणाधिव्याधीष्टवियोगाऽनिष्ट-
संयोगादिजनितविविधसन्तापकलापमाकलयन्तः 'कथमेतस्मात्क्लेशकदम्बकादुन्मुक्ता
भविष्यामः ? इत्युपायं समन्तात् संमार्गयन्तो मुनयोऽपि जिनेन्द्रप्रतिपादितं मोक्षमार्ग-

है । कोई मनुष्य अंधा होजाता है, कोई बहिरा होजाता है, कोई लंगड़ा होजाता है । किसीको
श्वास या खाँसीका रोग हो जाता है । कोई दरिद्रताके दुःखसे दीन हीन होकर अनेक प्रका-
रकी दुर्दशाका अनुभव करता है । वृद्धावस्थामें पत्नी पुत्र आदि तिरस्कार करते हैं । अन्तमें
क्षुधा-पिपासा आदिके भी दुःख उठाकर मरणकी शरणमें जाना पडता है ।

(४) कभी देवगति पाकर देवता होजाय तो वहाँ भी तरह-तरहके दुःख विद्यमान हैं ।
किसी देवताकी विभूति अधिक होती है, किसीकी कम होती है, कम विभूतिवाला अधि-
कविभूतिवाले देवताको देखकर ईर्ष्या-द्वेष करता है, ऐसा करनेसे मनमें अत्यन्त सन्ताप होता
है । उस सन्तापको मिटाने में जब अपनेको असमर्थ पाता है तो दुःखी होता है । इसलिये
संसारमें कहींभी सुख नहीं दिखलाई पडता है ।

जिसतरह अपार सागरमें चञ्चल तरंगे उत्पन्न होती हैं उसी तरह संसारमें जन्म, मरण,
बुढ़ापा, मानसिक चिन्ताये, शारीरिक व्याधियाँ, इष्टवस्तुओका वियोग, अनिष्टका संयोग
आदि अनेक प्रकारके नये-नये दुःख उत्पन्न होते रहते हैं । इन विविध प्रकारके दुःखको भली
भाँति सम्यग्ज्ञानद्वारा जाननेसे यह जिज्ञासा होती है कि इस दुःखसमूहसे हम कैसे छूटेंगे ?

छे. कोछ भाणुस आंधणे. थछ नय छे, कोछ ञडोरे अनि नय छे, कोछ लगडे थाय छे
कोछने श्वास या खाँसीने रोग थाय छे. कोछ दरिद्रतानां दुःखोथी हीन-हीन थछने अनेक
प्रकारनी दुर्दशाने अनुभव करे छे. वृद्धावस्थां पत्नी पुत्र आदि तेने तिरस्कार करे छे.
छेवटे भूष-तरस आदिनां दुःखो पणु वेठीने तेने भरषु शरषु थपुं पडे छे

(४) कदाच देवगति पावने देवता थछ नय तो त्यां पणु तरेड तरेडनां दुःखो विध
मानं होय छे कोछ देवतानी विभूति अधिक होय छे, कोछनी ओछो होय छे ओछी विभूति-
वाणा अधिक विभूतिवाणा देवताने नछने धर्षा-द्वेष करे छे. अम क्वाधी मनमां अत्यत
सन्ताप थाय छे. अे सन्तापने शभावाने न्यारे ते पाताने असमर्थ नुअे छे त्यारे ते
दुःखी थाय छे. तेथी संसारमां कथांय पणु सुभ नेवामां आवतुं नथी.

देवी रीते अपार सागरमां अचल तरंगे उत्पन्न थाय छे, तेवी रीते संसारमां जन्म,
मरण, बुढ़ापो, मानसिक चिन्ताओ, शारीरिक व्याधियो. इष्ट वस्तुओने वियोग अनिष्टनां
संयोग आदि अनेक प्रकारनां नवां नवा दुःखो उत्पन्न थतां रहे छे. अे विविध प्रकारनां

मारुह्य, तत्रापि शुक्लध्यानाहितकेवलज्ञानसमन्तरजायमानाऽव्यावाधामन्दानन्दसन्दोहलक्षणमोक्षस्याऽपुनरावृत्तिलक्षणं महिमानं विनिश्चित्य, ईपत्क्षुत्पिपासाऽऽपादितदुःखं मनागपि न गणयन्ति, अत एव तदनशनादिलक्षणं तपः परिणामपरमपदसुखजनकतया मुनीनामात्मपरिणामविकृतिकारणं न भवितुमीष्टे नापि च तत्कर्मोदयस्वरूपमिति प्राक् प्रतिपादितमिति तपसः सर्वथा मोक्षाङ्गत्वेनोत्कृष्टमङ्गलात्मकधर्मरूपत्वं सिद्धम् ।

अथोत्कृष्टमङ्गलत्वसम्पादकं धर्मस्य महिमानमावेदयति—‘देवा वि’ इत्यादि ।

इमप्रकार छूटनेका उपाय हूँदते-२ मुनि महात्मा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित मोक्षके मार्ग पर आरूढ़ हो जाते हैं । फिर क्रमशः शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान पाकर अव्यावाध अनन्त आत्मिकसुख औरपुनरागमनरहित मोक्षको प्राप्त करते हैं । ऐसा अपने मनमें विचार कर तपमें लीन होनेवाले तपस्वी जन क्षुधा-पिपासाके थोड़ेसे दुखको तनिक भी नहीं गिनते । उनके सामने अनन्त सुखका स्थान मोक्षका ध्येय सदा रहता है और उस ध्येयका प्राप्ति में क्षुधा आदि परीषहोसे होनेवाला दुख नहीं के बराबर है । वे उन तुच्छ दुखको अपने अन्तःकरणमें स्मरण भी नहीं करते । तात्पर्य यह है कि—अनशनआदि तप, परमपद मोक्षके अनन्त अविनाशी सुखका प्रबल कारण होनेसे मुनियोकी आत्माके परिणामोमे विकार उत्पन्न नहीं कर सकता है और न औदयिक भावमें ही है, अर्थात् तप क्षायोपशमिक भावोमे है । इस विषयकाविस्तारसे प्रतिपादन पहले किया जा चुका है । अब यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि तप मोक्षका कारण है और उत्कृष्ट मंगलरूप धर्म है ।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है, किन्तु धर्ममें ऐसी कौनसी विचित्र महिमा है जिससे उसे उत्कृष्ट मंगल कहते हैं ? इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए कहते हैं—

दुःभोने सारी पेठे सभ्यज्ञानद्वारा नाशुवाथी जेवी जिज्ञासा थाय छे के आ दुःभसमूहथी आपणु केवी रीते छूटीशु ? जे रीते छूटवाने उपाय शोधतां मुनि महात्मा जिनेन्द्र भगवाने प्रतिपादित करेला मोक्षना मार्ग पर आरूढ थछे जय छे पछी क्रमशः शुक्लध्यानद्वारा केवलज्ञान प्राप्त करीने अव्यावाध अनन्त आत्मिकसुख अने पुनरागमनरहित मोक्षने प्राप्त करे छे पोताना मनमा जेवो विचार करीने तपमां लीन थनार तपस्वीजन भूष-तरसना थोडा दुःभने लगारे गणुना नथी तेमनी सामे अनन्त सुखना स्थान मोक्षनु ध्येय सदा रहि छे अने जे ध्येयनी प्राप्तिमां क्षुधा आदि परीषहोथी थनार दुःभ नडिपत थने छे ते पोताना अतःकरणुमां जे तुच्छ दुःभोतु स्मरणु पणु करता नथा. तात्पर्य जे छे के—अनशन आदि तप, परमपद मोक्षना अनन्त अविनाशी सुखनु प्रबल कारणु होवाथी मुनिजोना आत्माना परिणामोमा विकार उत्पन्न करी शकतु नथी अने जे औदयिक भावमा पणु नथी अर्थात् तप क्षायोपशमिक-भावमा छे. आ विषयनु प्रतिपादन पड़ेला विस्तारथी करवामा आण्यु छे डवे ये वात सारी रीते सिद्ध थछे यूडी के तप मोक्षनु कारणु छे अने उत्कृष्ट मंगलरूप धर्म छे.

धर्म उत्कृष्ट मंगल छे, परतु धर्ममां जेवो क्यो विचित्र महिमा छे के जेथी तेने उत्कृष्ट

धर्मे=अहिंसादित्रयस्वरूपे यस्य प्राणिनः मनः=चित्तं सदा—निरन्तरं तिष्ठतीति शेषः,
तं—धर्मचित्तं प्राणिनं देवा अपि भवनपत्यादिचतुर्निकाया अपि नमस्यन्ति—नमस्कुर्वन्ति
सम्मानयन्तीति यावत्, किं पुनश्चक्रवर्त्यादयो मनुष्या इत्यर्थः ।

एतादृशोऽयं समुत्कृष्टो धर्मः स्वसमाराधनवद्धपरिकराणां वृन्दारकवृन्दवन्दनीय-
पदारविन्दतां जनयति, यदि पुनस्त्रिविधकरणयोगेन तदाराधनपरायणो भवेत् तदा
शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति सिद्धिगतिनामधेयं मोक्षपदमपि समा-
सादयेदेव, कैव कथा तदपेक्षया तुच्छतरदेवेन्द्रचक्रवर्त्यादिपदप्राप्तिजनितरौख्यस्य सस्या-
नुगतपलालवदिति ।

ननु सर्वधर्माणामहिंसामूलकत्वादहिंसायामेव सयमतपसोरपि धर्मयोः समावेशे
सति किं पुनस्तयोः पृथङ्निर्देशः ? इति चेन्न,—

जिस प्राणीके मनमें अहिंसा, सयम और तपरूप धर्मका निरन्तर निवास रहता
है, उस धर्मात्मा प्राणीको भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक इस प्रकार चारो
निकायोके देवता नमस्कार करते हैं अर्थात् समान करते हैं । गाथामें आये हुए 'अपि'
शब्दसे प्रकट है कि जब देवताभी धर्मात्मा प्राणीका समान करते हैं तो राजा, महाराजा
सम्राट् और चक्रवर्ती आदिकी बात ही क्या है ? वे भी उसके चरणोंमें गिरते हैं । इस प्रकार
इस उत्कृष्ट धर्मकी आराधना करनेवाले प्राणी देवोंके द्वारा वन्दनीय हो जाते हैं । यदि कोई
तीन करण और तीन योगसे उस धर्मकी आराधना भली-भाँति करे तो वह अवश्यही ऐसी
सिद्धिगति (मोक्ष) को प्राप्त करेगा जो परम कल्याणरूप है, अचल है, जिसमें किसी प्रकारका
रोगदोष नहीं है, जिसका कभी अन्त नहीं होता, जिसमें पहुँच कर क्षय नहीं होता, और
न किसी प्रकारकी बाधा शेष रहती है । अहो ! उस मोक्षका क्या कहना है, जिसके आगे नरेन्द्र,
इन्द्र, अहमिन्द्र आदिका सुख इतना तुच्छ है जैसे धान्यके आगे भूसा तुच्छ होता है ।

भगवत कह्यो छे ? आ प्रश्नतुं समाधान करवाने कडे छे :—

जे प्राणीना मनमां अहिंसा, सयम अने तपरूप धर्मनो निरंतर निवास रहे छे. ते
धर्मात्मा प्राणीने भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी अने वैमानिक अने चारो निकायोना देवता
नमस्कार करे छे अर्थात् तेमनुं समान करे छे गाथामां आवेला 'अपि' शब्दथी रूपे
थाय छे के ज्यारे देवता पणु धर्मात्मां प्राणीनुं समान करे छे तो राजा, महाराजा, सम्राट
अने चक्रवर्ती आदिनी तो बात न कयां रही ? तेओ पणु तेमना चरणमा पडे छे अने
रीते उत्कृष्ट धर्मनी आराधना करनारे प्राणी देवो वडे वन्दनीय अने छे जे कोछ त्रणु
करण अने त्रणु योगथी अने धर्मनी आराधना भली पठे करे तो ते अवश्य अने सिद्धि-
गति (मोक्ष) ने प्राप्त करे के जे परमकल्याणरूप छे, अचल छे, तेमा कोछ प्रकारनो रोग
दोष नथी, जेनो कदापि अन्त आवतो नथी जेमा पडोअवाथी क्षय थतो नथी अने कोछ
प्रकारनी आधा-पीडा थती नथी अडा । अने मोक्षनी शी बात कहीअे, जेनी आगण नरेन्द्र
इन्द्र अहमिन्द्र आदिनु सुख अणुं तुच्छ छे के जेम धान्य आगण इतरा तुच्छ छे

तपो विना संयमो यथावत्स्वरूपनैर्मल्यं न लभते, संयममन्तरेणाऽहिंसाऽपि न परिशुद्धिमेति इत्याशयेनाहिंसां प्रतिपाद्य तन्निर्मलीकरणार्थं संयमस्य प्रतिपादनम्, तस्य च प्रभूतशक्तिसम्पादनाय तपसः समाराधनमावश्यकमित्याशयेन, त्रयाणां पृथङ्निर्देशः कृतः ।

किञ्च संयमतपसोर्विषयेऽपरोऽपि विशेषो दृश्यते—संयमात्संवरः, तपस्तु मुख्यतो निर्जरामुद्धावयन् संवरमपि निष्पादयति संयमस्तपश्चैते द्वे-राज्ञ आत्मरक्षकाविवाऽहिंसा-व्रतस्य संरक्षके । यद्वा एतद्द्वयस्याहिंसापरिपोषकतया पृथङ्निर्देशः संगच्छते ।

अन्यच्च अहिंसा प्राणव्यपरोपणनिवृत्तिप्रधाना, संयमस्तु श्रोत्रादीन्द्रियनिग्रह-प्रधान इति महद्वैलक्षण्यमुपलभ्य पृथङ्निर्देशः । तपसो वैलक्षण्यं तु न कस्यचित् संश-

प्रश्न—संयम तप आदि सब धर्मोंका मूल अहिंसा है, इसलिए संयम और तपका अहिंसामें हो समावेश हो जाता है तो फिर संयम और तपको अलग अलग क्यों कहा है ? सुनो—

उत्तर—अलग अलग कहनेका कारण यह है कि तपके विना संयम की जैसी चाहिए वैसी निर्मलता नहीं होती और विना संयमके अहिंसाका प्रतिपादन करके उसे निर्मल बनानेके लिए तपका अलग कथन किया गया है । इससे तीनोंका अलग २ कथन उचित है ।

संयम और तपके अर्थमें और भी विशेषता है और वह यह है कि संयम से सवर होता है, परंतु तपसे संयम और निर्जरा दोनो होते हैं । अथवा यह समझना चाहिये कि संयम और 'तप' ये दोनो राजाके आत्मरक्षकोकी तरह अहिंसाव्रतके रक्षक हैं, जबतक संयम और तप न हों तबतक अहिंसाका सम्यक् पालन नहीं हो सकता ।

एक समाधान और भी है—अहिंसामें प्राणोके व्यपरोपणकी निवृत्तिकी प्रधानता है,

प्रश्न—संयम तप आदि सर्व धर्मोंका मूल अहिंसा है, तैसी संयम अने तपको समावेश अहिंसामां न थई नथ है. तो संयम अने तपको जुदा-जुदा कैम कहा है ? सांख्यो—

उत्तर—जुदा जुदा डडेवानुं कारण अ है के तप विना संयमनी लोईअे तेवी निर्मणता थती नथी अने संयम विना अहिंसानुं थराथर पालन थई शक्तुं नथी. अे कारणथी अहिंसानुं प्रतिपादन करीने तेने निर्माण थनववाने माटे तपनुं जुहु कथन डरवामां आन्थु है अेथी प्रथेनुं जुहुं-जुहु कथन उचित है

संयम अने तपना अर्थमां थीणु पणु विशेषता है अने ते अे के-संयमथी स वर थाय है, पणु तपथी संयम अने निर्जरा जेडे थाय है

अथवा अेम समज्जु लोईअे के संयम अने तप अे जेडे राजना आत्मरक्षकेानी चेडे अहिंसाव्रतना रक्षक थने है. नथा सुधी संयम अने तप न थाय त्या सुधी अहिंसानुं सम्यक् पालन थई शक्तुं नथी

अेडे समाधान थीणु पणु है. अहिंसामां प्राणोना व्यपरोपणनी निवृत्तिना प्रधानता है. अने संयमना प्रोव अ हि ईन्द्रियोना निग्रहनी प्रधानता है. अे रीने अेमां अनेके

યગોચરઃ સ્વરૂપત એવ પરસ્પરં ભેદાત્, તથાહિ—અહિંસા નામ સ્વતઃ પરતો વા પ્રાણ-
વ્યપરોપણનિવૃત્તિકરણં, તપસ્તુ ક્ષુત્પિપાસાશીતોષ્ણાદિસહિષ્ણુત્વરૂપમિતિ । કોટિભવ-
સશ્ચિતાનિ કર્કશતમાન્યપિ કર્માણિ તપસાઽઽશુતરં વિનશ્યન્તીતિ દુસ્તસંસારસાગરં—
શીઘ્રમુત્તર્તુમભિલપ્યતામહિસાસંયમાઽઽરાધનતત્પરાણાં મુમુક્ષુણામુગ્રતપોઽવશ્યમાશ્રયણીય-
મિત્યાશયેનાન્તે તપસઃ પૃથક્કનિર્દેશઃ કૃત ઇતિ ભાવઃ । ઇતિ પ્રથમગાથાર્થઃ ॥ ૧ ॥

નન્નુ ધમઃ શરીરેણ રક્ષયતે, શરીર રક્ષણં ચાહારેણ ભવતિ, સ ચ ષડ્જીવનિકાયોપમ-
ર્દનરૂપાઽઽરમ્ભેણ નિષ્પાદ્યતે, યત્ર ચારમ્ભો ન તત્ર ધર્મઃ સંભવતિ, યથોક્તં શ્રીસ્થાનાઙ્ગસૂત્રે—

“ દો ઠાણાઈ અપરિયાણિત્તા આયા ણો કેવલિપન્નત્તં ધમ્મં લભેજ્જા સવણયાપ,

और सयममें श्रोत्र आदि इन्द्रियोके निग्रहको प्रधानता है । इस प्रकार इनमें कितनी ही प्रका-
रकी बड़ी २ विशेषताएँ देखकर सूत्रकारने पृथक् कथन किया है । तपके स्वरूपमें तो इतना
भेद है कि किसीको सन्देह हो ही नहीं सकता । अपने या दूसरेके द्वारा प्राणव्यपरोपणकी निवृत्ति
करनेको अहिंसा कहते हैं, और क्षुवा पिपासा शीत उष्ण आदिको सहन करना तप कहलाता है ।

प्रश्न—भगवान्ने अहिंसा सयम और तप इन तीनोंमें तपको ही अन्तमें क्यों कहा ?

उत्तर—करोड़ों भवोंमें सचित किये हुए अत्यन्त कठोर कर्म, तपके द्वारा शीघ्र
ही नष्ट हो जाते हैं । इसलिए दुस्तर संसाररूपी सागरको शीघ्र पार करनेको अभिलाषा
रखनेवाले, अहिंसा और सयमकी आराधनामें तत्पर रहनेवाले मोक्षाभिलाषियोंको अवश्य ही
उग्र तपस्या करनी चाहिये, इस उद्देश्यसे भगवान्ने तपको अन्तमें अलग कहा है ॥१॥”

ધર્મકા રક્ષણ શરીરસે હોતા છે અને શરીરકા નિર્વાહ આહારસે હોતા છે । આહાર
પૃથિવીઆદિક ષડ્જીવનિકાયકે આરમ્ભકે વિના નહીં થઈ શકે, અને ‘જ્યાં આરમ્ભ
છે ત્યાં ધર્મ નહીં’ યહ શ્રી સર્વજ્ઞ ભગવાને કહ્યું છે, ક્યોંકિ ઠાણાંગ (સ્થાનાઙ્ગ) સૂત્રકે

પ્રકારની મોટી મોટી વિશેષતાઓ ભેદને સૂત્રકારે પૃથક્ કથન કર્યું છે તપના સ્વરૂપમાં તો
એટલો ભેદ છે કે કોઈને સંદેહ થઈ શકે નહિ । પોતાની અથવા બીજાની દ્વારા પ્રાણના
વ્યપરોપણની નિવૃત્તિ કરવી તેને અહિંસા કહે છે, અને ભૂખ તરસ ઠાંડ તાપ આદિને
સહવા તે તપ કહેવાય છે

પ્રશ્ન—ભગવાને અહિંસા સંયમ અને તપ એ ત્રણેમાં તપને છેલ્લું કેમ કહ્યું ?

ઉત્તર—કરોડો ભવોમાં સચિત કરેલા અત્યંત કઠોર કર્મ તપની દ્વારા શીઘ્ર નષ્ટ થઈ
જાય છે. એથી દુસ્તર સંસારરૂપી સાગરને શીઘ્ર પાર કરવાની અભિલાષા ગળનારા, અહિંસા
અને સંયમની આરાધનામાં તત્પર રહેનારા, મોક્ષાભિલાષીઓએ અવશ્ય ઉગ્ર તપસ્યા કરવી
ભેદને એ ઉદ્દેશથી ભગવાને તપને છેલ્લું જુદું કહ્યું છે ॥ ૧ ॥

ધર્મનું રક્ષણ શરીરથી થાય છે અને શરીરનો નિર્વાહ આહારથી થાય છે. આહાર
પૃથિવી આદિ છ જીવનિકાયના આરમ્ભ વિના નથી થઈ શકે, અને જ્યાં આરમ્ભ છે ત્યાં
ધર્મ નથી’ એમ સર્વજ્ઞ ભગવાને કહ્યું છે, ઠાણાંગ (સ્થાનાંગ) સૂત્રના બીજા ઠાણામાં એ વાત

तंजहा-आरभे चैव परिग्रहे चैव" इति, अस्य हि-"द्वे वस्तुनी अपरिज्ञाय आत्मा न केव-
लिप्रज्ञप्तं धर्मं श्रोतुं लभेत, तद् यथा-आरम्भश्च परिग्रहश्च" अर्थादारम्भ-परिग्रहौ ज्ञ परि-
ज्ञया जन्ममरणादिदुःखहेतू विज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया तयोस्त्यागमकृत्वा जिनोक्तं धर्मं
श्रोतुमपि न शक्नोति, पालयितुं शक्नोतीति तु दूरापास्तमित्यर्थः, तस्मादुक्तरीत्या त्याग-
सम्पन्नस्यापि भ्रमणस्य शरीरसंरक्षणावश्यकता वर्तते तदर्थं चाहारो ग्रहीतव्यः, तत्र का
वृत्तिः समादर्त्तव्ये ? त्याह-'जहा दुमस्स' इत्यादि

१ ३ ४ २ ६ ५
मूलम्-जहा दुमस्स पुप्फेषु भमरो आवियइ रसं

९ ७ ८ १० १२ ११ १४ १३
ण य पुप्फं किलामेइ सो अ पीणेइ अप्पयं ॥२॥

छाया-यथा द्रुमस्य पुष्पेषु, भ्रमर आपिवति रसम् ।

न च पुष्पं क्लामयति, च प्रीणात्यात्मानम् ॥ २ ॥

सान्वयार्थः—जहा=जैसे, भमरो=भौरा, दुमस्स=वृक्ष के पुष्पेषु=फूलोंमें (रहेहुए)

दूसरे ठाणेसे यह बात स्पष्ट कही गई है । अर्थात् आरंभ और परिग्रह इन दोनोंके यथार्थ
स्वरूपको आत्मा ज्ञपरिज्ञासे सम्यक् प्रकार जानकर कि ये ही दोनो जन्म जरा मरणके दाता चतु-
र्गतिरूप अनन्त ससारमें परिभ्रमण करानेवाले, छेदन-भेदन-आधि-व्याधि-क्लेशरूप दुःखोंके
कारण तथा आत्माके विशुद्ध स्वरूपके घातक है, परन्तु जबतक प्रत्याख्यानपरिज्ञा द्वारा तीन करण
और तीन योगसे इनको त्याग न देवे तब तक जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित धर्मको सुनने योग्य
भी नहीं होता, पालनेकी तो बात ही कहां है ? तात्पर्य यह है कि आरम्भ और परिग्रहका त्याग
किये बिना धर्मका पूर्ण पालन नहीं हो सकता । इसलिए धर्मके आराधक मुनियोको निरवद्य आहा-
रकी विधि कहते हैं—'जहा दुमस्स' इत्यादि ।

जैसे भ्रमर, भ्रमण करके अनेक वृक्ष लता अदिकोंके पुष्पोंका थोडा २ रस मर्यादासे लेता
है, अधिक नहीं, यानी ऐसा कि किसीको भी पीडा न देते हुए वह अपनी आत्माको तृप्त करलेता है ।

स्पष्ट छे. अर्थात् आरंभ अने परिग्रह अे भेडना यथाथ स्वइपने आत्मा, ज्ञपरिज्ञाथी
सम्यक्-प्रकारे ज्ञे के अे भेड जन्म जरा मरणना दाता, चतुर्गतिइय अनंत ससारमां
परिभ्रमण करानेवाला, छेदन-भेदन-आधि-व्याधि-क्लेशइय दुःखोना कारण तथा आत्माना
विशुद्ध स्वरूपना घातक छे परंतु जयां सुधी प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारा त्रण करण अने त्रण
योगथी तेने त्यज न देवाय त्यां सुधी जिनेन्द्रभगवाने प्रइपेला धर्मने साधणवा योग्य पण
थवातुं नथी, पछी पाणवानी तो वात न कयां ? तात्पर्य अे छे के आरंभ अने परिग्रहने
त्याग कयां बिना धर्मनु पूर्ण पालन थछ शकतुं नथी तेथी धर्मना आराधक मुनियोने
निरवद्य आहारनी विधि कहे छे—'जहा दुमस्स' इत्यादि

जेम भ्रमर भ्रमण करीने अनेक वृक्ष लता आदिना पुष्पोंना थोडा थोडा रस मर्यादा
पूर्वक ले छे, वधु देतो नथी, अने अेवी रीते ले छे के थोडा पण पुष्पने जराअे पीडा
थाय नहि, जेम ते पोताना आत्माने तृप्त करी ले छे.

रसं=रसको आवियइ=मर्यादानुसार पीता है, य=और पुष्पं=फूलको 'ण कीलामेइ=पीडित नहीं करता है, अ=तोभी सो=वह भौरा अप्पयं=अपनेको पीणेइ=सन्तुष्ट कर लेता है। अर्थात्—जैसे भौरा अनेक वृक्षों के फूलोंसे थोड़ा थोड़ा रस उचित मात्रामें लेता है, ऐसा करने से वह सन्तुष्ट भी हो जाता है और फूलों को भी कष्ट नहीं देता ॥ २ ॥

टीका—यथा भ्रमरः—आम्यति=एकत्र नावतिष्ठत इति भ्रमरः—चतुरिन्द्रियजातिमान् भृङ्गपर्यायवच्यः प्राणिविशेषः । द्रुमस्य, जात्येकत्वादेकवचनम्, 'सर्वो गच्छति इत्यादिवत्, तेन द्रुमाणामित्यर्थः, द्रुमपदेन योगमर्यादया लतादीनामपि ग्रहणं बोद्धव्यम्, पुष्पेषु स्थितमित्यस्याध्याहारः, रसं—मकरन्दम् आपिबति—आ—मर्यादा—पूर्वकम् उचितादधिकं परित्यज्य पिबति—पानविषयं करोति, अल्पं गृह्णातीति भावः । चकारो हेत्वर्थे, तेन—च—अत एव पुष्पं न क्लामयति—न पीडयति—लेशतोऽपि न म्लानयतीति यावत्, च—क्लिञ्च सः—भ्रमरः आत्मानं—स्वं प्रीणाति—तोषयतीत्यर्थः ।

(३) पुष्पाणि तु द्रुमलतादीनामेव भवन्ति पुनर्द्रुमपदोपादानम्—यथा भ्रमरः सर्वेषामेव द्रुमलतादीनां पुष्पेषु रसमापिबति न चोच्चनीचादिभेदभावं रक्षति 'वृक्षोऽयमल्पपुष्पफलोऽयं तु बहुपुष्पफलसमृद्धः' इति, तथा साधुरप्युच्चनीचादिभेदभावं विहाय सर्वत्र समानभावो गृहस्थकुलानां सकाशाद् यथोचितां भिक्षामाददीतेति सूचनार्थम् ।

यद्वा 'द्रुमस्य' इत्यत्र सम्बन्धसामान्यपष्ठ्या मुसम्बन्धिष्विति, अर्थादयं दृष्टान्तो द्रुमसंसक्तपुष्परसग्राहिणो भ्रमरस्य बोद्धव्यो नेतरस्य, ततश्च यथा भ्रमरो द्रुमसम्बद्धेषु स्थितं

प्रश्न—वृक्ष और लताओंमें ही फूल होते हैं फिर द्रुम (वृक्ष) शब्द देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जैसे भौरा सभी वृक्षों और लताओं के फूलोंका रस पीता है, ऊँच-नीच भेद-भाव नहीं रखता कि—इस वृक्षमें कम फूल है और इसमें अधिक, इसी प्रकार साधुभी द्रव्य-भावसे ऊँच-नीच भेद-भाव न रखकर समानदृष्टिसे गृहस्थियोंके कुलोंमें भिक्षा-वृत्तिके लिए भ्रमण करते हैं । द्रुम आशयको प्रगट करनेके लिए गाथामें 'द्रुम' शब्द दिया गया है ।

अथवा यो समझिये कि गाथामें 'द्रुम' शब्दके साथ पट्टीविभक्तिका प्रयोग किया गया है, पट्टी विभक्तिका अर्थ है 'सम्बन्ध' ।

प्रश्न—वृक्ष अने लताओं पर ल फूल थाय छे, तो पणो द्रुम (वृक्ष) शब्द उद्विधानो

रसमापिवति तथा साधुरपि गृहस्थसम्बन्धिनमेव, अर्थात् तत्स्वत्वयुक्तमेवाऽऽहारं गृहीयान्न तु स्वामिविरहितमित्यर्थः ।

‘पुष्पेसु’ इति प्रसूनकुसुमादिपर्यायान्तरं परिहाय पुष्पपदोपादाने विकसितार्थोऽभिप्रेतस्ततश्च यथा भ्रमरो विकसितेष्वेव पुष्पेषु स्थितं रसं गृह्णाति तथा साधुरपि दातृत्वभावात् प्रसन्नेभ्यो निर्जुगुप्सेभ्यश्च कुलेभ्य आहारं गृह्णीयादित्यर्थः ।

‘भ्रमरो’ इत्यनेन इतस्ततो भ्रमणेन किञ्चित्किञ्चिदाहारग्रहणं सूचितम् । मर्यादार्य-केनोपसर्गेणाऽऽङ्ग ‘यावानाहारोऽपेक्षितस्तावानेव ग्रहीतव्यः’ इति सूचितम् ।

इसलिए यह दृष्टान्त ड्रुममें लगे हुए पुष्पके रसको ग्रहण करनेवाले भौ रेका ही समझना चाहिए, दूसरे भौ रेका नहीं । इससे यह अर्थ निकलता है कि जैसे भ्रमर, ड्रुम (वृक्ष) सम्बन्धी पुष्परसको ही ग्रहण करता है, अन्य रसको नहीं, इसीभाँति साधुभी गृहस्थसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थात् जिसपर गृहस्थका अधिकार है उसी आहारको ग्रहण करते हैं, जिस आहारका कोई गृहस्थ स्वामी नहीं होता उसे नहीं ग्रहण करते ।

‘पुष्प’ शब्दके प्रसून कुसुम आदि अनेक पर्याय शब्द होनेपर भी गाथामें प्रसून या कुसुम आदि अन्य शब्द न देकर ‘पुष्प’ शब्द ही दिया है, इससे सूत्रकारका आशय खिलेहुए फूलोसे है ऐसा स्पष्ट होता है, क्योंकि खिले हुए फूलका ही नाम पुष्प है इसलिए भ्रमर, जैसे खिले हुए फूलो पर ही ठहरता है और उन्हींका रसपान करता है उसी प्रकार साधुभी उन्हीं गृहस्थोसे आहार लेते हैं जिनका साधुओको आहार देनेका भाव हो, तथा जो कुल दृगुच्छित न हो ।

भ्रमरके भी पट्टपद द्विरेफ आदि अनेक नाम हैं, उनमेंसे दूसरा कोई शब्द न देकर ‘भ्रमर’ पद दिया है, ‘भ्रमर’ शब्दका अर्थ है भ्रमण करनेवाला—एक स्थानपर न ठहरने वाला, इस शब्द

पुष्पोना रसने अहंषु करनारा भ्रमरानुं न समञ्जसुं लेधये भीन्न भ्रमराञ्चोनुं नहि. अेटले अे अर्थ थाय छे के जेम भ्रमर, ड्रुम (वृक्ष) स'ण'धी पुष्परसने न अहंषु करे छे भीन्न रसने नहि, तेम साधु पणु गृहस्थथी स'ण'ध राणनारा अर्थात् जेनी उपर गृहस्थने अधिकार डाय ते आहारनेन अहंषु करे छे, जे आहारने डोध गृहस्थ स्वामी न'धी डोतो तेने साधु अहंषु करतो नथी.

पुष्प शब्दना प्रसून कुसुम आदि अनेक पर्याय शब्दो डोवा छतां गाथामां प्रसून के कुसुम आदि अन्य शब्द न आपतां पुष्प शब्द न आप्यो छे. अेमां सूत्रकारने आशय भीलेलां डूलेने छे अेम स्पष्ट थाय छे, कारण के भीलेला डूलनुं न नाम पुष्प छे. अेथी भ्रमर, जेम भीलेला डूले पर न जेसे छे अने तेनु रसपान करे छे, तेम साधु पणु अेवा गृहस्थो पासथी आहार ले छे के जेमने लाव साधुअेने आहार आपवानो डोय अने जे कुण दृगुच्छित न डोय.

भ्रमरनां पणु पट्टपद द्विरेक आदि अनेक नामो छे, तेमांथी भीन्ने डोध शब्द न आपतां ‘भ्रमर’ शब्द आप्यो छे, भ्रमर शब्दने अर्थ थाय छे भ्रमण करनार—अेक स्थान

ननु विपमोऽयं भ्रमरदृष्टान्तः, तथाहि—भ्रमरो द्रुमाज्ञामन्तरेणैव पुष्परसमादत्त भिक्षुः पुनर्याचित्वैव, किञ्च तदर्थं कदाचिदेकस्मिन्नपि दिने मुहुर्मुहुरेकं द्रुममुपैति तर्त्कि साधवोऽपि तथैव गृहस्थेभ्यो भिक्षां गृह्णीयुः ? किञ्च भ्रमरोऽसञ्जी, साधवस्तु सञ्जिनो जिनवचननिपुणाश्च, भ्रमरोऽव्रती साधवरतु व्रतिनः, भ्रमरोऽप्रत्याख्यानी साधवस्तु प्रत्याख्यानिनः, भ्रमरोऽसंयतः साधवस्तु संयताः इत्यादिविरुद्धधर्मशालित्वादिति चेन्न, सर्वत्र दृष्टान्तस्यैकदेशिरूपत्वात्, अनेकपुष्पतः पुष्पाऽवलान्तिपूर्वककिञ्चित्किञ्चिदुपादानमात्रे दृष्टान्ततात्पर्यमिति निष्कर्षः, स्फुटीकरिष्यति चैतत्सूत्रकारः स्वयम्—‘महुगारसमा’ इति पञ्चमगाथया ॥ २ ॥

एतदेव विशेषणस्फोरयितुं दार्ष्टान्तिकमाह—‘एमेए’ इत्यादि

१ ५ ४ ३ २ ७ ६
मूलम्—एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो ।

० १० ८ ११ १२
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया ॥३॥

प्रश्न—भ्रमरका उदाहरण विपम है, कारण यह कि उसका साधुओंके साथ ठीक मिलान नहीं होता । क्योंकि, भ्रमर वृक्षकी आज्ञा प्राप्त किए बिना ही पुष्परस पीता है, साधु याचना करके ही भिक्षा लेते हैं, भ्रमर एक दिनमें एकही वृक्षके पास बारम्बार जाता है और पुष्परसको पीता है साधु एक दिनमें बारम्बार एक गृहस्थके घरसे भिक्षा नहीं ले सकते, भ्रमर असञ्जी होता है, साधु सञ्जी होते हैं, भ्रमर अप्रत्याख्यानी होता है, साधु प्रत्याख्यानी होते हैं, भ्रमर असंयत होता है, साधु संयत होते हैं इत्यादि अनेक भिन्नताएँ पायी जाती हैं ।

उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त सब जगहमें एकदेशीय ही होता है, ‘पीड़ा न पहुंचाते हुए अनेक पुष्पोसे थोड़ा थोड़ा लेना’ इतने अंशोंमें यह दृष्टान्त समझना चाहिए इस विषयका स्पष्टीकरण सूत्रकार स्वयं ‘महुगारसमा’ इस पांचवीं गाथामें करेंगे ॥२॥

प्रश्न—भ्रमरनु उदाहरण विपम छे, कारण के ते साधुओंनी साथे भ्रमर भंघ जेसतुं नथी. भ्रमर वृक्षनी आज्ञा प्राप्त कर्या बिना न पुष्पने रस पीये छे. साधु याचना करीने न भिक्षा दे छे भ्रमर जेक दिवसमां जेक न वृक्षनी पास वारंवार जाय छे अने पुष्परसने पीये छे, साधु जेक दिवसमां वारंवार जेक गृहस्थना घरथी भिक्षा नथी लई शकता. भ्रमर असंजी होय छे, साधु संजी होय छे, भ्रमर अव्रती होय छे; साधु व्रती होय छे; भ्रमर अप्रत्याख्यानी होय छे, साधु प्रत्याख्यानी होय छे. भ्रमर असंयत होय छे, साधु संयत होय छे. इत्यादि अनेक भिन्नताओं रडेली छे.

उत्तर—जे शंका भ्रमर नथी, कारणके दृष्टान्त जधी नज्याजे जेकदेशीय न होय छे. पीडा उपलब्ध्या बिना अनेक पुष्पोमांथी थोडा थोडा रस लेवो’ जेटला अंशमां न आ दृष्टान्त समजवुं जेधजे. आ विषयनु स्पष्टीकरण सूत्रकार पोते न महुगारसमा जे पाचवीं गाथामां करी. (२)

जीवन्तीति वा समणाः । मुक्ताः=परिग्रहवन्धनरहिताः धर्मोपकरणं विहाय सूचीकुशाग्रमात्रेणापि परिग्रहेण रिक्ता इति यावत्, तत्र परिग्रहो बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्विविधः, तयोराद्यो धनधान्यादिरूपो नवविधः । द्वितीयस्तु—

“मिच्छत्तं वेयतिगं, हासाइयच्छकं च नायव्वं ।

कोहाईण चउक्कं, चउदस अविभतरा गंठी ॥” इत्युक्तरूपः ।

“साधवः=साध्नुवन्ति=निष्पादयन्ति स्वपरशिवसुखं ये ते, पुष्पेषु=व्याख्यातपूर्वेषु विहङ्गमा इव, विहायसा=गगनेन गच्छन्तीति तथोक्ताः, प्रकरणादत्र भ्रमरा इत्यर्थः त इव, भ्रमरतुल्या इति यावत् ।

विशाल, भवाटवीमें पयटन करते हुए भोगरूपी अग्निकी धधकती हुई ज्वालाओंसे उत्पन्न हुए सतापके समूहको शुद्ध भावनासे शान्त करदेते हैं । ‘समनस्’ शब्दका यह अर्थ है कि जिनका मन स्व और पर में समान है, अथवा जिनके मनोयोग सदा शुद्ध रहते हैं । ‘समण’ शब्दका अर्थ यह है कि—जो सम्यक् प्रकारसे प्रवचनका प्रतिपादन करते हैं अथवा चारों कपायोंको जीत लेते हैं ।

परिग्रहके बन्धनसे रहित अर्थात् धर्मके उपकरणोंके सिवाय सुई या कुशकी नोकके बराबर भी परिग्रह न रखनेवालोको मुक्त कहते हैं । परिग्रहके दो भेद हैं—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर । पहला बाह्य परिग्रह धन धान्य द्विपद चौपद आदि नौ प्रकारका है । दूसरा आभ्यन्तर परिग्रह—(१) मिथ्यात्व, (२) स्त्रीवेद, (३) पुरुषवेद, (४) नपुंसकवेद, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा, (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया और (१४) लोभके भेदसे चौदह प्रकारका है ।

स्व और परके मोक्ष सम्बन्धी सुखको साधनेवाले साधु कहलाते हैं । ऐसे साधु, दिव्य ज्ञानेवाले अग्नि आदिकी गपणामें प्रवृत्त होवे—आहार-पानी की विशुद्धिमें लीन रहे ।

वेद रूपी अग्निने शान्त करी नाणे छे. लयंकर विशाल लवाटवीमा पयटन करतां लोणरूपी अग्निनी ललकती ज्वालाओंमाथी उत्पन्न थतां सतापना समूहने शुद्ध भावनाथी शान्त करी नाणे छे. ‘समनस्’ शब्दने अर्थ ओवे छे के—जेनुं मन स्व अने परमां समान होय, अथवा जेना मनोयोग हमेश शुद्ध रहे ‘समणु’ शब्दने अर्थ ओवे थाय छे के—जे सम्यक् प्रकारे प्रवचननु प्रतिपादन करे छे अथवा चारे कपायने लती ले छे.

परिग्रहना बंधनथी रहित अर्थात् धर्मना उपकरणो सिवाय ओक सोय के तणुपला जेटवो पणु परिग्रह न राखनाराओने मुक्त कडे छे.

परिग्रहना जे लोह छे (१) बाह्य अने (२) आभ्यन्तर. पडेवो बाह्य परिग्रह धन-धान्यादि नव प्रकारने छे. जीजे आभ्यन्तर परिग्रह—(१) मिथ्यात्व, (२) स्त्रीवेद, (३) पुरुषवेद. (४) नपुंसकवेद, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक (९) लय, (१०) जुगुप्सा (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया, अने (१४) लोभ, जे लोहोओ करीने १४ प्रकारने छे.

एवमुक्तगाथाभ्यां दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनपुरस्सरं साधुभिः कथं भिक्षा ग्रहीत-
व्येत्युक्तं, तत्र भिक्षा द्विविधा-लौकिकी लोकोत्तरा च । तयोराद्या दीनवृत्ति-पौरु-
षघ्नी- भेदाद् द्विविधा, तत्र स्वोदरभरणासमर्थानां हीना-ऽनाथ-पङ्गुप्रभृतीनामाद्या,
पञ्चास्रवभाजामिन्द्रियपञ्चकविषयासक्तचित्तानां प्रमादपञ्चकप्रवृत्तानां गोगामिपशून्नां
सन्ततिसमुत्पादकानां निरुद्यमानां द्वितीया । लोकोत्तराऽपि द्विविधा-अप्रशस्ता प्रश-
स्ता च, तत्राऽवपन्न-पार्श्वस्थादीनामप्रशस्ता भिक्षा, प्रशस्ता पुनः पञ्चमहाव्रतधा-
रिणां पट्टकायरक्षकाणां समितिपञ्चक-गुप्तित्रयवतां मुनीनां प्रतिमाधारिश्रावकाणां
च, यत एदंभूताः श्रावका अपि भ्रमणकल्पा एव इयमेव 'सर्वसन्वत्सरी' त्युच्यते,

इन दो गाथाओमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक बतलाकर यह प्रगट किया है कि साधुओको
किस प्रकार भिक्षा लेनी चाहिए ? अतः भिक्षाके भेद बहते हैं—

भिक्षा दो प्रकारकी है—लौकिक भिक्षा और लोकोत्तर भिक्षा । लौकिक भिक्षाके भी दो भेद
है— (१) दीनवृत्ति, (२) पौरुषघ्नी । अपना पेट भरनेमें असमर्थ, दीन, हीन, अनाथ, लड़के,
लगाड़की भिक्षा दीनवृत्ति कहलाती है । पांच आस्रवोका सेवन करनेवाले, पांचो इन्द्रियोके विष-
योमें चित्तको सदा आसक्त रखनेवाले, पाँचो प्रकारके प्रमादोंमें प्रवृत्ति करनेवाले भोगरूपी
आमिषमें अभिलाषा रखनेवाले, बाल बच्चोको उत्पन्न करनेवाले निकम्मे मनुष्योकी दी जानेवाली
भिक्षा पौरुषघ्नी कहलाती है, क्योंकि इससे उनका पौरुष नष्ट हो जाता है ।

लोकोत्तरभिक्षा भी दो प्रकारकी है—(१) अप्रशस्त और (२) प्रशस्त । अवसन्न और
पार्श्वस्थ आदिको भिक्षा अप्रशस्त और पञ्चमहाव्रतधारी, पट्टकायरक्षक, पांचसमिति तीनगुप्तिका
पालन करनेवाले मुनिकी तथा प्रतिमा-(पडिमा)-धारी श्रावकोकी भिक्षा प्रशस्त कहलाती है ।

प्रतिमा-(पडिमा)-धारी श्रावकोकी भिक्षा प्रशस्त इस कारण है कि वे श्रावक होते हुए

आ जे गाथाओमा दृष्टान्त अने दार्ष्टान्तिक जतावीने ओम प्रकट करवासा आव्युं छे
हे साधुओओ केवा प्रकारनी भिक्षा लेवी जेठओ माटे भिक्षाना लेहो कडे छे—

भिक्षा जे प्रकारनी छे लौकिक भिक्षा अने लोकोत्तर भिक्षा लौकिक भिक्षाना पणु जे
लेहो छे (१) दीनवृत्ति, (२) पौरुषघ्नी 'पोतानु' पेट भरवामां असमर्थ दीन, हीन, अनाथ
लड़का, लगाड़की भिक्षा दीनवृत्ति कडेवाय छे पांच आस्रवोनु सेवन करनास, पांचो इन्द्रि-
योना विषयोमां चित्तने सदा आसक्त राखनारा पांचे प्रकारना प्रमादोमां प्रवृत्ति करनास,
भोगरूपी आमिषमां अभिलाषा राखनारा, बाल-बच्चाने उत्पन्न करनास, जेवा नकासा
मनुष्योने आपवामा आवती भिक्षा पौरुषघ्नी कडेवाय छे, कारणु के तेथी ओगनुं पौरुष
नष्ट थछे जय छे.

लोकोत्तर भिक्षा जे प्रकारनी छे (१) अप्रशस्त, (२) प्रशस्त अवसन्न अने पार्श्वस्थ
आदिनी भिक्षा अप्रशस्त अने पांच महाव्रतधारी, पट्टकायरक्षक, पांच समिति त्रणु गुप्तिनु
पालन करनास मुनिनी तथा प्रतिमा-(पडिमा)-धारी श्रावकोनी भिक्षा प्रशस्त कडेवाय छे.

अस्या अन्यान्यपि पइ नामानि यथा—(१) माधुकरी, (२) गोचरी, (३) गुडु-
लेपा, (४) अक्षाञ्जना, (५) गर्तापूरणी, (६) दाहोपशमनी चेति । तामु माधु-
करी—समनन्तरसूत्रोक्तस्वरूपा (१) । द्वितीया—यथा गौर्यत्र लघुतृणादिकं पश्यति
तत्राऽल्पं यत्र चाधिकं तत्र पूर्वापेक्षयाऽधिकं कवलं गृह्णाति न तु तृणादिकमु-
न्मूलयति तथा मुनिरपि गृहस्थगृहे यथाऽवसरं यथासामग्रि च यां भिक्षां गृह्णाति
सा । अथवा विविधवसनरत्नालङ्करणविभूषिता मुन्दरी युवतिर्गवे घासादिकं समर्प-
यति तदा तदीयरूपत्रावण्यादिकमपश्यन्ती गौर्दीयमानं घासादिकमुपादत्ते, तद्वद् भिक्षु-

भी माधुसरीखी उत्कृष्ट क्रियाका पालन करते हैं । इस भिक्षाको 'सर्वमम्पत्करी' भी कहते हैं,
क्योंकि इससे आत्माकी समस्त सम्पत्ति ज्ञान दर्शन सुख आदिकी प्राप्ति होती है । इस भिक्षाके
छह नाम और भी कहते हैं—

(१) माधुकरी (भ्रामरी), (२) गोचरी, (३), गुडुलेपा, (४) अक्षाञ्जना, (५) गर्तापू-
रणी और (६) दाहोपशमनी ।

(१) माधुकरी (भ्रामरी) का स्वरूप इससे पहलेकी गाथामें कहा जाचुका है ।

(२) गोचरी—जैसे गाय जहा कम घास देखती है वहा कम कवल ग्रहण करती है, जहा
अधिक देखती है वहां पहलेसे कुछ अधिक ग्रहण करती है, घासको जडसे नहीं उखाडती, उसी
प्रकार भिक्षु एक स्थानमे ही पूर्ण अन्न पान आदि न ग्रहण करे किन्तु गृहस्थको फिर आरम्भ
न करना पड़े उस प्रकार विचार कर अन्नादि ले उसे गोचरी कहते ह । अथवा जैसे विविध
वहुमूल्य वस्त्र आभूषणोंसे आभूषित मुन्दरी युवती स्त्री गायको घास टालने आती है तो गाय
उसकी मुन्दरता नहीं देखती वरन् घासपर ही दृष्टि रग्यती है, उसी प्रकार भिक्षु आहारादि देती

प्रतिभा—(पडिमा) धारी श्रावकेनी भिक्षा प्रशस्त ओ शान्तुणी छे के ओ श्रावकेा ऐवा
छनां माधुना लेवी उत्कृष्ट क्रियानु पालन करे छे आ भिक्षाने 'सर्वसम्पत्करी' पत्तु श्रेष्ठ
छे, शान्तु के नेनी नान्यगानी शमस्त सम्पत्ति ज्ञान दर्शन सुख आदिनी प्राप्ति साग छे
ने, भिक्षा आदि छ नाम पत्तु श्रेष्ठ छे. (१) माधुकरी (भ्रामरी), (२) गोचरी, (३)
गुडुलेपा (४) अक्षाञ्जना, (५) गर्तापूरणी, वरने (६) दाहोपशमनी

(१) माधुकरी (भ्रामरी)न समथ पहलेकी गाथामा श्रुत छे

णाऽपि दातृवसनसुवेपरूपलावण्यादेः सानुरागावलोकनं विहाय केवलमशनापानदिशुद्धौ दृष्टिः स्थापनीयेति गोचरीभिक्षासमाचारः (२) ।

तृतीया गडुलेपा यथा गडूपरि समधिकलेपप्रदानेन प्रसृतलेपतो नीरुजोऽपि गडु-सन्नहितदेशो विहन्यते, तदेकदेशमात्रे यात्किञ्चिल्लेपप्रदाने गडुप्रदेशसाकल्येन लेपा-भावाद्रोगो नोपशाम्यति, तद्वत्साधुरपि, निर्दोषपरिमिताहारेण क्षुधां निवर्तयति तद्रूपा (३)।

चतुर्थ चास्या अक्षाञ्जनेति नाम—यथा शकटेन दूरं गन्तुकामस्तत्र यदि तैलदानं न कुर्यात्, तदा चलितुमेवाक्षमं तन्न पारयति शकटारोहिणं प्रापयितुमभीष्टस्थानम् तत्राधिकतरतैलनिक्षेपस्तु न केवलं निष्फलः प्रत्युत हानिं जनयतीति, तद्वन्निरवधा-शनपानप्रदानं विना मोक्षप्रापकसंयमपथे चलितुमक्षमं शरीरमपि नालं मुनीन् मोक्षं

हुई स्त्रीके सौन्दर्य, सुवेप, आभूषण आदि का निरीक्षण न करे किन्तु अशनादिकी शुद्धि पर ही दृष्टि रखे उसे गोचरी कहते हैं ।

(३) गडुलेपा—जैसे फोड़ेके ऊपर आवश्यकतासे अधिक छेप करनेसे लेप इधर-उधर फैल जाता है और आस-पासका नीरोग प्रदेश भी खराब हो जाता है, और यदि फोड़े पर बिलकुल ही लेप न किया जाय तो भी रोग शान्त नहीं होता, वैसेही साधु यदि प्रमाणसे अधिक आहार करे तो प्रमाद आदि दोष उत्पन्न होनेसे स्वाध्याय आदि क्रियाओंका पूर्ण पालन नहीं कर सकता, और बिलकुल ही थोडा आहार करे तो क्षुधावेदनीयकी शान्ति न होनेसे वैयावृत्य आदि साधुकी क्रियाएँ नहीं हो सकतीं, इसलिए निर्दोष और परिमित आहार लेना 'गडुलेपा' भिक्षा कहलाती है ।

(४) अक्षाञ्जना—जैसे कोई गाडीद्वारा इच्छित स्थान पर जाना चाहता है परन्तु गाडीको बिलकुल तेल नहीं देवे तो वह गाडी चल नहीं सकती और यदि अधिक तेल दे दिया जाय तो वह वृथा ही नहीं वरन् हानिकारक भी है, इसी प्रकार मोक्षपुरी तक पहुचनेके लिए शरीर-रूप

पर न दृष्टि राखे छे, ते प्रमाणे भिक्षु आहारादि आपती स्त्रीनु सौंदर्य, सुवेश, आभूषण आदिनुं निरीक्षण न करे, किंतु अशनादिनी शुद्धि पर न दृष्टि राखे तेने गोचरी कडे छे.

(३) गडुलेपा—जेम गुमडा उपर नररी करता वधारे लेप करवाथी लेप आम-तेम इलाठ जय छे अने आसपासने नीरोग प्रदेश पणु थराथ थठ जय छे. अने जे गुमडा उपर बिलकुल लेप न करवाभां आवे तो रोग शान्त थाय नहि, जेपी न रीते साधु जे प्रमाणुथी अधिक आहार करे तो प्रमाद आदि दोष उत्पन्न थवाथी स्वाध्याय आदि क्रिया-ओनुं पूर्ण पालन करी शकते नथी, अने बिलकुल थोडा आहार करे तो क्षुधावेदनीयनी शान्ति नहि थवाथी वैयावृत्य आदि साधुनी क्रियाओ थठ शकती नथी तेथी निर्दोष अने परिमित आहार लेवे जे 'गडुलेपा' भिक्षा कडेवाय छे.

(४) जेम केष भाणुस गाडामा जेसीने इच्छित स्थान पर नवा भग्छे छे. परन्तु गाडाने बिलकुल तेल न उले तो जे गाडुं चाली शकतुं नथी अने जे वधारे पडतुं तेल उले तो ते वृथा जय छे. जेटहु न नहि पणु हानिकारक पणु नीवडे छे. जे रीते भोक्ष-

महे-प्राप्त्यामः स्वीकृत्याम इति यावत्, यथा न ज्ञोऽपि त्रस-स्थायग्रणि-
मात्रमित्यर्थः उपहन्यते-उपहतः (उपमर्दितः) भवेत् । एवंविधवृत्तिग्रहणे सदृष्टान्त
हेतुमुपन्यस्यति 'अन्ना०' इति, अत्र 'यत्' इत्यध्याहार्यम्, तथा च यतः यथा-
कृतेषु=गृहस्थैर्गतमार्थमात्मीयार्थं च सम्पादितेष्व्वाहारादिषु गीयन्ते=गन्तु इति संयमयात्रा
निर्वहन्तीति यावत् 'साधवः' इति शेषः । अत्र गतमपि भ्रमरदृष्टान्तं विस्पष्टं प्रतिपत्तये पुनत्-
पन्यस्यति 'पुष्पेभ्यु' यथा पुष्पेषु भ्रमराः ते हि पुष्पेभ्यो रममाहरन्तोऽपि तानि (पुष्पाणि)
लेगतोऽपि न पीडयन्ति । अत्र 'लभामो' इत्यस्य 'लभ्याम' इति व्याख्यानं नु सर्वथा
व्याकरणविरुद्धमेव 'लभ' धातोरनुदात्तेभ्यु पठितत्वेन नित्यात्मनेपदित्वात्, न च चक्षिडो
डित्करणज्ञापितया 'अनुदात्तेच्यलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्' इतिपरिभाषया परस्मैपदमपि
युक्तमेवेति वाच्यम्, तस्या अगतिक्रगति हतयेष्टप्रयोगविषयत्वात्, वस्तुतस्तु भाष्यानुक्त-
ज्ञापितार्थस्य साधुताया नियामकत्वे प्रमाणाभावादेवमादिकाः परिभाषाश्चिन्त्या एवेति
स्पष्ट 'परिभाषेन्दुगेखरे' इत्यतिरोहितं ध्याकरणानाम् । अत्र गाथाया 'लभामो' इति,
'उवहम्पड' इति भविष्यद्वर्त्तमानो कालत्रयविवक्षितौ, तेन कालत्रयग्रहणं बोध्यम् ॥४॥
एवं मधुकरदृष्टान्तेन यत्फलितं तत्प्रतिपादयन्नुपसंहरति-'महुगारसमा०' इत्यादि।

सूत्रम्—सहुगारसमा बुद्धा जे भवन्ति अणिस्सिया

नाणापिण्डरया दन्ता तण बुच्चन्ति साहुणो ॥त्तिवैपि ॥५॥

छाया—मधुका (क) रसमा बुद्धा यतो भवन्त्यनिश्रिताः ।

नानापिण्डरता दान्ताः, तेन उच्यन्ते साधवः ॥५॥

सान्वयार्थः—(क्योंकि) जे=जो महुगारसमा=भौरैकीभाति बुद्धा=विवेकी अणिस्सि-
या=मोहवन्धनरहित नाणापिण्डरया=अनेक धरोंका निरवद्य पिण्ड लेकर संयममें लीन

प्रकार) त्रस या स्थावर जीवको किसीभी प्रकारकी बाँधा न पहुँचे, क्योंकि गृहस्थोद्वारा अपने
लिए या अपने कुटुम्बके लिये बनाये हुए आहारको लेकर ही साधु अपनी संयमयात्राका निर्वाह
कर लेते हैं । इसी बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिए कहे हुए भ्रमर दृष्टान्तको फिर दुहराते हैं
कि—जैसे भ्रमर पुष्पोसे रस ग्रहण करकेभी किसी पुष्पको पीडा नहीं पहुँचाता ॥गा० ४॥

मधुकरका उदाहरण देनेसे जो निष्कर्ष निकला उसे सूत्रकार कहते हैं—'महुगारसमा' इत्यादि ।

प्रशस्त शिक्षा ग्रहण करीशु के जेम (जे प्रकारे) त्रस या स्थावर जिवने केध यशु प्रकारना
आधा न पहुँचे कारणु के गृहस्थोअये पोताने माटे या पोताना कुटुम्बने माटे बनावेदो
आहार लधने ज साधु पोतानी संयम-यात्रानो निर्वाह करी ल छे जे वातने वधु स्पष्ट
करवाने माटे भ्रमरना दृष्टातने करीशु जेदडावे छे के-जेम भ्रमर पुष्पोसाथी रस ग्रहण
करीने यशु केध पुष्पने पीडा उपलवती नथी (गा० ४)

मधुकरना उदाहरणसाथी जे निष्कर्ष नीकल्यो तेने सूत्रकार कहे छे—महुगारसमा, इत्यादि.

दंता=दारिद्र्यविजयी भवन्ति=होते हैं, तेण=इसीसे वे साधुगो=साधु बुचन्ति=कहलाते हैं। तिवेमि=इस प्रकार श्रीगुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं—“जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीरसे मैंने जैसा सुना है वैसा ही तेरे लिए कहता हूँ ॥५॥

॥ इति प्रथमाध्ययनस्य सान्त्वयार्थः ॥१॥

टीका - अत्र गाथायां 'जे' इत्यस्यादौ 'यतः' 'इति' 'तेण' इत्यस्यान्ते 'ते' इति च पदद्वयमध्याहार्यम्, तथा च—यतः ये मधुका (क) रसमाः=भृङ्गवदनियत वृत्तयः; बुद्धाः=इदं कर्तव्यमिदमकर्तव्यमित्येवं विवेकवन्तः, अनिश्रिताः निशायरहिताः—निवासकुलादिषु प्रणयनिगडबन्धशून्या इत्यर्थः, नानापिण्डरताः=नाना अभिग्रहविशेषेण प्रतिगृहाल्पपाल्प-ग्रहविशेषेण युक्ततया अन्तप्रान्तादिभेदेन च विविधप्रकारा ये पिण्डाः=आहाराद्यास्तेषु रताः=संसक्ताः, दान्ताः=इन्द्रियनोइन्द्रियविकारभावाऽनुपहतचित्ताः, भवन्ति, तेन=उक्त-प्रकारेण निरवद्यवृत्तिसमाराधनेन हेतुना ते योगत्रये-न्द्रियपञ्चक-नवविधविशुद्धब्रह्मचर्या-ऽन्तिाः साधयन्तीति साधवः व्युच्यन्ते=कथ्यन्ते इति गाथार्थः, इत्यन्ये वस्तु-तस्तु अत्र 'यतः' इत्यस्य, 'ते' इत्यस्य चाध्याहारणं 'जे' इत्यस्य प्रथमान्तत्वेन व्याख्यानं च न युक्तं, तथा सति 'ये'—'ते'—शब्दयोर्वैयर्थ्यापत्तेः, तस्मात् 'जे' इत्यव्ययपदं 'यतः' इत्यस्यार्थं, अव्ययानामनेकार्थत्वात्, ततश्चायमभिसम्बन्धः—यतः मधुकारसमाः बुद्धाः अनिश्रिताः नानापिण्डरताः दान्ता भवन्ति तेन साधवः उच्यन्त इति, साधुविशेषणानां मधुकारसमादीनां व्याख्यातुं यथापूर्वमेवेति वयमिति विभावयन्तु विद्वांसः ।

जो भौं रेके समान अनियत (कुलकी नेसराय रहित) भिक्षा लेते है, कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकी है, निवासस्थान तथा कुटुम्ब परिवार आदि मे ममताके बन्धनसे बन्धे हुए नहीं है, भाँति २ के अभिग्रह धारण करके अनेक घरोंसे लिये जाने वाले अन्त-प्रान्त आदि आहारमें अनुरक्त रहते है, इन्द्रियो और मनके विकारको दमन करते है वे निर्दोष भिक्षा लेकर तीन योग, पाँच इन्द्रियाँ, नव प्रकारके विशुद्ध ब्रह्मचर्य और अहिंसाकी साधना करनेवाले साधु कहलाते है ।

भौं रेके समान असज्जी भी होते हैं अतः बुद्ध (कर्तव्याकर्तव्य विवेकसे युक्त) पद दिया है । प्रतिमा (पडिमा) धारी श्रावक (सयतासयत) भी भौंरेके समान और बुद्ध होते है इसलिए

जे भ्रमरानी पेठे अनियत (कुलनी नेसराय रहित) भिक्षा ले छे, कर्तव्य अने अकर्तव्यको विवेकी छे, निवासस्थान तथा कुटुम्ब परिवार आदिमा भ्रमताना अधनथी अद्ध थयो नथी, तरेड-तरेडना अलिग्रहो धारणु करीने अनेक घरोंथी लीधेला अत-प्रान्त आदि आहारमा अनुरक्त रहे छे, इन्द्रियो अने मनना विदारानुं दमन करे छे, ते निर्दोष भिक्षा लधने त्रणु योग, पाय इन्द्रियो, नव प्रकारनु विशुद्ध ब्रह्मचर्य अने अहिंसाकी साधना करेनारो साधु कहेवाय छे

भ्रमरानी पेठे असज्जी पणु डोय छे, तेथी बुद्ध (कर्तव्या-कर्तव्य-विवेकथी युक्त) पद आपेछुं छे. प्रतिमा (पडिमा) धारी श्रावक (सयतासयत) पणु भ्रमरानी समान अने

મધુકરમયા અંદિનોડપિ રતન્નિ ખતન્નતયાન્દેત્યમાહ 'વુદ્ધા' ઇતિ, મધુકરસમા
 વુદ્ધાશ્ર મતિમાયાગ્નિગુણયઃ સંવતાડમગતા અપિ મવન્નિ તદ્વ્યાવૃત્તયે 'અણિરિસયા' ઇતિ ।
 મધુકરમાર્યં ચ સાધૂના ન માર્વદંજિતઃ િન્નુ ચન્દ્રગુમ્યા-દિવદંકદેશિકમેવેત્યતો યદંગે
 મધુકરમાદશ્યાસાવસ્તદ્વોખનાર્થયાન - 'નાણાપિડરયા દંતા' ઇતિ. ધ્રમરા ઠિ મુગન્નિયમ્ય એવ
 હુમુમેમ્યઃ સ્વાપ્રમેન ચ રગમાદત્તે ન ચ દાન્તા મવન્નિ । 'તિવેમિ' ઇતિ=ઉક્તરૂપં તત્ત્વ યયા
 તોર્થદ્વરત્વ મવન્તો મદાનીન્નમ્ય સ્વાબાન્તયા શ્રુતં ન તદ્વુદ્ધયા કન્નિપતં યતઃ સ્વવુદ્ધયા

'અણિરિસયા' પદ દિવા છે.

જેસા કિ પહેલે કદા જા વુદ્ધા હે મૌ રેકા ઉદાહરણ ણકદેગીય હે, કોઈ કહતા હે કિ
 'હસકા મુદ્ધ. ચન્દ્રમાકે મમાન' તે સુવમે ચન્દ્રમાક મવ ગુણ નહીં પાયે જાતે, અર્થાત્ કુદ્ધ
 ગુણ મદગ હોતે હે કુદ્ધ વિમદગ તેને ન, મૌરેકા ઉદાહરણ મૌ કુદ્ધ અંગોમં મિલતા કુદ્ધ અશોમં
 નહીં મિલતા હે । જિસ અગમે નહીં મિલતા હે; વહ સૂત્રમગને 'નાણાપિડરયા' ઔર 'દતા' વિગેષણો
 સે પ્રગટ કિયા હે । ંમર, કેવલ કુમુમાકે સ્વાદિષ્ટ રમકો હી પીતા હે ઇસલિએ યહ દાન્ત (ઇન્દ્રિ-
 યોકો જીતનેવાલા) નહીં હે, ઇસ દષ્ટાન્તમે ઢાપ્ટાન્તિકર્કા વિમદગતા હે ।

સુધર્મસ્વામી જમ્વૂસ્વામીસે કહતે હે—હે જમ્વૂ ! ઉપર તો પ્રથમ અન્યયનકા ભાવ કહા
 ગયા હે વહ અન્નિમ તીર્થ કર મગવાન્ શ્રીમહાગીરસે જેમા મેને મુના વૈવાહી કહા હે, અપની વુદ્ધિસે
 કલ્પના કિયા હુઆ નહીં કહા હે, અપની વુદ્ધિમે કલ્પના કરકે કહનેસે શ્રુતજાનકી આશાતના હોતી હે,

બુદ્ધ હોય છે, તેથી અણિરિસયા પદ આપ્યું છે

પહેલા કહેવામા આવ્યું છે કે બ્રમરાતુ ઉદાહરણ એક-દેશીય છે. કોઈ કહે છે કે-
 'એતુ' મુખ ચ દ્રમા લેવું છે.' પણ મુખમા ચ દ્રમાના બધા ગુણો હોતા નથી અર્થાત્
 કોઈ ગુણ સમાન હોય છે, કોઈ અસમાન હોય છે બ્રમરાતુ ઉદાહરણ પણ કોઈ અશોમા
 મળતું છે, કોઈ અશોમા અણુમળતું છે જે અશમા અણુમળતું છે તે સૂકારે નાણાપિડરયા
 અને દંતા વિશેષણથી પ્રકટ થયું છે બ્રમર માત્ર કુમુમેના સ્વાદિષ્ટ રસને જ પીએ છે,
 તેથી એ દાન્ત (ઇન્દ્રિયોને જીતનાર) નથી આ દષ્ટાંતથી ઢાપ્ટાન્તિકર્કા અસમાનતા છે

સુધર્મા-સ્વામી જમ્વૂ-સ્વામીને કહે છે-હે જમ્વૂ ! ઉપર જે પ્રથમ અધ્યયનનો ભાવ
 કહ્યો છે તે અતિમ તીર્થ કર વાવાન મહાવીર પાસેથી જેવો મે સાલજ્યો તેવો જ કહ્યો
 છે. મે પોતાની બુદ્ધિનો કલ્પના કરેલો નથી કહ્યો પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પના કરી કહેવાથી

कथने श्रुतज्ञानस्याविनयो भवति, किञ्च छद्मस्थानां दृष्टयोऽप्यपूर्णा भवन्ति, तस्माद् यथाभगवत्प्रतिपादितमेव त्वां ब्रवीमि=उपदिशामीत्यर्थः । इहार्थे चेयं सङ्ग्रहगाथा—

“सुवर्णाणस्तस्य अविणो परिहरणिज्जो मुहाहिलासीहिं ।
छउमत्थाणं दिट्ठी, पुण्णा णत्थित्ति सूइयं इइणा ॥१॥” इति,
इति पञ्चमगाथार्थः ॥५॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्गुरु-प्रसिद्धावाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित-
कलापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध गद्य-पद्य-नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानसर्दक-
श्री शाहूछत्रपति-कोल्हापुरराज-प्रदत्त-जैनशास्त्रचार्य-पदभूषित-
कोल्हापुरराजगुरु-वालव्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीदशवैकालिकसूत्र-
स्याऽऽचारमणिमञ्जुपाख्यायां व्याख्यायां प्रथम
द्रुमपुष्पकाख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥१॥

—*—

होती है, और छद्मस्थोका ज्ञान भी अधूरा होता है, इसलिए भगवान् द्वारा प्रतिपादित प्रवचन ही तुझे सुनाया है । कहाभी है—

“सुखके अभिलाषी पुरुषोंको श्रुतज्ञानकी आशातनाका त्याग करना चाहिये । क्योंकि छद्मस्थोकी दृष्टि पूर्ण नहीं होती । इसी अर्थको ‘त्तिवेमि’ शब्दसे प्रकट किया है” ॥५॥

इसप्रकार दशवैकालिक सूत्रके ‘द्रुमपुष्पक’
नामक पहले अध्ययनकी आचारमणिमञ्जूषा
नामक व्याख्याका हिन्दी-भाषानुवाद
समाप्त हुआ ॥ १ ॥

—*—

श्रुतज्ञानकी आशातना थाय छे अने छद्मस्थोनु जान पण अधूर होय छे, तेथो लगवान द्वारा प्रतिपादित प्रवचन जे मे तने सलणाव्युं छे कहु पणु छे के—

“सुखना अभिलाषी पुरुषोअे श्रुतज्ञानकी आशातनानो त्याग करवो जेधअे, कारणे के छद्मस्थोनी दृष्टि पूणुं होती नथी आ अर्थने त्तिवेमि शब्दथी प्रकट कर्यो छे” (५)

इति ‘द्रुमपुष्पक’ नामना पहिले अध्ययनने
गुजराती-भाषानुवाद समाप्त (१).

॥ દ્વિતીયાધ્યયનમ્ ॥

ગતં પ્રથમમધ્યયનમય દ્વિતીયમારભ્યતે, તત્રાયમભિમ્મ્યન્ધઃ—પૂર્વાધ્યયને 'ધમ્મો મંગલં' इत्यादिना धर्मः प्रजंसितो यः केवलं जिनशासनं पवोपलभ्यते, ततश्चोक्तरूपधर्म-परिपालनार्थस्वीकृतजिनशासनां नवदीक्षितः कदाचिदैर्यागावाच्चाग्निच्युतो न भवेद्विन्या-शयेनास्मिन्नध्ययने 'साधुना धैर्यं धार्यं' मिति वक्तव्यं, धैर्यधारणं च कामनिवारणमन्तरेण न संभवतीति प्रथमं तदेवाह- 'कहं नु' इत्यादि ।

૧૧ ૧ ૧૨ ૧૦ ૧ ૨ ૩ ૪
મૂલમ્—કહં નુ કુજ્જા સામણં. જો કામે ન નિવારણં ।

૫ ૬ ૭ ૮
પણ પણ વિસીઅંતો, સંકળપસ્સ વમંગઓ ॥ ૧ ॥

છાયા—કથં નુ કુર્યાચ્છામણં, યઃ કામાન્ન નિવારયેત્ ।

પદે પદે વિપીદન્ સંકલ્પસ્ય વગં ગતઃ ॥ ૧ ॥

સાન્વયાર્થઃ—જો=જો કામે=વિપયોંકો ન નિવારણ=નહીં છોડતા છે, વહં સકલ્પ-સ્સ=ઇચ્છાઓંકે વિસંગઓ=વગમેં હોકર પણ પણ=પદ-પદ પર વિસીઅંતો=સ્તેદિત હોતા હુઆ નુ=આશ્ચર્ય છે કે વહ સામણં=શ્રમણધર્મ કો કહં=કેસે કુજ્જા=કર-પાલ સકતા છે અર્થાત્—જો ઇન્દ્રિયોંકે વિપયોંકા પરિત્યાગનહીં કરતા ઉસકી ઇચ્છાઈ સદૈવ વદતી રહતી હેં, ઉસે કમી સન્તોપ નહીં હોતા, સન્તોપ ન હોનેસે નિરન્તર માનસિક કષ્ટ હોતા છે, વિપયોંકી ઇચ્છાસે ઉત્પન્ન હુઆ માનસિક કષ્ટ હોતે રહનેસે ચારિત્રધર્મકી આરાધના નહીં હો સકતી, અતઃ સર્વ-પ્રથમ ઇન્દ્રિયોંકો વગમેં કરના ચાહિયે ॥ ૧ ॥

दूसरा अध्ययन ।

પહેલે અધ્યયનમેં ધર્મકા સ્વરૂપ ઓર માહાત્મ્ય કહા છે વહ કેવલ જૈનશાસનમેં હી પાયા જાતા છે । ઇસલિઈ પહેલે કહે હુઈ ધર્મકા પાલન કરનેકે લિઈ જિસને .જૈનશાસન અર્થાત્ ચારિત્ર-વર્મ સ્વીકાર કર લિયા હો પરન્તુ નવીન દોક્ષિત હોનેસે કમી વૈર્ય છૂટ જાનેકે કારણ વહ કદાચિત્ ચારિત્રસે સ્સ્થલિત ન હો જાય, ઇસ અભિપ્રાયસે ઇસ અધ્યયનમે 'સાધુકો ધૈર્ય ધારણ કરના ચાહિઈ' યહ કહા જાયગા । લેકિન ધૈર્ય તવ હી રહ સકતા છે જવ કિ કામકે વિકાર કો જીત લિયા જાય । અતઃજી શાસ્ત્રકાર સત્રસે પહેલે ઇસી વિષયકા પ્રતિપાદન કરતે છે—'કહં નુ—' इत्यादि ।

अध्ययनं पीठु

પહેલા અધ્યયનમા ધર્મનુ સ્વરૂપ અને મહાત્મ્ય કહ્યુ છે તે કેવળ જૈન શાસનમા મળી આવે છે તેથી, પહેલા કહેલા ધર્મનુ પાલન કરવાને માટે જેણે જૈન શાસન અર્થાત્ ચારિત્ર ધર્મ સ્વીકાર્યો હોય પરંતુ નવ-દીક્ષિત હોવાથી કોઈવાર ધૈર્ય છૂટી જવાથી એ કદાચ ચારિત્રથી સ્થલિત ન થઈ જાય, તેટલા માટે આ અધ્યયનમા "સાધુએ ધૈર્ય ધારણ કરવું જોઈએ" એ કહેવામાં આવશે પરંતુ ધૈર્ય ત્યારે જ રહી શકે છે કે જ્યારે કામવિકારને જીતી લેવામાં આવે. તેથી શાસ્ત્રકાર સૌથી પહેલા એ વિષયનુ પ્રતિપાદન કરે છે—'કહં નુ' इत्यादि.

टीका-यः, काम्यन्ते=अभिलष्यन्ते प्राणिभिरिति कामाः=शब्दादयस्तान् न निवारयेत्=नापनयेत्, अत्र 'सः' इत्यध्याहार्यं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धादिति केचित्, वस्तुतस्तु नात्र तच्छब्दाध्याहारावश्यकता, न चाऽनध्याहारे सान्नाङ्क्षत्नदोष इत्याक्षेप्यम्, उत्तरवाक्यगतत्वेन यच्छब्दोपादाने तस्य दोषस्याऽनवकाशात् 'आत्मा जानाति यत्पाप' मित्यादिवत् । संकल्पस्य=अप्राप्तविषयप्राप्तिरूपस्याऽप्रज्ञस्तस्याऽध्यवसायस्य, वजम्=अदीनतां गतस्तदधीनवर्ती भूत्वेति भावः, पदे पदे=प्रतिस्थानं विपीदन् खेदमनुभवन् कथं=केन प्रकारेण 'नु' क्षेपे वितर्के पृच्छायां वा, श्राम्यति=तपरयतीति श्रमणः=सचित्तचित्त-मनोज्ञा-मनोज्ञद्रव्याधिकरणकसाम्यभाव-हारायादिपटकविप्रमुक्ति-पंचसमितिसमितत्व-गुप्तित्रयगुप्तत्व--गुप्तब्रह्मचर्यत्वयोगत्रयसाधकत्व--सदोर्गकमुखवस्त्रिकोपशोभितमुखत्व-यतनाधर्मधरत्व--भोगामिपरित्तत्व-चरणसप्तति--चरणसप्ततिपारगतत्व- निर्दोषभिक्षणशीलत्व-तीर्थङ्करातारावकत्व-आत्मज्ञत्व-निष्परिग्रहत्व-यात्रामात्राज्ञत्व-कर्मवदात्मगोप-

जीव, जिन इन्द्रियोके विषयोकी कामना (अभिलाषा) करता है उनको 'काम' कहते हैं । जो साधु, उन कामोका त्याग नहीं करते, वे अप्राप्त विषयकी प्राप्तिरूप अशुभ अध्यवसायके अधीन होकर पद-पद पर खेदका अनुभव करते हुए क्या कभी श्रमणताको प्राप्त कर सकते हैं ? कदापि नहीं ।

इष्ट, अनिष्ट, सचित्त, अचित्त आदि समस्त वस्तुओं पर समताभाव रखना, हास्य आदि छह नोकपायका त्याग करना, पांच समिति और तीन गुप्तिका पालन करना, गुप्त ब्रह्मचारी होना, तीन योगोको साधना, श्रुतज्ञानरूपी जलसे अन्तःकरणको शुद्ध रखना, सम्यक्त्वसे युक्त रहना, समयरूपी कवच (वल्गर) से सदा सन्नद्ध रहना, डोरासहित मुखवस्त्रिकाको मुखपर बांधे हुए रहना, यतना धर्म को धारण करना भोगरूपी आमिष से विरक्त रहना करण-सत्तरी और चरणसत्तरीके पारगामी होना, निर्दोषभिक्षासे ही समययात्राका निर्वाह करना, तीर्थङ्कर

एव जे इन्द्रियोना विषयोनी कामना (अभिलाषा) करे छे तेने 'काम' कहे छे जे साधु, जे कामोको त्याग नहीं करता, तेजो अप्राप्त विषयनी प्राप्तिरूप अशुभ अध्यवसायने अधीन थधने उगले उगले जेहने अनुभव करता शुं कदापि श्रमणताने प्राप्त करी शके छे ? कदापि नहि

इष्ट, अनिष्ट सचित्त, अचित्त आदि जधी वस्तुओ पर समता-भाव राखवो, हास्य आदि छह नोकपायको त्याग करवो पांच समिति अने त्रय गुप्तिनुं पालन करवुं गुप्त ब्रह्मचारी थवुं, त्रय योगोने साधवा, श्रुतज्ञानरूपी जलसे अन्तःकरणने शुद्ध राखवुं सम्यक्त्वथी युक्त रहवुं, समयरूपी कवच (वल्गर) थी मज्ज रहवुं डोरासहित मुखवस्त्रिकाने मुख पर बांधीने रहवुं, यतना-धर्मने धारण करवुं, भोगरूपी आमिषथी विरक्त रहवुं, करण सित्तरी अने चरणसित्तरीना पारगामी थवुं, निर्दोष भिक्षाथी ज समययात्राको निर्वाह करवो, तीर्थङ्कर भगवान्नी आज्ञानु आराधन करवुं, आत्मज्ञानी थवुं, परिग्रहको त्याग करवो, यात्रामात्राको ज्ञानी, कर्मजानी चेठे इन्द्रियोनु गोपन करवुं, अल्प अशन पानने अल्प करवा अल्प उपधि राखनी, कपायने त्यजवा, आसनरहित थवुं, ससाररूपी सागरथी

कत्या -ऽल्पपिण्डाऽल्पपानाशित्वाऽल्पोपधिकत्वाऽल्पकृपायत्वं --निगश्रवन्व--तीर्णत्वा--
 ऽपापत्वं-निर्ग्रन्थ-प्रवचनप्रवीणत्वं-शल्यकर्तृकत्वं सन्निधिरहितत्वं-रगाद्युपमितत्वं-पापश्रुत-
 प्रतिषेधित्वं-मृगमनःकृत्वं-निर्गतिचारचारित्रत्वादिगुणसम्पन्नः, तस्य भावः कर्म वा
 श्रामण्यं=श्रमणवर्मं कुर्यात्,प्रतिपालयेत् न हि मकल्पानीनचित्तवृत्तितया व्याक्षिप्तस्य
 भावक्रियाशन्य-द्रव्य-क्रियामात्रपालनेन श्रामण्यं भवतीति गाथार्यः ॥ १ ॥

अत्रायं संग्रहः— “सचित्ताचित्तद्वयमु मणुन्ने अमणुन्नए ।

ग्वखए समभावं जो, समणो सो पवुच्चई ॥ १ ॥

हामं रई भयं सोगो. दुगुञ्जा य कसायया ।

एएहिं विप्पमुक्को जो, समणो सो पवुच्चई ॥ २ ॥

पंचसमिडहि समिओ, तिगुत्तिगुत्तो य वंभयारी जो ।

परिसाहेड गुजोगं सो समणो वुच्चई निच्च ॥ ३ ॥

भगवानकी आज्ञाका आराधन करना, आत्मजानी होना, परिग्रहका त्याग करना, यात्रा-मात्राको जानना, कलुषकी भाँति इन्द्रियोका गोपन करना, अल्प अशन अल्प पानका ग्रहण करना, अल्प उपधि रखना, कृपायको त्यागना, आसन्नवरहित होना, ससाररूपी सागरसे पार उतरना, पापरहित होना, निर्ग्रन्थ प्रवचनमें प्रवीण होना, माया, मिथ्यात्व और निदान रूप शल्योको काटना, सन्निधिका न रखना, उरगादिकी उपमासे युक्त होना, पापकी प्ररूपणा करनेवाले शास्त्रोका उपदेश नहीं करना, मनको स्वच्छ रखना और अतिचाररहित चारित्रको पालना, तथा मृग जैसे सिंहसे सर्वथा दूर भागते है उसीप्रकार पापकर्म जिसके पास न ठहरे वह 'श्रामण्य' (साधुपन) कहलाता है । ऐसा श्रामण्य जबतक प्राप्त नहीं होता तब तक वह काम-भोगका त्याग न कर देवे, जिसका चित्त कामके सकल्प-विकल्पोसे व्याकुल रहता हो उसकी क्रियाएँ भावशून्य द्रव्यक्रियाएँ हैं, केवल द्रव्यक्रियाओका पालन करनेसे कोई श्रमण नहीं हो सकता, इस विषयमें संग्रहगाथाएँ है उनका अर्थ पहले आ चुका है ॥१॥

पार उतवु, पापरहित थवु, निर्ग्रन्थ प्रवचनमा प्रवीण थवु, माया मिथ्यात्व अने निदानरूप शल्योने कापवा, सन्निधिने न राखवो, उरगादिनी उपमाथी युक्त थवु पापनी प्ररूपणा करनारा शास्त्रोने उपदेश न करवो, मनने स्वच्छ राखवु अने अतिचाररहित चारित्रने पाणवु तथा मृग जेम सिंहथी सदा दूर भागे छे तेम 'पापकर्म' जेनी पासे न उला रडे ते 'श्रामण्य' (साधुता) कडेवाय छे जेवु श्रामण्य त्यां सुधी प्राप्त नथी थतु के जथा सुधी ते कामभोगने त्याग करे नहि, जेतुं चित्त कामना स कल्पविकल्पथी व्याकुल रडेतु डोय छे तेनी क्रियाओ लावशून्य द्रव्य-क्रियाओ डोय छे, केवण द्रव्य-क्रियाओतुं पालन करवाथी केई श्रमणु थर्थ शकतो नथी आ विषयमा संग्रह गाथाओ छे, जेने अर्थ पडेला आवी गयो छे (१)

मुयनाणमुनीरेण, शुद्धो समत्तरंजिओ ।
 सजमवम्मसंनद्धो, समणो सो पवुच्चई ॥ ४ ॥
 सदोर मुहपत्तिं जो, बंधई सययं मुहे ।
 जयणाधम्मणेण जुओ, समणो सो पवुच्चई ॥ ५ ॥
 भोगामिसपरिहीणो. करणे चरणे य वट्टए शुद्ध ।
 अदोसभिक्षणशीलो, समणो सो वुच्चई निच्चं ॥ ६ ॥
 जिणाणाए समारोहो, आयन्नो निप्परिग्गहो ।
 जायामायन्नो य मुणी, समणत्ति पवुच्चई ॥ ७ ॥
 कुम्मो जहा नियं गाई, सए देहम्मि गोवई ।
 तहा गोवड अप्पाणं, समणत्ति पवुच्चई ॥ ८ ॥
 अप्पपिडे अप्पपाणे, अप्पोवहिकसायओ ।
 निरासवो य तिन्नो य, निप्पावो समणो भवे ॥ ९ ॥
 निग्गंथपव्वयणन्नो, अनियाणो सल्लकत्तओ ।
 भेसज्जाईण वत्थूणं, सन्निहिं वज्जए मुणी ॥ १० ॥
 उरगाडडवमो पाव, -मुयाणं पडिसेहओ ।
 मुमणो मुहचारित्तो, समणत्ति पवुच्चई ॥ ११ ॥
 मिया जहेव सीहाओ, दूरं चरंति सव्वहा ।
 तहा जओ य पावाइं, समणत्ति पवुच्चई ॥ १२ ॥ इति ।

छाया—“सचित्ताचित्तद्रव्येषु, मनोज्ञे अमनोज्ञके ।

रक्षति समभावं यः, श्रमणः स प्रोच्यते ॥ १ ॥
 हास्य रतिर्भयं शोको, जुगुप्सा च कषायता ।
 एतैर्विप्रमुक्तो यः, श्रमणः स प्रोच्यते ॥ २ ॥
 पञ्चसमितिभिः समितः, त्रिगुप्तिगुप्तश्च ब्रह्मचारी यः ।
 परीसाधयति मुयोग, स श्रमण उच्यते नित्यम् ॥ ३ ॥
 “श्रुतज्ञानमुनीरेण, शुद्धः सम्यक्त्वरञ्जितः ।
 संयमवम्मसंनद्धः, श्रमणः स प्रोच्यते ॥ ४ ॥
 सदोरां मुखवल्लीं यो, बध्नाति सततं मुखे ।
 यतनाधम्मणेण युतः, श्रमणः स प्रोच्यते ॥ ५ ॥
 भोगामिपपरिहीणः, करणे चरणे च वर्त्तते शुद्धम् ।
 अदोषभिक्षणशीलः, श्रमणः स उच्यते नित्यम् ॥ ६ ॥
 जिनाज्ञायां समारोहः, आत्मज्ञो निप्परिग्रहः ।
 यात्रामात्राज्ञश्च मुनिः, श्रमण इति प्रोच्यते ॥ ७ ॥

कर्मो यथा निजाज्ञानि, स्वके देहे गोपयति ।
 तथा गोपयत्यात्मान, श्रमण इति प्रोच्यते ॥ ८ ॥
 अल्पपिण्डोऽल्पपानः, अल्पोपधिकपायकः ।
 निगसन्नश्च तीर्णश्च, निष्पापः, श्रमणो भवेत् ॥ ९ ॥
 निर्ग्रन्थप्रवचनज्ञः, अनिदानः शल्यकर्त्तकः ।
 भैषज्यादीनां वरतनां, संनधि वर्जयति मुनिः ॥ १० ॥”
 “उरगाधुपमः पापश्रुतानां प्रतिषेधकः ।
 सुमनाः शुभचारित्रः, श्रमण इति प्रोच्यते ॥ ११ ॥
 मृगा यथैव सिंहाद्, दूर चरन्ति सर्वथा ।
 तथा यतश्च पापानि, श्रमण इति प्रोच्यते ॥१२॥

पूर्व शब्दादिविषयप्रवृत्तः श्रामण्यं पालयितुं न शक्नोतीत्युक्तं, सम्प्रति द्रव्यक्रियां कुर्वाणोऽपि कलुषितचित्तत्वादश्रमण एवे' ति दर्शयितुमाह—

यद्वा पूर्वगाथया भङ्गयन्तेरण शब्दादिविषयविनिवृत्त एव श्रामण्यमर्हतीति सूचितम् शब्दादिविषयानिवृत्तिश्च रोगादिना करणेनापि संभवतीत्यतस्तद्वचनवच्छेदार्थं गाथान्तरमाह—७ वत्थगंध'मित्यादि

मूलम्—^३वत्थ^४गंध^५मलंकारं, इत्थी^७ओ सयणाणि य ।

^२अच्छंदा^१ जे न भुंजंति, न से चाइत्ति^९ वुच्चइ^{१२ १० ११} ॥२॥^{१३}

छाया--वत्थगन्धमलङ्कारं, स्त्रियः शयनानि च

अच्छन्दो यो न भुङ्क्ते, न स त्यागीत्युच्यते ॥२॥

ऊपर कह चुके हैं कि शब्दादि इन्द्रियविषयोमें प्रवृत्त साधु श्रामण्य (चारित्र) का पालन नहीं कर सकता । अब द्रव्यक्रियाएँ करते हुए भी यदि साधुके चित्तमें कलुषता हो तो वह वास्तवमें त्यागी नहीं है, यह कहते हैं—

अथवा पहलें गाथामें एक विशेष प्रणालीसे यह प्रतिपादन किया है कि-शब्दादिविषयोका त्यागी ही श्रामण्य (साधुता) पाल सकता है, किन्तु रोग आदि कारणोंसे भी शब्दादि विषयोको नहीं भोग सकता तो क्या उम समय वह भी त्यागी कहला सकता

उपर कहेवाछ गयु छे ऊ शब्द आदि इन्द्रियविषयामा प्रवृत्त अथवा साधु श्रामण्य (चारित्र)नु पालन करी शकतो नथी हुवे द्रव्यक्रियाओं करता पणु ले साधुता चित्तमां कलुषता होय तो ते वास्तवमा त्यागी नथी, अछे कहे छे—

अथवा पहिली गाथामा अछे (विशेष प्रणालीथी अम प्रतिपादन कर्युं छे ऊ—शब्दादि-विषयानो त्यागी न श्रामण्य (साधुता) पाणी शकते छे, किंतु रोगादि कारणोंथी पणु शब्दादि विषयाने नथी भोगवी शकतो तो शु ते समये अ पणु त्यागी कहेवाछ शकें छे ? नथी

सान्वयार्थः—जे=जो अच्छंदा=पराधीन होनेसे वत्थगंध=वस्त्र गन्ध अलंकारं=आभूषण इत्थीओ=स्त्रियाँ य=और सयणाणि=“शय्याप लग महलविगेरे को न भुजंति—नहीं भोगता है से=वह चाइति=त्यागी” ऐसा न बुच्चइ=नहीं कहा जाता है। अर्थात् अपनी इच्छासे विषयोंको न भोगनेवाला त्यागी कहलाता है। जो रोग आदि किसी कारण से पराधीन होकर विषयोंका सेवन नहीं कर सकता वह त्यागी नहीं कहलाता ॥२॥
और—

टीका—अत्र ‘अच्छंदा’ ‘जे’ ‘भुजंति’ इत्येतेषु पदेषु बहुवचनप्रयोगः सौत्रत्वात् । तथा चायमर्थः—यः अच्छन्दः=रोगाद्यभिभूततया पराधीनो वस्त्रं च गन्धश्चानयोः समाहारः वस्त्रगन्धं, तत्र वस्त्रं=प्रसिद्धं, गन्धः=चन्दनकर्पूरादि—सुगन्धिद्रव्यं तत्, अलङ्कारः=कुण्डल-वल्यादिस्तम्, स्त्यायतः शुक्रगोणिते यासु ताः स्त्रियः=कागिन्यस्ताः, गम्यते येषु तानि शयनानि=पल्यङ्ग-खट्वा तुष्कि-कादीनि, तानि, चकारात् यानाऽऽसनादीनि, न भुङ्क्ते=न सेवते, सः, त्यागीति=त्यजति=परिमुञ्चति संसारसम्बन्धं तच्छील इति, न उच्यते=न कथ्यते, इति गाथार्थः ॥२॥

हे १ कभी नहीं कहला सकता, इसी विषयको कहते हैं—‘वत्थ गंध’ इत्यादि ।

जो मनुष्य रोग आदिसे आक्रान्त होनेके कारण पराधीन है और पराधीनता (असमर्थता) के कारण वस्त्र, कस्तूरी, केशर, चन्दन, आदि गन्ध, कुण्डल, कटक आदि आभूषण, स्त्री, शय्या और ‘च’ शब्दसे सवारी आसन आदिका सेवन नहीं करते हैं वे त्यागी अर्थात् ससारके सम्बन्धोका त्याग करने वाले नहीं कहला सकते हैं, क्योंकि असार समझकर ममता छोड़ना-रुचि न रखना-त्याग कहलाता है । रोग आदिसे ग्रमित ऊपर कहे-हुए विषयोंकी ममता नहीं छोड़ता (रुचि रखता) है इसलिए वह त्यागी नहीं कहला सकता ॥२॥

कडेवातो अये विषयुडव कडे छे —वत्थगंध—छत्यादि

हे मनुष्ये रोगादिथी आक्रान्त होवाने कारणे पराधीन छे अने पराधीनता (असमर्थता) ने कारणे वस्त्र, कस्तूरी, केशर, चन्दन आदि गंध, कुण्डल, कटां आदि आभूषण, स्त्री, शय्या अने च शब्दथी सवारी, आसन आदिनु सेवन करता नथी तेथे त्यागी अर्थात् ससारना सम्बन्धोना त्याग करवावाणा नथी कडेवाछ शकता कारणे के असार समझने ममता छोडवी-इथि न राखवी अये त्याग कडेवाय छे . रोगादिथी ग्रमित मनुष्ये उपर कडेला विषयोनी ममता छोडता नथी, तेथी नये त्यागी कडेवाता तथा (२)

१ यत् ‘बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशो विचित्रत्वात्सूत्रगते’ इति, यच्च ‘अत्र सूत्रगतेर्विचित्रत्वाद्बहुवचने-ऽप्येकवचननिर्देश’ इति, यदपि च किं बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशः ? विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवत्येवेति क्त्वाऽऽह—‘नासौ त्यागीत्युच्यते’ इति, तदिदं त्रितयमपि व्याख्यानं सूत्रपूर्वापरानुमन्वानमूलकत्वाद्नुपादेयमेव, यतो द्वितीय-तृतीयगणयोस्तात्पर्यपर्यालोचनायामेकवचनान्तरप्रयोग एव सूत्रकृतोऽभिप्रेत इति सूचीकटाहन्यायेनापि बहुवचनान्तेष्वेकवचनान्तत्वं कल्पनं युक्तियुक्तमिति ॥

२ अधिकरणेल्युद । ३ प्रथमान्तमिदम् । ४ द्वितीयान्तमिदम् । ५ भुजोऽनवने इत्यात्मने पदं सूत्रे तु प्राकृतत्वात् परस्मैपदम् ।

कमन्ति त्यागी ? इति चेत्तत्राह—'जे य कंते' इत्यादि ।

मूलम्—जे य कंते पिप् भोप् लङ्गेवि पिङ्गिकुव्वइ ।

साहीणे चयई भोप् स हु चाइत्ति वुच्चई ॥३॥

छाया—यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धानपि पृष्ठीकरोति ।

स्वाधीनस्त्यजति भोगान्, स एव न्यागी उच्यते ॥३॥

सान्त्वयार्थः— जे य=जो लङ्गेवि=प्राप्त हुए भी कंते=मनोहर पिप्=अभीष्ट-मन-गमते भोप्=भोगोंको पिङ्गिकुव्वइ=त्याग देना है (और) साहीणे=स्वतन्त्र-स्वाधीन होते हुए मोह = विषयोंको चयई = त्यागता है से = वह हु = निश्चय करके चाइत्ति = "त्यागी" ऐसा वुच्चइ = कहलाता है । अर्थात् भोगोंकी प्राप्ति होने पर भी और भोगनेकी स्वतन्त्रता रहते हुए भी जो भोगों को नहीं भोगता वह सच्चा त्यागी है । गाथामें "वि" शब्द आया है उससे यह प्रगट होता है कि यदि किसीको अमुक समयमें मनोहर और प्रिय भोग न भी उपलब्ध हों तथापि उसकी इच्छा कदापि भोगनेकी न हो तो भी वह त्यागी है ॥३॥

टीका—'च' शब्दः पूर्वगाथोक्तार्थनिवारकत्वेन 'तु'—शब्दार्थेऽवधारणार्थे वा, 'खलु'—शब्दोऽवधारणार्थे, तथा चायमर्थः—यस्तु लब्धान् = प्राप्तानपि कान्तान् = कमनीयान् (मनोहरान्) प्रियान् = अभिलषितान्, भोगान् = शब्दादीन् पृष्ठीकरोति = पृष्ठगब्दस्य तत्स्थे लक्षणया अपृष्ठस्थान् पृष्ठस्थान् करोति = दूरतः परिहरतीत्यर्थः, ततो विमुक्ती-भवतीति यावत् । एवं तु रोगाद्यवस्थायामपि संभवतीत्यतः स्पष्टयति स्वाधीनः = रोगा-द्यनभिभूतचित्तः सन् भोगान् = पूर्वोक्तलक्षणान् शब्दादीन्, पुनर्भोगग्रहणं 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवती'—ति न्यायात्साकल्येन भोगत्वावच्छिन्नपरिग्रहार्थम्, त्यजति=मुञ्चति, स खलु=स एव त्यागीति उच्यते=कथ्यते, न तु पराधीन इति गाथार्थः ॥३॥

त्यागी किसे कहते हैं ? इस पर सूत्रकार कहते हैं—'जे य' इत्यादि

जो महापुरुष पूर्वपुण्यके उदयसे प्राप्त हुए मनोहर और इष्ट शब्दादि विषयोंको विविध-वैराग्य-भावना भाकर त्याग देते हैं—उनसे विमुक्त हो जाते हैं और रोग आदिसे पीड़ित न होनेके कारण स्वाधीन (समर्थ) होते हुए भी विविध-वैराग्य-भावना भाकर समस्त भोगोंको त्याग देते हैं वे ही त्यागी कहलाते हैं ॥३॥

त्यागी होने कडे छे ? ओ विषे सूत्रकार कडे छे—'जे य०' इत्यादि.

जे महापुरुषे पूर्वपुण्यना उदयथी प्राप्त थयेला मनोहर अने इष्ट शब्दादि विषयेने विविध-वैराग्य-भावना लावीने त्यज् दे छे—तेनाथी विमुक्त अनी जाय छे, अने रोगादिथी पीडित न होवने कारणे स्वाधीन (समर्थ) होवा छे पण विविध-वैराग्य-भावना लावीने अथा लोगेने त्यज् दे छे, तेणे जे त्यागी कडेवाय छे. (३)

उक्तविधस्यापि साधोः संयममार्गे विहरतः कदाचिद् विषयस्मरणेन प्रस्खलित-
चित्तता मा प्रसाङ्क्षीदिति तदुपायं दर्शयति—“समाए०” इति ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
मूलम्—समाए पेहाए परिव्वयंता, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।

१० ८ ९ १३ ११ १२ १४ १५ १७ १६
न सा महं नोवि अ वि तीसे, इच्चव ताओ विणइज्ज रागं।४।

छाया—समया प्रेक्षया परिव्रजतः, स्यान्मनो निःसरति बहिः ।

न सा मम नो अपि अहमपि तस्याः, इत्येवं तस्या विनयेत रागम् ॥४॥

सान्वयार्थः—समाए=सम पेहाए=भावनासे परिव्वयंतो=संयममार्गमें विचरते हुए
साधुका मणो=मन सिया=कदाचित्-कभी बहिद्धा=संयमगृहसे बाहर निस्सरई=निकल जाय
तो “सा=वह स्त्री महं=मेरी न=नहीं है अवि=और अहंवि=मैं भी तीसे=उस स्त्रीका
नो=नहीं हूँ” इच्चेव इस प्रकार ताओ=उस स्त्रीसे रागं=रागको विणइज्ज=दूर करे ॥४॥

सयम मार्गमें विहार करते हुए त्यागी मुनि का मन, स्त्री आदिको देखनेसे कदाचित्
विचलित (डावाडोल) हो जाय तो उसको रोकने के लिए उपाय बतलाते हैं—‘समाए०’ इत्यादि ।

रागद्वेषरहित-समतापूर्वक विचरते हुए श्रामण्यमें स्थित मुनिका मन स्त्री आदिको देखने
पर मोहनीय कर्मके उदयसे कदाचित् पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण होजानेसे, अथवा विषय-
सेवनकी इच्छा होनेसे सयमरूपी घरसे बाहर निकल जाय तो उस समय साधुको विचारना
चाहिए कि-मैं जिसकी अभिलाषा करता हूँ, वह स्त्री न मेरी है और न मैं उसका हूँ । ऐसा
विचार करके उस स्त्रीके विषय का रागभाव दूरकरना चाहिये तात्पर्य यह है कि स्त्री के
विषयमें मनकी प्रवृत्ति होनेसे चारित्रकी मलिनता आदि बहुतेरे दोष उत्पन्न होते हैं । उन
दोषोंका विचार करके मुनि अपने मन को उस तरफसे हटाता हुआ समप्रेक्षाका अवलम्बन
करके उसीप्रकार रागरहित होजावे जिस प्रकार स्त्रीको देखनेके पहले था ।

स यम-मार्गमा विहार करता त्यागी मुनिनुं मन, स्त्री आदिने जेवाथी जे विचलित
(डावाडोल) थई जय तो तेने रोकवाने भाटे उपाय बतावे छे—‘समाए०’ इत्यादि ।

रागद्वेष रहित समतापूर्वक विचरतां श्रामण्यमां स्थित मुनिनुं मन स्त्री आदिने
देखतां मोहनीय कर्मना उदयथी कदाचित् पहिलां लागवेला लागोनु स्मरण थई जवाथी
अथवा विषय सेवननी इच्छा थवाथी संयमरूपी घरनी अहार नीकणी जय तो ते समये
साधुजे विचारवुं जेईजे के हुं जेनी अभिलाषा करे छु ते स्त्री नथी मारी के नथी हुं
तेना, जेवा विचार करीने जे स्त्री प्रत्येना विषयना रागभाव दूर करवे जेईजे, तात्पर्य
जे छे के—स्त्रीना विषयमां मननी प्रवृत्ति थवाथी चारित्रनी मलिनता आदि अनेक दोष
उत्पन्न थाय छे, जे दोषोना विचार करीने मुनि पोताना मनने ते तरईथी पाछुं उटावतां
समप्रेक्षानुं अवलम्बन करीने जेवा रागरहित थई जय के जेवा ते स्त्रीने देखतां
पहिलां इतो ।

टीका—ममया-रामहेपण्णितिरिक्तया म्भतुन्यया, प्रेक्षया=प्रेक्षनेऽनयेति कण्णव्यु-
त्पत्तिवत्ताद् दृष्टया. परिचयतः-विद्वानः प्रोक्तपश्चामण्ये स्थितस्तेत्यर्थः मनः=हृदयं,
स्यात्-कदाचित् मोक्षनीयकर्मपकृत्युदयवजाद भुक्तभोगतया पूर्वकृतग्न्याद्विगमरणेन तद-
न्यथात्वं विणयमेव नवाञ्जया वा. वदिः-संयमयोगा-द्वारा विषयादीं निःसरति=नि-
र्गच्छति, अथ किं कर्तव्यं ? तदाह 'न मा' इति. मा-परिचिन्त्यमाना स्त्री न मम,
अपि=च अहमपि तस्याः=परिचिन्त्यमानायाः स्त्रियाः न, इत्येवम्=अनया गीन्या, तस्याः
=अभिलष्यमाणायाः स्त्रियान्तत्सम्बन्धिनमिन्यर्थः, रामम्-दृग्गलाप, जिनयेत्=दृरीकुर्यात्।

वनिताविषये प्रसृतं मनस्वदीयरागसंबन्धिवद्दुर्दोषानुचिन्तनेन ततो निवर्तयन्
मुनिः समां प्रेक्षामवलम्ब्य वनितादर्शनात् प्रागिव रागशून्यो भवेदिति भावः । दोषा-
नुचिन्तनं यथा—“रे चित्त ! चारित्रम्य प्राणभृतं ब्रह्मचर्यं यावज्जीवनमनुपालयितुं कृत-
प्रतिज्ञस्य तव स्वकृतप्रतिज्ञापरित्यागोद्यमे कुतो न लज्जापमुद्भवः ? यदा संसारदाव
'दहनपरितप्तस्य तव कोऽपि लोके शरणं नाभूत् तदा यानेव दिपयान् परित्यज्य जिने-
न्द्रप्रतिपादितं चारित्रधर्मं शिरसाऽङ्गीकृत्य त्वया निरस्तः सकलः सन्तापः, किमिदानीं
पुनर्वान्तावलेहीश्वेव भवेत्ताननुस्मरद् विगमरयात्मानम् ? ।

दोषो का विचार इस प्रकार करे—रे मन ! चारित्रिक प्राणोके समान ब्रह्मचर्यको यावत्-
जीवन पालन करनेकी तूने प्रतिज्ञा की है, पहले की हुई प्रतिज्ञा अब परित्याग करते तुझे लज्जा
नहीं आती ? जिस समय तू समारूपी तीन दावागिसे सतप्त हुआ और लोकमें कोईभी तुझे
न बचा सका उस समय जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित चारित्र धर्मको तूने स्वीकार किया
और जिन हेय—विषयोसे मुख मोडकर सकल जंजाल छोड दिये उन्हीं विषयोको वमनचाटनेवाले
श्वानके समान फिर स्वीकार करना चाहता है ? ऐ अधम मन ! अपने स्वरूप का विचार कर ।

अरे मन ! देख, ब्रह्मचर्यकी महिमासे ही लोकमें पूजे जानेवाले सुरेन्द्र असुरेन्द्र और
नरेन्द्रोंके द्वारा तू पूज्य समाननीय हुआ है, ऐसे अभितमहिमावाले ब्रह्मचर्यको भी तू क्यों
भूल गया है ? कहा भी है—

दोषो नो विचार आ प्रभाषे करे-हे मन ! चारित्रना प्राणु समान ब्रह्मचर्यने लवन-
पर्यंत पाणवानी ते प्रतिज्ञा करी छे पड़ेला करेदी प्रतिज्ञानो हुवे परित्याग करता तने
शरभ नथी आवती ? ने समये तु संसाररूपी तीन दावानगथी सतप्त थयो अने लोकमा
ठोई पणु तने अयावी न शक्यु, ते समये श्रीलनेन्द्र भगवाने अज्ञेपेला चारित्र धर्मने ते
स्वीकार कर्यो अने ने हेय विषयोथी विमुअ थछने अधी ज'लणने छोडी दीधी, तेज विषयोने
वमनचाटनाश श्वाननी पेठे करीथी तु स्वीकार करवा आडे छे ? हे अधम मन ! तारा
पोताना स्वरूपने तु विचार कर.

अरे मन ! जे, ब्रह्मचर्यना महिमाथी ज, लोकमा पुजता सुरेन्द्र असुरेन्द्र अने
नरेन्द्रोनी द्वारा तु पूज्य समाननीय थयो छे, अवा अपारमहिमावागा ब्रह्मचर्यने पणु तु
इम भूली गयो छे ? कहुं पणु छे—

अरे ! विस्मृतः किं ब्रह्मचर्यमहिमा ? यत्प्रभावेणाऽल्पीयसैव कालेन लोकपूजितैरपि सुरासुरमनुजेन्द्रैः पूज्यमानवसि पुनः किं तदेव विस्मरसि ? । इदमप्यनुचिन्तय-

“चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढसंहनना नराः ।

तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥१॥” इति ।

अपिच अनवाप्तपरमार्थतत्त्वास्वादनमुखानां संसाराभिनन्दिनां विषयामिषोपभोगसुखकामुकानामविवेकिनामेव कामिनी कामनीया भवतु नाम, परन्तु एतदीयानुरागपरिणामदारुणतां विस्मरतस्तवापि किं संयताग्रगणनीयताऽभिलाषो नोपहासाय जायेत ? ।

अरे मूढ ! अस्याः खलु विलासकलाकलापवैदुष्यं विलोक्य लुब्धकप्रसारितजाले कुरङ्ग इव, मार्गवर्तिनि गच्छे तुरङ्ग इव, ज्वलति प्रदीपे पतङ्ग इव किमात्मानं निरये निपातयसि ? ।

अहो ! अयोमयशृङ्खलामप्यधरयति रागपाशः, यत् खलु मधुपः कठिनतरकाष्ठकृन्तनदक्षोऽपि न क्षमो भवति संकुचितकमलपुष्पानुरागनिवद्धमात्मानं परित्रातुम् ।

“ब्रह्मचर्यसे दीर्घ आयु, सुन्दर आकार, और दृढ सहनन प्राप्त होते हैं, ब्रह्मचर्यसे ही मनुष्य, तेजस्वी और महाशक्तिशाली होते है” ॥१॥

हे जीव ! किपाकफल सरीखे विषयभोग सुगन्ध, सुरूप, सुशब्द, और सुस्पर्श अविवेकी जीवोको भलेही मनोहर लगे, पर तूतो सयमियोमें श्रेष्ठ बनना चाहता है फिर इनमें अनुराग करने से जो भयंकर फल उत्पन्न होते है उन्हें क्यो भूल जाता है ? इससे तेरी वह उच्च अभिलाषा क्या हास्यास्पद नहीं होगी ? अवश्य होगी ।

अरे मूढ ! जैसे व्याध (शिकारी) के फैलाए हुए जालमें कुरंग (हरिन) फंस जाता है; रास्तेके गड्ढेमें तुरंग गिर जाता है, जलते हुए दीपककी ज्वालामें पतंग गिर पडता है वैसेही स्त्रीके हास विलास और हाव-भावकी चतुराई देखकर क्यो अपनी आत्माको नरकमें गिराता है ।

अहो ! इस रागके बन्धनके आगे लोहकी वेड़ीभी तुच्छ है, देखो, भौंरा कठिनसे कठिन

“ब्रह्मचर्यसे दीर्घ आयुष्य, सुंदर आकार, अने दृढ संहनन प्राप्त थाय छे. ब्रह्मचर्यसे ही मनुष्य दिव्य तेजस्वी अने महाशक्तिशाली थाय छे.” (१)

हे जीव ! किपाकफल जेवा विषयभोग, सुंदर, सुरूप, सुशब्द अने सुस्पर्श अविवेकी जीवोके लळे मनोहर लागे, परन्तु तू तो संयमीयोमां श्रेष्ठ बनवा छिच्छे छे, तो पछी ज्येमां अनुराग करवाथी जे लवकर क्षण उत्पन्न थाय छे तेने केम भूली जाय छे ? तेथी तारी ज्ये उच्च अभिलाषा शुं हास्यास्पद नहि थाय ? अवश्य थशे

अरे मूढ ! जेम व्याधे (शिकारीजे) फैलावेली जालमा कुरंग (हरिण) इसाछ जाय छे. रस्तामाना आडामां तुरंग (घोडो) पडी जाय छे, जणता दीवानी ज्वाणामां पतंग लोमाछ जाय छे, तेम स्त्रीना हासविलास अने हावभावनी चतुराई जेधने केम तारा आत्माने नरकमां पाडे छे ?

अहो ! आ रागना बन्धननी आगण दोढानी जेडी पछु तुच्छ छे. भुज्यो ! लमरो

इह वाग्मणीयताम्पदे, नितान्ताशुचिपदे, चपलावन्प्रतिपलचपलरूपलावण्ये, योषि-
दपवने किमिव नाम शोभनं विवर्तते, यद् वान्यविधुलेखेव, अमृतावयवनिर्मितेव, चन्द्रम-
ण्डलाद्दृश्यतेव, इयं नीलकमलदेलायताक्षी 'सहावनयनाभ्या जीवलोकमाश्वासयन्तीव
कमनीया निरीक्ष्यते ।

अनाद्योन्य प्रवर्तमानः खलु पराभूयते, तस्मादियदपि तावद् विभावय विला-
सिनीविलसन युतः स्थानादिदमुद्भवति ? किं चारय कारणम् ? कथमिदं तिष्ठति ?
किमेतस्मान्निःसर्गत् सतनं दरीदृश्यते ? इति,

विग्म विग्मात्रानुगागरणात् अरय हि शरीरय मूत्राद्युपहतमुद्भवस्थानम्, शुक्र-

काष्ठको काट डालनेमें कुशल होता है परन्तु सूर्यके अस्त होजाने पर सकुचित कमल पुष्पके अनु-
रागके बन्धनमें बनी हुई अपनी आत्माकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता । इसलिए हे मन !
ऐसे रागमें फँसने की इच्छा क्यों कर रहा है ?

ऐ जीव ऊपर-ऊपर से मनोहर मादृश होनेवाले, अत्यन्त अपवित्रताके स्थान, चपला
(विजली) की नाई पल-पलमें चपलरूप लावण्यवाले, लोके शरीरमें तुझे क्या अच्छापन दिखाई देता
है ? जिससे तू उसे यह समझ रहा है कि-मानो वह द्वितीयाके चंद्रमाकी कला है, अमृतके
अवयवसे बनी हुई है, चन्द्रमाको फाड़कर निकल पडी है, नीलकमलके दल (पत्ता) के समान
विशाल नेत्रवाली, तथा लीलायुक्त लोचनसे लोकको अवलम्बन देनेवाली मनोहर दीख पडती है ।

हे आत्मन् ! स्मरण रख, जो विना विचारे किसी विषयमें प्रवृत्ति करता है उसकी बडी

कडिनामा क'ठन काठने कापी नाभवामा कुशल होय छे परन्तु सूर्यने अस्त थतानी साथे ज
भीडायला कमण-पुष्पना अनुगगता बंधनमा अधायलो पोताना आत्मान्नी रक्षा करवामां
समर्थ नथी अनतो' तो हे मन ! ऐसा रागमा इसावानी इच्छा केम करी रह्यो छे ?

हे लव ! उपर-उपरथी मनोहर मादृश पडता, अत्यन्त अपवित्रतातु स्थान विजलीनी
पेठे पल-पलमा अपण इप-लावण्यवाणा स्त्रीना शरीरमा तने कर्ष सुदरता देभाय छे ? के
बेथी तु तेने मानी रह्यो छे के-आ भीजना अद्रमानी कला छे अमृतना अवयवोथी भनेली
छे, अद्रमाने दाडीने नीकणी पडी छे, नील कमणना दण (पांढडीओ)नी समान विशाल
नेत्रवाणी तथा लीलायुक्त लोचनोथी लोके अवलम्बन आपनारी मनोहर देभाय छे.

१ स्त्रीचेष्टाविशेषो हावस्तेन सहिते=सहावे ते च ते नयने च=सहावनयने ता-
भ्यामित्यर्थः ।

१ सूर्य डूबनेके बाद, कमलके भीतर पडा हुआ भौरा, तकलीफ सहकर सारी रात बिताता है किन्तु
अनुराग (प्रीति) के कारण, कमलके कोमल (मोलायम) पत्तीको भी काटकर उस तकलीफको रफा करनेका
साहस नहीं कर सकता ॥

१ सूर्य अस्त पान्या पथी कमणनी अदर गोधाध गयेलो लभरो तकलीफ सहन करीने आभी
रात बितावे छे, परन्तु अनुगग (प्रीति) ने अण्णे कमणनी कामण (मुलायम) पांढडीओने अपी
नाभीने ऐ तकलीफ हर करवातु साहस नथी करी शकतो

शोणिते एव कारणम् , अशितपीतादिना च स्थितिः, एतस्मान्निःसरीसर्ति च मल-
मूत्रकफादिकमेव, किं बहुना मृदुतममनोरमवसनत्रिनिर्मितया मलमूत्रास्थिकफादिपोद्दलि-
कया न पामरोऽपि, रज्यते, का कथा पुनर्भावनाकुशलानां मुनीनाम् ।

उक्तञ्च—“अम्भःकुम्भशतैर्वर्षुर्ननु वहिर्मुग्धाः ! शुचित्वं कियत् ;

काल लम्भयथोत्तमं परिमल कस्तूरिकाद्यैस्तथा ।

विष्टाकोष्ठकमेतदङ्गकमहो ! मध्ये तु शौचं कथ-

ङ्कारं नेष्यथ सूचयिष्यथ कथङ्कार च तत्सौरभम् ” ॥१॥

अन्यच्च—“विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं,

विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।

दुर्गति होती है । तू अपना कल्याण चाहता है तो विलासिनियोंके विलासका अच्छीतरह विचार करले । यह सोच देख कि यह शरीर कहाँसे उत्पन्न होता है ? इसका क्या कारण है ? कैसे ठहरता है ? और इससे क्या र घिनौने (घृणाजनक) पदार्थ निकलते हुए दिखाई देते हैं ?

बस कर, रहनेदे, इस शरीरमें अनुराग मत कर, मलमूत्रसे भरे हुए स्थानसे यह शरीर उत्पन्न हुआ है, रज-वीर्य इसके कारण है । खाया पीया भोजन इसकी स्थितिका निमित्त है, और इसके नौ द्वारोंसे मल-मूत्र आदि घृणित पदार्थ निकला करते हैं, अधिक क्या कहें ? कोमल और मनोहर कपड़ेसे बंधी-हुई मल-मूत्रकी गठरीमें पामर प्राणीभो अनुराग नहीं करता, फिर अशुचि आदि भावनाओंका समीचीन चिन्तन करनेमें चतुर मुनियोंका कहना ही क्या है ? वे तो उस ओर आंख नहीं उठाते । कहा भी है ।

“शरीरको सैकड़ों घड़ोसे चाहे जितना नहलाओ धुलाओ, और केसरी कस्तूरी गुलाब आदिकी सुगन्धसे सुगन्धित करो, परन्तु यह शरीर तो मल-मूत्रका भाजन है । हे भय्यो ! इसे

हे आत्मन् ! याद कर के, जे विना विचारै कोई विषयमा प्रवृत्ति करे छे तेनी लारे दुर्गति थाय छे. तु पोताना कल्याणुने याडे छे तो विलासिनीओना विलासने सारी पेठे विचार करी ले ओटलु विचारी जे के आ शरीर क्याथो उत्पन्न थयुं छे ? ओतुं शुं कारण छे ? ते केवी रीते टके छे ? अने ओभाथी केवा केवा गंधाना (घृणाजनक) पदार्थो नीकणता जेवानां आवे छे ?

अस कर, रडेवा हे; आ शरीरमा अनुराग न कर, मणमूत्रथी लरेला स्थानमांथी आ शरीर उत्पन्न थयु छे, रज-वीर्य ओतुं कारण छे, पाधेलुं-पीधेलुं लोअन, अनी स्थितिनुं निमित्त छे, अने तेना नव द्वारे वाटे मण-मूत्र आदि घृणित पदार्थो नीकण्य करे छे. वधारे शुं कहीओ ? कोमल अने मनोहर कपडाथी पाधेली मणमूत्रनी गांसडीमां पामर प्राणी पणु अनुराग नथी करतो, तो पछी अशुचि आदि लावनाओनु समीचीन चितन करवामां चतुर मुनियोनी तो शी वात ? तेओ तो तेनी तरङ्ग उंथी आंजे जेता पणु नथी कलुं छे के—

“शरीरने सैकड़ो घडा पाणीथी याडे तेटलुं नडवरावे, धुओ, अने केशर कस्तूरी

कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं,

कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥२॥ इति,"

अपरञ्च—“अमेव्यपूर्णे कृमिजालसङ्कुले स्वभावदुर्गन्धविनिन्दितान्तरे ।

कलेवरे मूत्रपुरीषभाविते, रमन्ति मूद्रा विगमन्ति वीराः ॥३॥” इति ।

यद्यपि संसारभीरुभिः परिहेयोऽन्यसद्गो दुस्त्यजः, तथापि ब्रह्मचर्यमहिमानमनुस्म-
रतां मुनीनां केवलं स्त्रीसङ्गपरिहारेण द्रव्यादिमङ्गः स्वयमेव निवर्तते । यथा स्वयम्भूर-
मणमहासागरमुत्तीर्णस्य पुरतः क्षुद्राकृतिर्गङ्गासमानाऽपि नदी मुखसमुत्तरणीया भवति ।
उक्तञ्च भगवता उत्तराध्ययनसूत्रस्य द्वाविंशोऽध्ययने—

“एष य संगे समरुक्कमिच्छा, सुहुत्तरा चैव ह्वन्ति सेसा ।

जहा महासागरमुत्तरिच्छा, नई भवे अवि गगासमाणा ॥१॥” इति,

कैसे पवित्र बनाओगे ? और कैसे इसकी सुगन्धि फैलाओगे’, ॥१॥

“हे आत्मन् ! तू स्त्री आदिकी ममतासे विरक्त हो विरक्त हो, मोहका त्यागकर त्याग-
कर, आत्माके स्वरूपको पहचान पहचान, और मोक्षमुखके लिए पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ कर” ॥२॥

“अशुचि पदार्थोंसे भरा हुआ, जू आदि कीड़ोंसे व्याप्त, स्वाभाविक दुर्गन्धके कारण
भीतर भी घृणित और मल-मूत्रसे वेष्टित (स्त्रियोंके) शरीरमें रमण वे करते हैं जो मूढ़ हैं,
और बुद्धिमान् पुरुष महान् निकृष्ट समझ कर उससे अलग रहते हैं ॥३॥”

यद्यपि विषयोके संग संसारभीरु पुरुषोंके लिए त्याज्य है और उनका त्याग होना
कठिन है, तथापि ब्रह्मचर्यकी महिमाका स्मरण करनेवाले मुनियोंको एक मात्र स्त्रीसंगके त्याग
देनेसे अन्य विषयोंके संग दुस्त्यज होनपर भी स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं । अर्थात् ब्रह्म-

शुद्धात्मा आदिनी सुगन्धि सुगन्धित करो, परंतु आ शरीर तो मण-मूत्रनुं लाज्जन छे. डे
लओये । तेने केवी रीते पवित्र बनावशे । अने केवी रीते तेना पराग (झारम) ने
झेलावशे ? ” (१)

“हे आत्मन् ! तू स्त्रीआदिनी ममताथी विरक्त था विरक्त था, मोहनेो त्याग कर
त्याग कर, आत्माना स्वरूपने लखु, आश्रितनेो अभ्यास कर अभ्यास कर पोताने पिछाणु,
अने मोक्ष सुखने माटे पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ कर” ” (२)

“अशुद्ध पदार्थोंथी लरेला, लु-आदि कीड़ाओथी व्याप्त, स्वाभाविक दुर्गन्धिने कारणे
अंदर पणु घृणित अने मण-मूत्रथी वेष्टित (स्त्रीओना) शरीरमा तेओ रमणु करे छे के
नेओ मूढ़ छे, अने बुद्धिमान् पुरुष तो तेने अत्यंत निकृष्ट समझने तेनाथी अलग
रहे छे.” (३)

ने के विषयोंनेो संग संसारभीरु पुरुषोंने माटे त्याज्य छे अने तेना त्याग थवे
कठिन छे, तो पणु ब्रह्मचर्यना महिमातु स्मरणु करनाश मुनियोंने ओक मात्र स्त्रीसंगनेो

१ यहा प्रत्येक कर्तव्यको दुहरानेसे अत्यन्त तीव्र प्रेरणा प्रगट होती है ।

१. अही प्रत्येक कर्तव्यने भेवडाववाथी अत्यंत तीव्र प्रेरणा प्रकट थाय छे

इयं दृष्टिविषा नागीव सन्दर्शनादेव संयमिनां शमलक्षण जीवनं विनिहन्ति ।
अथवा किमियं प्रगाढान्धकारा रजनी ? यदत्रोलूता इव चत्वारः कपाया विच-
रन्ति, अज्ञानपिशाचश्चात्र चारित्रलक्षणगुणशरीरग्रसनाय जागस्रको लक्ष्यते ।

हे चित्त-सहचर ! ज्ञानप्रकाशेन रागान्धकारमपनीय रात्रिकृतोपसर्गं निवारयता
भवता मदीयसाहाय्यं क्रियताम् ।

अपि चेदं भावनीयम्—मुनीनां कृते ब्रह्मचर्यपरित्यागो महाऽनर्थकरः, तथा
हि ब्रह्मचर्यपरित्यागेच्छायामपि सत्यां बहवो दोषा विविधशस्त्रास्त्रधारिणः प्रबलश-
त्रव इव समुत्तिष्ठन्ति । तत्रादावार्त्तरौद्रध्यानं हृदये पदमारोपयति, तस्मिंश्च विद्य-

चर्यमें दृढ़ रहनेवालो पर कोई भी विषय, अपना प्रभाव नहीं डाल सकता । जो पुरुष स्वय-
म्भूरमण महासमुद्रको पार कर चुका है उसके त्रिप् गंगा जैसी छोटी २ नदियां पार करना
क्या बड़ी बात है ? भगवान्ने उत्तराध्ययन सूत्रके ३२ वे अध्ययनमें 'एए य सगे' इस
गाथासे यही प्रतिपादन किया है ॥

जैसे जिस नागिनकी दृष्टिमें विष होता है उसके देखनेसे ही जीवनका अन्त होजाता
है, इसी प्रकार स्त्रीके भी सानुराग देखनेसे चारित्ररूपी जीवन नष्ट होजाता है ।

अथवा यह कैसी प्रगाढ़ अन्धकारमय गजनी है, जिसमें चारो कपायरूपी उल्लुओं
का राज्य है, और चारित्र-रूपी शरीरको निगलनेके लिए अज्ञानरूपी पिशाच सदा ताकता
रहता है हे मित्र मन ! ज्ञानके प्रकाशसे रागरूपी अन्धकारको निवारण कर, स्त्रीरूपी रात्रि
द्वारा किये गए उपसर्गको हटानेमें मेरी सहायता कर ।

ब्रह्मचर्यका परित्याग करना मुनियोंके लिए महान् अनर्थ करनेवाला है । यहाँ तक
कि ब्रह्मचर्य परित्याग करनेकी इच्छा होते ही बहुतसे दोष इस प्रकार आ खड़े होते हैं

त्याग करवाथी, अन्य विषयोंने स ग हुत्त्यञ्ज डोवा छता पणु अपोःआप निवृत्त थध् नय
छे. अर्थात् अज्ञानरथंभां दठ रडेनाराओ पर केध पणु विषय पोत नो प्रभाव पाडी शकतो
नथी जे पुङ्ग्व स्वयम्भूरमणु महासमुद्रने पार करी चुकथे छे तेने भाटे गंगा जेवी नानी
नानी नदीओ पार करवामा शी भोटी वात छे ? लगवाने पणु उत्तराध्ययन-सूत्रना ३२ भा
अध्ययनमा एए य संगे जे गाथाथी जेञ् प्रतिपादन कर्युं छे

जेवी रीते जे नागस्थिनी दृष्टिमां विष होय छे तेने जेवाथी न् जीवनने अंत आवी
नय छे, तेवी रीते स्त्रीने अनुरागपूर्वक जेवाथी चारित्ररूपे जीवन नष्ट थध् नय छे

अथवा जे केवी गाढ अन्धकारमय रात्रि छे जे जेमा चारे कपायोऽपी धुवडानुं राज्य
छे, अरे चारित्ररूपी शरीरने गणी नवाने भाटे अज्ञानरूपी पिशाच सदा ताकी रडेले छे
हे मित्र मन ! ज्ञानने प्रकाशवी रागरूपी अन्धकारनु निवारण कर, अने स्त्रीरूपी रात्रिथी
उत्पन्न थता उपसर्गने उठाववामां भने सहाय कर

अज्ञानरथंने त्याग करवो जे मुनियोंने भाटे महान् अनर्थकारक छे, अटले सुधी के
अज्ञानरथं त्यजवानी छेछा थतां न् अनेक दोषो जेवी रीते आवीने पडा थाय छे, नाले के

માને પ્રમાદઃ સાહસ-મજ્ઞાન મધર્મો-અસિદ્ધિસ્તથાઅન્યેઅપિ દોષાઃ સમાયાન્તિ । અબ્રહ્મ-ચર્યસ્ય સકલપ્રમાદસ્થાનત્વેન પ્રમાદઃ, અવિચારિતકાર્યકરણવુદ્ધિસમુત્પાદકત્વેન સાહસં, વોધિવીજવિનાશકત્વેન અજ્ઞાનમ્, અધોગતિકારકત્વેન અધર્મઃ, અષ્ટવિધકર્મજનકત્વેન અસિદ્ધિશ્ચ, એતે દોષાશ્ચેતોગૃહે સંયમરત્નાપહારાય યયેચ્છમાશુ પ્રવિગન્તિ ।

કિંચ - વિષયરાગઃ, સકલપાપાનાં નિદાનમ્ ; કુઠાર ઇવ ચારિત્રતરું છિન્તિ, કજ્જલ ઇવ મલિનયતિ સ્વચ્છમમ્બરમિવાત્માનમ્, ભવતિ ચાર્ગલા મોક્ષમાર્ગદ્વારસ્ય નરકનિગોદાઘનન્તદુઃસ્વાનાશ્ચ નિધાનમિતિ સર્વથા તમપહાય પરાઠ્ચયતિ ચશ્ચત્તપઃસંયમા-ચરણચતુરાસ્તપસ્વિનઃ ।

નનુ વહ્વો મન્ત્રારતથાવિધાઃ સન્તિ યે દેવાનાં દાનવાનામુપરિ પ્રભાવમાવિ-

માનોં અનેક અલ્પ-ગલ્પ લેકર પ્રવલ ગત્તુ આ હટે હો । પહેલે પહેલ તો આર્ત્ત-ધ્યાન ઔર રૌદ્રધ્યાન હૃદયમેં સ્થાન પા લેતે હૈં । ઇન્કે સ્થાન પાતે હી પ્રમાદ, સાહસ, અજ્ઞાન, અધર્મ, અસિદ્ધિ આદિ અનેક દોષ ઉપસ્થિત હોતે હૈ ।

અબ્રહ્મચારીકો પ્રમાદકે સવ કારણ મૌજૂદ રહતે હૈ ઇસલિએ પ્રમાદ, વિના વિચારે કાર્ય કરનેસે સાહસ, વોધિ રૂપી વીજકા વિનાગક હોનેસે અજ્ઞાન, અધોગતિમેં લેજાનેકે કારણ અધર્મ, ઔર આઠો કર્મોકા જનક હોનેસે અસિદ્ધિ, ઔર ઇસ પ્રકારકે અનેક દોષ શત્રુકી તરહ ચિત્તરૂપી ઘરમેં સયમરૂપી રત્નકો લટનેકે લિએ ઇચ્છાનુસાર પ્રવેગ કર જાતે હૈ ।

વિષયરાગ સકલ પાપોંકા મૂલ કારણ હૈ, ચારિત્ર-વૃક્ષકો, કાટનેકે લિએ કુઠાર હૈ; જિસ પ્રકાર કજ્જલ, સફેદ વલ્કો મલિન કર દેતા હૈ ઁસી પ્રકાર આત્માકો મલિન કરને વાલા હૈ, મુક્તિકે માર્ગકી અર્ગલા હૈ, નરક નિગોદકે દુઃસ્વો કા નિધાન હૈ ઔર વિવિધ વ્યાધિયો કા ઉત્પત્તિસ્થાન હૈ, અતએવ તપ ઔર સયમકે પાલનેમેં ચતુર તપસ્વી લોગ ઇસ (વિષય-રાગ) કો બિલકુલ છોડકર અલગ હોતે હૈ ।

અનેક અસ્ત્ર-શસ્ત્ર લઈને પ્રબળ શત્રુઓ આવી પહોંચ્યા હોય પહેલા તો આર્ત્ત-ધ્યાન અને રૌદ્ર-ધ્યાન હૃદયમા સ્થાન જમાવી લે છે તેને સ્થાન મળતા જ પ્રમાદ, સાહસ, અજ્ઞાન, અધર્મ અસિદ્ધિ આદિ અનેક દોષો આવી ઊભા રહે છે

અબ્રહ્મચારીની સમીપે પ્રમાદના બધા કારણો હાજર રહે છે. એથી પ્રમાદ, વગર વિચારે કાર્ય કરવાથી સાહસ, વોધિરૂપી બીજનું વિનાશક હોવાથી અજ્ઞાન, અધોગતિમાં લઈ જવાને કારણે અધર્મ, અને આઠે કર્મોનું જનક હોવાથી અસિદ્ધિ અને એવા જ બીજા અનેક દોષો શત્રુની પેઠે ચિત્તરૂપી ઘરમા સયમરૂપી રત્નને લૂટી લેવાને ઇચ્છાનુસાર પ્રવેશ કરે છે

વિષયરાગ બધા પાપોનું મૂળ કારણ છે, ચારિત્ર વૃક્ષને કાપનારો કુહાડો છે.

જેમ કાગળ સફેદ વસ્ત્રને મલિન કરી નાખે છે તેમ આત્માને મલિન કરનારો છે, મુક્તિના માર્ગની અર્ગલા છે, નરક નિગોદના દુઃખોનું નિધાન છે, અને વિવિધ વ્યાધિઓનું ઉત્પત્તિસ્થાન છે તેથી કરીને તપ અને સયમને પાળવામાં ચતુર એવા તપસ્વી લોકો આ (વિષયરાગ)ને બિલકુલ છોડીને તેથી દૂર જતા રહે છે.

भाँवयन्ति, परन्तु किमेतदाश्चर्यम् ? यत् स्त्रीणां चरित्रे तेऽपि मन्त्रा हतप्रायाः किमपि कर्तुं न प्रभवन्ति । अथासां चरित्रस्यैतादृशप्रभावशालिता, यत्पुरतो मन्त्रा अपि पराभूय निवर्तन्ते, तर्हि क उपायस्तदुद्भावितरागरञ्जुकर्तनाय संयताना-?-मिति चेत्, हन्त ! हृदय-सहचर ! योपित्सविधसंस्थितिपरित्याग एव तदीय-चरित्राऽऽपादितरागभङ्गोपाय इति धारणामुपैहि । उक्तञ्च—

“शृणु हृदय ! रहस्यं यत्प्रशस्तं मुनिनां,
न खलु न खलु योपित्संनिधिः संविधेयः ।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिभुरप्रैः,
पिहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम् ॥१॥
शास्त्रज्ञोऽपि प्रकटविनयोऽप्यात्मबोधेऽपि गाढः,
संसारेऽस्मिन् भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।
येनैतस्मिन् निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती,
वामाक्षीणां भवति कुटिला भूलता कुञ्चिकेव” ॥२॥

जो मन्त्र, देवों और दानवों पर भी अपना प्रभाव शीघ्रही दिखालाते हैं वे भी स्त्रीजनित राग पर प्रभाव नहीं डाल सकते । यह बड़े आश्चर्यकी बात है । स्त्रियों का चरित्र इतना प्रभावशाली होता है कि उसके सामने मन्त्र भी प्रभावहीन हो जाते हैं तब उनके विषयमें उत्पन्न होनेवाले राग-रञ्जुको काटनेके लिए मुनियोंको क्या उपाय करना चाहिये ? हे हृदय-सुहृद् ! स्त्रियोंके समीप रहनेका त्याग करदेना ही उनके विषयमें होनेवाले प्रेम-पाशके काटनेका उपाय है । कहा भी है—

“ऐ मन ! मुनियोंकी आत्माका कल्याण करनेवाले रहस्यको सुन, वह यह है कि—स्त्रियोंका सम्पर्क (संसर्ग) सर्वथा नहीं करना चाहिये, क्योंकि शम-रूप कवच पहने हुए उत्तम पुरुषोंके अन्तःकरणको भी स्त्रिया अपनो आंखेरूपी छुरी की धारसे छिन्न-भिन्न कर डालती है” ॥१॥

ये मन्त्र, देवों अने दानवों पर पशु पोताने प्रभाव तुरत अतावी आपे छे, ते मन्त्र पशु स्त्रीजनित राग पर प्रभाव पाडी शकते नथी, ऐ मोटा आश्चर्यनी बात छे. स्त्रीओतुं चरित्र ओटकुं प्रभावशाली होय छे के तेनी सामे मन्त्र पशु प्रभावहीन भूनी जाय छे. तेना विषयमा उत्पन्न थनारा रागरञ्जुने कापवा भाटे मुनिओओ क्ये उपाय करवे नोछे ? हे हृदय-सुहृद् ! स्त्रीओनी समीपे रहेवानुं छोडी देवुं ओज ओना विषयमां उत्पन्न थता प्रेमपाशने कापवाने उपाय छे. कहुं छे के—हे मन ! मुनिओना आत्मानुं कदयाषु करनारा रहस्यने श्रवणु कर ते आ प्रभाषे छे—

“स्त्रीओना संपर्क (संसर्ग) सर्वथा न करवे नोछे, कारणु के शमरूपी कवच पडे-देवा उत्तम पुरुषेना अतःकरणे पशु स्त्रीओ पोतानी आंखेरूपी छुरीनी धारथी छिन्न-भिन्न करी नाये छे.” ॥१॥

વસ્તુતસ્તુ ઇહાસનાદિસંસારે સ્વસ્મિન્નપિ શરીરે જીવસ્ય કિં નામ સ્વાતન્વ્યમ્ ? દૃશ્યતે હિ લોકેઽપકૃષ્ટમનુજપશુપક્ષિસરીસૃપાન્નિગરીરોપભોગમવાઙ્મતોઽપિ પ્રાણિનસ્ત- ત્તદ્વ્યયોગેન અનાવૃત્તદેશાવસ્થાનાઽભિમતાઽન્નપાનાઽનવાસિશીતવાતાતપોપલ્લવૃષ્ટિદંશમગ્ના- દિજનિતાઽનેકવિધદુર્નિવારદુઃસ્વોપભોગઃ સોઢવ્યો ભવતીતિ, સ્વાતન્વ્યે તુ ન કોઽપિ તત્ત- દ્વમ્જ્ઞીકુર્યાત્ । અદ્વસંયોગ ઇવાદ્વવિયોગેઽપિ નાસ્તિ જીવસ્ય સ્વાતન્વ્યમ્ , તનુ- વિયોગમનિચ્છતામપિ મુખસમન્વિતાનાં મરણદર્શનાત્ , તમિચ્છતાં દુઃસ્વદર્શાનાં વિપા- દિભક્ષણેઽપ્યૈકાન્તિકમરણાદર્શનાચ્ચ ।

“પ્રવચનમે પ્રવીણ, વિનયવાન્ ઔર ગંભીર આત્મજ્ઞાનવાન્ હોતે હુએ મી કોઈ વિરલા હી વ્યક્તિ સદ્ગતિકી પ્રાપ્તિ કર પાતા હૈ । વ્યોકિ સસારમં ઁક એમી કુન્જી મૌજૂદ હૈ જો જલ્દી નરકકા દ્વાર સ્વોલ દેતી હૈ, વહ કુંજી વ્યા હૈ । સ્ત્રિયોકી ટેહી મૌહ” ॥૨॥

સચ હૈ—અનાદિ-કાલીન સસારમં, જીવોંકો અપને શરીરમં મી સ્વાધીનતા નહીં હૈ । અપકૃષ્ટ-મનુષ્ય પશુ પક્ષી સાંપ આદિકે હીન શરીરકો જો પ્રાણી ઁાહતે હી નહીં, ઁન્હે મી વહ શરીર ઘારણ કરના પડતા હૈ, ઁર ઁસકે સયોગસે અનિષ્ટ સ્થાનકા નિવાસ, અન્ન-પાનકી અપ્રાપ્તિ, ગર્મી સર્દી ઁલોકો વર્ષા, હવા, ઁંસ-મચ્છર આદિસે હોનેવાલે ઁનેક પ્રકારકે દુ સ્વ ભોગને પડતે હૈ । ઁદિ ઁસે શરીરકો ઘારણ કરના અપનો ઁચ્છા પર નિર્મર હોતા તો કોઈ મી પ્રાણો ઁસા દુઃસ્વદાયી શરીરકો ઘારણ ન કરતા ।

જિસ પ્રકાર શરીર ઘારણમં જીવ સ્વાધીન નહીં હૈ ઁમો પ્રકાર ઁમકે ત્યાગનેમં મી સ્વાધીન નહીં હૈ । સસારમે જો પ્રાણો મુખમમ્પન્ન હૈ વે વર્તમાન શરીરકા ત્યાગ નહીં કરના ઁાહતે, ફિર મી ઁનકી મૃત્યુ હો જાતી હૈ । ઁર મૃત્યુકો કામના કરનેવાલે દુ સ્વી જીવ વિપ આદિ ભક્ષણ કર લેતે હૈ તો મી કમી-કમી વચ જાતે-હે, અતઃ સિદ્ધ હુઆ કિ અપના શરારમી અપને અધીન નહીં હૈ ।

“પ્રવચનમાં પ્રવીણ, વિનયવાન્ ઁને ગંભીર આત્મજ્ઞાનવાન્ હોવા છતાં ઁણુ વિરલ વ્યક્તિ જ સદ્ગતિને પ્રાપ્ત કરી શકે છે. કારણુ કે સસારમા ઁક ઁવી કુંચી મોજૂદ છે કે જે જલ્દી નરકતુ દ્વાર ખોલી નાંખે છે ઁ કુંચી કઇ છે ? સ્ત્રીની વાકી ભમ્ભર ॥૨॥

અઁ છે અનાદિકાલીન સસારમા, ઁવો પાસે પોતાના શરીરની ઁણુ સ્વાધીનતા નથી. અપકૃષ્ટ-મનુષ્ય પશુ પક્ષી સાંપ આદિના હીન શરીરને જે પ્રાણી ઁાહતા જ નથી, તેમને ઁણુ ઁ શરીર ઘારણુ કરવા પડે છે. ઁને તેના સયોગથી અનિષ્ટ સ્થાનનો નિવાસ, અન્ન પાનની અપ્રાપ્તિ, તાપ ટાઢ, કરાનો વરમાદ, હવા ઁમ-મચ્છર આદિથી ઉત્પન્ન થતા ઁનેક પ્રકારના દુઃખો ભોગવવા પડે છે જે ઁવા શરીરને ઘારણુ કરવાતુ પોતાની ઁચ્છા પર જ નિર્મર હોન તો કોઈ ઁણુ પ્રાણી ઁવા દુઃખદાયી શરીરને ઘારણુ ન કરત.

જેવી રીતે શરીર ઘારણુ કરવામા ઁવ સ્વાધીન નથી તેવી રીતે તેને ત્યજવામા ઁણુ સ્વાધીન નથી. સસારમા જે પ્રાણીઓ મુખમ પન્ન છે તેઓ વર્ષાપાન શરીરનો ત્યાગ કરવા ઁચ્છતા નથી, તો ઁણુ ઁમતુ મૃત્યુ થઈ જાય છે. ઁને મૃત્યુની કામના કરનારા દુ ખી

जीवस्य स्वातन्त्र्येण शरीरस्वामित्वे सति अनेकेषां कुसुमसुकुमाराणां सुन्दरा-
वयवानां कतिपयानामतीतदेवादिशरीराणां विनाशः कथं न वारितः ? तस्माद् देहे-
गेहादि किमपि वस्तु कस्यापि नास्ति, किन्तु अज्ञानवशाज्जीवाः इदं मम, इय ममे'
त्यादिस्वरूपं ममत्वं कुर्वन्तीति निश्चोयते ।

इत्थं च स्वकीयदेहगेहादौ ममत्वकरणमज्ञानमूलं, कर्मबन्धहेतुश्चेति विवेकिनः
स्वदेहेऽपि ममत्वं न कुर्वन्ति, किं पुनरन्यदीयदेहगेहादौ—इत्यनुचिन्तनेन समुत्पन्नया
“न सा मम, नाहं तस्याः” इत्याकारया विवेकबुद्ध्या मनसि प्रसृतं रागं प्रशम-
येदिति भावः ॥ अत्र गाथायां ‘परिव्वयंतो’ इत्यत्र सौत्रत्वात्पष्ठ्यर्थे प्रथमा, ‘वहिद्धा’ इति
प्राकृतत्वात्, यद्वा वहिर्भावतीति विग्रहे पृषोदरादित्वाद्भकारादिलोपः । इति गाथार्थः ॥४॥

पूर्वगाथया ‘रागव्यपनयः कर्त्तव्यः’ इत्युक्तं, स च बाह्यक्रियायन्तरेण न
सम्भवतीत्यतस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—‘आयावयाही’ इत्यादि ।

१ ३ २ ४ ५ ८ ६ ७
मूलम्—आयावयाही चय सोगमलं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।

१० ९ १२ ११ १३ १५ १६ १४
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ।५।

यदि शरीर पर प्राणीका अधिकार हो तो फूल से कोमल तथा सुन्दर अवयववाले अतीत-
कालीन देव आदिके शरीरके वियोगको क्यों न रोक लेता ? सत्य बात तो यह है कि—देह गेह
आदि कोई भी वस्तु किसीकी नहीं है । जीव अज्ञानके कारण ‘यह मेरा है’ ‘यह मेरी है’ इस
प्रकारकी ममता करते हैं, अत एव शरीरमें ममता करना ही अज्ञान—मूलक और परिग्रह होने
से कर्म-बन्धका कारण है, ऐसासमझ कर विवेकी जन अपने शरीर में भी स्नेह नहीं करते तो
दूसरेकी देहमे कैसे स्नेह करेंगे ? ऐसा सोच कर, मनमें उत्पन्न हुए भी रागादिको “न वह मेरी
है” और “ न मैं उसका हूँ” इस प्रकार की भावनासे दूर कर मुनि, उस निकले हुए मनको फिर
से सयम—घरमें लावे ॥४॥

जुवो विष आदि बक्षुणी करी ले छे तोपणु कोर कोर वार जयी जय छे. जे उपरथी सिद्ध
थयु के आपणु शरीर पणु आपणुने आधीन नथी

जे शरीर पर प्राणीना अधिकार होत तो कूलथीय कोमल तथा सुन्दर अवयववाला
अतीतकालीन देवादिना शरीरना वियोगने केम रोकी रागत नहि ? साथी बात जे छे के
देह गेह आदि कोर पणु वस्तु कोरनी नथी जेव अज्ञानने कारणे ‘आ मारे छे’ जे
‘जे मारी छे’ जे प्रकारनी भमता राणे छे. जेटले शरीर पर भमता राणवी जेव अज्ञान-
मूलक जेने परिग्रह रूप होवाने कारणे कर्मबन्धुं कारणे छे जेवु समजने विवेकीजन
पौताना शरीर पर पणु स्नेह राणता नथी, तो पछी भीजना देह पर केम स्नेह करे ?
जेभ विचारीने मनसा उत्पन्न थयेला रागादिने, “जे मारी नथी” के “हु तेना नथी” जेवी
भावनाथी दूर करीने, मुनि संयमघरथी जहार नीकणेलो मनने पाछुं संयमघरमा लावे. (४)

छाया-आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् काम क्रान्तमेव दुःखम् ॥

छिन्धि द्वेषं व्यपनय रागम्, एवं सुखी भविष्यसि सम्पराये ॥५॥
स्त्रीपरसे मोह हटानेका उपाय कहते हैं—

सान्वयार्थः—आयावयाही=शरीरको तपस्यासे सुखा डालो, सोगमहं=सुकुमारता-अमी
रीको चय=त्यागो, कामे=विषयकी इच्छाओंको कमाही=कात्रमें करो-गोको, (ऐसा करनेसे)
खु=निश्चय करके दुःख=दुःख कमियं=दूर होगा, दोसं=द्वेषको छिंदाहि=छेदो-नष्ट करो,
रागं=रागको विणएज्ज=हटाओ-दूर करो; एवं=इस प्रकार करनेसे (तुम) सपराए=संसार-
में सुही=सुखी होहिसि=होवोगे ॥५॥

टीका—हे शिष्य ! त्वं श्रामण्ययोगाद्बहिर्निर्गतं चित्तं प्रतिरोद्धुम् आतापय=शीतो-
ष्णादिसहनो-त्कुटुकासनाद्यवलम्बना-ऽनशनादिदुष्करतपोविधानैस्तनुं तापय, सौकुमार्यं=
शरीरसुकुमारतां त्यज=परिहर, यद्वा, आतापयेतिपदेन बोधितमेवार्थं विशदयति-सौकुमार्यं
त्यजेति शरीरसुखसाधने दत्तचित्तो मा भव, शीतवातादिपरीषहसहनयोग्यतां सम्पादयेति
भावार्थः । कम्यन्त इति कामाः=शब्दादिविषयास्तान् काम=अतिक्राम-सन्त्यजेत्यर्थः ।
कामातिक्रमणे सति तु दुःखं क्रान्तमेव गतमेव नष्टमेवेत्यर्थः । कामा एव हि दुःख-
समुदायनिदानम् ।

पूर्व गाथामें, उत्पन्न हुए रागका परित्याग करना कहा किन्तु रागका त्याग तप आदि बाह्य
क्रियाओके विना नहीं हो सकता । इसलिए अब उनकी प्ररूपणा करते हैं—‘आयावयाही’ इत्यादि,

हे शिष्य ! तपस्या कर-आतापना ले, सुकुमारताका त्याग कर, इन्द्रियो के विषयोमें राग न
कर, रागके त्यागसे दुःखोका नाश होही जाता है । तूं द्वेषका लेखन रहने दे, और रागको छोड
दे, तो तू संसारमें सुखी अथवा परीषह उपसर्गोंके युद्धमें विजयी होगा । तात्पर्य-हे शिष्य ! श्राम-
ण्ययोग (सयमरूप घर) से बाहर मन निकल जाय तो शीत उष्ण आदि सह कर और उत्कुटु-
कासन आदिका आश्रय लेकर, तथा अनशन आदि तप करके शरीरको सुखा डाल, शरीरकी
कोमलताका त्याग कर, अर्थात् अपने शरीरको शीत-आतप प्रभृति परीषह सहने योग्य बना ले,

पूर्व गाथामा, उत्पन्न थयेला रागने परित्याग करवातुं कहुं; किन्तु रागने त्याग
तप आदि बाह्य क्रियाओ विना थर्ष शकतो नथी. तेटला भाटे ऐनी प्ररूपणा करे छे
आयावयाही० इत्यादि

हे शिष्य ! तपस्या कर-आतापना ले, सुकुमारताने त्याग कर इन्द्रियोना विषयोमा
राग न कर, रागना त्यागथी दुःखोको नाश थर्ष न नय छे तु द्वेषने अश पणु रहैवा
न हे अने रागने छोडी दे, तेथी तु संसारमा सुभी अथवा परिषह उपसर्गों साथेना
युद्धमा विजयी थर्षश तात्पर्यं अे छे के-हे शिष्य ! श्रामण्ययोग (सयमरूपी घर) था
अडार मन नीकणी नय तो टाढ-ताप आदि परीषह अने उत्कुटुक आसन आदिने आश्रय
लर्षने, तथा अनशन आदि तप करिने शरीरने सुखी नाथ, शरीरनी कोमलताने त्याग
कर, अर्थात् पेताना शरीरने टाढ-ताप आदि परीषह सहैवाने योग्य अनावी दे. शारीरिक

ननु 'यथा बुभुक्षापिपासादीनामशनपानादिभिरेव निवृत्तिस्तद्वत्कामानामुपभोगेन भविष्यति ?

मैवम्, हे शिष्य ! विषयवासनेव तावत्सकलाऽनर्थमूलम्, विशेषतश्चारित्र्यमुच्छेद्यन्ती रागद्वेषौ दृढीकुरुते । यथा विदेश गतस्य कस्यचित् प्रेयसो जीवितस्यापि श्रुतायां मरण-वार्त्तायां जना रुदन्ति न तथा तस्मिन्मृतेऽप्यश्रुतायां तदीयमरणप्रवृत्तौ, तरसाच्चेतोविकृतिरेव मुख्यतः सुखदुःखबन्धहेतुः, विषयवासनायाः समुच्छेदमन्तरेण पुनः पुनरष्टविधानां कर्मणामङ्कुरणं न शक्यते प्रतिरोद्धुं, तेषां विषयवासना मूलकत्वात् । उक्तञ्च—

शारीरिक सुखोकी सामग्रीमें मन न लगा । जिनकी कामना की जाती है, उन्हें काम कहते हैं, उन कामो (शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रियविषयो) की अपेक्षा न रख । ऐसा करनेसे दुःखोका अस्तित्व रह नहीं सकता, उनका नाश ही समझ क्योंकि काम ही दुःखोका कारण है।

शंका—हे गुरुमहाराज ! जैसे भोजन करनेसे भूख शान्त हो जाती है, और पानी पीनेसे प्यास बुझती है, वैसेही विषयोका सेवन करनेसे विषयसेवनको इच्छा भी शान्त हो जायगी तो फिर आतापना आदि बाह्य तप क्यों करना चाहिए ?

उत्तर—हे शिष्य! ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि विषयोकी वासना (इच्छा) ही सब अनर्थोकी जड़ है, और चरित्ररूपी वृक्षकी जड़को उखाड़नेवाली है । यह रागद्वेषको दृढ़ करती है । परदेश गया हुआ कोई इष्टमित्र जीवित हो परन्तु उसकी मृत्युका समाचार मित्रे तो सम्बन्धी लोग रोने लगते हैं, और यदि वह मर जाय किन्तु मरनेका समाचार न मिले तो कोई भी नहीं रोता । इससे ज्ञात होता है कि चित्तका विकार ही सुख दुःखका मुख्य कारण है ।

इसलिए जब तक मनमें विषयवासनाका समूल त्याग नहीं होता तब तक आठों कर्मोकी

सुषोनी सामग्रीमां मन न लगाड जेनी कामना करवाभा आवे छे तेने काम कडे छे ओ कामो (शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रिय-विषयो) नी अपेक्षा न राख ओम कन्वाथी दुःखोनुं अस्तित्व रही शक्ये नहि, ओनो नाश न समझ, केमके काम न हुअनुं कारण छे.

शंका—हे गुरु महाराज ! जेम भोजन करवाथी लूभ शान्त थई जय छे अने पाणी पीवाथी तरस छीये छे, तेमज विषयोनु सेवन करवाथी विषय सेवननी इच्छा शान्त थई जय, तो पछी आतापना आदि बाह्य तप करवानी शी जर ?

उत्तर—हे शिष्य ! ओवी शंका करवी उचित नथी, कारण के विषयोनी वासना (इच्छा) न जधा अनर्थोनु भूण छे अने चरित्ररूपी वृक्षना भूणने उखाडनारी छे. ते रागद्वेषने दृढ करे छे परदेश गयेलो कोई इष्टमित्र जवता होय परतु तेना मृत्युना समाचार भणे तो सगा-सज्जो देवा लागे छे. अने जे ते मरी जय पणु मरवाना समाचार न भणे तो कोई पणु देतु नथी, ओथी समझय छे के चित्तना विकारन सुखदुःखनुं मुख्य कारण छे

ओ कारणथी ज्यासुधी मनमाथी विषयवासनानो समूगो त्याग नथी थतो त्यासुधी आठे कर्मोनी उत्पत्तिने देही शकती नथी कारण के तेनु भूण विषयवासना छे. कहु पणु छेके—

“विचारितमलं शास्त्रं, चिन्मग्नद्राहितं मिथः ।

सन्त्यक्तवासनान्मौनाद्, ऋते नास्त्युत्तमं पदम् ॥” इति ।

यथा पवनपथे पक्षिणः स्वच्छन्दं विहरन्ति तथाऽनुपमाऽलौकिकाऽऽनन्दमयमोक्ष-
मार्गसंचारिणः सयमिनः प्रतिबन्धरहितं निहरन्ति, परन्तु जालबद्धा विहङ्गमा उत्पतनयत्न-
वन्तोऽपि यथा निर्वन्धविहाराय न प्रभवन्ति, तद्वद् विषयसेवनाऽऽशालक्षणविषयवासना-
कलितचेतसो मुनयोऽनुपलभ्य मोक्षमार्गमप्रतिबन्धविचरणवञ्चिता भवन्तीति जिप्य !
जानीहि तावद् विषयाशां दुस्तरमहानदीसमानाम् । उक्तञ्च—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।

मोहाऽऽवर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,

तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ १ ॥” इति

उत्पत्ति नहीं रुक सकती, क्योंकि उनका मूल, विषय-वासना है । कहा भी है—

“भले ही कोई कितनेही शास्त्रोका मनन करले, या दृसरोको सिखलादे, पर जब तक
वासनाका परित्याग करके समिति-गुप्ति-आदिरूप सयमकी आराधना नहीं कर लेता तब तक क्षीम
प्राप्त नहीं कर सकता” ॥१॥

जैसे-पक्षी आकाशमें स्वच्छन्द विहार करते हैं, उसीप्रकार अनुपम अलौकिक आनन्दमय
मोक्षमार्गमें विहार करनेवाले सयमी भी अप्रतिबन्धविहारी होते हैं । किन्तु जिस प्रकार जालमें
फँसे हुए पक्षी उड़नेका यत्न करते हैं पर उड़ नहीं सकते, उमी-प्रकार विषयसेवनेकी आशारूप
वासनासे मुनि मोक्षमार्गको न पाकर अप्रतिबन्ध विहारसे वचिन रहते हैं । हे जिप्य ! इस
विषय-वासनाको ऐसी विशाल नदी समझ कि जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है । कहा भी है ।

“आशा’ नदीके समान है, इसमें मनोरथरूपी जल भरा हुआ है, तृष्णाकी तरंगे छलागे
मार रही है, रागरूपी ग्राह इसमें निवास करते हैं, नाना प्रकारके सोच-विचार ही इसमें पक्षी

“भले कोछि गमे तेटला शास्त्रोतु मनन करी दे, अथव आनन्दाने शीभवे परन्तु
न्यासुधी वासनाने त्याग करीने समिति गुप्ति आदिरूप सयमनी आराधना करी देतो
नथी, त्यासुधी मोक्ष प्राप्त करी शकतो नथी,” (१)

जेम पक्षी आकाशमा स्वच्छन्द विहार करे, तेम अनुपम अलौकिक आनन्दमय
मोक्षमार्गमा विहार करनारा सयमी पक्ष अप्रतिबन्ध विहारी होय छे परन्तु जेवी रीते
जालमा इसायेला पक्षीयो उडवानो यत्न करे छे. पक्षु उडी शकता नथी, तेवी रीते विषयना
सेवाननी आशाऽप वासनानी वासिन अतःकश्चुवाणा मुनियो मोक्षमार्गने न पावता अ
प्रतिबन्ध विहारथी वचिन रहे छे, हे जिप्य ! आ विषयवासनाने जेवी विशाल नदी
समझ के जेने पार पावये अत्यन्त कठिण छे उहु छे के—

“आशा नदीना जेवी छे, तेमा मनोरथरूपी जल लरेलु छे. तृष्णाऽपि तरंगो उछणी

अपरं चाऽऽकर्णय—

“विषयाशामहापाशाद्, यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।

स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः पद्शास्त्रवेद्यपि ॥ १ ॥ ” इति.

हे शिष्य ! एवं विषयभोगस्पृहाऽपि महतेऽनर्थाय कल्पते, किं पुनस्तदुपसेवनं, तदेवमाकलय तावत्-मुखाशया दीपकोपगमनं पतङ्गानाम्, दासधिया ग्राह-ग्रहण-पुरस्सरं नदीतरणं मनुष्याणाम् । किञ्च बुभुक्षापिपासादिदृष्टान्तस्यात्र वैषम्यं विद्यते, नहि कामा उपभोगेन शाम्यन्ति प्रत्युताभ्यासवशादतितरां वृद्धिमेशोपगच्छन्ति, यदुक्तमन्यत्रापि—

“ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शान्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मव, भूय एवाभिवर्धते ॥ १ ॥ ” इति,

है, यह नदी धीरता-रूपी वृक्षको विन्वस करनेवाली है, चिन्तारूपी इसका तट है, इसका पार करना बहुत कठिन है, जो मुनीश्वर इस नदीको पार कर लेते है वे ही सुखी होते है ॥१॥

और सुनो—

“विषयोक्ता आशापाश दुस्त्याज्य हे । जो इस पाश से मुक्त हो जाते है वे ही मोक्ष-मार्गके अधिकारी होते है, अन्य नहीं, चाहे वह सभी शास्त्रोके पारंगत क्यों न हो ! ॥१॥”

हे शिष्य ! इसप्रकार विषय भोगनेकी इच्छा भी महान् अनर्थको उत्पन्न करती है, तो विषयोके सेवनके विषयमे तो कहना ही क्या है ? बस तू यही समझ ले जैसे सुख पानेकी इच्छासे पतंगोका दीपकमें गिरना है, अथवा कोई भोला मनुष्य लकड़ी समझकर ग्राहको पकड़ लेवे और उसीका सहारा लेकर नदी पार करना चाहे तो वह कभी सफलमनोरथ नहीं होगा वरन् उसे प्राण त्यागने पड़ेगे, इसी प्रकार विषय भागनेसे विषयोकी वासना मिट जायगी, यह विचारना ठीक नहीं है ।

भूख-प्यासका दृष्टान्त भी यहाँ मेल नहीं खाता, क्योंकि विषय-सेवनसे काम शान्त नहीं

रहतां छे, रागऱपी आड अेमा निवास करे छे, नाना प्रकारना विचारो तमा पक्षाऱप छे, अ धीरताऱपी वृक्षनो ध्वस कवावाणी छे चिन्ता अेना तट छे अे नदीने पार करवी अत्यंत कठणु छे अे मुनीश्वर अे नदीने पार करे छे ते अ सुधी थाय छे,” (१) अने वणी श्रवणु करे।—

‘विषयेनो आशापाश दुस्त्याज्य छे अेअो अे पाशथी मुक्त थर् अय छे तेअो अे मोक्षमार्गना अधिकारी अने छे-णीअ नहि, पछी लदे तेअो अथा शास्त्रेना पारगत केम न होय ?’ (१)

हे शिष्य ! अे रीते विषय लोगववाना इच्छा अ महान् अनर्थने उत्पन्न करे छे. तो विषयेना सेवननी भागतमा तो कडेवुं शु ? अस, तुं समणु ले के-अेम सुथ पाम-वानी इच्छाथी पतंगो दीपकमा होमाय छे, अथवा कोठ लोगो भाणुस लाकडुं समणुने आड (भगर) ने पकडी ले अने तेने आधारे नदी पार करवा इच्छे तो कदापि तेना मनो-रथ सक्षण न थाय परन्तु तेने प्राणु त्यजवानो अ वणत आवे, तेम “विषय लोगववाथी विषयेनी वासना मटी अशे.” अेम विचारवु अे अराअर नथी.

લોકેऽપિ ચ દૃશ્યતે-યથા યથા વહ્નાવિન્ધનानि प्रक्षिप्यन्ते तथा तथाऽसौ प्रावलय-
मधिगच्छति । अन्यच्च दद्रुरोगप्रशमनामिलापिणा यथा यथा तदीयकण्ड्वयनाऽऽद्रः
क्रियते, तथा तथा दद्रुरोगो वर्धमान एवाऽनुभूयते न तु जातु तदुपशमो लक्ष्यते कुत्राऽपि,
तद्वद् विषयसेवनतो न विषयतृष्णोपशमः ।

अपर चात्र वैषम्यं, तथाहि-विषयसेवनेच्छोपशमं प्रति विषयसेवनस्य, बुभुक्षाद्यु-
पशम प्रति भोजनादेरिव कारणत्वमङ्गीकृत्य यत् तदुपादेयता त्वयोपपाद्यते तन्न मनो-
रमम् . अन्वयव्यतिरेकौ हि सर्वसंमतौ कार्यकारणभावनियामकौ, तत्राऽन्वयः-‘तत्सत्त्वे
तत्सत्त्वारूपः’ व्यतिरेकस्तु-‘तदभावे तदभावरूपः’ । यथा सर्व-विरतिसत्त्वे साधुत्वसत्ता,

होते, बल्कि अधिक-अधिक बढ़ते हैं । कहा भी है-“कामोका सेवन करनेसे काम कदापि शान्त
नहीं होते, जैसे घीके डालनेसे अग्नि शान्त नहीं होती वरन् बढ़ती ही जाती है ॥१॥”

तथा लोकमें भी देखा जाता है कि-अग्निमें ज्यों-ज्यों इन्धन डाला जाता है, त्यों-न्यो
वह अधिक प्रबल होती जाती है, बुझती नहीं है । अथवा दादको खुजलानेसे दाद रोग मिटता
नहीं किन्तु बढ़ता ही जाता है ॥

उक्तं दृष्टान्तमें और भी विषमता है सो कहते हैं-जैसे बुभुक्षा (भूख)आदिको शान्त
करनेमें भोजन आदि कारण है, इसी प्रकार विषय- सेवनकी इच्छाको शान्त करनेमें विषयोका
सेवन कारण है, ऐसा मानकर तुम विषय-सेवनको उपादेय कहते हो सो ठीक नहीं है । यह सब
मानते हैं कि अन्वय-व्यतिरेकसे कार्य-कारणभावका निश्चय होता है, कारणके होने पर ही कार्यका
होना अन्वय कहलाता है, और कारणके अभावमें कार्यका न होना व्यतिरेक कहलाता है ।
जैसे सर्वविरतिरूप चारित्रके होने पर ही साधुता होती है और सर्वविरतिरूप चारित्रके अभावमें
साधुता नहीं रहती । इस अन्वयव्यतिरेकसे ज्ञात होता है कि विरति साधुत्वका कारण है ।

ભૂખ-તન્નુ દૃષ્ટાત પણ અહીં બંધ બેસતુ નથી, કારણ કે વિષય-સેવનથી કામ
શાન્ત થતો નથી, પરન્તુ વધારે ને વધારે વધે છે, કહ્યું છે કે- ‘કામોનુ’ સેવન કરવાથી
કામ કદાપિ શાન્ત થતો નથી, જેમ ધી નાખવાથી અગ્નિ શાન્ત થતો નથી. પરતુ વધતો
બધ છે ” (૧) તેમજ-ગ્ગતમા પણ ભેવામા આવે છે કે-અગ્નિમા જેમ-જેમ ધંધન
નાખવામા આવે છે, તેમ-તેમ તે વધારે પ્રબળ થતો બધ છે, એલવાતો નથી અથવા
દાદરને ખજવાળવાથી દાદર મટતી નથી પણ વધતી બધ છે.

ઉક્ત દૃષ્ટાંતમાં બીજી પણ વિષમતા છે તે કહે છે-જેમ ભૂખ આદિને શાન્ત કરવામાં
ભોજન આદિ કારણ છે, તેમ વિષય-સેવનનો ઈષ્ટિછાને શાન્ત કરવામા વિષયોનું સેવન કારણ
છે, એમ માનીને તમે વિષય-સેવનને ઉપાદેય કહો છો તે ખરાખર નથી, સૌ એમ તો માને
છે કે-અન્વય-વ્યતિરેકથી કાર્ય કારણભાવનેા નિશ્ચય થાય છે. કારણ હોવાથી જ કાર્યનું ન
બનવું અન્વય કહેવાય છે અને કારણતા અભાવમા કાર્યનું ન બનવું એ વ્યતિરેક કહેવાય
છે, જેમ સર્વવિરતિરૂપ ચારિત્ર હોવાથી જ સાધુતા હોય છે. અને સર્વવિરતિરૂપ ચારિત્રના
અભાવમાં સાધુતા રહેતી નથી. આ અન્વય-વ્યતિરેકથી સમબધ છે કે વિરતિ સાધુત્વનું કારણ છે.

तदभावे च साधुसत्ताया अभाव इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां साधुत्वकारणं सर्वविरतिचारित्र-
मिति गम्यते ।

अथ च-तात्कालिकमेव बुभुक्षाद्युपशमं प्रति भोजनादेरन्वयव्यतिरेकतः कारणता
विद्यते, अतस्तादृशबुभुक्षाद्युपशमनकामनयैव भोजनाद्युपादीयते, अत्र तु यावज्जीवन विप-
यसेवनेच्छाप्रशमः साधुजनाऽभिलाषविषय इति तादृशप्रशममुद्दिश्य प्रवर्तमानानां मुनीनां
विषयसेवन कदापि नोपादेयम्, विषयसेवनसमये हि तदीयवासना रागमनुवर्द्धयन्ती-
न्द्रियाणि च स्वलयन्ती विविधाशुभभावनामुद्भावयति-‘अयमुपभोगो न जातु नश्यतु,
उत्तरोत्तरं चानुवर्द्धताम्, न चैनं प्रतिवधन्तु केऽपि विघ्नाः’ इत्यादि । एवं च विषय-
सेवनेन नैव तदभिलाषोपशमः प्रत्युत तद्विपरीतं प्रतिक्षणं वर्द्धमान एव तदभिलाषः पाश-
वद्धमिव पुरुषं पुरुषार्थसाधनाक्षमं कुरुते, तस्मात् कार्यकारणभावनियामकाऽन्वयव्यतिरेका-
भावेन यावज्जीवनं विषयसेवनतृष्णाप्रशमं प्रति विषयसेवनस्य कारणताऽनुपपत्त्या तादृ-
शोपशमाऽभिलाषवतां संयतानामनुपादेयत्वं सिद्धम् ।

जब भोजन क्रिया जाता है तो क्षुधाकी तात्कालिक शान्ति हो जाती है, बिना भोजन
क्रिये नहीं होती, इसलिए अन्वय-व्यतिरेकद्वारा भोजन तात्कालिक क्षुधा निवृत्तिके प्रति कारण
होता है । इसी कारणसे क्षुधाआदि शान्त करनेके लिए भोजन आदि क्रिया जाता है । साधु
जीवनपर्यन्त विषय-सेवनकी अभिलाषाकी शान्तिकी इच्छा रखते हैं । इस शान्तिके लिए प्रवृत्ति कर-
नेवाले मुनियोको कदापि विषयसेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि विषयवासना, विषयसेवनके
समय राग-भावकी वृद्धि करती है और इन्द्रियोको सबल बनाकर नाना प्रकारकी दुर्भावनाएँ उ-
त्पन्न करती है कि-‘यह भोग कभी नष्ट न हो जाय, उत्तरोत्तर बढ़ता जाय, इसके भोगनेमें कोई
विघ्न न आजावे’ इत्यादि । अत एव विषयसेवन करनेसे विषयकी अभिलाषा शान्त नहीं होती,
बल्कि प्रतिक्षण अधिक-अधिक बढ़ती जाती है । यहां तक कि यह विषयलालसा पुरुषको
इतना निकम्मा बना देती है कि वह पुरुषार्थ-साधनमें सर्वथा असमर्थ हो जाता है, जैसे फन्देमें
फँसा हुआ पुरुष कुछभो पुरुषार्थ नहीं कर सकता । इसलिए यहाँ कार्य-कारणभावका निश्चय

ज्यादे लोअन करवामा आवे छे त्यादे क्षुधाना तात्कालिक शान्ति थरि जय छे, लोअन कर्या बिना
शान्ति थती नथी, तेथी अन्वय-व्यतिरेक द्वारा लोअन तात्कालिक क्षुधानिवृत्तिने प्रति कारण
जने छे आ कारणथी क्षुधा पिपासा आदि शान्त करवाने माटे लोअन आदि करवामा आवे छे.
साधु जीवनपर्यन्त विषय-सेवननी अभिलाषानी शान्तिनी इच्छा राखे छे. आ शान्तिने माटे
प्रवृत्ति करनारा मुनियोअे कदापि विषयसेवन करवु न जेधये कारण के विषयवासना विषय-
सेवनने समये राग-भावनी वृद्धि करे छे, अने इन्द्रियोने सजण जनावीने जेवी नाना
प्रकारनी दुर्भावनाओ उत्पन्न करे छे के-‘आ लोग कदापि नष्ट न थाय उत्तरोत्तर वधने।
जय, अने लोगववमा कछ विघ्न न आवे, इत्यादि जेटवे के विषयसेवनथी विषयनी
अभिलाषा शान्त थती नथी, जेटवे प्रतिक्षण अधिक-अधिक वधती जय छे. ते जेटवे
सुधी के जे विषयलालसा पुंअने केवण नक्षामे जनावी हे छे अने ते पुरुषार्थ-साधनमा
सर्वथा असमर्थ जनी जय छे. के जेवी रीते इंधामा (इंडगा) इंधायेसो पुंअ कछ पातु
पुरुषार्थ करी शकते नथी. तेथी करीने अडीं कार्य-कारणभावने निश्चय करवनारा अन्वय-

इत्थं पूर्वार्द्धेन बाह्यकामपरित्यागमुक्त्वा पश्चार्द्धेनाऽऽभ्यन्तरकामपरित्यागमाह—
'छिंदाहि०' इति, शब्दादिविषयेषु द्वेषं छिन्धि=मुञ्च, तथा रागं=कामरागं व्यपनय=दूरी-
कुरु, एवम्=एवं कृते सति, सम्पराये=जन्ममरणरूपत्वेन नाशमये संमारेऽपीति भावः ।

यद्वा परीषहोपसर्गरूपे संग्रामे, त्वमितिशेषः; सुखी=स्वात्मिकानन्दभाग् भविष्यसीति
गाथार्थः ॥ ५ ॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्फुटीकरोति—'पक्खंदे०' इत्यादि,

मूलम्-पक्खंदे जलियं जोईं, धूमकेउं दुरासयं ।

नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥६॥

छाया-प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिष, धूमकेतुं दुरासदम् ।

नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥६॥

सान्त्वयार्थः—

अगंधणे=अगन्धननामक कुले=कुलमें जाया=उत्पन्न हुए (सर्प) जलियं=जलती हुई
धूमकेउं=धुंआंनिकालती हुई (और) दुरासयं=असह्य-नहीं सहने योग्य (ऐसी) जोईं=अग्नि
में पक्खंदे=प्रवेश कर जाते हैं, (किन्तु) वंतयं=उगले हुए विषको भोत्तुं=भोगनेकी नेच्छंति
=इच्छा नहीं करते । अर्थात् अगन्धन सर्प भी त्यागे हुएको फिर ग्रहणनहीं करना चाह
ते ॥६॥

करानेवाले अन्वयव्यतिरेकका अभाव होनेसे यावज्जीवन विषय-लालसाकी शान्तिके प्रति विषयसेवन
कारण नहीं हो सकता । अतः या वज्जीवन विषयाभिलाषाकी शान्ति चाहनेवाले मुनियोंको यह
उपादेय नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वार्द्धमें सूत्रकार बाह्य-विषयोका त्याग बताकर उत्तरार्द्धमें अन्तरङ्ग-विषयोंके
त्यागका उपदेश देते हैं कि—हे शिष्य ! शब्दादि-विषयोंमें द्वेष तथा रागको दूर कर । ऐसा कर-
नेसे तू जन्म-मरण स्वरूपवाले विनश्वर ससारमें सुखी, अथवा अनुकूल प्रतिकूल परीषह और
उपसर्ग रूप संग्राममें विजयी होगा ॥५॥

इसी विषयको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं—'पक्खंदे०' इत्यादि ।

साथ दो प्रकारके होते हैं—(१) गन्धन और (२) अगन्धन, गन्धन सर्प उन्हें कहते

व्यक्तिरेकने। अलाव होवाथी जवनपर्यंत विषयलालसाकी शान्तिनी प्रति विषयसेवन
कारण थक शकतु नहीं, अतएव जवनपर्यन्त विषयाभिलाषाकी शान्तिने आह्वनारा मुनिआने
भाटे ओ उपादेय नहीं

ओ प्रकारे पूर्वार्धमां सूत्रकार बाह्य विषयोनो त्याग बतावीने उत्तरार्धमां अन्तरंग
विषयोनो त्यागनो उपदेश आये छे हे-हे शिष्य ! शब्दादि-विषयोंमां द्वेष तथा रागने दूर
कर ओम करवाथी जन्म-मरणस्वरूपवाला विनश्वर ससारमां सुखी, अथवा अनुकूल-
प्रतिकूल परीषह तथा उपसर्गना संग्राममा विजयी थकश. (५)

आ विषयने दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करे छे—पक्खंदे० इत्यादि.

साथ ओ प्रकारना थाय छे. (१) गंधन अने (२) अगंधन. गंधन सर्प ओ कडेवाय छे

टीका-गन्धना-ऽगन्धनभेदेन भुजगा द्विविधास्तत्र गन्धनास्ते ये मन्त्रप्रयोगादिवशाद्-
 ष्टप्रदेशे वान्तं विषं पुनश्चूषन्ति, तद्भिन्ना अगन्धनास्तत्कुलमगन्धनं तस्मिन् कुले जाताः=
 समुत्पन्नाःसर्पा इति शेषः, ज्वलितं=प्रदीप्तं धूमकेतुं=धूमः केतु=श्विहं यस्य तं धूमध्वजमि-
 त्यर्थः, अत एव दुरासदम्=दुःखेन आसद्यते=धातूनामनेकार्थत्वात् सद्यते संवेद्यते इति
 वाऽर्थस्तं दुष्प्रवेशमिति यावत्, ज्योतिषम्=अग्निम् प्रस्कन्दन्ति=प्रविशन्ति, किन्त्विति-
 शेषः, वान्तम्=उद्गीर्णं सन्त्यक्तमितियावत् विषमितिशेषः भोक्तुं नेच्छन्ति=नाभिलषन्ति
 तिर्यञ्चः सर्पा अपि वह्निप्रवेशापेक्षया दुःसहमनुचितं च वान्ताशनमेव मन्यन्ते । तस्मात्
 शिष्य ! प्रवचनतत्वाभिज्ञेन त्वया निःसारतया परित्यक्तस्य विषयस्य पुनः स्वीकरण न
 विधेयमिति भावः । मुर्मुरादिशान्तज्वलाग्निव्यवच्छेदार्थमाह-‘जलियं’ इति, अङ्गारोल्कादि-
 व्यावृत्त्यर्थम् अग्नेर्वर्द्धिष्यमाणत्वद्योतनार्थं चाह-‘धूमकेतुं’ इति, । तीव्रतमत्वबोधनार्थं ‘दु-
 रासयं’ इति । अग्निपर्यायो ज्योतिः शब्दः पुल्लिङ्गः । ‘जलियं’ मित्यादिविशेषणत्रयेण
 ‘यत्राग्नौ प्रवेशे सद्यो भस्मसाद् भवति तादृशेऽप्यगन्धनजाः सर्पाः प्रविशन्ति किन्तु
 परित्यक्तविषमापातु नैव वाञ्छन्ति, एवं सत्पुरुषा अपि परित्यक्तान् विषयान् मरणान्तेऽपि
 न पुनः सेवितुमिच्छन्तीति बोध्यते, इति गाथार्थः ॥६॥

है जो मन्त्रादिके बलसे विवश होकर भी काटे हुए स्थानसे उगले विषको फिरसे चूस लेते है ।
 अगन्धन इनसे विपरीत होते है । उस अगन्धन कुलमें उत्पन्न हुए साँप अगन्धन सर्प कहलाते
 है । वे सर्प असह्य और जलती अग्निमें प्रवेश कर जाते है, किन्तु त्यागे हुए विषको फिर कभी
 नहीं चूसते ।

हे शिष्य ! जब तिर्यञ्च सर्प भी उगले हुएको निगलना नहीं चाहते तब तू तो प्रवचनमें
 प्रवीण है अत एव निःसार समझ कर त्यागे हुए विषयोका सेवन तुझे तो भूलकर भी नहीं करना
 चाहिए ।

अग्निके ‘ज्वलित’ आदि तीन विशेषण दिये है, उनका अभिप्राय यह है कि-जिस अग्निमें
 प्रवेश करतेही तत्काल भस्म हो जावे उस प्रकारकी अग्निमें भी अगन्धन कुलके सर्प प्रवेश कर-
 जाते है पर त्यागे हुए विषको कभी ग्रहण नहीं करते । इसी प्रकार कुलीन पुरुषभी त्यागे हुए

के जे मन्त्रादिना अण्ठी विवश थर्धने उभेला स्थानमा नाभेलुं जेर तेमाथी पाछुं यूसी
 ले छे पणु अगन्धन सर्प तेथी विपरीत प्रकारेना होय छे. जे अगन्धन कुलमा उत्पन्न
 थजेला साँप अगन्धन सर्प कहेवाय छे. जे सर्प असह्य अने अण्ठी आगमां प्रवेश करे
 छे परन्तु जेकवार वमनकरला जेरने पाछु यूसी लेतो नथी,

हे शिष्य ! ज्यारे तिर्यञ्च सर्प पणु भूकला जेरने पाछुं गणी जवा छिछतो नथी तो
 तुं तो प्रवचनमा प्रवीण छे जेटके निःसार समझने त्यजेला विषयानुं सेवन तारे तो
 भूले यूकये पणु न करवुं जेधजे.

अग्निना ‘ज्वलित’ आदि त्रयु विशेषणो आपेदा छे, तेना हेतु जे छे के-जे अग्निमां
 प्रवेश करतां ज तत्काण लस्म थर्ध जवाय जे प्रकारेना अग्निमां पणु अगन्धन कुलने सर्प
 प्रवेश करे छे, परन्तु त्यजेला विषने ग्रहण करतो नथी. जे प्रमाणे कुलीन पुरुषो पणु

अरिष्टनेमौ भगवति प्रव्रजिते तत्कनिष्ठभ्राता रथनेमी राजीमतीं चक्रमे मा तु कामवासनाविरक्ता कदाचन मुवासितसरसपायसं युक्त्वा कर्म्मश्रित्कटोरके समुद्रभ्य ' भुज्यता' -मित्युक्त्वा रथनेमये दत्तवती, रथनेमिना च ' कथमिदं वान्तं क्षत्रियवंगावतंसेन मया भोक्ष्यते' इत्युक्त्वा सा प्रोवाच-'तर्हि कथमरिष्टनेमिना त्वद्भ्राता समुज्जिततया वान्ततुल्यां मामभिलष्यसि ? न च त्रपसे' इति, ततश्च तद्वचनश्रवणसञ्जातवैराग्योऽसौ प्रात्राजीत् अथैकदा गृहीतप्रव्रज्या सा राजीमती साध्वीभिः परिवृता रैवतकपर्वतसमवसृतं भगवन्त-

विषयोको प्राणसकटमंभी कभी ग्रहण नहीं करते। अर्थात् वे दुष्कर्म करके क्षणभर भी जीना नहीं चाहते ॥६॥

जब बाइसवे तीर्थ कर भगवान् श्रीअरिष्टनेमि प्रभुने दीक्षा ग्रहण कर ली तब उनके छोटे भाई रथनेमिने राजीमतीको इच्छा की, किन्तु सतीशिरोमणि राजीमती, कामकी वासनासे विरक्त हो चुकी थी। उसने एक रोज सुगन्धित तथा स्वादिष्ट खीर खाई और एक कटोरेमें वमन करके वह रथनेमिको देने लगी और बोली-लीजिये खीर खाइए। रथनेमि यह सुनकर आगवबूले (क्रुद्ध) हो गये और बोले—'मैं क्षत्रियोके वंगका भूषण होकर वमन की हुई खीर कैसे स्वाउंगा ? राजीमतीजी कहने लगी—'अहो श्रेष्ठक्षत्रिय ! तुम वमन की हुई खीर नहीं खाते तो, अपने बड़े-भाई श्रीअरिष्टनेमिद्वारा वमन की हुई यानी त्यागी हुई मुझको क्यों चाहते हो ? मेरी इच्छा करते तुम्हे लज्जा नहीं आती ? सती राजीमतीकी हृदयमें चुभनेवाली बात सुनतेही रथनेमिको ससारसे विरक्ति होगई। उन्होने दीक्षा लेलि। कुछ दिनोके बाद राजीमतीने भी दीक्षा लेली।

कोई एक समय महासतीश्रीराजीमती, बहुतसी साध्वियोके परिवारसे परिवृत होकर रैवतक पर्वतपर पधारे हुए भगवान् श्रीअरिष्टनेमिप्रभुको वन्दना करने गई तब मार्गमें अचानक ही पानीकी मूसलधार

त्यज्जेदा विषयेने प्राणसकटमा पशु ग्रहणु करता नथी अर्थात् तेज्जे दुष्कर्म करीने क्षणभर पशु लुपवा धिछता नथी (६)

ज्यारे भावीसमा तीर्थ कर भगवान् श्रीअरिष्टनेमिप्रभुजे दीक्षा ग्रहणु करी, त्यारे तेमना नाना लार्थ रथनेमिजे रालमतीनी धिछा करी, परन्तु सतीशिरोमणि रालमती कामनी वासनाथी विरक्त थर्ध यूथी छती. तेजे अेक दिवस सुगन्धित अने स्वादिष्ट भीर भाधी अने अेक वाडकामा तेनु वमन करीने ते रथनेमिने आपवा लागी अने ज्हाली: "त्ये भीर ज्हाये !" रथनेमि अे सामणीने कोधाविष्ट थर्ध गये अने ज्हाये 'हुं क्षत्रियोना व शनु लूषणु थर्धने वमेदी भीर केम ज्हाधश ?' रालमती कडेवा लागी 'अडे श्रेष्ठ-क्षत्रिय ! तमे वमेदी भीर नथी ज्हाता, तो तमारो भेटालार्थ श्री अरिष्टनेमिजे वमेदी अेटले त्यज्जेदी अेवी भने केम ज्हाडे छे ? मारा माटेनी धिछा करता तमने शरम नथी आवती ?' हुदयने डजे अेवी सती रालमतीनी वात सालगता ज रथनेमिने ससारथी विरक्ति आवी गध अेमजे दीक्षा लीधी केटलाक दिवस पथी रालमतीजे पशु दीक्षा लीधी

केअे अेक समये सडासतिश्री रालमती अनेक साध्वीज्जेना परिवारथी विंटाधने रैवतक पर्वत पर पधारेदा भगवान् श्रीअरिष्टनेमिप्रभुने वन्दना करवा गरु, त्यारे मार्गमा अचानक

मरिष्टनेमिं वन्दितुं व्रजन्ती मध्येमार्गं जलधरवृष्टवहलजलमुशलधारयाऽऽर्द्रगात्रैकाकिनी काकजालीयन्यायेन तदेव गिरिकन्दरमाससाद, यत्रासौ पत्रजितो रथनेमिरपि ततः पूर्वं गत्वा स्थित आसीत्, तमनवलोक्यैव 'विविक्तोऽयं प्रदेशः' इति विचार्याऽऽर्द्रवस्त्राणि प्रसारयामास । तदानीं तां यथाजातां (नग्नां) विलोक्य भग्नाऽभ्यन्तरङ्गोऽनङ्गोपहतचित्तवृत्तिर्निवृत्तिपथविच्युतो रथनेमिः पुनः रथनेमिवद्भ्रान्तभावः समपद्यत । तं भूयो जातकाममालोक्य प्रकामकमनीयाकृतिरसौ राजीमती पुनर्यदुक्तवती तदेवं तिसृभिर्गाथाभिः सूत्रकारोब्रते—'धिरस्थु०' इत्यादि ।

मूलम्—धिरस्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा ।

वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

छाया—धिगस्तु त्वां (ते) यशःकामिन् , यस्त्वं जीवितकारणात् ।

वान्तमिच्छस्यापातुं, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥७॥

रथनेमिके प्रति राजीमती कहती है—

सान्वयार्थः—जसोकामी=हे यशके अभिलाषी ते=तुझे धिरस्थु=धिकार हो, जो=जो तं =तू जीवियकारणा=असंयमजीवन सुखके लिए वंतं=वमन किये—त्यागे हुएको आवेउं=पीना इच्छसि=चाहता है, (इससे तो) ते=तेरा मरणं=मरजाना सेयं=अच्छा भवे=है । अर्थात्—संयम धारण करके फिर असंयममें आना अत्यन्त निन्दनीय है, और उस असंयम

वर्षा होने लगी, सारा शरीर और वस्त्र, पानीसे भिग गया । सयोगसे राजीमतीने भी उसी गुफामें प्रवेश किया जिसमें रथनेमि पहलेसे ही ठहरे हुए थे । जिस स्थानपर रथनेमि बैठे थे उधर दृष्टि न पडनेके कारण वे दृष्टिगोचर न हुए । राजीमतीने एकान्त स्थान समझ कर भीगे कपडे फैला दिये । राजीमतीको कपडेरहित देख कर रथनेमिका चित्त चलित होगया । उनके मन पर काम-विकारने आक्रमण कर लिया । वे सयम मार्गसे च्युत होगये । रथकी-नेमि (पहिये) की भाँति उनका चित्त घूमने लगा । रथनेमिको इस प्रकार कामातुर देखकर रतिसी रमणीय राजीमतीने जो कुछ कहा उसे सूत्रकार तीन गाथाओसे कहते है— 'धिरस्थु० इत्यादि ।

भूषणधार वरसाद वरसवा लाग्यो. तेनु आभुं शरीर अने वस्त्रो पाणीथी पलणी गया. संयोगवश राजीमतीके अने गुफामें प्रवेश कर्यो के अने गुफामा रथनेमि पडेलेथी आवीने रह्या हुता अने स्थान पर रथनेमि भेठा हुता ते स्थानपर दृष्टि न पडवाने लीधे ते राजीमतीने दृष्टिगोचर न थया. तेथी ते अकान्त प्रदेशे जाणीने पोताना लीलयेला लूगडा इलापी दीधा त्यारे ते राजीमतीने वस्त्ररहित लेधने रथनेमिनुं चित्त चलित थधं गयु अमना मन पर कामविकारे आक्रमण कर्युं ते संयममार्गथी अष्ट थधं गया रथनी नेमि (पैडुं) नी पेठे तेमनु चित्त लमवा लाग्यु. रथनेमिने अने प्रभाणु कामातुर लेधने रति अने रमणीय राजीमतीके अने काधं कहु ते वात सूत्रकार त्रणु गाथयोभा कडे छे :—धिरस्थु० इत्यादि

की अपेक्षा संयमी अवस्थामें मृत्यु होजाना अच्छा है ॥७॥देख—

टीका—कामयते=वाञ्छति तच्छीलः कामी, यशसः=संयमस्य कीर्तिर्वा कामी यशःकामी, तत्सम्बुद्धौ हे यशःकामिन् !, यद्वा अकारच्छेदाद् हे अयशःकामिन्=हे असंयमापयशोऽर्थिन् ! त्वां धिगस्तु, निन्द्योऽसि त्वमित्यर्थः 'ते' इति द्वितीयार्थे पृष्ठी, यद्वा 'ते' इति पृष्ठ्यन्तमेव, तत्र 'पौरुष' मित्यस्य शेषः, धिगित्यनेन सम्बन्धः, ते=तव पौरुषं धिगित्यर्थः । यद्वा हे कामिन् ! ते=तव यशः=' अहो धन्योऽयं तीव्रतपःसयमत्रतपरिपालको महान्मे'-त्येवं लोकप्रतीतां कीर्तिम्, अथवा अयशः=मां दृष्ट्वैवं दुष्टचेष्टनरूपं पापं धिगस्त्वित्यर्थः, इति वयम्, यस्त्व जीवितकारणात्=असंयमजीवितसुखार्थमिति भावः, वान्तं=भगवता परित्यक्तत्वाद्धान्तसदृशीं माम्, यद्वा संयमसेवित्वेन परित्यक्तस्य विषयस्यैवमभिलाषोदयाद्धान्ततुल्यं विषयम् आपातुम्=उपसर्गवशेन धात्वर्थभेदादुपमोक्तुम् इच्छसि=कामयसे, ते=तव मरणं=मृत्युः श्रेयः=प्रशस्यं श्रेष्ठं भवेत्, न पुनरित्थमनाचरणीयाऽऽचरणमिति गाथार्थः ।७।

१ २ ४ ३ ६ ५
मूलम्—अहं च भोगरायस्स तं च सि अंधगबण्हणो ।

९ ७ ८ १० १२ ११ १३
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥८॥

हे यशके अभिलाषी ?तुझे धिक्कार है, जो असयम जीवनके सुखके लिए वमन किए हुएको खाना चहता है, इसप्रकारके जीवनसे मर जाना ही अच्छा है ।

हे यश अर्थात् सयम अथवा कीर्तिकी इच्छा करनेवाले ! अथवा हे असयम और अपयशके कामी तुझे धिक्कार है, तू अत्यन्त निन्दाका पात्र है । अथवा हे कामी ! जगतमें तुम्हारी इस प्रकारकी जो कीर्ति फैली हुई है कि "यह रथनेमि मुनि, अत्यन्त उत्कृष्ट सयमका पालन करनेवाला महात्मा है" इसकीर्तिको धिक्कार है, क्योंकि तुम असयम रूप जीवितके लिए, भगवान् श्रीअरिष्टनेमि के द्वारा त्यागी हुई मुझको, अथवा सयम पालनके लिए त्यागे हुए विषयोको फिर चाहते हो, तुम्हे मर जाना अच्छा है किन्तु असयमकी वाछा करना अच्छा नहीं है ॥७॥

हे यशना अभिलाषी ! तने धिक्कार छे, जे असयम जवनना सुणने माटे वनेलाने भावा छे छे, जे प्रकारना जवनथी तो भरवुं ज वधारे सार् छे यश अर्थात् संयम अथवा कीर्तिनी छे छे करना ।, अथवा हे असंयम अने अपयशना कामी ! तने धिक्कार छे, तुं अत्यंत निन्दाने पात्र छे अथवा हे कामी ! जगतमा तारी जे प्रकारनी जे कीर्ति झेला छे जे 'आ रथनेमि मुनि अत्यंत उत्कृष्ट सयमतु पालन करनारा महात्मा छे,' जे कीर्तिने धिक्कार छे, जेमे जे तमे असयमरूप जवितने माटे, भगवान् अरिष्टनेमिजे त्यजेली जेवी भने, अथवा सयमपालनने माटे त्यजेला विषयाने पाछा आडे छे. तभारे भरी जवुं ज सार् छे, परन्तु असंयमनी वाछना करवी सारी नथी. (७)

छाया—अहं च भोगराजस्य, त्वं चासि अन्धकवृष्णेः ।

मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ॥ ८ ॥

सान्वयार्थः—अहंच=मैं (राजीमती) भोगरायस्स=भोगकुलकी हूँ, च=और तं=तुम अन्धकवृष्णे=अंधकवृष्णिकुलके सि=हो, कुले=ऐसे उच्च कुलमें गंधना=(दोनों) गन्धन मा=नहीं होमो=होवें। (अतः) निहुओ=निश्चल होकर सजमं=संयमको चर=पालो।

भावार्थ—राजीमती रथनेमिसे कहती है कि हम दोनों उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं, अतः उगले हुए विषको वापिस पीजानेवाले गन्धन सापोंके समान हमको नीच न होना चाहिए। ८।

टीका—‘अहं च’ इत्यादि । चद्वयं समुच्चयार्थम्, हे रथनेमे ! अहं=राजीमती भोगराजस्य=तन्नाम्ना प्रसिद्धस्य अस्मीतिशेषः, अहं भोगराजस्य पौत्रीति भावः । त्वं च अन्धकवृष्णेः=तन्नाम्ना प्रसिद्धस्य असि, अन्धकवृष्णपौत्रोऽसीत्यर्थः । ततः किं ? तदाह—कुले=वंशोऽर्थान्निष्कलङ्के गन्धनौ=गन्धनकुलसम्भूतसर्पसदृशौ, ‘आवा’ मिति गम्यते; मा-भूव=नभवेव, तस्मात् निभृतः=निश्चलो विषयादिभिरक्षोभ्यः मन् संयमम्=अनश्चरसुखसाधनभूतं निरवद्यक्रियाऽनुष्ठान चर=पालय । इति गाथार्थः ॥८॥

१ २ ७ ६ ३ ५ ४
मूलम्—जइ तं काहिसि भावं. जा जा दिच्छसि नारिओ ।

८ १० ९ ११ १२
बायाविद्धु व्व हडो, अट्टिअप्पा भविस्ससि ॥९॥

छाया—यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः ।

वाताविद्ध एव हडो, अस्थितात्मा भविष्यसि ॥ ९ ॥

सान्वयार्थः—जइ=यदि तं=तुम जा जा=जो-जो नारिओ=स्त्रीको दिच्छसि=देखोगे (उन-उनपर) भावं=बुरे विचार काहिसि=करोगे तो वायाविद्धुव्व=इवासे उडाये हुए हडो=हडवनस्पतिकी भांति अट्टिअप्पा=अस्थिर आत्मावाले-चंचलचित्त भविस्ससि=हो जाओगे ॥ ९ ॥

“अहं च’ इत्यादि । हे रथनेमि ! मैं (राजीमती) भोगराजको पोती और उग्रसेनकी बेटी हूँ, और तुम अन्धकवृष्णिके पौत्र तथा समुद्रविजयके पुत्र हो, इसलिए दोनोही निर्मल कुलोंमें उत्पन्न हुए है । हमें गन्धन कुलमें उत्पन्न होने वाले सर्पोंके समान नहीं होना चाहिये । अतः विषय आदिको त्याग करके अनन्त सुखके कारणभूत निरतिचार संयमका पालन करो ॥८॥

‘जइ तं’ इत्यादि । यदि तुम जिस जिस स्त्रीको देखोगे उन सब पर विकारदृष्टि डालोगे

अहं च इत्यादि हे रथनेमि । हुं (राजीमती) भोगराजकी पौत्री अने उग्रसेनकी पुत्री हूँ, अने तमे अंधकवृष्णिके पौत्र तथा समुद्रविजयका पुत्र हो, अने रीते आपणुं जेठ निर्मल कुलोंमां उत्पन्न थयां छीअने आपणुं गंधन कुलमा उत्पन्न थयेअने सर्पोंनां जेवां न थपुं जेठअने माटे विषय आदिने त्यजने अने त सुभना कारणभूत निरतिचार संयमतु पालन करे। (८) जइ तं० इत्यादि, जे तमे जे जे स्त्रीअने जेजो ते जधी पर विकारदृष्टि नाथशे तो

टीका—‘जइ तं ०’ इत्यादि । त्वं या या नारीः=स्त्रीः द्रक्ष्यसि=अवलोकिष्यसे यत्तदोनि-
त्यसम्बन्धात् ‘तासु तामु’ यदि भावं=कलुषिताध्यवसायतया दुष्टां दृष्टिं करिष्यसि तदा
वाताविद्धः=वातेन=वायुना आविद्धः=प्रेरितःहडः=निर्मूलो वनस्पतिविशेष इव, शैवालमिव
वा अस्थितात्मा=अस्थितः=अस्थिरः=आत्मा यस्य स तथोक्तो भविष्यसि, जन्म-जरा-म-
रणजन्य-जगदटवीपर्यटनदुःखपरम्परा-निराकरणकारणेभ्यः संयमगुणेभ्यः प्रस्खल्याऽपार-
संसारपारावारे विषयवासनावातविकम्पितचेताः शान्तिं न गमिष्यसीति भावः, इति गाथा-
र्थः ॥ ९ ॥

एवं राजीमत्या प्रतिबोधितो रथनेमिर्धर्मनिष्ठोऽभवदित्याह—‘तीसे सो ०’ इत्यादि ।

मूलम्—^२तीसे ^१सो ^५वयणं ^६सोच्चा. ^३संजयाइ ^४सुभासियं ।

^{१०}अंकुसेण ^९जहा ^{११}नागो. ^७धम्मे ^८संपडिवाइओ ॥१०॥

छाया—तस्याः स वचनं श्रुत्वा, सयतायाः सुभाषितम् ।

अंकुशेन तथा नागो, धर्मे सम्प्रतिपातितः ॥ १० ॥

सान्वयार्थः—सो=वह (रथनेमि) तीसे=उस संजयाइ=संयमवती (राजीमती)
के सुभासियं=सुभाषित वयणं=वचनको सोच्चा=सुनकर धम्मे=धर्ममें संपडिवाइओ=आ-
गया—प्राप्त होगया, जहा—जैसे अंकुसेण=अकुशसे नागो=हाथी मार्गमें आ जाता है ॥१०॥

टीका—सः=रथनेमिः, संयतायाः=संयमवत्याः तस्याः=राजीमत्याः, सुभाषितमि-
ति वैराग्यसारगर्भितत्वात् वचनं=सदुपदेशं, श्रुत्वा=समाकर्ण्य ‘स्थितः’ इति शेषः अन्यथा

तो आधीसे उढाये हुए हड नामकी वनस्पति अथवा सेवालकी तरह अस्थिर हो जाओगे; अर्थात् जन्म
मरणसे होनेवाले जगत् रूपी अटवीमें भ्रमण करनेके कष्टोंको दूर करनेवाले संयमगुणोंसे न्युत होनेके
कारण ससाररूप अपार समुद्रमें विषयवासनारूपीहवासे चंचलवित्त होकर भटकते फिरोगे ॥९॥

राजीमतीजीके द्वारा प्रतिबोध पाकर रथनेमि संयममें स्थिर होगया । इसी विषयको सूत्र-
कार प्रतिपादन करते हैं—‘तीसे ०’ इत्यादि ।

जैसे अकुशसे हाथी ठीक मार्ग पर आजाता है वैसे ही रथनेमि संयमवती राजीमतीके
वैराग्य-परिपूर्ण वचन (सदुपदेश) सुनकर जिनेन्द्र भगवानके प्रवचन-रूप धर्म-मार्गमें स्थित

आधीथी उढेला हड नामना वनस्पति अथवा शेवालनी पेठे अस्थिर थध जशे। अर्थात् जन्म-
मरणथी उत्पन्न थता जगतइपी अटवीमा भ्रमण करवाना कष्टोंने दूर करनास संयमगुणोथी
अथ थवाने लीधे ससारइप अपार समुद्रमा विषयवासनाइपी हवाथी अंयण अत्तवाणा
थधने भ्रमण करता इरशे। (८)

राजीमतीथी अवे। प्रतिबोध पासीने रथनेमि संयममां स्थिर थध गया अे विषयनु
प्रतिपादन सूत्रकार करे छे—तीसे ० इत्यादि

जेम अकुशथी हाथी परापर मार्ग पर आवी जय छे, तेमज रथनेमि संयमवती
राजीमतीना वैराग्यपूर्ण वचन (सदुपदेश) सांभलीने जिनेन्द्र भगवान्ना प्रवचनइप धर्म-
मार्गमा स्थिर जनी गया अर्थात् जेम भडावना अंकुशथी महेनभत्त हाथीना मड वृषु थध

‘सम्प्रतिपातितः’ इत्यनेन समानकर्तृकत्वाऽभावात्क्त्वाप्रत्ययोत्पत्तिरसङ्गता स्यात्, यद्वा ‘सम्प्रतिपातित’ इत्यस्य णिजर्थाऽविवक्षया ‘सम्प्रतिपन्नः’ इत्यर्थः कर्तव्यः । अङ्कुशेन =हस्तिचालनार्थ-लौहमयवक्राग्रास्त्रेण नागो यथा=हस्तीव, धर्मे=जिनोक्तप्रवचनरूपे, सम्प्रतिपातितः=संस्थापितः संस्थित इति वा, यथाऽङ्कुशेन प्रशमितमदो मतङ्गजोऽनुकूलं मार्गमवलम्बते तथा राजीमतीवचनेन दूरीकृतमदनमदो रथनेमिरपि जिनोक्तधर्ममार्गमवलम्बितवानिति भावः ॥१०॥

सम्प्रत्युपसंहरन्नाह-‘एवं करंति०’ इत्यादि ।

४ ५ १ २ ३

मूलम्—एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ॥

७ ६ ८ ९ १०

विणियट्ठंति भोगेषु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥११॥ त्तिवेमि॥

छाया—एव कुर्वन्ति सम्बुद्धा, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ॥

विनिवर्तन्ते भोगेभ्यो, यथा स पुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥ इति ब्रवीमि ॥

सान्वयार्थः—संबुद्धा=सत् असत् के विवेकी पंडिया=विषयदोषोंके ज्ञाता पवियक्खणा=आगमके मर्मज्ञ पुरुष एवं=ऐसा ही करंति=करते हैं, (वे) भोगेषु=भोगोंसे विणियट्ठंति=निवृत्त होजाते हैं; जहा=जैसे से=वह पुरिसुत्तमो=पुरुषोत्तम श्रेष्ठ (रथनेमि विषयोंसे निवृत्त हो गया) त्तिवेमि=(पूर्ववत्) भावार्थ-जो विवेकी होते हैं वे विषयोंके दोषोंको जानकर उनका परित्याग कर देते हैं, जैसे रथनेमिने परित्याग कर दिया था ॥ ११ ॥

॥ इति द्वितीयाध्ययनस्य सान्वयार्थः ॥ २ ॥

टीका—सम्=सम्यग् बुद्धाः=बोधं प्राप्ताः हेयोपादेयज्ञानसम्पन्ना इत्यर्थः, सम्बुद्धत्वमेव विशेषयति—पण्डिताः प्रविचक्षणाः’ इति विशेषणाभ्याम् । तत्र पण्डिताः=विषयप्रवृ-

हो गये, अर्थात् जैसे महावतके अंकुशसे मदोन्मत्त हाथीका मद चक्रनाचूर हो जाता है और वह सन्मर्ग पर आजाता है, उसी प्रकार राजीमती-रूपी महावतके वचन-रूपी अङ्कुशसे रथनेमि-रूपी हाथीका विषयवासना-रूपी मद दूर होगया और वे जिनोक्त धर्ममार्गमें प्रवृत्त होगये ॥१०॥

उपसंहार—एव ‘करंति०’ इत्यादि ।

हेय और उपादेय वस्तुओंको सम्यक् प्रकार समझनेवाले संबुद्ध, विषयोंमें प्रवृत्तिके दोषोंके ज्ञाता, आगमके रहस्यको जाननेवाले अथवा चरित्रके फलको प्राप्त करनेवाले प्रविचक्षण

जय छे, अने ते राहु पर आवी जय छे, तेम राहुमतीइपी महावतना वचनइपी अंकुश थी रथनेमिइपी हाथीना विषयवासनाइपी मद दूर थय गये। अने ते जिनोक्त धर्ममार्गमां प्रवृत्त थय गया. (१०)

उपसंहार—एव करंति० इत्यादि.

हेय अने उपादेय वस्तुओंके सम्यक् प्रकार समझनेवाले संबुद्ध, विषयोंमें प्रवृत्तिना दोषोंके ज्ञाता, आगमना रहस्यके जाननेवाले अथवा चरित्रके फलको प्राप्त करनेवाले प्रवि

त्तिदोषज्ञाः, प्रविचक्षणाः=विचक्षणश्रेष्ठाः आगममर्मवेदिनः प्राप्तचरणपरिणामा वेत्यर्थः, एवं =तथा कुर्वन्ति समाचरन्ति । किं समाचरन्तीत्याह—विणियद्वंति भोगेसु' इति, भोगेभ्यः =विषयेभ्यः विनिवर्तन्ते=उपरता भवन्ति, यथा सः =रथनेमिः, पुरुषोत्तमः पुरुषेषु श्रेष्ठः ।

ननु कथमसौ पुरुषोत्तमो यो गृहीतसंयमो भ्रातृजायामचीकमत ? उच्यते—विचित्रा खलु कर्मणां गतिः, गृहीतसंयमस्यापि रथनेमेश्चेतसि विषयवासना मोहनीयकर्मोदयवशाद्बुद्ध्या, परन्तु वैराग्यवारिधाराधरेण राजीमतीवचनेन यदा विषयवलयदावानलजनिततापकवलितो म्लानतामापन्नो रथनेमिचेतस्तरुः सेचितस्तदैव पुनरसौ सयमामृतरसास्वादनपरो विषयद्विषयविविधदोषाकलनेन शान्तिमुपगतः परमदुश्चरतपः सेवनपरायणो झटिति विषयोपरतत्त्वेन च पुरुषोत्तमत्वं तस्य निर्वाधमेवेत्यल पल्लवितेन ।

मुनिजन ऐसे ही करते हैं, अर्थात् भोगोसे निवृत्त होते हैं जैसे कि—पुरुषोमे उत्तम रथनेमिने भोगोकी निवृत्ति की ।

प्रश्न—जिनहोंने संयम लेकर भी विषयवासनामें लीन होकर परम अनुचित जो कि गृहस्थभी नहीं करता ऐसी साक्षात् अपने-भाईकी भार्यापर जो कुदृष्टि करके भोगोकी प्रार्थना की, विषयभोगोकी इच्छामात्र भी करना चारित्रको मलिन करनेवाला और आत्माको दुर्गतिदाता है तो फिर भगवानने विषयानुरागी रथनेमिको पुरुषोमें उत्तम कैसे कहा ?

उत्तर—कर्मोकी गति विचित्र होती है, मोहकर्मके उदयसे यद्यपि विषयभोगकी अभिलाषा हुई तो भी विषयरूपी दावानलसे उत्पन्न संतापसे सतप्त हो मुरझाया हुआ रथनेमिका चित्त-रूपी वृक्ष वैराग्यरसकी बरसा करनेवाले राजीमतीजीके वचनरूपी मेघसे सींचे जाने पर जीवही सयमरूप अमृतरसके आस्वादनमें तत्पर होगया । 'विषय परम कटुक फल देनेवाले और आत्माको चतुर्गतिमें परिभ्रमण करानेवाला है' इस प्रकारकी परम वैराग्यभावना द्वारा,

यक्षु मुनिजने अभे न करे छे, अर्थात् लोगोथी निवृत्त थाय छे, के नेवी रीते पुश्पोमा उत्तम रथनेमिने लोगोनी निवृत्ति करी

प्रश्न—नेमिने सयम लधने पणु विषयवासनामा लीन थधने परम अनुचित—कोछ गृहस्थ पणु न करे नेवी, साक्षात् पोताना लाधनी लार्या पर कुदृष्टि करीने लोगनी प्रार्थना करी, विषयलोगोनी धृच्छा-मात्र पणु चारित्रने मलिन करनारी अने आत्माने दुर्गति हेनारी छे, तो पछी लगवाने तेवा विषयानुरागी रथनेमिने पुश्पोमा उत्तम केवी रीते कछो ?

उत्तर—कर्मोनी गति विचित्र होय छे मोहकर्मना उदयथी ले के विषयलोगनी अभि लाषा उत्पन्न थध, तोपणु विषयरूपी दावानलथी उत्पन्न थयेला सतापथी सतप्त थधने जेलान अनेला रथनेमिनु चित्तरूपी वृक्ष, वैराग्य रसनी वृष्टि करनारा राजीमतीनां वचनरूपी मेघथी सिंचित थया पछी, तुरन्त सयमरूपी अमृतरसनु आस्वादन करवामां तत्पर अनी गथु. 'विषयो अत्यंत कटुवां फल हेनारा अने आत्माने चतुर्गतिमा परिभ्रमणु करानारा छे' अने प्रकारनी परम वैराग्यभावना द्वारा अकान्त स्थानमां विषयनुं सान्निध्य होवा छतां पणु

न चाधुनिकरथनेमेरुदाहणोपलम्भादिद् दशवैकालिकसूत्रमनित्यं स्यादिति वाच्यम्, पर्यायार्थिकनयमपेक्षयाऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्यत्वात् ।

‘ इति ब्रवीम ’ इति पूर्ववत् ॥ इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित-कलापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध-गद्य-पद्य नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-श्रीशाहूँछत्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-जैनशास्त्राचार्य-पद-भूषित-कोल्हापुरराजगुरु-वालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीदशवैकालिकसूत्र-स्याऽऽचारमणिमञ्जूपाख्यायां व्याख्यायां द्वितीयं श्रामण्यपूर्वकाख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥ २ ॥

—*—

एकान्त स्थानमें विषयका सान्निध्य रहनेपर भी इन्द्रिय निग्रह करके विषयोको विषतुल्य समझ कर तत्काल त्याग दिया और उग्र तप-सयमेको पालन किया, इसलिये भगवानने उन्हें पुरुषोंमें उत्तम कहा है ॥

प्रश्न—हे गुरो ! प्रवचन अनादि और नित्य है, क्योंकि आचारांग आदि बत्तीसो शास्त्र अनादिकालसे चले आते हैं, और यह दशवैकालिक सूत्र भी उन्हीं बत्तीसोंमें है तो आधुनिक रथनेमि और राजोममतीका उदाहरण आनेसे तो यह सादि और अनित्य सिद्ध होता है ।

उत्तर—हे शिष्य ! पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रत्येक पदार्थ अनित्य है इसी नयकी अपेक्षा दशवैकालिक भी अनित्य है, किन्तु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वह नित्य है । अर्थात् दशवैकालिकमें प्ररूपित मुनिका आचार सर्वज्ञोक्त है । सब सर्वज्ञोका कथन एकहीसा होता है । जिस आचारका प्ररूपण चरम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीने किया है उसीकी प्ररूपणा

धन्द्रियनिग्रह करीने विषयेने विषतुल्य समझने तत्काल त्यज्ज हीधा अने उग्र तप संयमनु पालन क्युं, तेथी लगवाने तेमने पुत्रोभां उत्तम कइया छे.

प्रश्न—हे गुरो ! प्रवचन अनादि अने नित्य छे कारण् के आचारांग आदि अत्रीसे शास्त्र अनादिकाणथी आदया आवे छे, अने आ दशवैकालिक सूत्र पण् ओ अत्रीसमानुं न् छे, तो आधुनिकरथनेमि अने राजोमतीनुं उदाहरण् आववाथी तो ओ सूत्र सादि अने अनित्य सिद्ध थाय छे.

उत्तर—हे ! शिष्य पर्यायार्थिक नयनी अपेक्षाथी प्रत्येक पदार्थ अनित्य छे. ओ नयनी अपेक्षाओ दशवैकालिक पण् अनित्य छे परन्तु द्रव्यार्थिक नयनी अपेक्षाथी ते नित्य छे. अर्थात् दशवैकालिकमा प्ररूपेदो मुनिने आचार सर्वज्ञोक्त छे. अथा सर्वज्ञानुं कथन ओकसरणुं न् डोय छे. ओ आचारनुं प्ररूपण् अरम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीओ क्युं छे तेनी न्

अनादिकालसे सब सर्वज्ञ करते आये हे अत एव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे यह दश-
वैकालिक अनादि और नित्य है ।११।

इति हिन्दिभाषानुवादमें श्रामण्यपूर्वकाख्य

द्वितीय अध्ययन समाप्त हुआ ॥२॥

— + —

प्रश्नपणा अनादि काण्ठी अधा सर्वज्ञो करता आऽया छे. ओटले द्रव्यार्थिक नयनी अपेक्षाथी
आ दशवैकालिक अनादि अने नित्य छे (११)

इति 'श्रामण्यपूर्वक' नामना गीला अध्ययनने।

गुजराती-भाषानुवाद समाप्त (२)

—: ० :—

॥ अथ तृतीयमध्ययनम् ॥

द्वितीयेऽध्ययने 'साधुना धृतिः सन्धारणीया' इत्युक्तं, सा चाऽऽचारे न त्वनाचारे इति, तस्मादस्मिन् क्षुल्लकाचारकथा'ऽऽख्ये तृतीयेऽध्ययनेऽनाचारस्वरूपनिरूपणपुरस्सरं साधुनामाचारः प्रदर्श्यते, तत्रेदमादिमं सूत्रम्—'संजमे०' इत्यादि ।

१ २ ३ ४
मूलम्—संजमे सुद्विअप्पाणं विप्पमुक्काण ताइणं ।

५ ६ ७ ८ ९
तेसि-मेयमणाइन्नं निगंथाण महेसिणं ॥१॥

छाया-संयमे सुस्थितात्मनां, विप्रमुक्तानां त्रायिणाम् ।

तेपामेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थानां महर्पीणाम् ॥ १ ॥

सान्त्वयार्थः—संजमे = संयममें सुद्विअप्पाण = भलीभांति स्थिर आत्मावाले विप्पमुक्का-
ण = शरीर आदिकी समतासे रहित ताइणं = पदकायजीवोंके रक्षक तेसिं = उन निगंथा-
ण = परिग्रहरहित महेसिणं = महर्षियोंके एयं = यह आगे कहे-जानेवाले वावन अणाइन्नं
= अनाचीर्ण हैं । अर्थात् महर्षियो ने इनका आचरण नहीं किया है अतः ये अनाचीर्ण-आ-
चरण करने योग्य नहीं हैं ॥ १ ॥

टीका—संयमे=पञ्चास्रवविरमणे-न्द्रियपञ्चकनिग्रह-कपायचतुष्टयजय-दण्डत्रयविर-
तिलक्षणे, सुस्थितात्मनाम्=निश्चलात्मनाम्, तेपां=सुप्रसिद्धानां प्रसिद्धार्थकोऽत्र तच्छब्दः,

तीसरा अध्ययन

दूसरे अध्ययनमें यह निरूपण किया गया है कि साधुको धीरता (दृढता) धारण करना चाहिये, वह धीरता आचारमें होनी चाहिये अनाचारमें नहीं, इसलिए 'क्षुल्लकाचारकथा' नामक इस तीसरे अध्ययनमें अनाचारके निरूपणपूर्वक मुनिधोके आचारका निरूपण किया जाता है—'संजमे सुद्वि०' इत्यादि ।

संयममें भलीभांति स्थित, ससारसे मुक्त, स्व-पर-उभयका त्राण (रक्षण) करनेवाले अर्थात् प्रत्येकबुद्ध-स्व-अपनी आत्माके त्राता, तीर्थकर-परके त्राता और स्थविर-उभय

अध्ययन त्रीणु

शील अध्ययनमां अये निरूपणु करवामां आण्यु इतुं के-साधुअे धीरता (दृढता) धारणु करवी नेधअे, अे धीरता आचारमां डोवी नेधअे अनाचारमा नडि, तेथी 'क्षुल्लकाचारकथा' नामक आ त्रीणु अध्ययनमा अनाचारना निरूपणुपूर्वक मुनिअेना आचारनु' निरूपणु करवामां आवे छे-संजमे सुद्वि० इत्यादि ।

संयममां सारी रीते स्थित, संसारथी मुक्त, स्व पर उभयनु त्राणु (रक्षणु) करनार अर्थात् प्रत्येकबुद्ध-स्व पोताना आत्माना त्राता, तीर्थकर -परना त्राता, अने स्थविर-

विप्रमुक्तानां=विशिष्टरूपया परमार्थभावनया प्रकर्षेण शरीरादिममत्वतो मुक्ताः, यद्वा 'इमे वि-
पयकपाया अनन्तभवभ्रमणदुःखसंसारपादपसेचकाः, एतेषां जननीजनकवान्धवादीनां मम-
त्वं भववन्धननिवन्धनम्, एतं पृथिव्यादिपञ्जीवनिकायमनन्तवारात् ममात्मा सम्प्रविष्य
नानादुःखमन्वभूत्, वस्तुतो नास्ति मम कोऽप्यात्मीय' इति, रागादयश्च जीवमृगवागुराय-
माणत्वान्महाशत्रव इत्यहो ! शत्रुहस्तगतोऽहं स्वकीयाऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनाक्षमः संजा-
तोऽस्मि, धिङ् माम् । उक्तञ्च—

“इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं,
स्फुरति परिमलोऽयं स्पर्श एपोऽङ्गनानाम् ।
इति हतपरमार्थै-रिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः,
स्वहितकरणधूर्त्तैः पञ्चभिर्वश्रितोऽस्मि ॥१॥” इति,

(स्व-पर) के त्राता होते है इसलिए ये सब त्रायी कहलाते है, इन निर्ग्रन्थ महर्षियोको ये
(आगे बताये जानेवाले ५२ अनाचार) आचरण करने योग्य नहीं हैं ।

पांच आस्रवोसे विरमण, पाँचो इन्द्रियोका निग्रह, क्रोधादि चार कपायोको जीतने,
तीन दण्डोका त्याग करनेरूप सयममें दृढ आत्मा वाले, प्रसिद्ध, विशेष प्रकारकी परमार्थ
भावना भाकर शरीर आदिकी ममतासे मुक्त, अथवा ये विषय-कपाय भवभ्रमणके दुःखरूपी
वृक्षको सींचने वाले है, माता-पिता भाई-बन्द कुटुम्ब परिवार, इन सबकी ममता ससार-बंध-
नका कारण है, पृथ्वीकाय आदि छह जीवनिकायोमें मेरी आत्मा अनन्तवार उत्पन्न होकर
नाना प्रकारकी पीडाओंका अनुभव कर चुकी है, वास्तवमें ससारमें कोई भी मेरा नहीं है ।
यह रागादि दोष, जीवरूपी हरिणके लिए व्याधके समान होनेके कारण महान् शत्रु है । खेद है
कि मैं उन वैरियोके वशमें पडकर अपने परम अभ्युदय-स्वरूप मोक्षके साधनमें भी असमर्थ होगया
हूँ मुझे धिक्कार है । कहा भी है—

“कैसा कर्णमधुर गीत है, कैसा नेत्रोंको लुभानेवाला नृत्य है, कैसा जिह्वाका प्रिय स्वाद

उभय-(स्व-पर) ना त्राता होय छे, तेथी ये सर्व त्रायी कडेवाय छे ये निर्ग्रन्थ महर्षियो-
ने ये (आगण अताववामा आवनारा भावन अनाचार) आचरवा योग्य नथी

पाय आस्रवोथी विरमण, पाये इन्द्रियोना निग्रह, क्रोधादि चार कपायोने जीतवा, त्रण
दण्डोना त्याग करवाइप संयममा दृढ आत्मावाणा, प्रसिद्ध, विशेष प्रकारनी परमार्थ भावना
भावीने शरीर आदिनी ममताथी मुक्त, अथवा ये विषय-कपाय लव-भ्रमणना दुःखरूपी
वृक्षने सींचनारा छे, माता-पिता भाई-अंध कुटुम्ब परिवार ये सर्वनी ममता संसार-
धननु कारण छे, पृथ्वीकाय आदि छे जीवनिकायमा भारो आत्मा अनन्तवार उत्पन्न थईने
नाना प्रकारनी पीडा ओना अनुभव करी यूक्यो छे वास्तवमा कडेपणु माइ नथी, आ
रागादि दोष जीवरूपी हरणुने माटे व्याध (पारधी) नी समान होवाने कारणे महान्
शत्रु छे, ओहनी वात छे के हुं ये वेरीओने वश पडीने पोताना परम अभ्युदय स्वरूप

एवंविधविविधभावनाभिः सर्वथा रागादितो मुक्ताः विप्रमुक्तास्तेषाम् , त्रायिणाम्= त्राणं=स्वस्य परस्योभयस्य च रक्षणं त्रायः, सोऽस्त्येषामिति त्रायिणः, प्रत्येकबुद्धाः स्वस्य, तीर्थङ्कराः परस्य, स्थविरा उभयस्येतीमे सर्वे त्रायिण उच्यन्ते । निर्ग्रन्थानां=बाह्याऽऽभ्यन्तरपरिग्रहरूपाद् ग्रन्थान्निर्गताः निर्ग्रन्थास्तेषाम् । महर्षीणाम्=महान्तश्च ऋषय इति महर्षयस्तेषाम् , यद्वा 'महर्षिणाम्' इतिच्छाया, महः=जन्मजरामरणदुःखरहितत्वेनैकान्तोत्सवरूपो मोक्षस्तम् ऋषन्ति=गत्यर्थधातूनां प्राप्त्यर्थत्वात् प्राप्नुवन्तीत्येवंशीला महर्षिणस्तीर्थङ्करगणधरादयस्तेषाम् , एतत्=द्वापञ्चाशता भेदैर्वक्ष्यमाणम् , अनाचीर्णम्=अनासेवितम् , अस्तीति शेषः । अत्र महर्षिणामित्यन्तेषु कर्तुः शेषत्वविषया षष्ठी । यतः संयमे सुस्थितात्मानोऽत एव विप्रमुक्ताः, यतो विप्रमुक्ता अतस्त्रायिणः, यतस्त्रायिणोऽतो निर्ग्रन्थाः,

है, कैसा नासिकाको आकर्षित करनेवाला सुगन्ध है और स्त्री आदिका स्पर्श कैसा सुखकारी है । इस प्रकार अनुभव कराकर परमार्थका सत्यानाश करनेवाली अपना स्वार्थ साधनेमें धूर्त इन दगाबाज पांचो इन्द्रियोने हाय ! मेरी आत्मिक-सम्पत्तिसे मुझे वंचित कर दिया—मुझको छूट लिया ॥१॥”

इस प्रकारकी भावनाओं द्वारा राग आदि शत्रुओंसे सर्वथा मुक्त होनेवाले, ससारभ्रमणसे भयभीत भव्य जीवोंकी तथा आत्माकी रक्षा करनेवाले, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहणी ग्रन्थिसे रहित, महान् ऋषि-तीर्थकर आदि या जन्म-जरा-मरणके दुःखोंसे रहित होनेके कारण एकान्त आनन्दस्वरूप मोक्षको प्राप्त करनेवाले मुनियोके, आगे कहेजाने वाले बावन अनाचार (अनाचीर्ण) हैं । अर्थात् ये बावन अनाचार मुनियोके सेवने योग्य नहीं हैं । यहाँ षष्ठी विभक्तिवाले अनेक विशेषण दिये गये हैं, उन सबमें पहले२ के विशेष कारण हैं और आगे आगे के कार्य हैं जैसे—संयममें भली भाँति स्थित होनेके कारण विप्रमुक्त है, विप्रमुक्त होनेसे स्व-पर के त्राता (रक्षक)है,

मोक्षना साधनमा षष्ठु असमर्थं गनी गये छु, मने धिक्कार छे कछु छे क—

“केवुं कर्षुं भधुर गीत छे, केवुं नेत्रोने दोलावनाइं नृत्य छे, केवो जड्ढवाने प्रिय स्वाद छे, केवी नाकने आकर्षित करनार सुगंध छे, अने स्त्री आदिने स्पर्श केवो सुखकारी छे, ये प्रमाणे अनुभव करावीने परमार्थनुं सत्यानाश वाणनारी पोतानो स्वार्थ साधवामां धूर्त ये दगाबाज पांचे धंदिरोये, हाय ! मने मारी आत्मिक-संपत्तिथी वंचित करी नांथे—मने छुटी दीधे” (१)

ये प्रकारनी भावनाओं द्वारा रागादि शत्रुओंथी सर्वथा मुक्त बनाना, ससार भ्रमणथी लयलीन लव्य लवोनी तथा आत्मानी रक्षा करनारा, बाह्य अने आभ्यन्तर परिग्रहणी ग्रन्थिथी रहित, महान् ऋषि तीर्थ कर आदि, या जन्म जरा-मरणनां दुःखोंथी रहित होवाने कारणे एकान्त आनन्दस्वरूप मोक्षने प्राप्त करनारा मुनियोने माटे, आगण कडेवामां आवनारा भावन अनाचार (अनाचीर्ण) छे अर्थात् ये भावन अनाचार मुनियोने सेववा योग्य नथी अही छठी विलज्जितवाणां अनेक विशेषणो आपवामा आंथे छे, ये अधामां पडेलां-पडेलांना विशेषणु कारणु छे अने षष्ठी-षष्ठीना कार्य छे. जेभडे-संयममां सारी रीते

१ अत्र 'अत इतिठना, विति मत्वर्थीय इनिः ताच्छील्य णिनिस्तु न तस्य सुबन्त पूर्वकत्व एव प्रवृत्तेरिति यवम्

યતો નિર્ગન્થા અતો મહર્ષયઃ, ઇતિ યથોત્તરં પૂર્વ-પૂર્વમ્ય હેતુત્વેન ભવતિ વિશેષણસંગતિગિતિ વોદ્ધવ્યમ્ ।

નન્વેતાવતા 'યદ્યન્મહાપુરુષૈરનાચીર્ણ તત્તદનાચરણીયં, યદ્યત્વાચીર્ણ તત્તદાચરણીય-મેવેત્યાયાતં તતશ્ચ તીર્થઙ્કરાર્થં મુરસમ્પાદિતૈરષ્ટવિધમહાપ્રાતિહાર્યૈસ્તીર્થઙ્કરગ યુક્તા ઇતિ વય-મપ્યસ્મદર્થં સમ્પાદિતઃ કથં ન યુક્તા ભવેમેતિ ચેદ્ ? આન્તોડસિ, તે દિ વીતરાગત્વાત્ કલ્પાતીતાઃ, વયં તુ કલ્પસ્થિતા ઇતિ, કલ્પાતીતાનાં તેષાં જિનેશ્વરાણામષ્ટમહાપ્રાતિહાર્યા-ગિ તીર્થઙ્કરગોત્રનામપ્રકૃત્યુદયમહિમ્ના પ્રતિભાસિતાનિ ભવન્તિ, ન તુ તાનિ મુરૈઃ સપાઘ-ન્તે, અત એવ ઔપપાતિકસૂત્રે--

“ આગાસગણં ચક્કેણં આગાસગણં છત્તેણ આગાસિયાહિં ચામરાહિ ”

इत्यस्य व्याख्यायाम्--

“ આગાસગણં ચક્કેણં ”-તિ આકાશવર્તિના ચક્કેણ=ધર્મચક્કેણ, ‘ આગાસગણં છત્તેણં ’-તિ છત્રત્રયેણ ‘ આગાસિયાહિં ’-તિ, આકાગમ્=અમ્બરમ્ ઇતાભ્યાં=પ્રાપ્તાભ્યામ્ આ-ત્રાતા હોનેસે નિર્ગન્થ હૈ, નિર્ગન્થ હોનેસે મહર્ષિ હે ।

શઙ્કા-ઇસ ગાથાસે યહ તાત્પર્ય નિકલા કિ મહાપુરુષોને જિસ જિસ કા આચરણ નહીં ક્રિયા વહ વહ અનાચરણીય હૈ, ડન્હોને જિસ જિસકા આચરણ ક્રિયા વે સવ આચરણ કરને યોગ્ય હૈ, યદિ એસા હી હૈ તો શ્રીતીર્થઙ્કર ભગવાન્ દેવનિર્મિત આઠ મહાપ્રાતિહાર્યોસે યુક્ત હોતે હૈ ઇસલિએ હમ મી હમારે લિએ વનાયે હુમ પદાર્થોસે યુક્ત ક્યો ન હોવે ?

સમાધાન-હે વત્સ ! એસા નહીં હૈ, ક્યો કિ વે વીતરાગ હોનેસે કલ્પાતીત હૈ, ઓર હમ કલ્પસ્થિત હૈ, ઇસલિએ ડન કલ્પાતીત જિનેશ્વરો કે તીર્થઙ્કરગોત્ર-નામ-પ્રકૃતિકે ડદયકો મહિમાસે અષ્ટ મહાપ્રાતિહાર્ય કેવલ ભાસિત હોતે હૈ કિન્તુ દેવતાઓસે સમર્પિત નહીં ક્રિયે જાતે, અત એવ ઔપપાતિક સૂત્રકે “ આગાસગણં ચક્કેણં ” ઇત્યાદિ પદોકો વ્યાખ્યામં કહા હૈ--“ આકાગસ્થિત

સ્થિત હોવાને કારણે વિપ્રમુક્ત હોવાથી સ્વ-પરના ત્રાતા (સ્વક) છે, ત્રાતા હોવાને કારણે નિર્ગન્થ છે, નિર્ગન્થ હોવાને લીધે મહર્ષિ છે

શકા-આ ગાથામાથી એ તાત્પર્ય નીકળ્યુ કે- મહાપુરુષોએ જેતુ જેતુ આચરણ નથી કર્યું છે તે અનાચરણીય છે, અને તેમણે જેતુ જેતુ આચરણ કર્યું તે બધુ આચરણ કરવા યોગ્ય છે જો એમ છે તો તીર્થ કર ભગવાન દેવનિર્મિત આઠ મહાપ્રાતિહાર્યોથી યુક્ત હોય છે, તેમ આપણે પણ આપણા માટે બનાવેલા પદાર્થોથી યુક્ત કેમ ન થવું ?

સમાધાન-હે વત્સ ! એમ નથી, કારણ કે તે વીતરાગ હોવાથી કલ્પાતીત છે, અને આપણે કલ્પસ્થિત છીએ. એ કલ્પાતીત જિનેશ્વરોનાં તીર્થ કર-ગોત્ર-નામપ્રકૃતિના ઉદયના મહિમાથી આઠ મહાપ્રાતિહાર્ય કેવળ ભાસિત થાય છે, પરન્તુ દેવતાઓ તરફથી સમર્પિત થતા નથી, એટલે ઔપપાતિક સૂત્રના આગાસગણં ચક્કેણં ઇત્યાદિ વ્યાખ્યાનમાં કહ્યું છે કે--“ આકાશસ્થિત ચક્ર, છત્ર અને આમરોથી ભગવાન લક્ષિત થાય છે ” અહીં ‘લક્ષિત’

कर्षिताभ्यां वा=आकृष्टाभ्यामुत्पाटिताभ्यामित्यर्थः, 'चामराहि' -ति चामराभ्यां प्रकीर्णकाभ्यां प्राकृतत्वाच्च लिङ्गव्यत्ययः, 'लक्षितः इति सर्वत्र गम्यम्" इत्युक्तम् ।

अत्र 'लक्षितः' इत्युक्त्वाऽन्यकृत इति स्पष्टं निराक्रियते, यथा-अर्द्धमागधभाषया प्रवृत्ताऽपि तीर्थङ्करवागू समवसरणगतानां देवानां मनुष्याणां तिरश्चां च स्व-स्व भाषानुरूपा प्रतिभाति किन्तु न सा तादृशी, तस्मादस्मादृशां तदसदृशां तदुक्तकल्प एव स्थातव्यं, न तु तथाऽनुकरणीयमिति दिक् इति-गाथार्थः ॥ १ ॥

अनाचीर्णान्याह-'उद्देशियं०' इत्यादि,

मूलम्-उद्देशियं^१ कीयगडं^२, नियागमभिहडाणि^३ य^४ ।

राइभत्ते^५ सिणाणे^६ य, गंधमल्ले^७ य वीयणे^८ ॥२॥

छाया--औद्देशिकं क्रीतकृतं, नियागमभ्याहतानि च ।

रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्ध-माल्ये च वीजनम् ॥ २ ॥

सान्वयार्थः-(१) उद्देशियं=औद्देशिक-किसी एक साधुके लिए बनाया हुआ आहार (२) कीयगड=साधुके लिए खरीदा हुआ आहार (३) नियागं=निमंत्रणसे ग्रहण किया हुआ आहार (४) अभिहडाणि=सामने लाकर दिया हुआ आहार (५) राइभत्ते=रात्रिभोजन (६) सिणाणे=स्नान य=और (७) गंध=चन्दनादिलेप (८) मल्ले=पुष्पादिसाला (९) वीयणे=पंखा ॥ २ ॥

टीका-औद्देशिकम् = उद्देशनमुद्देशस्तत्र भवं तत्प्रयोजनमस्येति वा औद्देशिकं साध्वादिकमुद्दिश्य निष्पादितमित्यर्थः (१),

चक्र, छत्र और चामरोसे भगवान् लक्षित होते हैं" । यहां पर 'लक्षित' ऐसा कहनेसे साफ़र यह दिखलाया गया है कि-औरोको छत्र चमरादिसे युक्त भगवान् लक्षित होते हैं किन्तु वे चक्र-छत्रादि अन्य-(देव)-कृत नहीं है । जैसे अर्द्धमागधीभाषारूपा भी तीर्थङ्कर की वाणी, समवसरणमें आये हुए देव मनुष्य तिर्यचोकी अपनी अपनी भाषाके स्वरूपमें ही प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः वह वैसी नहीं है, अत एव उन कल्पातीतोकी तुलनामें नहीं पहुंचे हुए हम छद्मस्थोको तो उनके कहे हुए कल्पमें ही रहना चाहिए, न कि उनका अनुकरण करना चाहिए ॥१॥

अव (५२)-अनाचीर्णोंको दिखलाते हैं-'उद्देशियं०' इत्यादि ।

उद्देशार्थी अथ साक्ष साक्ष अताव्यु छे के-भीलाने छत्र-चामरादि-युक्त भगवान् लक्षित थाय छे, परंतु ते अक्ष-छत्रादि अन्य (देव) कृत नहीं होतां । अथ अर्द्धमागधीभाषारूप यद्यु तीर्थं करनी वाणी समवसरणमां आवेदा देव-मनुष्य-तिर्यचोने पोतपोतानी भाषाना स्वरूपमां अ प्रतीत थाय छे, किन्तु वस्तुतः ते तेवी नहीं होतां । अतएव अ कल्पातीतोनी तुलनामां नहि पडोयेदा आपणे छद्मस्थोअे तो अथे उद्देश कल्पमां अ रहेवुं अर्थे, नहि के तेमनुं अनुकरण करवुं अर्थे. (१)

क्रीतकृतं = क्रीतेन = क्रयणेन कृतं = सम्पादितं साधुकृते मूल्येन गृहीतमिति यावत् (२),

नियाग-नि=निरतिशयो योगो निमन्त्रणादिरूपः संस्कारो यस्मिंस्तत्-आमन्त्रित पिण्डस्य कदाचिदपि ग्रहणम्, अनामन्त्रितस्य नित्यग्रहणमिति भावः (३),

अभ्याहृतानि=स्व-पर-ग्राम गृहादिभेदभिन्नानि साधुनिमित्तं सम्मुखमानीय दत्तानि, बहुवचनं सर्वेषामेवाऽभ्याहृतानामनाचीर्णत्वरूप्यापनार्थम् (४),

रात्रिभक्त=रात्रिभोजनं रात्र्यादिगृहीत भक्तं वा (५), स्नानं=प्रसिद्धम् (६),

(१) औद्देशिक' (२) क्रीतकृत, (३) नियाग, (४) अभ्याहृत, (५) रात्रिभोजन, (६) स्नान, (७) गन्ध, (८) माल्य, (९) पंखा चलाना ।

(१) साधु आदिके लिए जो आहार बनाया जाता है उसे औद्देशिक कहते हैं ।

(२) साधुके लिए मूल्य देकर जो आहारादि खरीद किया गया हो उसे क्रीतकृत कहते हैं ।

(३) गृहस्थका निमन्त्रण पाकर कभी भी आहार लेना अथवा प्रतिदिन एक ही घरसे आहार लेना नियागपिण्ड है ।

(४) अपने गांव परगांवसे अथवा घरसे साधुके सामने लाया हुआ आहार अभ्याहृत पिण्ड है ।

अभ्याहृतके लिए गाथामें बहुवचन आया है यह उसका अभिप्राय है कि जितने भी अभ्याहृत (सामने लाये हुये) हैं वे सभी अनाचार है ।

(५) रात्रिमें आहार लेना, दिनमें लेकर रात्रिमें खाना आदि रात्रिभक्त है (६) देवतः सर्वतः स्नान करने को स्नान-अनाचार कहते हैं ।

डवे (पर)-अनाचीर्णा दशांवि छे-उद्देशिय० धृत्यादि.

(१) औद्देशिक, (२) क्रीतकृत, (३) नियाग, (४) अभ्याहृत, (५) रात्रिभोजन, (६) स्नान, (७) गन्ध, (८) माल्य, (९) पंखा चलावना-

(१) साधु आदिने माटे जे आहार अनाचवामां आयेला होय तेने औद्देशिक कडे छे.

(२) साधुने माटे मूल्य अर्थात् जे आहारादि खरीद करवामां आवेल होय तेने क्रीतकृत कडे छे.

(३) गृहस्थतु निमन्त्रण भेजवीने कोठवार पणु आहार लेवो अथवा प्रतिदिन अर्कज घरथी आहार लेवो जे नियागपिंड कडेवाय छे

(४) पोताना गाभथी, परगाभथी अथवा घरथी साधुनी सामे लाववामां आवेलो आहार अभ्याहृत-पिंड कडेवाय छे

अभ्याहृतने माटे गाथामा बहुवचन आयुं छे तेना जे हेतु छे जे-जेटला अभ्याहृत (सामे लावेलो) होय ते अनाचार छे.

(५) रात्रे आहार लेवो, दिनमा लघने रात्रे भावो, धृत्यादि रात्रिभक्त कडेवाय छे.

गन्धमालये-गन्धः=चन्दन-केतकादिसौरभम् (७)-

मालयं=पुष्पादिमाला, तयोरितरेतरयोग इति गन्ध-मालये (८),

तथा वीजनं=ग्रीष्मादिकृती तालवृन्तादिना वातादिसञ्चालनम् (९),

अत्राऽऽरग्भादयो दोषा जायन्त इति स्वयमवगन्तव्यम् । औद्देशिकक्रीतकृतयोः स्वरूप सप्रपठच्चं पठचमाध्ययने वक्ष्यते ॥ २ ॥

१० ११ १२ १३
मूलम्--संनिही गिहिमत्ते य, रायपिण्डे किमिच्छए ।

१४ १५ १६ १७
संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥३॥

(छाया)--संनिधि-गृह्यमंत्रं च, राजपिण्डः किमिच्छकः ।

संवाहनं दन्तप्रधावनं च, संप्रच्छनं देहप्रलोकनं च ॥३॥

सान्वयार्थः--(१०) संनिही=रात्रिमें आहार आदिका संचय (११) गिहिमत्ते=गृहस्थके पात्रमें भोजन करना य=और (१२) रायपिण्डे=राजाके लिए बनाया हुआ आहार (१३) किमिच्छए=दानशाला या अन्नक्षेत्र आदीका आहार (१४) संवाहणा=शरीरकी मालिश करना (१५) दंतपहोयणा=दांत मांजना य=और (१६) संपुच्छणा=गृहस्थसे कुशलप्रश्न पूछना य=और (१७) देहपलोयणा=दर्पण या जलमें मुख आदी देखना ॥३॥

टीका--संनिधीयते=सम्यक्तया नितरां स्थाप्यते नरकादिष्वात्माऽनेनेति संनिधिः=संभवादत्र घृतादिसञ्चयकरणम् (१०),

(७-८) चन्दन केतक अतर आदिकी सुगन्ध तथा फूलमाला आदिका सेवन करना गन्ध-मालय-अनाचार है ।

(९) ग्रीष्मादि कालमें पंखा चलाना यह व्यजन-अनाचार है ?

इनसे आरम्भ आदि दोष होते है सो स्वयं समझना चाहिये । औद्देशिक और क्रीतकृतका विस्तारपूर्वक विवेचन पाचवे अध्ययनमें किया जायगा ॥१॥

(१०) सनिधि-जिस अनाचारका सेवन करनेसे आत्मा नरकादि कुगतियोंमें गिरती है अर्थात् घृत औषध आदिका रात्रिमें बासी रखना सनिधि-अनाचार है ।

(९) देशी (थोडे भागे) सर्वाथी (आधे शरीरे) स्नान करवु अे स्नान-अनाचार कडे-वाय छे

(७-८) चंदन, केवडा, अतर आदिनी सुगंध तथा फूल माला आदिनुं सेवन करवुं अे गन्ध-मालय अनाचार कडेवाय छे.

(९) ग्रीष्मादि कालमां पंखा चलाववो अे व्यजन-अनाचार छे.

अेथी आरल आदि दोष लागे छे ते पोतेअ समजवु जोधअे. औद्देशिक अने क्रीतकृतनुं विस्तारपूर्वक विवेचन पाचमां अध्ययनमा करवामां आवशे. (२)

(१०) सनिधि-अे अनाचारनुं सेवन करवाथी आत्मा नरकादि दुर्गतिमां पडे छे,

- गृह्यमंत्रं=गृहिणां=गृहस्थानाम् अमंत्रं=पात्र प्रसंगादत्र तस्मिन्नभ्यवहरणादि (११),
 राजपिण्डः = राजार्थं निष्पन्नाऽऽहारः (१२),
 किमिच्छक = 'कः किमिच्छत्याहारादिक' -मित्येवं पृच्छयन्ते यस्मिन् कर्मणि तत्,
 अन्नसत्र-(सदाव्रत)-शालादित आहारादिग्रहणमित्यर्थः (१३),
 संवाहनम् = अस्थ्यादिमुखविशेषजनक तैलादिना शरीरसंमर्दनम् (१४)
 दन्तप्रधावनं = दन्तमार्जनम् (१५),
 संप्रच्छनं = गृहस्थं प्रति कुशलादिरूपसावद्यप्रश्नकरणम् (१६),
 देहप्रलोकनं = जलदर्पणादिषु मुखादिनिरीक्षणम् (१७),
 चकाराः समुच्चयार्थाः । सन्निध्यादिषु परिग्रहादयो दोषाः प्रतीताः ॥३॥

१८

१९

मूलम्-अद्वाव ए य नाली ए; छत्तस्स य धारणद्वा ए ।

२०

२१

२२

तेमिच्छं पाहणा पाए समारंभं च जोइणो ॥४॥

- (११) गृह्यमंत्र-गृहस्थके पात्रमे आहार आदि करना गृह्यमंत्र है ।
 (१२) राजपिण्ड-राजाके लिए बनाया हुआ आहार लेना राजपिण्ड है ।
 (१३) किमिच्छक-जिसमें यह पूछा जाता है कि कौन क्या चाहता है ? अर्थात् दान-शाला (सदाव्रत) आदिसे आहार लेना किमिच्छक है ।
 (१४) सवाहन-अस्थि, मांस, त्वचा, रोमको आनन्ददायक चार प्रकारका मर्दन करना सवाहन है । (१५) दन्त प्रधावन-दात धोना ।
 (१६) संप्रच्छन-गृहस्थसे कुशल आदि रूप सावद्य प्रश्न पूछना ।
 (१७) देहप्रलोकन-जलमें अथवा दर्पण आदिमें अपना मुख आदि देखना । सन्निधि आदिमें परिग्रहादि दोष प्रसिद्ध है ॥३॥

अर्थात् धी ओसउ आदि रात्रे वासी राणवा ते सन्निधि-अनाचार छे.

- (११) गृह्यमंत्र-गृहस्थना पात्रमा आहार आदि करवो ते गृह्यमंत्र कडेवाय छे.
 (१२) राजपिंड-राजने मटे अनावेवो आहार लेवो ते राजपिंड छे
 (१३) किमिच्छक-जेमा ओ पूछवामा आवे छे के केने शु लेछिओ छे ? अर्थात् दानशा-
 ला (सदाव्रत) आदि पासेधी आहार लेवो ते किमिच्छक कडेवाय छे
 (१४) सवाहन-अस्थि, मांस, त्वचा, रोमने आनन्ददायक चार प्रकारतुं मर्दन करवु
 ओ सवाहन छे. (१५) दन्तप्रधावन-दात धोवा
 (१६) संप्रच्छन-गृहस्थने कुशल आदि रूप सावद्य प्रश्नो पूछवा
 (१७) देहप्रलोकन-जलमां अथवा दर्पण आदिमा पोतानु मुख आदि लेवा, सन्निधि
 आदिमां परिग्रहादि दोष प्रसिद्ध छे (३)

छाया—अष्टापदं नालिकया, छत्रस्य धारणार्थाय (धारणाऽष्टया) ।

चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भश्च ज्योतिषः ॥४॥

सान्त्वयार्थः—(१८) नालीए =जूएके उपकरण-साधनसे अष्टावए = चौपड़ शतरंज आदि खेलना. (१९) अष्टावए = मुट्टीसे छत्रस्य = छातेका धारणं = धारण करना (२०) तेगिच्छं = रोगकी चिकित्सा करना (२१) पाए पाहणा = पैरोंमें जूते चंपल मोजे आदि पहिनना च = और (२२) जोइणो = अग्निका समारंभं = आरंभ करना ॥४॥

टीका—च = तथा, नालिका = यथाऽभिमतपतनार्थं यया पाशः पात्यन्ते सा = पाशपातनद्रव्यम् तथा, उपलक्षणमेतत्—द्यूतोषकरणमात्रस्य, अष्टापदम्—अष्टौ अष्टौ पदानि = स्थानानि (गृहाणि) सर्वभागेषु यस्मिंस्तथा वस्त्राऽऽधारस्थानम्, इह च लक्षणया द्यूत-सामान्यम् (१८),

च = किञ्च छत्रस्य = आतपत्रस्य धारणार्थाय ग्रहणमिति शेषः ॥ यद्वा-‘ धारणा अष्टाए’ इतिच्छेदः, ‘अष्टा’ इत्यस्य ‘मुष्टि’-रित्यर्थः, ‘चउहि अट्टाहि लोयं करेइ’ . चतसृभिरष्टा भिल्लोचं करोति जम्बूद्वीप प्रज्ञप्त्यादौ तथा दर्शनात्, ततश्च ‘अष्टाए = अष्टया = मुष्टया छत्रस्य धारणा = ग्रहणमित्यर्थः । न च छत्रादिधारणं मुष्ट्यादिनैव संभवतीति ‘अष्टाए’

(१८) अष्टापद—‘नालीए’ अर्थात् फेककर चौपड़, शतरंज आदि खेलना, अथवा अन्य प्रकार से जुआ खेलना ।

(१९) छत्रधारण करना । गाथामें ‘धारणट्टाए’ ऐसा पद है उसे अलग अलग करनेसे ‘धारणा अष्टाए’ होता है । यहाँ अट्टा शब्दका अर्थ ‘मुट्टी’ है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें कहा है कि—, ‘चउहि अट्टाहि लोयं करेइ’ अर्थात्-ऋषभदेव भगवान्ने चार मुट्टी लोच किया । अतः ‘धारणट्टाए’ का अर्थ ‘मुट्टीसे छत्रको ग्रहण करना’ हुआ ।

प्रश्न—छत्र तो मुट्टीसे ही पकड़ा जाता है फिर ‘अष्टाए’की क्या आवश्यकता है ? जैसे “मुखसे बोलता है” इस वाक्यमें ‘मुखसे’ इतना अंश व्यर्थ है, क्योंकि सिवाय मुखके और किसी अंगसे नहीं बोला जाता, इसी प्रकार यहाँ ‘मुट्टीसे’ कहना भी वृथा है ?

(१७) अष्टापद—नालीए अर्थात्—पासा इंडीने चोपाट शतरंज आदि खेलना, अथवा अन्य प्रकारे जुगार खेलना

(१९) छत्र धारण करवुं गाथामा धारणट्टाए अेषु पद छे, अने छूटा पाउवाथी धारणा +अष्टाए थाय छे आडीं अट्टा शब्दने अर्थ ‘मुट्टी’ छे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमां कहु छे के—चउहि अट्टाहि लायं करेइ अर्थात्—ऋषभदेव भगवाने, चार मुट्टी लोच कर्था अट्टाए धारणट्टाए ने अर्थ ‘मुट्टीथी छत्रने अडणु करवु’ अवेो थये।

प्रश्न—छत्र तो मुट्टीथी ज पकडवामां आवे छे, पछी अट्टाए अ पदनी शी जर रडे छे ? जेभडे “मुखथी जेले छे” अे वाक्यमां ‘मुखथी’ अट्टाए अश व्यर्थ छे, कारण के मुख विना जीव कौछ अगथी जेले शकतु नथी. तेज रीते त्या ‘मुट्टीथी’ अेभ कडेवु अे पणु वृथा छे.

इत्यस्य 'मुखेन पठती' इत्यादिषु मुखादिवद्वैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, चक्षुर्भ्यां पश्यति, कर्णाभ्यां शृणोति, जिह्वया लेही' इत्यादि-लोकोक्तिषु चक्षुरादीनामिव यथास्थितवस्तु प्रतिपादनमात्रतात्पर्येणाऽपौनरुक्त्यात्, अत्रैव गाथायामुत्तगर्द्धे 'पाहणा पाए' इत्यत्र 'पाए' इतिवदिति, उपलक्षणमेतच्चिद्वरसि छायाकरणमात्रस्य (१९),

'चैकित्स्यं=चिकित्सा=व्याधिप्रतीकारः, कफपित्तादिवैगुण्यं, ग्रहादिवैगुण्यं च व्याधेर्निदानं तत्प्रशमनं तदुपायोपदेशादिनेत्यर्थः (२०),

पादयोः=चरणयोः, उपानहौ=चर्मपादुके, उपलक्षणमिदं काष्ठपादुकादीनामपि (२१)

१-'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (५।१।१२४) इत्यत्रत्य ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात्स्वा-
र्थे ष्यञ् तत आदिवृद्धिराल्लोपश्च, यत्तु 'चिकित्साया भावश्चैकित्स्य' मिति टीकान्तरकृत-
स्तद् व्याकरणाऽनवबोधसूलकमेव, भावप्रत्ययान्ताद्भावप्रत्ययस्याऽनुत्पत्तेः, चिकित्सायाः
कर्म'-त्यर्थकल्पनमपि केषांचित्प्रामादिकमेव चिकित्साया रोगापनयनक्रियारूपाया स्वत एव
कर्मभूतत्वेन कर्मपर्यायत्वात्, ष्यञ् विधायकसूत्रे हि कर्म=क्रिये' ति वैयाकरणाः ॥

उत्तर-यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि लोकमें "आंखोंसे देखता है, कानोंसे सुनता है, जिह्वा-
से चखता है" इत्यादि वाक्योंमें 'आंखासे' 'कानोंसे' 'जिह्वासे' इन पदोंके बोलनेका अभिप्राय
यथास्थित वस्तुका प्रतिपादन करना है, इस गाथाके उत्तरार्द्धमें 'पाहणा पाए' पद आया है इसका
अर्थ है कि-पैरोंमें उपानह (जूता), उपानह यद्यपि पैरोंमें पहने जाते हैं हाथ या सिरमें नहीं प-
हने जाते फिर भी 'पाए' कहनेसे पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि इस पदसे यथावस्थित वस्तुका प्रति-
पादनमात्र किया गया है, इसलिए 'मुट्टीसे छत्र धरना, ऐसा कहना अयुक्त नहीं है ।

(२०) चैकित्स्य-चिकित्सा करना, अर्थात् वैद्यक करना, या ग्रह आदिको मन्त्र वगैरहसे
शांत करना, या इस विषयका उपदेश देना ।

(२१) उपानह (जूता) या मोजा आदि पहनना ।

उत्तर-ये प्रश्न भराभर नहीं, कारण के लोकमें 'आंखोंसे देखे छे,' 'कानोंसे सुनो छे,'
'जिह्वसे चखे छे,' इत्यादि वाक्योंमें 'आंखोंसे,' 'कानोंसे,' 'जिह्वसे' ये शब्दों आप-
वानो हेतु यथास्थित वस्तुका प्रतिपादन करवानो छे आ गाथामें उत्तरार्द्धमें 'पाहणा पाए'
पद आब्यु छे तेनो अर्थ छे-'पगमें उपानह (जूता), जे के जूता पगमें न पहरेवामा
आवे छे, हाथ के माथे नहि, तो पग पाए कडेवाथी पुनरुक्ति थती नहीं, कारण के ये
शब्दों यथावस्थित वस्तुका प्रतिपादन मात्र करवामा आव्यु छे तेथी 'मुट्टीसे छत्र धरवु'
येम कडेवु ये अयुक्त नहीं.

(२०) चैकित्स्य-चिकित्सा करवी अर्थात् वैद्यक करवुं, अथवा ग्रहादि ने मन्त्र वगैरथी
शान्त करवा अथवा ये विषयने उपदेश आपवे।

(२१) उपानह (जूता) अथवा मोजा आदि पहरेवा

च = किञ्च ज्योतिषः = वह्नेः समारम्भः = आरम्भकरणम् (२२),

दोषास्त्वत्राऽलीकत्वादयः स्वबुद्ध्याऽवगन्तव्याः, चकाराइहापि समुच्चयार्थाः । ४।

मूलम्—^{२३}सिज्जायरपिंडं च ^{२४}आसंदी ^{२५}पलियंकए ।

^{२६}गिहंतरनिसिज्जा य ^{२७}गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥५॥

छाया-शय्यातरपिण्डश्च, आसन्दी पर्य(ल्य)ङ्कः ।

गृहान्तरनिषद्या च, गात्रस्योद्वर्त्तनानि च ॥५॥

सान्वयार्थः--च = और (२३) सिज्जायरपिंडं = शय्यातरका आहार, (२४) आसंदी = कुर्सी या खाट (२५) पलियंकए = पञ्चग पालखी डोला आदि, (२६) गिहंतरनिसिज्जा = गृहस्थके घरमें बैठना, य = और (२७) गायस्स = शरीरका उव्वट्टणाणि = उवटन करना ॥५॥

टीका—शय्यतेऽस्यामिति शय्या = वसतिः, शय्याऽर्थात्तद्दानेन तरति संसारसागरमिति शय्यातरः, यद्वा शय्या = प्रोक्तरीत्या वासस्थानम्, आतरः = संसारपारावारोत्तरणशुल्कं यस्य स शय्यातरः । अत्र पक्षे यथा कश्चिन्नदी-पार जिगमिषुर्नाविकाय नदीतरण-

(२२) अग्निका आरम्भ करना,

इनसे भी असत्य आदि दोष समझना चाहिए, अर्थात् जूआं खेलनेसे असत्य, क्लेश, आर्तध्यान, परिग्रह आदि, छत्र धारण करनेसे सुकुमारता परीषहके सहनेमें असामर्थ्य आदि दोष, चिकित्सा करनेसे आरम्भ असत्य आदि दोष, उपानह पहननेसे द्वोन्द्रिय आदि जीवोका उपमर्दन आदि, तथा अग्निकायका आरम्भ करनेसे छह कायका उपमर्दन आदि दोष होते हैं ॥ ४ ॥

(२३) शय्यातरका पिण्ड लेना ।

जिसमें शयन किया जाता उसे शय्या या वसति कहते हैं । उस शय्याके दानसे संसार-समुद्रको तैरनेवाला शय्यातर कहलाता है । अथवा शय्या है संसाररूपी सागरसे पार होनेका आतर (शुल्क) जिसका उसे शय्यातर कहते हैं । जैसे कोई नदी पार करनेकी इच्छावाला बटोही

(२२) अग्निने। आरंभ करवे। अथी पणु असत्य आदि दोष समझवा जेधजे.

अर्थात्-जुगार जेदवांथी असत्य, क्लेश, आर्तध्यान, परिग्रह आदि, छत्र धारण करवाथी सुकुमारता, परीषडने सहन करवामां असामर्थ्य आदि अनेक दोष, चिकित्सा करवाथी आरंभ, असत्य आदि दोष, जेडा पहनेवाथी द्वीन्द्रिय आदि जीवोनु उपमर्दन आदि, तथा अग्निकायने आरंभ करवाथी छ कायनुं उपमर्दन आदि दोष लागे छे (४)

(२३) शय्यातरने। पिंड लेवे।

जेभा शयन करवामां आवे छे तेने शय्या या वसति कडे छे. जे शय्याना दानथी संसार रूपी सागरथी पार थवानु आतर (शुल्क) जेनुं, तेने शय्यातर कडे छे, जेभ केध नदी पार

શુલ્કં દત્ત્વા તત્પાર ગચ્છતિ તથા સંસારસમુદ્રપારં જિગમિપુર્ગૃહસ્થવન્નાવિક્કસ્વરૂપાય મહાપુરુ-
પાય મુનયે શય્યા-(વસતિસ્થાન)-રૂપમાતરં (તરણશુલ્કં) દત્ત્વા તત્પારં વ્રજતીતિ ભાવાર્થોઽ-
નુસન્ધેયઃ । પક્ષદ્વયેઽપિ સાધુવાસાર્થમાજ્ઞાદાયક ઇતિ ફલિતમ્, પિણ્ડઃ = આહારૌપધ્યાદિઃ
શય્યાતરપિણ્ડ ઇતિ ।

શય્યાતરવિચારઃ ।

યદ્યપિ ત્રિવાસાર્થ સાધવે સ્વાનુમત્તિપ્રકાશકો વસતિસ્વામી શય્યાતરશબ્દસ્યાર્થઃ,
તથાપિ તસ્ય તદૈવ શય્યાતરત્વં ભવતિ યદા તત્ર વસતૌ સાધુર્માણ્ડોપકરણાનિ સ્થાપયેત્,
પ્રતિક્રમણમાચરેત્, રાત્રૌ શયીત ચ । અત્રાયં વિવેકઃ—માણ્ડોપકરણસ્થાપન-પ્રતિક્રમણાચરણ
શયનાનાં ત્રયાણાં પ્રત્યેકં શય્યાતરત્વે હેતુત્વમ્, તેન પ્રતિક્રમણાચરણ-શયનાભ્યાં પ્રાગપિ

(માર્ગ) નાવિકકો નદી પાર ઉતરનેકા મૂલ્ય દેકર પાર ઉતરતા હૈ ડસી પ્રકાર સસારરૂપી સ-
મુદ્રકે પાર ઉતરને કો ડચ્છાવાલા ગૃહસ્થ નાવિકકે સમાન સાધુ મહાપુરુષોકો શય્યા-(વસતિ-સ્થાન)
રૂપી ઉતરાઈ (પાર ઉતારને કા મૂલ્ય) દેકર સસારસાગરસે પાર ઉતરતા હૈ, યહ અભિપ્રાય સમ-
જ્ઞના ડાહિણ્ । ડોનો પક્ષોકા અર્થ ંક હી હૈ કિ શય્યાતર ડસે કહતે હૈ, જો સાધુકો ઠહરનેકે
લિણ્ મકાનકી આજ્ઞા ડેતા હૈ । ડસકે આહાર ઔષધ આદિ પિણ્ડકો શય્યાતર-પિણ્ડ કહતે હૈ ।

શય્યાતર—વિચાર

સાધુકો ઠહરનેકે લિણ્ અપની અનુમતિ પ્રગટ કરનેવાલા ડપાશ્રયકા સ્વામી શય્યાતર કહલાતા હૈ,
હૈ, તથાપિ વહ ડન અવસ્થાઓમ્ શય્યાતર હોતા હૈ—

(૧) સાધુ વસતિમે માણ્ડોપકરણ રક્ષ ડેવે ।

(૨) પ્રતિક્રમણ કરે, ઔર (૩) રાત્રિમ્ શયન કરે ।

(૧) ડન તીનોમેસે પ્રત્યેક ક્રિયા શય્યાતર હોને મ્ કારણ હૈ । ડસલિણ્ પ્રતિક્રમણ ઔર

કરવાની ઇચ્છા—વાણો ડિતાઈ નાવિકને નદી ડિતરવાનુ' ભાડુ' આપીને પાર ડિતરે છે, તેમ
સંસાર-રૂપી સમુદ્રને પાર ડિતરવાની ઇચ્છા—વાણો ગૃહસ્થ, નાવિક—સમાન સાધુ—મહાપુરુષોને
શય્યા—(વસતિ—સ્થાન) રૂપી ભાડુ (પાર ડિતરવા માટેનુ મૂલ્ય) આપીને સંસાર—સાગરથી
પાર ડિતરે છે, ઔવો અર્થ સમજવો ભેઈએ. ઔક પક્ષોનો અર્થ ઔક જ છે કે શય્યાતર
એને કહે છે કે જે સાધુને રહેવાને માટે મકાનની આજ્ઞા આપે છે, એના આહાર ઔષધ
આદિ પિણ્ડને શય્યાતર—પિણ્ડ કહે છે.

શય્યાતર—વિચાર

સાધુને રહેવાને માટે પોતાની અનુમતિ આપનાર ડપાશ્રયનો સ્વામી શય્યાતર કહેવાય
છે' તથાપિ તે આ અવસ્થાઓનાં શય્યાતર થાય છે—

(૧) સાધુ વસતિમા ભાડોપકરણ (પાત્ર વગેરે) રાખે. (૨) પ્રતિક્રમણ કરે અને (૩)
રાત્રે શયન કરે.

(૧) આ ત્રણેમાની પ્રત્યેક ક્રિયા શય્યાતર થવામાં કારણ છે, તેથી પ્રતિક્રમણ અને શયન

भाण्डोपकरणस्थापनानन्तरं वसतिस्वामिनः शय्यातरत्वम्, पूर्वगृहीतवसतौ स्थानसंकीर्ण-
तायां सत्यां क्रियान् समीपतरवर्त्तिन्युपाश्रये तत्स्वामिनिदेशमादाय प्रतिक्रमणं कुर्वीतत दा
तत्र भाण्डोपकरणस्थापनाभावेऽपि तदीयस्वामिनः शय्यातरत्वम् । अन्यत्र प्रतिक्रमणं कृत्वा
स्थानसंकीर्णतायां सत्यां शयनमात्रं यत्राचरितं तत्स्वामिनो ऽपि शय्यातरत्वम् । परन्त्वयं
विशेषो बोद्धव्यः—

अन्यसाधुसविधे रवकीयभाण्डोपकरणानि सस्थाप्याऽन्यत्र शयनप्रतिक्रमणाचरणे मू-
लोपाश्रयस्वामिनो न शय्यातरत्वम्, भाण्डादिस्थापने साधुसांनिध्यस्यैव निमित्तता न तु
तत्स्वामिनः, साधोरभावे भाण्डादिस्थापनस्य शास्त्राविहितत्वात् । शय्यातरत्वनिवृत्तिकर-
णाय तु पुनः पुनः शय्यातरपरिवर्तनं नाचरणीयम् । पुनः पुनः शय्यातरपरिवर्त्तन हि सा-

शयन करनेसे पहले भी भाण्डोपकरण रख देनेपर वसतिका स्वामी शय्यातर हो जाता है ।

(२) पहले जिस वसतिको ग्रहण कर लिया हो उसमे स्थानकी सकीर्णता होनेपर कुछ साधु
अपने भाण्डोपकरण अन्य साधुओके समीप रखकर, पासके दूसरे उपाश्रयमें उसके स्वामीकी आज्ञा
लेकर प्रतिक्रमण करे तो वहां भाण्डोपकरण न रखने पर भी जहां प्रतिक्रमण किया हो उस वस-
तिका स्वामी शय्यातर कहलाता है, इस वसतिका नहीं ।

(३) दूसरे स्थानमें प्रतिक्रमण करके, स्थानकी सकीर्णता होने पर जहां सिर्फ शयन किया
हो उस स्थानके स्वामीको भी शय्यातर कहते हैं अर्थात् उस अवस्थामें दोनो शय्यातर है ।

विशेष यह है कि—दूसरे साधुओके पास भाण्डोपकरण रखकर अन्य ही किसी स्थानपर
प्रतिक्रमण और शयन करे तो जहां भाण्डोपकरण रखे है, उस स्थानका स्वामी शय्यातर नहीं
कहलाता । क्योंकि भाण्डोपकरण साधुके नेसराय (अधीनता) में ही रखे जाते हैं, गृहस्थके नेस-
रायमें रखना शास्त्रविरुद्ध है ।

पूर्वे पण्यु लाडोपकरणु राणी हे तो वसतिनेो स्वामी शय्यातर थध न्यय छे

(२) पडेलीं ने वसतिनुं ग्रहुणु करी लीधुं डोय, तेमां स्थाननी संकीर्णता (संकेडाश)
डोपाथी केध साधु पोतानां लाडोपकरणु भीन साधुओनी समीपे राणीने, पासेना भीन
उपाश्रयमां तेना स्वामीनी आज्ञा लधने प्रतिक्रमणु करे तो त्यां लाडोपकरणु न राणवा छतां
पण्यु न्या प्रतिक्रमणु क्युं डोय ते वसतिनेो स्वामी शय्यातर कडेवाय छे. आ वसतिनेो नडि.

(३) भीन स्थानमां प्रतिक्रमणु करीने स्थाननी संकेडाशने डारणे न्यां मात्र शयन क्युं
डोय ते स्थानना स्वामीने पण्यु शय्यातर कडे छे अर्थात् ओ स्थितिमां जेउ शय्यातर छे.

विशेष वात ओ छे डे—भीन साधुओ पासे लाडोपकरणु राणीने भीन न केध स्थान
पर प्रतिक्रमणु अने शयन करे तो न्यां लाडोपकरणु राणेली डोय, ते स्थाननेो स्वामी
शय्यातर नहीं कडेवातो, केमके लाडोपकरणु साधुनी नेसराय (अधीनता) मा न राणवामां
आवे छे, गृहस्थनी नेसरायमां राणवां ओ शास्त्रविरुद्ध छे.

धोर्भिक्षालोभं प्रकाशयति, तत्र बहवो दोषा अपि चापतन्ति, तथाहि—शय्यातरपरिवर्तने पूर्वशय्यातरो विभावयति—अद्य मम गृहे त्यक्तोपाश्रयः साधुरसौ निश्चितमागमिष्यतीति तदर्थं सुरसमन्नादिकं साधनीयमिति कृत्वा निष्पादितस्यान्नपानादेराधाकर्मिकृत्वापत्तिः । यदितु स्वार्थं साधुनिमित्तं च निष्पादितं तदा मिश्रजातदोषापत्तिर्दुर्निवारैव । पूर्वं शय्यातरेण त्यक्तोपाश्रयाय साधवे कस्यचिद् वस्तुनः स्थापने स्थापनादोषः कथं साधुना वारणीयः। अन्ये दोषाः स्वयमूहनीयाः । तस्माद् झटिति शय्यातरपरिवर्तनं न साधुना विधेयम् ।

वसतियाचनाविधिः ।

अथोपाश्रयस्वामिनस्तदनुपस्थितौ तत्संरक्षकाद्वा वसतियाचनाविधिरभिधीयते-

शय्यातरत्वकी निवृत्ति करनेके लिए बारंबार शय्यातरका परिवर्तन नहीं करना चाहिए । ऐसा करनेसे यह प्रगट होता है कि साधु भिक्षाका लोभी है; इसमें बहुत से दोष भी उत्पन्न होते हैं ।

जैसे—शय्यातरका परिवर्तन करनेसे पहला शय्यातर इस प्रकार सोचता है—आज मेरे उपाश्रयकी आज्ञा सतने छोड़ दी है, अतः मेरे यहाँ आवश्यक आवेग, इसलिए उनके वास्ते स्वादिष्ट अन्न आदिक बनाना चाहिए, ऐसा विचार कर बनाया हुआ अन्नादिक आधाकर्मिक होगा । यदि पहला शय्यातर अपने और साधुके लिए इकट्ठा बनावेगा तो मिश्रजात दोष लगेगा । साधुके आनेकी सभावनासे वह किसी वस्तुको स्थापना करेगा तो स्थापना(ठवणा) दोष होगा । इत्यादि अनेक दोष स्वयं समझ लेने चाहिये । इसलिए साधुको बारम्बार शय्यातर बदलना नहीं कल्पता है ।

उपाश्रय—याचनाकी विधि ।

वसति-स्वामीसे अथवा उसकीगैर—मौजूदगीमें उसके सरक्षकसे वसति-याचनाकी विधि कहते हैं—

शय्यातरत्वनी निवृत्ति करवाने भाटे वार वार शय्यातरने। परित्याग करवे। न लेधये ऐम करवाथी ऐवुं प्रकट थाय छे के साधु भिक्षाने। दोषी छे, ऐनाथी अनेक दोषो पणु उत्पन्न थाय छे

ऐम-शय्यातरनुं परिवर्तन करवाथी पड़ेले। शय्यातर आ प्रमाणे विचारे छे—आज मारा उपाश्रयनी आज्ञा सतोअ छोडी दीधी छे, अटले मारे त्यां जर आवशे, तेथी ऐमने भाटे स्वादिष्ट अन्नादि अनाववां लेधये. ऐवो विचार करीने अनावेदुं अन्नादि आधाकर्मिं अनशे, ले पड़ेले। शय्यातर पोताना भाटे अने साधुने भाटे ऐकहुं अनावशे तो मिश्रजात दोष लागशे. साधु आववाणी मलावनाथी ते केध वस्तुने स्थापन करशे। स्थापना-(ठवणा)-दोष लागशे—इत्यादि अनेक दोषो पोतानी भेजे समझ लेवा ऐ कारणथी साधुने वार वार शय्यातर बदलवा कल्पता नथी

(उपाश्रय—याचनाकी-विधि)

वसतिना स्वामी पासे अथवा तेनी गेरडाजरीमां ऐना सरक्षकनी पासे वसति—याचना करवाणी विधि कडे छे —

मुनिर्वदेत्—हे आयुष्मन् ! अस्यां वसतौ स्थातुमिच्छामि, यावति समये स्थातुमादेशो भवदीयो भवेत् तावानेव कालो यापनीयः, तत्रापि यावान् वसतिभूमिभागो ममावस्थानाय भवते रोचेत तावानेव ममापेक्षणीय इति ।

ततो गृहस्थः प्रतिब्रूयात्—भगवन् ! मुनीश्वर ! कियतः कालानवस्थास्यते ? तदा ऋतुवद्धशेषकाले सति साधुः “एकमासावधिकाले कल्पे यावदवसरं स्थास्यामि” इति; वर्षाकाले तु “चतुरो मासानत्र यापयिष्यामी” ति वदेत् ।

सागारिकेण साधुकल्पकालमुपलक्ष्य—“एतावतः कालानत्राहं न स्थास्यामि ग्रामान्तरं गमिष्यामी”-ति कथने तु साधुरेवं कथयेत्—‘अत्र भवदुपस्थितिसमयावधिरेव कालो मया क्षपणीयः, तदनन्तरमिमां वसतिं परिहास्यामीति । पुनः सागारिकेण—‘कियन्तः साधवो भवन्तः ? ’ इति पृष्टः साधुरभिदधीत—समुद्रतरङ्गवत् साधूनामियत्तावधारणं कः कुर्यात्, यतः कियन्तो गच्छन्ति, कियन्तश्चागच्छन्ति, ये चागमिष्यन्ति तेऽप्यत्रावस्थानं

मुनि—हे आयुष्मन् ! हम इस वसतिमें ठहरना चाहते हैं । तुम जितने समय तक ठहरनेकी आज्ञा दोगे, उतने समयसे अधिक नहीं ठहरेंगे । उसमें भी तुम भूमि का जितना भाग हमें ठहरनेके लिए देना चाहो, उतनाही हमारे लिए पर्याप्त है ।

गृहस्थ पूछे कि—हे मुनिराज ! आप कितने समय तक ठहरना चाहते हैं ? ।

तव मुनि—ऋतुवद्ध शेषकाल हो तो ‘एक मासके कल्पमें जब तक अवसर होगा तब तक रहेंगे’ ऐसा, यदि चातुर्मास हो तो ‘चार मास ठहरनेका हमारा कल्प है’ ऐसा कहे । यदि साधुका कल्प-काल सुनकर गृहस्थ कहे कि—मैं तो थोड़ेही दिन यहाँ रहूँगा फिर ग्रामान्तर जाऊँगा, तो साधुको कहना चाहिए कि—“जब तक तुम यहाँ रहोगे तब तक ही हम ठहरेंगे, तुम्हारे जाने पर इस वसतिको छोड़ देंगे । ”

यदि गृहस्थ पूछे कि—‘आप कितने साधु हैं ? ’ तो साधु उत्तर दें कि—‘समुद्रके तरङ्गोंकी

मुनि—हे आयुष्मन् ! अमे आ वसति (भक्षान-स्थान) मां रडेवा धृच्छीये छीये, तमे नेटला समय सुधी रडेवानी आज्ञा आपशो, तेटला समयथी वधारे समय रडीशु नडि. तेमां यणु तमे भूमिने नेटलेो लाग अमने रडेवाने भाटे आपवा धृच्छे तेटलेो न अमारे भाटे पर्याप्त (पूरतेो) छे

गृहस्थ—हे मुनिराज ! आप केटला समय सुधी रडेवा धृच्छे छे ?

त्यारे मुनि—ऋतुणद्ध शेषकाण डोय तो—‘अेक मासना कल्पमां न्यां सुधी अवसर डुशे त्यां सुधी रडीशु’ अेम कडे, अथवा ने यातुर्मास डोय तो—‘चार मास रडेवानेो अमारेो कल्प छे’ अेम कडे. ने साधुनेो कल्पकाण सांलणीने गृहस्थ कडे के ‘हुं तो थोडा न दिवस अडुी रडीश’ तो साधुअे कडेपु नेधअे के न्यां सुधी तमे अडुी रडेशेो त्या सुधी न अमे रडीशु, तमे नशेो त्यारे आ स्थानने अमे छोडी धृशु.’

ने गृहस्थ पूछे के ‘आप केटला साधुअे छे ? ’ तो साधु उत्तर आपे के—‘समुद्रना

करिष्यन्ति। इत्थं सागारिकाज्ञामादाय तदीयनामगोत्रे विज्ञायोपाश्रये साधुस्तिष्ठेत् । गोचरीं गन्तुमुद्यतो भिक्षुः शय्यातरनामगोत्रे अविज्ञाय भिक्षार्थं न पर्यटंत ।

कल्प्याकल्प्यविधिः ।

शय्यातरगृहे साधोरकल्प्यानि कथ्यन्ते, यथा —

(१) अशनम्, (२) पानम्, (३) खाद्यम्, (४) स्वाद्यम्, (५) वस्त्रम्, (६) पात्रम्, (७) कम्बलः, (८) रजोहरणम्, (९) दोरकम्, (१०) सूची, (११) कर्तरी, (१२) छुरिका, (१३) नखहरणी, (१४) कर्णशोधनी (कानखुचरनी), (१५) दन्तशोधनी (दांतखुचरनी) कंटकौद्धारणी (कांटा कठनी चीपिया) (१७) कण्टकः कण्टकौद्धारणीपात्रश्च (कण्टककुत्थलिका), (१८) औषधम्, (१९) भैषज्यम्, (२०) शतपाकसहस्रपाकादितैलम्, (२१) पात्ररञ्जनद्रव्यम् (रोगान सफेदा आदि), (२२) पात्रादौ रन्ध्रकरणाद्युपयोगी शस्त्रविशेषः

तहर साधुओकी मर्यादा नहीं है । क्योकि कितने हो साधु आते हैं और कितनेही चले जाते हैं, जो आवेंगे वे भी यहीं ठहरेगे ।

इस प्रकार गृहस्थकी आज्ञा लेकर, उसका नाम और गोत्र जानकर साधुको ठहरना चाहिए । जबतक साधुको शय्यातरका नाम और गोत्र न माद्वम हो जावे तब तक भिक्षाके लिए न जावे ।

कल्प्याकल्प्य—विधि ।

निम्नलिखित वस्तुएँ शय्यातरके घरकी कम्पनीय नहीं हैं—(१) अशन, (२) पान, (३) खाद्य, (४) स्वाद्य, (५) वस्त्र, (६) पात्र, (७) कम्बल, (८) रजोहरण, (९) डोरा, (१०) सुई, (११) कैची, (१२) चाकू, (१३) नखहरणी (नहरनी), (१४) कर्णशोधनी (कानकुचरनी), (१५) दन्तशोधनी (दांतकुचरनी), (१६) चीपिया, (१७) कांटे और कांटोंकी कोथली, (१८) औषध, (१९) भेषज, (२०) शतपाक—सहस्रपाक आदि तेल (२१) पात्र रंगनेके लिए रोगान, सुपेता

तर गोनी पेठे साधुओनी मर्यादा नहीं, केमके डेटलाय साधुओ आवे छे अने डेटलाय आदया नय छे, जेओ आवशे तेओ पणु अही न रहेसे ”

ये प्रमाणे गृहस्थनी आज्ञा लधने, जेतुं नाम अने गोत्र जणुने साधुओ रहेवु जेधओ. जया सुधी शय्यातरनुं नाम अने गोत्र साधुना जणुवामां न आवे त्या सुधी भिक्षाने माटे नय नहि

कल्प्याकल्प्य-विधि

नीचे लपेली वस्तुओ शय्यातरना घरनी साधुने कल्पे नहि—

(१) अशन, (२) पान, (३) खाद्य (४) स्वाद्य, (५) वस्त्र, (६) पात्र, (७) कण्ठी (८) रजोहरण, (९) डोरा, (१०) सोय, (११) कातर, (१२) अणु, (१३) नय उतारवानी नेरणी, (१४) कान-पोतरणी, (१५) दात-पोतरणी, (१६) चीपीयो, (१७) कांटे अथवा कांटानी कोथली, (१८) औषध, (१९) भेषज, (२०) शतपाक—सहस्रपाक आदि तेल, (२१) पात्र रंगवा माटेना रोगान सकेतो वगेरे, (२२) पात्रमा छिद्र आदि करवाना काममा आवनार

(सियार, रेती, इत्यादि), (२३) करगलम्, (२४) लेखनी, (२५) मसी, (२६) मसीपात्रम्, (२७) हिङ्गुलम्, (२८) खटिका, (खड़ी), इत्यादीनि ।

तथा शय्यातरगृहे साधोरुपादेयानि (कल्प्यानि) निर्दिश्यन्ते—

(१) तृणम् (२) लोष्टम्, (३) शिलापट्टकः (पेपणी), (४) शिलापुत्रकः, (५) भस्म, (६) पापा-
णखण्डम्, (७) इष्टका, (८) धूलिः, (९) पीठम्, (१०) फलकम्, (आसनविशेषः), (११)
शय्या (शरीरप्रमाणा), (१२) सस्तारकम् (सार्द्धद्वयहस्तप्रमाण आसनविशेषः), (१३) गोम-
यम्, (१४) सौपधिकशिष्यः, (१५) स्वाध्यायायार्थं प्रातिहारिकं (पडिहारी) पुस्तकम्,
इत्यादीनि । इदमप्यनुसन्धेयम्—यस्योपाश्रयस्य स्वामिने निवासशुल्कं दत्त्वा गृहस्थो
निवासार्थं साधुं निमन्त्रयेत् स उपाश्रयः साधोरकल्प्य इति । उपाश्रयस्यानेकस्वामिनि
सति कश्चिदेक एव शय्यातरत्वेन स्थापनीयः, न तु सर्वेऽपि ।

एतादृशशय्यातरस्य पिण्डे चत्वारो भङ्गा भवन्ति, यथा—

आदि, (२२) पात्रमें छेद आदि करनेके काममें आनेवाले स्यार, रेती आदि ओजार, (२३)
कागज़, (२४) लेखनी, (२५) स्याही, (२६) हिगल, (२७) खड़ी इत्यादि ।

निम्नलिखित वस्तुएँ शय्यातरके घरसे साधुको कल्पनीय हैं— तिनका, (२) पत्थर, (३)
शिला, (४) लोढी, (५) राख, (६) पत्थरका—टुकड़ा, (७) ईंट, (८) धूल, (९) छोटा बाजौट,
(१०) फलक (आसन), (११) शय्या (शरीरप्रमाण), (१२) सस्तारक (ढाड़ हाथका आसन),
(१३) गोबर, (१४) उपधि सहित शिष्य, (१५) स्वाध्याय आदिके लिए पडिहारी (वापस दी
जानेवाली), पुस्तक आदि ।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि-जिस उपाश्रयको भाड़ेपर साधुके लिए खरीदा हो वह
उपाश्रय साधुको कल्पनीय नहीं है ।

उपाश्रयके अनेक स्वामी हो तो उनमेंसे एक शय्यातर होता है । ऐसे शय्यातरके पिण्डमें

सारडी, रेती वगैरे ओजार, (२३) कागज़, (२४) लेखनी, (२५) शाही, (२६) डींगणो,
(२७) खड़ी, इत्यादि.

नीचे लगेली वस्तुओं शय्यातरनां घरनी साधुने कल्पे—

(१) तणुभलुं, (२) पत्थर, (३) शिला, (४) लोढी (५) राख, (६) पत्थरनेा टुकड़ा, (७) ईंट,
(८) धूल, (९) नानो भाण्ड, (१०) इलक' (आसन), (११) शय्या (शरीरप्रमाणनी), (१२)
सस्तारक (आढी हाथनुं आसन), (१३) छाणु, (१४) उपधि सहित शिष्य, (१५) स्वाध्याय
आदिने भाटे पडिहारी (पाछी आपी देवाय तेवी) पुस्तक आदि.

ओ पणु याद राखणु लेधओ के ले उपाश्रय साधुने भाटे लाडे राखेओ डाय ते उपा-
श्रय साधुने कल्पे नहि

उपाश्रयना अनेक स्वामीओ डाय ते तेमाथी ओक शय्यातर थाय छे. ओवा शय्या-
तरना पिडमा थार लागा डाय छे, ते आ प्रमाणे—(१) ओज घरमा लोखन भनाववुं अने

- (१) एकत्र रन्धनम्, एकत्र भोजनम्,
- (२) एकत्र रन्धनम्, अन्यत्र गेहादौ भोजनम् ।
- (३) पृथक्-पृथग् रन्धनम्, एकत्र भोजनम् ।
- (४) पृथक् पृथग् रन्धनम्, पृथक्-पृथग् भोजनम् ।

तत्र द्वितीयचतुर्थभङ्गो साधोः कल्प्यौ । द्वितीयभङ्गे एकत्र रन्धनेऽपि पश्चात् शय्या-
तरेतरांशस्य पृथक्कारे शय्यातरमात्रांग विहायाऽन्येषां पिण्ड उपादेयः, तत्र तदानीं शय्या-
तरस्वत्वापगमात् चतुर्थकल्पे तु पिण्डे शय्यातरांश्लेशसंसर्गशङ्कापि नास्ति । शय्यातरस्व-
त्वापगम एवोपादेयताहेतुरिति निष्कर्षः ।

एवं प्रोपितभर्तृकामु अनेकामु सपत्नीष्वेकैव काचित् शय्यातरा कर्तव्या ।
चत्वारो भङ्गा अत्रऽपि पूर्ववदेव ।

चार भंग होते हैं । वे इस प्रकार—

- (१) उसी घरमें बनाना उसी घरमें जीमना ।
- (२) उसी घरमें बनाना दूसरे-दूसरे घरमें जीमना ।
- (३) दूसरे-दूसरे घरमें बनाना उसी घरमें जीमना ।
- (४) दूसरे-दूसरे घरमें बनाना और दूसरे-दूसरे घरमें जीमना ।

इन चार भंगोमेसे दूसरा और चाथा भग साधुको कल्पनीय है । दूसरे भगमें एकत्र रन्धन/
होने पर भी शय्यातरसे भिन्न मनुष्यके अंशके अलग होजाने पर शय्यातरका भाग छोडकर
अन्यका पिण्ड कल्पनीय है, क्योंकि वहाँ शय्यातरका स्वामित्व नहीं रहता ।

चौथे भंगमें तो शय्यातरका स्वत्वके संसर्गकी तनिक भी आशंका नहीं है । तात्पर्य यह
है कि जहा शय्यातरका स्वत्व (हक) नहीं रहता वही वस्तु साधुको ग्राह्य होती है ।

इसी प्रकार यदि एक शय्यातरकी अनेक पत्नियाँ हो और वह (शय्यातर) परदेश चला
गया हो तो उनमें किसी एकको ही शय्यातर बनाना चाहिए । पहले की नाईं यहां भी चार

એજ ઘરમા જમવું, (૨) એ ઘરમા લોજન બનાવવું અને બીજા ઘરમાં જમવું. (૩) બીજા-
બીજા ઘરમાં બનાવવું અને એ ઘરમા જમવું (૪) બીજા-બીજા ઘરમાં બનાવવું અને
બીજા-બીજા ઘરમા જમવું

આ ચાર ભાગાઓમાથી બીજા અને ચોથા ભાગો સાધુને કલ્પે છે. બીજા ભાગામા એકત્ર
રસોઈ થતી હોય તો પણ શય્યાતરથી ભિન્ન મનુષ્યોનો ભાગ જૂદો થઈ જતાં શય્યાતરનો
ભાગ છોડીને અન્યનો પિંડ કલ્પે છે, કારણ કે ત્યાં શય્યાતરનું સ્વામિત્વ રહેતું નથી.

ચોથા ભાગામા તો શય્યાતરના સ્વત્વના સંસર્ગની જરા પણ આશંકા નથી. તાત્પર્ય
એ છે કે જેમા શય્યાતરનું સ્વત્વ રહેતું નથી, તે વસ્તુ સાધુને માટે ગ્રાહ્ય બને છે

એજ રીતે બે શય્યાતરની અનેક પત્નીઓ હોય અને એ (શય્યાતર) પરદેશ ચાલ્યો
ગયો હોય તો તે પત્નીઓમાથી કોઈ એકને જ શય્યાતર બનાવવી જોઈએ પહેલાંની પેઠે

अप्रोषितभर्तृकासु तु यया निष्पादितमन्नादिकं नियतं शय्यातरो भुङ्क्ते सैव शय्या-
तरा, यद्यनियतं तदा सर्वा अपि शय्यातरा मन्तव्याः, पूर्वोक्ततृतीयभङ्गेऽयं विशेषो बोद्ध-
व्यः—यदा पृथक् पृथग् रन्धनं कृतम्, एकत्र कृत्वा भुक्तं च तदाऽवशिष्टमन्नादिकं विभज्य
यदि स्वस्वगृहं नयेत् तादृशं शय्यातरस्वत्वविरहितमन्नादिकं साधोः कल्प्यमेवेति । एक-
त्रीकृतमविभक्तं चेन्न कल्प्यमिति तदाशयः ।

कोऽपि शय्यातरो देशान्तरं प्रस्थितः स्वगृहाद्वहर्गित्वा कुत्रचित् तिष्ठेत्, तत्र य-
दि गृहादन्यस्थानाद्वाऽशनपानादिकं तदर्थमानीतम्, अथवा बहिःप्रदेश एव निष्पादितं चेत्
तदा तदशनादिकं साधोरकल्प्यम्, रात्रिवासार्थं बहिर्गतस्य साधोस्तु पुनः कल्प्यमेव ।

भंग समझना चाहिए । उनका पति परदेश न गया हो तो वह जिस पत्नीके यहां नियमित
रूपसे जीमता हो वही शय्यातर होती है

यदि नियमित रूपसे न जीमता हो—कभी कहीं कभी कहीं जीमता हो तो सभीको
शय्यातर मानना चाहिए ।

पहलेके चार भंगोमेंसे तीसरे भंगमें इतना विशेष समझना चाहिए यदि अलग अलग
भोजन बनाया गया हो और एकत्र करके जीमा हो तो बचे हुए अन्न आदिको बाँट लेने पर
साधु शय्या-तरसे अन्यका आहार आदि ले सकते हैं, क्योंकि उसमेंसे शय्यातरका हिस्सा अलग
निकल चुका है । हां इकट्ठा कर लिया हो और बाँटा न हो तो साधुको कल्पनीय नहीं है ।
कोई शय्यातर परदेश जा रहा हो, और घरसे निकलकर कहीं बाहर ठहर गया हो, तो भी
उसका अन्न—पान ग्राह्य नहीं है, भलेही वह अन्न—पान घरसे उसके लिए लाया गया हो या अन्य
स्थानसे लाया गया हो अथवा वहीं पर तैयार किया हो । यदि रात्रिमें निवास करनेके लिए
साधु बाहर चला गया हो तो कल्पनीय है ।

એમાં પણ ચાર ભાંગા સમજવા જોઈએ એને પતિ પરદેશ ન ગયો હોય તો તે જે પત્નીને ત્યાં
નિયમિત રીતે જમતો હોય તે શય્યાતર બને છે. જે નિયમિત રીતે ન જમતો હોય
અને કોઈવાર એકને ત્યાં અને કોઈવાર બીજાને ત્યાં જમતો હોય તો બધી પત્નીએને
શય્યાતર માનવી જોઈએ.

પહેલાંના ચાર ભાંગામાંના ત્રીજા ભાંગામાં એટલું વિશેષ સમજવું કે—જે જુદું જુદું
ભોજન બનાવ્યું હોય અને એકત્ર કરીને જમતા હોય તો વધેલા અન્નાદિને વહેંચી લીધા
પછી સાધુ શય્યાતરથી જુદાને આહાર આદિ લઈ શકે છે, કારણ કે એમાંથી શય્યાતરને
ભાગ જુદો કાઢવામાં આવી ચૂક્યો હોય છે. હા, એકઠું કરેલું હોય અને વહેવું ન હોય
તો સાધુને કલ્પે નહિ કોઈ શય્યાતર પરદેશ જઈ રહ્યો હોય અને ઘરમાંથી નીકળીને
ક્યાંક બહાર રહ્યો હોય તો પણ એનું અન્ન—પાન ગ્રાહ્ય બનતું નથી, પછી ભલે એ અન્ન—
પાન ઘરથી એને માટે લાવવામાં આવ્યું હોય અથવા અન્ય સ્થાનથી લાવવામાં આવ્યું
હોય, યા ત્યાજ તૈયાર બનાવવામાં આવ્યું હોય. જે રાત્રે નિવાસ કરવાને માટે સાધુ બહાર

यदि शय्यातरोऽन्यदीयगृहेऽन्यमन्नादिकं परिवेषयेत् , तत्रपि शय्यातरेण दीयमानमन्यदीयमप्यशन-पानादिकं साधोरकल्प्यम् ।

साधोर्भिक्षादाने शय्यातरस्या सहममनरूपनितित्तत्वे सति तत्र भिक्षाग्रहणमकल्प्यम् । ग्रामाद्वहिरपि शय्यातरीयगोशालादिसत्त्वे तदीयदुग्धादिकं साधोरकल्प्यम् ।

शय्यातरगृहे भोक्ता भृत्यादिरपि शय्यातरः । शय्यातरस्य स्वसा दुहिता च तस्मिन् दिवसे पुनरागमनमनिश्चिन्य भर्तृकुलादागच्छेत्, तदा साऽपि शय्यातरा । यदि तस्मिन्नहनि भर्तृकुलं पुनर्गन्तुकामा शय्यातरगृहमागता चेत् सा शय्यातरगृहे एव शय्यातरत्वमुपयाति अन्यगृहे तु न तस्याः शय्यातरत्वमिति बोध्यम् ।

उपाश्रयस्वामिनि देशान्तरस्थे सति उपाश्रयसंरक्षकादाजामादाय तत्र साधुस्तिष्ठेत्

शय्यातर, दूसरे गृहस्थके यहा उसी दूसरे गृहरथका अन्नादि परोस रहा हो तो भी उसके हाथसे दिया-हुआ आहार कल्पनीय नहीं है । यदि किसी भिक्षाकी प्राप्तिमें शय्यातर निमित्त हो अर्थात् दलाली करे तो वह भिक्षा भी साधुको ग्राह्य नहीं है ।

गांवसे बाहर शय्यातरकी गोशाला आदि हो तो वहांका दूध आदि भी साधुको ग्राह्य नहीं है ।

शय्यातरके घर जीमनेवाले नोकर-चाकर भी शय्यातर है । शय्यातरकी बहिन या बेटी उस दिन वापस लौटनेका निश्चय न करके अपनी ससुरालसे आई हो तो वह भी शय्यातर है, यदि वापस लौटनेका विचार करके आई हो तो वह शय्यातरके घरमें ही शय्यातर है, दूसरे के घरमें नहीं, अर्थात् दूसरेके घरमें दूसरेका आहारादि यदि वह परोसे तो साधु ले सकते हैं ।

जब उपाश्रयका स्वामी परदेशमें रहता हो और उपाश्रय- रखतोले से आज्ञा लेकर साधु आख्या गया होय तो कल्पे छे.

शय्यातर, भीन्न गृहस्थने त्या ओ भीन्न गृहस्थनां अन्नादि पीरसे तोपण्य अना हाथथी अपातो आहार कल्पे नहि ने केाई भिक्षानी प्राप्तिमां शय्यातर निमित्त होय अर्थात् दलाली करे तो ओ भिक्षा पण्य साधुने ग्राह्य थती नथी.

गामनी अहार शय्यातरनी गौशाणा आदि होय तो त्यानुं दूध वगेरे पण्य साधुने ग्राह्य अने नहि

शय्यातरना घेर जमनारा नोकर-चाकर पण्य शय्यातर छे, शय्यातरनी अडेन या पुत्री ओ दिवसे पाछा जवानो निश्चय कर्या विना पोतानो सासरेथी आवी होय तो ते पण्य शय्यातर छे ने पाछा जवानो विचार करीने आवी होय तो शय्यातरना घरमा ज ते शय्यातर छे, भीन्नना घरमां नहि, अर्थात् भीन्नना घरमां भीन्नना आहारादि ने ते पीरसे तो साधु लध शके छे.

ने उपाश्रयने स्वामी परदेशमां रडेते होय अने उपाश्रयना रणेवाणनी आज्ञा लधने साधु तेमा रडे तो न्यारे उपाश्रयने स्वामी आवी जाय त्यारे ते शय्यातर अने छे,

तत्रोपाश्रयस्वामिनि समागते साधुना शय्यातरत्वं स्वामिन्येव कल्पनीयम्, न सरक्षके ।

शय्यातरप्रदत्तमन्येन स्वीकृतमप्यशनादिकं शय्यातरगृहे साधोरकल्प्यम्, व्यवहाशुद्ध्या-
दिदोषात् ।

तथा शय्यातरेण दत्तमन्येनास्वीकृतमन्नादिकं शय्यातरगृहाद् बहिरपि साधोरकल्प्य-
म्, तत्र शय्यातरस्वत्वापगमाभावात् ।

शय्यातरगृहाद् बहिरन्येन स्वीकृतं चेत् तदा साधोः कल्प्यमेव, तत्र शय्यातरस्व-
त्वापगमादिति बोध्यम् ।

शय्यातरगृहाद्बहिस्तेन (शय्यातरेण) दत्तमन्येनाऽस्वीकृतं चेत् तत्राऽस्वीकृताशनपा-
नादेः स्वीकारार्थं 'गृह्यतामिद'-मित्यादिपररूपा प्रवर्त्तनाऽपि साधोरकल्प्या । शय्यातरपि-

उसमें ठहरे तो जब उपाश्रयका स्वामी आजावे तब वही शय्यातर होता है, रखवाला नहीं ।

शय्यातरने अशन आदिक दूसरे को दे दिया और दूसरेने चाहे उसे स्वीकार भी कर
लिया हो तो भी शय्यातर के घर पर साधु को वह लेना नहीं चाहिए, क्योंकि स्वीकार कर
लेनेसे शय्यातरका स्वामित्व तो नहीं रहा पर यहाँ व्यवहारसे अशुद्धि है ।

यदि शय्यातरद्वारा दिये हुए अन्नादिको अन्य गृहस्थ न स्वीकार करे तो शय्यातरके घर
में या घरसे बाहर कहीं भी साधुको नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उस आहारादिमें शय्या-
तरका स्वत्व रहता है । शय्यातरके घरसे बाहर दूसरेने स्वीकार कर लिया हो तो साधुको कल्प-
नीय है, क्योंकि उसपर शय्यातरका स्वत्व नहीं रहा ।

शय्यातरके घरसे बाहर शय्यातरने किसी दूसरेको दिया हो और दूसरेने स्वीकार न किया हो
तो उस-अशनादिके स्वीकार करानेके लिए 'तुम ले लो' इत्यादिरूपसे गृहस्थको प्रेरणा करना भी
साधुका कल्प नहीं है, क्योंकि उसमें शय्यातरका पिण्ड लेने आदि अनेक दोषोकी शका होती है ।

शय्यातरका पिण्ड ग्रहण करनेमें दोष बतलाते हैं—

रूपेवाण नहि

शय्यातरे अशनादि भीलने आपी दीधुं डोय अने भीलने लवे येने स्वीकारी पण
दीधुं डोय, तो पण शय्यातरने घर साधुये ते लेवु जेधुं नहि, कारण के स्वीकारी देवाथी
शय्यातरनुं स्वामित्व तो रह्यु नहि. पण तेमा व्यवहारथी अशुद्धि रहेली छे

जे शय्यातरे आपेवु अन्नादि अन्य गृहस्थ न स्वीकारे तो शय्यातरना घरमा या
घरभहार कयाय पणु ते साधुये अडणु करवु जेधुं नहि, कारण के ते आहारादिमा शय्या-
तरनुं स्वत्व रहेवु डोय छे. शय्यातरना घरनी भहार भीलने स्वीकारी दीधुं डोय तो ते
साधुने कल्पे, केमके ते उपर शय्यातरनुं स्वत्व रहेवु नथी

शय्यातरना घरनी भहार शय्यातरे केधुं भीलने आप्युं डोय अने भीलने स्वीकार्युं
न डोय तो ते अशनादिने स्वीकार करवाने माटे 'तमे लधुं लयो' इत्यादिउपे गृहस्थने
प्रेरणा करवी जे पणु साधुने कल्पे नहि, कारण के तेमा शय्यातरने पिंड लेवो वगेरे

ण्डग्रहणादिदोषशङ्कासंभवात् ।

अथ शय्यातरपिण्डग्रहणे दोषाः प्रदर्श्यन्ते—

(१) वसतिदौर्लभ्यम्, वसतिस्वामिनो गृहेऽशनपानादिग्रहणनियमे स्वकीयान्नादिव्ययमालोच्य स्वोपाश्रयनिवासार्थमाज्ञां साधवे न कोऽपि दद्यात्. इत्याशयः । (२) प्रवचनलाघवम्; (३) स्वावासस्थान एव भिक्षालाभसंभावनया परिभ्रमणालस्ये संजाते कदाचित् शय्यातरगृहे आहाराद्यलाभेऽकालभिक्षाचर्याप्रसङ्गः, वेलातिक्रमे सति आर्त्तरौद्रध्यानप्रसङ्गः, स्वाध्यायान्तरायः, आत्महान्तिश्च, (४) तीर्थङ्कराज्ञाभङ्गोऽपीत्यादयो दोषाः प्रसज्जन्ते, (२३) इति शय्यातरविचारः ।

(१) शय्यातरका पिण्ड ग्रहण किया जाय तो वसति मिलना दुर्लभ (मुश्किल) हो जायगा । गृहस्थ यह विचारेंगे कि इन्हे स्थान देनेसे अन्नपान आदि भी देना पड़ेगा । ऐसा सोचकर गृहस्थ अपने स्थानमें रहनेके लिए साधुओ को स्थान नहीं देगा ।

(२) प्रवचनका लाघव होगा ।

(३) अपने निवासस्थान पर ही भिक्षा मिल जानेकी सभावनासे साधु भ्रमण करनेमें आलस्य करेगे, और जब शय्यातरके घर पर आहार नहीं मिलेगा तो अकाल—(असमय)—में गोचरी करनेका प्रसंग होगा, और असमयमें भिक्षा न मिलनेसे आर्त्त—रौद्र ध्यान होंगे, स्वाध्याय आदि में अन्तराय पड़ेगा, और आत्माको खेद होगा ।

(४) इसके सिवाय तीर्थकर भगवानने शय्यातर—पिण्डको अकल्पनीय बताया है, इसलिए उनकी आज्ञाका भंग होगा, इत्यादि अनेक दोष आते हैं ॥

इति शय्यातर विचार समाप्त ।

अनेक दोषोनी शङ्का रहे छे

शय्यातरनो पिंड ग्रहणु करवामा रहेला दोषो अतावे छेः—

(१) शय्यातरनो पिंड ग्रहणु करवामा आवे तो वसति (रहेवानुं स्थान) भणवुं दुर्लभ (मुश्किल) अनी जय गृहस्थ अेभ विचारशे के अेभने स्थान आपवाथी अन्न-पान आदि पणु देवा पडशे. अेभ विचारीने गृहस्थ पोताना स्थानमां रहेवाने माटे साधुअेभने स्थान आपशे नहि.

(२) प्रवचननु लाघव थशे.

(३) पोताना निवासस्थान पर न शिक्षा भणो जवानी संलावनाथी साधु भ्रमणु करवामा आणम करशे. अने जे शय्यातरना घेरथी आहार नहि भणे तो अकाले (असमये) गोचरी करवानो प्रसंग आवशे, अने अकाले शिक्षा न भणवाथी आर्त्त—रौद्र ध्यान थशे, स्वाध्यायादिमा अंतराय पडशे अने आत्माने खेद थशे

(४) अे उपरांत तीर्थकर लगवाने शय्यातर पिंडने अकल्पनीय अताव्ये छे, ते माटे अेभनी आज्ञानो भंग थशे, इत्यादि अनेक दोषो उत्पन्न थाय छे.

इति शय्यातर-विचार समाप्त.

आसन्दी=वेत्रासनं, खदविका च (२४),

पर्यङ्कः=मञ्चविशेषः, स एव पर्यङ्ककः; स्वार्थे कः । चकाराच्छिविका-दोलाताम्र-यानादिग्रहणम् (२५),

गृहान्तरनिपद्या=गृहं=गृहिनिकेतन तस्याऽन्तरम्=अभ्यन्तरं मध्यमिति यावत्, तस्मिन् निपद्या=निपदनम् उपवेशनमित्यर्थः, यद्यपि व्याकरणादौ निपीदन्त्यस्या'-मिति विगृह्य 'निपद्या=आपणः, इत्युक्तं तथाप्यत्र शास्त्रसङ्केतितत्त्वाद्भावयवन्तोऽर्थ निपद्या-शब्दः (२६) .

गात्रस्य = शरीरस्य उद्वर्त्तनानि = मलापनयनद्रव्येण समालेपनानि 'उवटन' इति-लोकप्रसिद्धानि, चकारादन्येषामपि शरीरसम्बन्धनां संस्काराणां ग्रहण बोद्धव्यम् (२७), एषु चारित्रवातादयो दोषाः सुस्पष्टा एव ॥५॥५॥

२८
मूलम्-गिहिणो वैयावडियं. जाइयाजीववत्तिया ।

२९
तत्तानिव्वुडभोइत्तं. आउरस्सरणाणि य ॥६॥

३०
३१
छाया-गृहिणो वैयावृत्यं, जात्याजीववत्तिया (आजीववर्त्तिता)
तत्तानिर्वृतभोजित्व, -मातुरस्सरणानि च ॥६॥

सान्प्रयार्थः-(२८) गिहिणो = गृहस्थकी वैयावडियं = वैयावच्च करना, (२९) जाइया = जातीसे-अपनी उंची जाती वताकर आजीववत्तिया = जीविकानिर्वाह करना, (३०) तत्तानिव्वुडभोइत्तं = अग्निमें सिर्फ तपाया हुआ किन्तु शस्त्रसे अपरिणत-मिश्र भोजन करना, य = और (३१) आउरस्सरणाणि = वीमार होनेपर पूर्वभुक्त वस्तुका स्मरण करना ॥६॥

टीका-गृहिणः = गृहस्थस्य, वैयावृत्यं = गृहस्थायान्नाऽऽनयनप्रदानादि-लक्षण-शुश्रूषाकरणम् (२८)

जात्या = 'अहमेतादृशजातिविशिष्टः' इत्याद्याघोषणेन, उपलक्षणमिदं कुलादीनाम-

(२४) आसन्दी-नेतकी बनी हुई छिद्रवाली कुर्सीपर बैठना ।

(२५) पर्यङ्क- एक प्रकारका पलंग, पालखी, डोला, तामजाम आदिका ग्रहण करना ।

(२६) गृहान्तरनिपद्या-गृहस्थके घरमें बैठना ।

(२७) गात्रोद्वर्त्तन-शरीर पर उवटन आदि करना ॥५॥

(२४) आसन्दी-नेतरनी अनाचेदी छिद्रवाणी पुरशी पर ठेसवु

(२५) पर्यङ्क-ओठ प्रकारने पलंग, पालखी छिडोणे, भ्याने.

(२६) गृहान्तरनिपद्या-गृहस्थना घरमा ठेसवु

(२७) गात्रोद्वर्त्तन-शरीर पर सुग धी पढार्था थोणवा (५)

पि, आजीववृत्तिता-आजीवे = जीविकायां वृत्तिः = स्थितिर्यस्य तद्भावः, यद्वा आजीववृत्तिता, इतिच्छाया आजीवे जीविकायां वर्तितुं शीलं यस्यासौ अजीववर्ती तस्य भाव इति तदर्थः (२९),

तप्तानिर्वृतमोजित्व = तप्तं = वह्निनोष्णीकृतं च तत् अनिर्वृत = शस्त्रापरिणतं तप्तानिर्वृतम् अर्द्धपक्वमिति भावस्तद्भोक्तुं शीलमस्य तत्त्वम्, मिश्रान्नादिसेवनमित्यर्थः (३०)

आतुरस्मरणम् = आतुराः = रोगादिग्रस्तास्तेषां स्मरणं = तत्कर्तृत्पूर्वापभुक्तवस्तुस्मरणमिति फलितम्, यद्वा आतुरशब्दोऽत्र भावप्रधाननिर्देशस्तथाचाऽऽतुरत्वे स्मरणमिति समासः, रोगाद्यवस्थायां पूर्वाऽभुतवस्तुस्मरणमित्यर्थः (३१) ।

चकार इहापि समुच्चयार्थकः । अत्रासंयमादयो दोषा जायन्ते ॥६॥

^{३२} मूलम्-^{३३} मूलम् ^{३४} सिंगवेरे य, उच्छुखण्डे अनिव्वुडे ।

^{३५} कंदे ^{३६} मूले य सच्चित्ते. ^{३७} फले ^{३८} वीए य आमए ॥७॥

छाया-मूलकं शृङ्गवेरं च इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ।

कन्दो मूलं च सचित्तं, फलं बीजं चाभकम् ॥७॥

सान्वयार्थः-य=और (३२) मूलम्=मूला (३३) सिंगवेरे=अदरख (३४) उच्छुखण्डे सगन्ना (सेलडी) अनिव्वुडे=शस्त्रसे अपरिणत (३५) कंदे=कन्द य=और (३६) मूले=शिफा (तथा) सच्चित्ते=सचित्त (३७) फले=फल य=और आमए=सचित्त (३८) वीए=बीज । भावार्थ-इनके सेवनसे अनन्तकाय आदि वनस्पतिकायकी विराधना होती है ॥७॥

टीका-मूलकं=प्रसिद्धम् ३२ 'ङ्गवेरं=शृङ्गवेरं=शरीर यस्य तत् आर्द्रकमित्यर्थः (३३), च=तथा इक्षुखण्डम् इक्षुशकळम् एतन्नयम् अनिर्वृतं=शस्त्रपरिणतम् (३४) कन्दः=

(२८) गृहस्थकी वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) करना ।

(२९) अपनी जाति या कुल आदि बताकर भिक्षा लेना ।

(३०) आधा पक्का आधा कच्चा अर्थात् मिश्र अन्न-पानी आदि लेना ।

(३१) रोग आदिकी अवस्थामें पहले सेवन किये हुए विषयोका स्मरण करना अर्थात् बीमारीमें हाय ! हाय ! करना ॥६॥

(२८) गृहस्थनी वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) करनी.

(२९) पीतानी जाति या कुल बतावनीने भिक्षा लेनी

(३०) अर्धपक्का-अर्धकच्चा अर्थात् मिश्र अन्न-पानी आदि लेना

(३१) रोगादिनी अवस्थामा पडेला सेवला विषयोनु स्मरण करवु अर्थात् 'हाय ! हाय !' करनी (६)

(३२) सचित्त भूणानु सेवन करवु .

शृग्णादिः (३५), मूलं=शिफा (३६), च=पुनः, सचित्तं=सजीवम्, फलं=ककडी-त्रपुपादि-
कम् (३७), च=तथा बीजं=तिलादि, आमरुम्=सचित्तम् (३८), । अत्रानन्तकायादिविराध-
नादिदोषा जायन्ते ॥७॥

^{३९} मूलम्-^{४०}सौवच्चले ^{४१}सिधवे लोणे ^{४२}रुमालोणे य आमए

^{४३}सामुद्रे ^{४४}पंसुखारे य ^{४५}कालालोणे य आमए ॥८॥

छायाः-सौवर्चलं लवणो, रुमालवणश्चामकः ।

सामुद्रः पांशुक्षारश्च, काललवणश्चामकः ॥८॥

सान्वयार्थः-आमए=सचित्त (३९) सौवच्चले=सौवर्चलं-संचरनमक (४०) सिधवे
लोणे=सैन्धव-सींधानमक (४१) रुमालोणे=रुमानदीसे निकला हुआ नमक (४२) सामुद्रे=
समुद्री नमक य=और (४३) पंसुखारे=ऊपर नमक य=और आमए=सचित्त (४४) काला-
लोणे=काला नमक । भावार्थ-उल्लिखित नमकोंका सेवन करने से पृथ्वीकाय आदिकी
विराधना होती है ॥८॥

टीका—सुवर्चले=देशविशेषे भवः सैवर्चलः=रुचकलवणः (३९),

सिन्धुनद्युपलक्षितदेगीयपर्वते भवः सैन्धवः लवणः=लुनाति=छिनत्ति दूरयति
रुफादिकमिति लवणः, इदं सौवर्चलादेर्विशेषणपदम् (४०),

(३२) सचित्त मूलका सेवन करना ।

(३३) सचित्त अदरुख (आदा) का सेवन करना ।

(३४) सचित्त इक्षुखण्डका सेवन करना ।

(३५) सचित्त शृग्णा आदि कन्दोका सेवन करना ।

(३६) सचित्त मूलका सेवन करना ।

(३७) सचित्त ककडी खीरा आदि फलोका सेवन करना ।

(३८) सचित्त बीजका=तिल आदिका सेवन करना ॥७॥

(३९) सचित्त रुचक (सौवर्चल सोचर) नमकका सेवन करना ।

(४०) सचित्त सैन्धव (सैन्धा), नमकका सेवन करना ।

(३३) सचित्त आहुतु सेवन करवु ।

(३४) सचित्त शेरडीना पतीका-ककडां-तु सेवन करवु

(३५) सचित्त शृग्णा आदि कन्दोका सेवन करवु

(३६) सचित्त मूलतु सेवन करवु ।

(३७) सचित्त ककडी भीग आदि इक्षुतु सेवन करवु ।

(३८) सचित्त बीज तल आदि सेवन करवु (७)

(३९) सचित्त रुचक लवण (सौवर्चल-सचर) तु सेवन करवु ।

(४०) सचित्त सैन्धा लवण तु सेवन करवु

च=तथा, रुमालवणः=रुमा=विशिष्टलवणाकरभूता काचिन्नदी तस्या लवणः आमकः

=सचित्तः, अस्य पूर्वार्द्धे सर्वत्र सम्बन्धः (४१),

सामुद्रः=समुद्रोत्थलवणः (४२),

पांशुक्षारः=ऊपरलवणः (४३),

च=तथा काललवणः=कृष्णलवणः 'विह्वलवण, इतिप्रसिद्धः (४४),

आमकः=सचित्तः, 'आमक' इत्यस्योत्तरार्द्धे सर्वत्र सम्बन्धः । अत्र पृथ्वीकायविरा-

धनादयो दोषा भवन्ति ॥८॥

^{४५} मूलम्—^{४६}ध्रुवणेत्ति ^{४७}वमणे, य ^{४८}वत्थीकम्म-विरेयणे ।

^{४९}अंजणे ^{५०}दंतवण्णे य, ^{५१}गायव्भंगविभूसणे ^{५२}॥९॥

छायाः—धूपनमिति वमनं च, वस्तिकर्म विरेचनम् ।

अञ्जनं दन्तवर्णश्च, गात्राभ्यङ्ग-विभूषणे ॥९॥

सान्त्वयार्थः—(४५) ध्रुवणेत्ति=रोग मिटाने आदिके लिए किसी स्थानमें धूप देना,

(४६) वमणे=प्रयत्नपूर्वक वमन करना, (४७) वत्थीकम्म=वस्तीकर्म करना, य=और

(४८) विरेयणे=विरेचन-जुलाव लेना, (४९) अंजणे=अंजन-सुरमा आदि आंजना, (५०)

दंतवण्णे =दातून मसी आदिसे दाँत साफ करना, (५१-५२) गायव्भंगविभूसणे=शरी-

रको तैल आदिसे मालिश करना (५१) तथा वस्त्र आदिसे भूषित करना (५२)॥९॥

टीका—धूपनं=रोगाद्युपशान्तिनिमित्तं स्थानकादिषु धूपदानम्, सौगन्धयोत्पत्ति-

निमित्तमशुकादीनां धूपादिना वासनश्च (४५), वमनं=वमिजनकभेषजादिप्रयोगेण वान्ति-

करणम् (४६),

(४१) सचित्त रुमा (नदीविशेषके) नमकका सेवन करना ।

(४२) सचित्त समुद्री नमकका सेवन करना ।

(४३) सचित्त ऊपर नमकका सेवन करना ।

(४४) सचित्त काले नमकका सेवन करना ॥८॥

(४५) रोग आदिकी शान्ति अथवा सुगंधिके लिए स्थानक या वस्त्र आदिमें धूप देना ।

(४६) दवाई लेकर वमन करना ।

(४१) सचित्त रुमा (नदीविशेषभांथी नीकणेदा) भीठानु सेवन करवु ।

(४२) सचित्त समुद्रना लूणु सेवन करवु ।

(४३) सचित्त ऊपर लूणु (भारा) नु सेवन करवु (८)

(४४) सचित्त काला भीठानु सेवन करवु,

(४५) रोगादिनी शान्ति अथवा सुगंधिने माटे स्थानक या वस्त्रादिने धूप करवे।

(४६) दवा लधने वमन करवु

वस्तिकर्म=वसतःतिष्ठतः, मूत्रपुरीषावेति, वस्ते=आच्छादयति मूत्राऽऽशयपुटमिति वा वस्तिः=नाभेरधोभागः, तस्याः, कर्म=तच्छोधनव्यापारो वस्तिकर्म=मलादिशोधनार्थ-मपानादिमार्गे वर्तिकादिप्रवेशनम्, अपानमार्गेण जलकर्षणं वेत्यर्थः (४७),

विरेचनम्-कोष्ठशुद्धयर्थं स्वर्णस्रुत्यादिविरेचनसेवनम् (४८),

अञ्जन=शोभावशीकरणाद्यर्थं नयनयोः कज्जल-सौवीरादिदानम् (४९),

दन्तवर्णः-^१ वर्णनं-वर्णः, दन्तानां वर्णः=^२उज्ज्वलीकरणं दन्तवर्णः=^३अङ्गुली-दन्तशाण (मसी) काष्ठादिभिर्दन्तवर्षणम् (५०) ।

गात्राभ्यङ्ग-विभूषणे=अभ्यङ्गश्च विभूषणं चेत्यनयोरितरेतरयोगद्वन्द्व इत्यभ्यङ्ग-विभूषणे, गात्रस्य अभ्यङ्ग-विभूषणे गात्राभ्यङ्गविभूषणे, 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वौ वा श्रयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इतिन्यायाद् गात्रशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धस्तत्र गात्राभ्यङ्गः=गात्रस्य=शरीरस्य अभ्यङ्गः=शतपाक सहस्रपाकादितैलादिनाऽभ्यञ्जनं मर्दनमिति यावत् (५१),

गात्रविभूषणं=वस्त्रालङ्कारादिना शरीरपरिष्करणम् (५२),

धूपनादिनाऽग्निकायप्रभृतिविराधनादिदोषा जायन्ते ९ ॥

सम्प्रत्युपसंहरन्नाह-^४'सव्वमेय' इत्यादि ।

^८मूलम्-^७सव्वमेयमणा^९इन्नं. ^१निग्गंथाण ^२महेसिणं ।

^३संजमंमि ^५अ ^४जुत्ताणं ^६लहुभूयविहारिणं ॥१०॥

(४७) मल आदिके शोधनके लिए वस्तिकर्म करना ।

(४८) कोठेकी शुद्धिके लिए सनाय आदिका जुलाब लेना ।

(४९) नेत्रोंमें कज्जल आदि लगाना ।

(५०) मस्सी आदि लगाकर दात रंगना ।

(५१) शतपाक, सहस्रपाक आदि तेलसे शरीरकी मालिश करना ।

(५२) शरीरका वस्त्र आभूषणोसे मण्डन करना ।

इन धूप आदिसे अग्निकाय आदि जीवोकी विराधना आदि दोष होते हैं ॥१॥

(४७) मलादिना शोधन भाटे वस्तिकर्म करवु

(४८) उदरनी शुद्धिने भाटे सोनाभुषी आदिने जुलाब लेवो.

(४९) आंजोभां अञ्जण (अेश) आंजवुं.

(५०) मस्सी वगे रे लगाडीने दांत रंगवा.

(५१) शतपाक, सहस्रपाक आदि तेलथी शरीरने मर्दन करवुं.

(५२) शरीरनु मंडन करवु (शोलाववुं)

ॐ धूप आदिथी अग्निकाय आदि जीवोनी विराधना आदि दोष लागे छे (९).

१ चौरादिकाद्वर्णयतेभवि घञ् ।

छायाः—सर्वमेतदनाचीर्णं, निर्ग्रन्थानां महर्षिणाम् ।

संयमे च युक्तानां लघुभूतविहारिणाम् ॥१०॥

सान्वयार्थः—निर्ग्रन्थाण=परिग्रहरहितं महर्षिणं=महर्षियोंके संजमंमि=संयममें जुत्ता-
णं=लगेहुए य और लघुभूयविहारिणं=वायुके समान अप्रतिबन्धविहार करनेवालोंके एयं
=ये पूर्वोक्त वाचन सव्व=सव अणाइन्नं=अनाचीर्णं हैं । भावार्थ—निर्ग्रन्थ महर्षियोंने पू-
र्वोक्त इन वाचन विषयोंका आचरण नहीं किया, अतः ये अनाचीर्ण कहलाते हैं । साधुओं-
को इनका आचरण नहीं करना चाहिये ॥१०॥

टीका—ग्रन्थान्निर्गता निर्ग्रन्थाः=रुनक-रजतादिद्वयग्रन्थ-मिथ्यात्वादि भाव-
ग्रन्थरहितास्तेषाम्, महर्षिणाम् महान्तश्च ते ऋषयः महर्षयस्तेषाम्, यद्वा 'महर्षिणा' मिति
च्छाया, महो = निजहित तस् एपयन्ति=गवेपयन्तीति महर्षिणस्तेषाम् । संयमे=सकलसा-
वद्यव्यापारोपरमलक्षणे युक्तानां = व्यापृतानां दत्तचित्तानामित्यर्थः, च=एतः लघुभूतवि-
हारिणाम् = लघुभूतो=वायुस्तद्वदप्रतिबद्धं विहरन्ति तच्छीलास्तेषां वायुवदप्रतिबन्धविहा-
रिणामित्यर्थः । एतत्=पूर्वोक्तं सर्वं द्विपञ्चाशत्प्रकारकम् अनाचीर्णम्=अनासेवितम् 'अ-
स्तो'-ति शेषः ॥१०॥१०॥

अनाचीर्णत्यागिनो मुनयः कीदृशा भवन्ति ? -इत्याह—

मूलम्—^१पंचासवपरिन्नाया, ^२तिगुत्ता ^३छसु ^४संजया ।

^५पंचनिग्रहणा ^६धीरा, ^७निर्ग्रन्था ^८उज्जुदंसिणो ॥११॥

छायाः—पञ्चासवपरिज्ञाता, -स्त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः ।

षञ्चनिग्रहणा धीरा, निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ॥११॥

सान्वयार्थः—पंचासवपरिन्नाया=पांच आस्रवोंकेत्यागी, तिगुत्ता=मनोगुप्ति में वच-
गुप्ति २ कायगुप्ति ३ से युक्त, छसु=छह कायमे संजया=संयमवान्, पंचनिग्रहणा=पांच
इन्द्रियोंके निग्रह करनेवाले धीरा=परीपह उपसर्ग सहनेमे धीर निर्ग्रन्था=मुनि उज्जुदं-
सिणो=मोक्षमार्गके आराधक होते हैं । भावार्थ—जो अनाचीर्णोंका त्याग करते हैं वे गा-
थोक्तविशेषणोंसे विशिष्ट होते हैं ॥११॥

अब उपसहार करते हैं—'सव्वमेय०' इत्यादि ।

बाह्याभ्यन्तर परिग्रहकी ग्रन्थसे रहित, अपने हितका अन्वेषण करनेवाले महर्षि तीन करण
तीन योगसे सावध व्यापारके त्यागरूप सकल संयमसे युक्त और वायुकी तरह अप्रतिबन्ध विहार
करनेवाले मुनिराजोंके ये पूर्वोक्त वाचन अनाचीर्ण है ॥१०॥

इवे उपसहार करे छेः—सव्वमेय० इत्यादि,

बाह्याभ्यन्तर परिग्रहनी अथिथी रहित, पोताना हितनु अन्वेषण करनारा महर्षिओ-
ओ त्रणु करणु त्रणु योगथी सावध व्यापारने त्यजवा रूप सकण संयमथी युक्त अने वायुनी
येठे अप्रतिबन्ध विहार करनारा मुनिराजनेना ओ पूर्वोक्त वाचन अनाचीर्णु छडेले छे.

टीका-पञ्चास्रवपरिज्ञाताः=आस्रवति=आक्षरति-मिथ्यात्वादिनालिकाभ्यः कर्मसल्लि
लमात्मतडागे यैस्ते आस्रवा हिंसादयः, पञ्च च ते आस्रवाश्चेति पञ्चास्रवा
परि = सर्वतोभावेन ज्ञाताः=ज्ञपरिज्ञातोऽनर्थमूलमनुभाविताः प्रत्याख्यापरिज्ञातो हेयत्वे-
न परित्यक्ता यैस्ते तथोक्ताः, त्रिगुप्ताः = तिसृभिर्मनोवाक्कायगुप्तिभिर्गुप्ताः षट्षु =
पृथिव्यादि कायषट्केषु संयताः सम्यग् यतनावन्तः-पङ्ककायोपमर्दनविरता इत्यर्थः,
पञ्चनिग्रहणाः=पञ्च = प्रसंगात् पञ्चेन्द्रियाणि निगृह्णन्ति = वशयन्तीति तथोक्ताः, धी-
राः = परीपहोपसर्गादिषु धृतिमन्तः, निर्ग्रन्थाः=मुनयः ऋजुदर्शिनः=ऋजु = अवक्रम अ-
कुटिलस्वभावं यथा स्यात्तथा द्रष्टु शीलं येषां ते तथोक्ताः-सरलहृदया इत्यर्थः, यद्वा अर्ज-
ते=उपार्जयति = सम्पादयत्यविचलमुखमिति ऋजुः = सम्यग्रत्नत्रयलक्षणो मोक्षमार्ग-
स्त पश्यन्ति तच्छीला इति ऋजु दर्शिनः मोक्षमार्गसाधका इत्यर्थः ॥११॥११॥

मूलम्-आयावयन्ति गिम्हेसुः हेमंतेसु अवाउडा ।

वासासु पडिसंलीणाः संजया सुसमाहिया ॥१२॥

अनाचीर्णोंका त्याग करनेवाले मुनि कैसे होते है ? सो कहते है-‘पंचीसव०’ इत्यादि ।

जिनके द्वारा आत्मारूपी तालाबमें मिथ्यात्वादि रूप नालाभोसे कर्मरूपी जल आता है उन्हें आस्रव कहते है । वे आस्रव मिथ्यात्व अविरति आदिके भेदसे पाच प्रकारके है । उन आस्रवोंको ज्ञ-परिज्ञासे अनर्थोंका कारण जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञासे त्यागते है । अर्थात् अनाचीर्णोंका त्याग करनेवाले पांच आस्रवोसे विरत हो जाते है, मन वचन कायरूप तीन गुप्तियोंसे युक्त होते है, पृथ्वी आदि षट् कायकी यतनामें सावधान रहते है, अर्थात् षड्जीवनिद्रायकी विराधनासे रहित होते है, पांच इन्द्रियों का दमन करते है, परीपह और उपसर्ग सहने में दृढ़ ऐसे मुनि, सरल हृदय वाले होते है, अथवा अविनाशी सुखको प्राप्त करनेवाले या मोक्षमार्गके साधक होते है ॥ ११ ॥

अनाचीर्णोंना त्याग करनारा मुनिओ केवा डोय छे ? ते कडे छे:-

पंचास्रव० धत्यादि

जेनी द्वारा आत्मा रूपी तालाबमा मिथ्यात्वादि-रूप नालाभोथी कर्म-रूपी जल आवे छे तेने आस्रवो कडे छे ओ आस्रवो मिथ्यात्व अविरति आदि लेहे करीने पांच प्रकारना छे. ओ आस्रवोने ज्ञपरिज्ञाथी अनर्थोंना कारणरूप जालीने प्रत्याख्यान परिज्ञाथी त्यजे छे, अर्थात् अनाचीर्णोंना त्याग करनाराओ पांच आस्रवोथी विरत थर्थ जय छे, मन वचन काया-रूप त्रय गुप्तियोंथी युक्त थाय छे, पृथिवी आदि छ कायनी यतनामां सावधान रहे छे, अर्थात् छ जीवनिद्रायनी विराधनाथी रहित थाय छे, पांच धन्द्रियोंनुँ दमन करे छे, परीपह अने उपसर्ग सहैवामा दृढ ओवा मुनिओ सरलहृदय अने छे, अथवा अविनाशी सुखने प्राप्त करनारा या मोक्षमार्गना साधक अने छे (११).

१ ‘पञ्चास्रवपरिज्ञाताः’ अत्र आहिताग्न्यादिवान्निष्ठान्तस्य परनिपातः ।

२ ‘पञ्चनिग्रहणाः, अत्र नन्द्यादित्वान्कृत्तरि ल्यु’ ॥

छाया-आतापयन्ति ग्रीष्मेषु, हेमन्तेष्वग्रावृताः ।

वर्षासु प्रतिसंलीना, मयताः सुसमा (हिताः) धिकाः ॥१२॥

सौन्वयार्थः-सुसमाहिय=प्रशस्त समाधिवाले संजया = संयमी मृनि गिम्हेमृ=ग्रीष्मऋतुमें पंडिसंलीणा = कल्लुएकी मांति इन्द्रियोंका गोपन कहते हैं, अर्थात् जिस ऋतुमें जिस प्रकारकी तपस्यासे अधिक कायकेश होता हो उस ऋतुमें वही तपस्या करते हैं ॥१२॥

टीका-सुसमाधिकाः=समाधोयतेऽस्मिन् मलो विवेकिभिरिति समाधिः-प्रशस्तमावाऽवस्थानम्, सु=शोभनः समाधिर्येषांते तथोक्ताः = विनय-श्रुतादिसमाधिसम्पन्नाः । यद्वा 'सुसमाहिताः' इति च्छाया, 'निरवद्यव्यापारविधानदत्तावधानाः' इति तदर्थः । संयता-प्रवचनमननयतत्वावन्तः, मुनयः ग्रीष्मेषु = धर्मर्तुषु आतापयन्ति=ऊर्ध्वामिमुखावस्थानादिना परितापयन्ति स्वतन्त्रमिति शेषः, आतापनां विदधतीति यावत् । ग्रन्ति = नाशयन्ति शैत्याधिक्येन चित्तसमाधिमिति हेमन्ताः' हिमोऽन्तोऽवयवोऽस्त्येषामिति वा पृषोदरादित्वाद् हेमन्तास्तेषु हिमर्तुषु अग्रावृताः = 'अनुदरा क्रन्ये'-त्यत्रैव नञोऽल्पार्थकत्वेन अल्प-प्रावरणाः, यद्वा प्रावरणरहिताः, वर्षासु = प्रावृट्कालेषु, प्रतिसंलीनाः = कूर्मवदिन्द्रियगोपनतत्परा भवन्तीत्यर्थः । ग्रीष्मादिषु बहुवचनप्रयोगः प्रतिवत्सरमेवंकरणसंस्खचनाय ॥१२॥१२॥

जिस अवस्थामें आत्मज्ञानी जन प्रशस्त भावसे रमण करते हैं उसे समाधि कहते हैं । अन्तर्जीवोंका त्याग करनेवाले साधु उम विनय श्रुत आदि चार प्रकारकी समाधिको प्राप्त करते हैं । अथवा निरवद्य व्यापार करनेमें सदा सावधान रहते हैं । तथा प्रवचनके मनन करनेमें यत्नवान् रहते हैं । ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यके सम्मुख मुख करके भुजाएँ फैलाकर आतापना लेते हैं । शीत ऋतुमें थोड़े कपड़े रखते हैं, या कपड़ोको दूर कर शीतकी आतापना लेते हैं, वर्षा ऋतुमें कल्लुवेकी तरह इन्द्रियोंका गोपन करनेमें तत्पर होते हैं ।

ग्रीष्म, हेमन्त, और वर्षा-शब्द गाथामें बहुवचनान्त है, इससे यह आशय निकलता है कि प्रत्येक वर्षकी ऋतुओंमें ऐसा करते हैं ॥१२॥

'परीसह०' इत्यादि ।

अवस्थामा आत्मज्ञानी जन प्रशस्त-भावोत्थी रमणु करे छे तेने समाधि उडे छे. अन्तर्जीवोनि त्याग करनारा साधुओओ विनय श्रुत आदि चार प्रकारनी समाधिने प्राप्त करे छे, अथवा निरवद्य व्यापार करवामा सदा सावधान रहे छे. तथा प्रवचननु मनन करवामा, यत्नवान् रहे छे ग्रीष्म ऋतुमा सूर्यनी सम्मुख मुख राभीने लुलओने पडोणी करीने आतापना ले छे शीत ऋतुमा थोडा कपडा रखीने या कपडा दूर करीने ठडीनी आतापना ले छे वर्षाऋतुमा कायजानी चेडे इन्द्रियोंनु गोपन करवामा तत्पर रहे छे

ग्रीष्म हेमन्त अने वर्षा शब्द गाथामा बहु-वचनान्त छे, तेथी ओवो आशय नीकणे छे के प्रत्येक वर्षनी ऋतुओमा ओम उरे छे (१२)

परीसह० इत्यादि

१ ('हन्तेर्मुद् हिच' उणादिसूत्र ३।२२९) इति झच् हन्ते हिंरादेशो मुद्रागमो गुणश्च ।

१
मूलम्-परीसहरिउदंता, २ धूयमोहा ३ जिइंदिया ।

५
सव्वदुखस्वप्पहीणट्ठा, ६ पवकमंति ८ महैसिणो ॥१३॥

छाया-परीपहरिपुदान्ता, धूतमोहा जितेन्द्रियाः ।

सर्वदुःखप्रहीणार्थं, प्रक्रामन्ति महर्षिणः ॥१३॥

सान्वयार्थः-परीसहरिउदंता = परीपहरूपी शत्रुओंको जीतने वाले धूयमोहा = मोहममताके त्यागी जिइंदिया = इन्द्रियोंके दमन करनेवाले महैसिणो = महर्षि-मुनि-राज सव्वदुखस्वप्पहीणट्ठा = समस्त दुःखोंके नाशके लिए पवकमंति = शक्ति फोड़ते हैं उद्योग करते हैं ॥१३॥

टीका-'परीसह०' इत्यादि ।

परीपहरिपुदान्ताः = परीपहा = क्षुधा-पिपासादय एव रिपवः = शत्रवः पगभव कारित्वात् परीपहरिपवः, दान्ताः = अन्तर्भावितप्यर्थतया दमिताः = निगृहीता उपशमं प्रापिताः परीपहरिपवो यैस्ते तथोक्ताः, 'धूतमोहाः = मुह्यति = सदसद्विवेकरहितोभवत्यात्माऽनेनेति मोहोऽज्ञानं धूतः = समुज्झितो मोहो यैस्ते तथोक्ताः, जितेन्द्रियाः = जितानि = रागद्वेषगातस्वविषयप्रवृत्त्युपरोधपूर्वकं वशीकृतानि इन्द्रियाणि = चक्षुरादीनि यैस्ते एवंविधा महर्षयः = मुनयः सर्वदुःखप्रहीणार्थं = 'प्रहीण' मिति सौत्रत्वाद् भावक्तात् गृह्यते, तथा च-सर्वाणि च तानि दुःखानि च सर्वं दुःखानि सर्वदुःखानां प्रहीण = परित्यागः सर्वदुःखप्रहीणं, सर्वदुःखप्रहीणाय इदं सर्वदुःखप्रहीणार्थम् 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्य'-मिति समासः । यद्वा 'प्रक्षीणार्थ'-मिति तदर्थः, सर्वदुःखप्रक्षीणार्थं = शारीरिक-मानसिक-निखिलदुःखविनाशार्थं प्रक्रामन्ति = समुद्युञ्जते स्वीया शक्ति स्फोरयन्तीत्यर्थः ॥१३॥

क्षुधा-पिपासा प्रभृति परीपहरूपी शत्रुओंको पराजित करते है । सत्-अमत्के बोधसे वंचित करनेवाले मोहको नष्ट कर देते है । इन्द्रियोंकी अपने-अपने विषयमें जो प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्तिको रोक कर इन्द्रियोंको वशमें करके जितेन्द्रिय होते है, ऐसे महर्षि शारीरिक और मानसिक समस्त प्रकारके समस्त दुःखोंका विनाश करनेके लिए पमाक्रम फोड़ते है ॥१३॥

उपसंहार करते हुए कहते है-'दुक्कगड ०' इत्यादि ।

भूष, तरस, धत्यादि परीपह-इपी शत्रुओंके पराजित करे छे सत् असत्ना बोधथी वंचित करनाश मोहने नष्ट करी नापे छे धद्रियेनी पोत पोताना विषयोभा के प्रवृत्ति थाय छे ते प्रवृत्तिने शक्षीने धद्रियेने वश राभीने जितेन्द्रिय भने छे, जेवा बहुषिओ शारीरिक अने मानसिक अधा प्रकरना अधा दुःखोने विनाश करवाने भाटे पराक्रम करे छे. (१३) छे उपसंहार करता छे-दुक्कगड ० धत्यादि.

१-'निष्ठान्तस्थ न पूर्वनिपातः, 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति सूत्रनिर्देशेन पूर्वनिपात-प्रकरणस्याऽनित्यत्वात् ।

सम्प्रत्यध्ययनमुपसहरन्नाह—‘दुष्कराङ्गं’ इत्यादि—

मूलम्—दुष्कराङ्गं करित्ताणं, दुस्सहाङ्गं सहेत्तु य ।

केइत्थ देवलोएसु.केइ सिज्झन्ति नीरया ॥१४॥

छायाः—दुष्कराणि कृत्वा, दुस्सहानि सोढवा च ।

केचिदत्र देवलोकेषु, केचित् सिध्यन्ति नीरजस्काः ॥१४॥

सान्वयार्थ—दुष्कराङ्गं = दुष्कर आतापना आदि करित्ताणं = करके य = और दुस्सहाङ्गं = कायर पुरुषोंके असह्य (परीपह आदि) सहेत्तु = सह करके केइ = कोई-कोई देवलोएसु = स्वर्गोंमें (उत्पन्न होते हैं), केइ = कोई नीरया = कर्मरजसे रहित-मुक्त होकर अत्थ = इसी भवमें सिज्झन्ति = सिद्ध होजाता हैं—मोक्ष चले जाते हैं ॥१४॥

टीका—दुःखेन कर्तुं योग्यानि दुष्कराणि = आचरितुमशक्यानि कष्टसाध्या, आतापनादीनि कृत्वा = विधाय, च = तथा दुःसहानि = कातरचित्तैः सोढुमशक्यानि परीपहोपसर्गादीनि सोढवा = संसह्य केचित् = मुनयः अवशिष्टकर्माणः देवलोकेषु = सौधर्मादिसुरलोकेषु या-‘तो’ -ति शेषः, केचित् = कतिपये नीरजस्काः = कर्मरजोविनिर्मुक्ताः अत्र = अत्रैव भवे सिध्यन्ति = सिद्धा भवन्ति, शिवपदमासादयतीत्यर्थः । अत्र टीकान्तरेषु-‘अत्रे’-त्यस्य ‘देवलोकेषु’ इत्यनेन सहान्वयकरणं सर्वथा प्रमाद विजृम्भितम् ॥१४॥१४॥१४॥

कर्मावशेषेण ये मुनयो देवलोकं गच्छन्ति ते तत्र देवायुष्कमुपभुज्य ततश्च्युता आर्यक्षेत्रे मनुष्यजातौ सुकुले च समुत्पद्य तद्भवमोक्षगामिनो भवन्तीति दर्शयितुमाह—‘खचित्ता’ इत्यादि—

पूर्वोक्त गुणोसे विशिष्ट मुनि दुष्कर आतापना आदि क्रियाओका आचरण करके, तथा कायर पुरुष जिन्हे सहन नहीं कर सकते ऐसे परीपह और उपसर्गों को सह कर अवशिष्ट-कर्मवाले कोई मुनि सौधर्म आदि देवलोकमें जाते हैं । जो कर्मरजसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं वे इसी मनुष्य भवमें सिद्धिपदको प्राप्त करते हैं । दूमरे टीकाकारों ने ‘अत्र’ शब्दको देवलोकके साथ जोड़ा है वह ठीक नहीं है, ‘अत्र’ शब्दका अर्थ—यहाँ—“इसा भवनेमें” ऐसा है ॥१४॥

जो मुनि कर्म बाकी रहनेसे देवलोकमें जाते हैं, वे भी देवलोकसम्बन्धी आयुष्यको भोग

पूर्वोक्त गुणोधी विशिष्ट मुनि दुष्कर आतापना आदि क्रियाओतु आचरण करीने तथा कायर पुरुषों जे सहन करी शकता नहीं ओवा परीपहो अने उपसर्गों सहने अवशिष्ट कर्मवाला केई मुनि सौधर्म आदि देवलोकमें जाते हैं जे ओ कर्मरजसे सर्वथा मुक्त थई जे ते ओ आ मनुष्यभवमें सिद्धिपदने प्राप्त करे छे जे ओ टीकाकारों अत्र शब्दने देवलोक साथे जोड़ये छे ते भ्राम्यर नहीं, अत्र शब्दने अर्थ अही ‘आ लवमा’ ओवे छे. (१४).

जे मुनि, कर्म बाकी रखवाने लीधे देवलोकमें जाते हैं, ते ओ पण देवलोकसंबन्धी

७ ६ ३ ५ ४
मूलम्-खवित्ता पुव्वाकम्माइं. संजमेण तवेण य ।

१ २ ८
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, तायिणो परिनिव्वुडे ॥१५॥ त्तिवेमि ॥

छाया-क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च ।

सिद्धिमार्गमनुप्राप्ताः-स्त्रायिणः परिनिवृताः ॥१५॥ इति ब्रवीमि ।

सान्त्वयार्थः-सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता=मोक्षमार्गमें प्राप्त हुए तायिणो=पदकायके रक्षक (मुनि) संजमेण=संयमके द्वारा य=और तवेण=तपके द्वारा पुव्वकम्माइं=पहले बंधे हुए कर्मोंको खवित्ता=खपाकरके परिनिव्वुडे=मुक्त होते हैं । त्ति वेमि=पूर्ववत् ॥१५॥

इति तृतीयाध्ययनस्य सान्त्वयार्थः ।

टीका-सिद्धिः=अविचलमुखनिष्पत्तिस्तस्या मार्गः=उपायो ज्ञानादिः सिद्धिमार्गस्त-
म् अनुप्राप्ताः=अनुगताः, त्रायिणः=पङ्जीवनिकायत्राणपरायणान्तःकरणाः संयमेन=सा-
वधव्यापारविरतिलक्षणेन सप्तदशनिधेन, च=तथा तपसा=ऊनोदरतादिरूपेण द्वादशवि-
धेन तपश्चरणेन पूर्वकर्माणि = प्रभवोपार्जितज्ञानावरणीयाद्यष्ट विधकर्माणि क्षपयित्वा =

कर, वहासे चव कर आर्य क्षेत्रमें मनुष्यजाति, और सुकुलमें जन्म लेकर उसी भवमें सिद्धि प्राप्त करते हैं । इसी विषयको सूत्रकार आगेही गाथामें कहते हैं-“खवित्ता०” इत्यादि ।

वे मुनि, मोक्षमार्गमें प्राप्त होकर सर्वसावधव्यापारके त्यागरूप सत्रह प्रकारके समयसे, तथा अनशन ऊनोदर आदि बारह प्रकारके तपसे, पहले भवोंमें बाधे हुए ज्ञानावरण आदि आठ प्रकारके समस्त कर्मोंको नाश करके सर्वथा मुक्त हो जाते हैं-कर्मजन्य सत्तापसे रहित होकर परमशी-
तलीभूत होते हैं अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं ।

आयुष्यने लोगवीने, त्याधी यवीने आर्यक्षेत्रमां मनुष्यजाति अने सुकुलमां जन्म लधने
अने लवमां सिद्धि प्राप्त करे छे, आ विषयने सूत्रकार आगणनी गाथामा कडे छे-खवित्ता०
धत्यादि

वे मुनि, मोक्ष-मार्गमा प्रवेश करीने सर्वसावध-व्यापारना त्यागइय सत्तर प्रकारना
संयमधी, तथा अनशन अनोदरी आदि बार प्रकारना तपधी पडेलांना लवोमा बांधेलां
ज्ञानावरण आदि आठ प्रकारना लधा कर्मोना नाश करीने सर्वथा मुक्त थध जय छे-कर्म
जन्य सत्तापधी रहित थधने परमशीतलीभूत थाय छे, अर्थात् सिद्ध थध जय छे.

क्षयं नीत्वा परिनिर्वृताः = परि सर्वतोभावेन निर्वृताः = कर्मजनित-सन्तापराहित्येन शीत-
लीभूताः 'भवन्ती'-ति शेषः, सिध्यन्तीत्यर्थः । इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१५॥

इति श्री-विश्वविख्यात जगद्वल्लभप्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित-
कलापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध गद्य-पद्य-नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-
कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीदशवैकालिकसूत्र-
स्याऽऽचारमणिमञ्जूपाख्यायां व्याख्यायां तृतीयं
'क्षुल्लकाचारकथा' ऽऽख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥३॥

+

श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं—हे जम्बू ! तीसरे अध्ययनका जैसा भाव भगवानने
फरमाया है, वैसा हो तुमसे कहता हूँ ॥१५॥

इति "क्षुल्लकाचारकथा" नामक तीसरे
अध्ययनका हिन्दीभाषानुवाद समाप्त ॥३॥

— + —

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीने कहे छे—हे जम्बू ! तीसरे अध्ययनका जैसा भाव भग-
वाने फरमाया छे तैसा हो तुमसे कहता हूँ (१५)

इति 'क्षुल्लकाचारकथा', नामक तीसरे अध्ययनका
गुजराती-भाषानुवाद समाप्त (३)

— ० :—

अथ चतुर्थाध्ययनम्

गतं तृतीयाध्ययनं सम्प्रति चतुर्थमारभ्यते—पूर्वाध्ययने 'अनाचीर्णानि विहायाऽऽ-
चारे घृतिः संघार्या संयमिने ' आचारश्च पङ्क्तिजीवानां यथावस्थितस्वरूपमवबुध्य त-
त्संरक्षणपुरस्सरं भवत्यतोऽत्र पङ्क्तिजीविकायानामाऽध्ययने तत्स्वरूपं तत्संरक्षणोपायं च
प्रतिपादयिष्यन् प्रवचनम्याऽऽप्तोपदिष्टत्वं प्रदर्शयति—'सुयं मे' इत्यादि,

मलम्—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु
छज्जीवणियानामज्झयणं, समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवे-
इया सुअक्खाया सपन्नत्ता. सेयं मे अहिज्जिउ अज्जयणं धम्मप-
न्नत्ती ॥१॥

छाया—श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु पङ्क्तिजीव नि-
कायानामाध्ययन, श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता साख्याता सुप्रज्ञप्ता,
श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥१॥

चौथा अध्ययन ।

अब चौथा अध्ययन कहते हैं—

तीसरे अध्ययनमें यह प्रतिपादन किया है कि महापुरुषों को अनाचीर्णों का त्याग करके,
आचार-(सयम)-में दृढता रखनी चाहिए । आचारमें दृढता तब ही होती है जब पट्काय के
जीवोंका वास्तविक स्वरूप जानकर उनकी रक्षा की जाय, इसलिए इस 'पङ्क्तिजीविकाय' नामक
अध्ययनमें पङ्क्तिजीविकायका स्वरूप और उसकी रक्षाका उपाय बताते हुए 'यह प्रवचन आस-
(भगवान्)-द्वारा उपदिष्ट है' इस बातको कहते हैं—'सुय मे०, इत्यादि ।

हे आयुष्मन् ! अर्थात् सयमरूपी-जीवनवाले ! नीरोग-जीवनवाले ! या दीर्घजीवी !, इस
सम्बोधनसे धर्मके आवारणमें आयुष्यकी प्रधानता सूचित की है (१), अथवा 'आउसतेणं' यह

अध्ययन ४ थु.

इवे चोथु अध्ययन कडे छे—

त्रीण अध्ययनमां अम प्रतिपादन करवामा आण्यु छे के—महापुरुषोअे अनाची-
र्णानि त्याग कराने आचार (सयम) मां दृढता राखी जेअे आचारमा दृढता त्यारे
अ आवे छे के अयारे पट्कायना जेअेनु वास्तविक स्वरूप जेअेने तेमनी रक्षा करवामां
आवे, तेदला माटे आ 'पङ्क्तिजीविकाय' नामना अध्ययनमा छे—कायनु स्वरूप अने तेनी
रक्षाना उपाये अतावता 'आ प्रवचन आस (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट छे, अे वातने कडे
छे—सुयं मे० इत्यादि

हे आयुष्मन् ! अर्थात् सयम-रूपी-जीवन-वाला । नीरोगी-जीवन-वाला ! या दीर्घ-
जीवी !, आ सम्बोधनशी धर्मना आचरणमा आयुष्यनी प्रधानता सूचित करी छे (१),
अथवा आउसतेणं अे अेक पद छे, अेनी छाया आजुपमाणेन अे प्रगाले थाय छे, अर्थात्

सान्वयार्थः—आउसं=हे अयुष्मन्शिष्य ! तेण = उम भगवण = भगवान ने एव = ऐसा अक्खायं = कहा है, मे = मैंने सुयं = सुना है इह = यहां इस प्रवचन मे खलु निश्चय करके छज्जीवणियानामज्झयणं=पइजोव निक्काय नामक अध्ययन हैं, (वह) समणेणं = श्रमण भगवया = भगवान् कासवेणं = कइयपगोत्राय महावीरेणं = महावीरने पवेइया = प्रवेदितकी है, सुअक्खाया = सम्यक् प्रकारसे कही है, सुपन्नता = सम्यकृतया वताई है धम्मपन्नत्ती = धर्मप्रज्ञप्ति (नामक) यह) अज्झयण = अध्ययन मे = मुझे अहिज्जिउं पढ़ने को सेयं = कल्याणकारी हैं अर्थात् भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित इस अध्ययनका अध्ययन करना मुझे कल्याणकारी है ॥ १ ॥

टीका—एति = गच्छतीत्यायुः = संयसलक्षणं नीरुजं दीर्घं वा जीवितस्यास्ती—
त्यायुष्मान् तत्सम्बुद्धौ हे आयुष्मन् ! गुणवच्छिष्यामन्त्रणमेतत् । अनेन धर्माचरणे प्राधान्ये-
नायुपोऽपेक्षा विद्यते इति सूचितम् । तेन = लोकत्रयप्रसिद्धेन,

यद्वा 'आउसंतेणं' इत्येकपदस्य 'आजुषमाणेन' इति संस्कृतं तस्य मयेत्यनेन सम्बन्धः तथा च आङ्गति मर्यादायाम् आ = शस्त्रश्रवणमर्यादया जुषमाणेन = गुरुन् सेव-
मानेन मयेत्यर्थः । विधिमन्तरेण हि श्रवणे शास्त्ररहस्यं श्रोतुरधोमुखकुम्भस्येव न किञ्चद-
प्यन्तः प्रविशति । 'आजुषमाणेने'—ति विशेषणेन गुरुमाराध्य शिक्षां लब्धवतः शिष्यस्य
शास्त्राध्ययनं सफलीभवतीति द्योतितम् ।

अथवा 'आउसंतेणं' इत्यस्य 'आवसता' इति संस्कृतम्, तस्यापि 'मये' 'त्यनेनैव सम्बन्धः, आङ् प्राग्वन्मर्यादार्थं कस्तथाच = आ = शिष्योचितमर्यादया वसता = भगवदन्ति के निवासं कुर्वता मयेत्यर्थः । अनेन शिष्यस्य गुरुकुलनिवासः सूचितः ।

भगवता = भगः = ज्ञानं सकलपदार्थविषयकम् (१), माहात्म्यम् = अनुपममहनी-
यमहिमसम्पन्नत्वम् (२), यशः = विविधानुकूलप्रतिकूलपरीषहोपसर्गसहनसमुद्भूता जग-

एक पद है, इसकी छाया 'आजुषमाणेन' होनी है, अर्थात् गुरुकी सेवा करनेवाले मैंने, इस पदसे गुरुकी सेवा करके सीखनेसे ही शास्त्रका अध्ययन सफल होता है, यह सूचित होता है (२), 'आवसता' ऐसी भी छाया होती है, अर्थात् शिष्यके योग्य मर्यादा-पूर्वक भगवानके समीप रहने-
वाले मैंने (सुना), इस पदसे गुरुकुलमें निवास करना सूचित किया गया है ।

यहा 'भग' शब्दके दश अर्थ हैं—(१) समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान, (२) अनु-
पम-महिमा, (३) विविध प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल परीषहोको सहन करनेसे उत्पन्न होने-

अर्थात् गुहनी सेवा करना अथवा मे, अथवा पदार्थी 'गुहनी सेवा करीने शीभवाथी न शास्त्रतुं
अध्ययन सङ्ग थाय छे' अथवा सूचित थाय छे (२), आवसता अथवा पद्य छाया थाय छे
अर्थात् शिष्यने योग्य मर्यादा-पूर्वक भगवानतुनी समीपे रहनेवाला अथवा मे' (साखण्युं)
अथवा पदार्थी गुहकुलमा निवास करवानुं सृजन करेछे छे

अर्थात् 'भग' शब्दका दस अर्थ छे (१) अथवा पदार्थोने विषय करवावाणु ज्ञान, (२)

द्रक्षणप्रज्ञासमुत्था वा कीर्तिः (३) वैराग्यम् = क्रोधादिकृपायनिग्रहलक्षणम् (४) मुक्तिः = सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः (५), रूपम् = सुरासुरनरहृदयहारि सौन्दर्यम् (६) वीर्यम् = अन्तरायान्तजन्यमनन्तसामर्थ्यम् (७) श्रीः = घातिकर्मपटलविघटनजनितानन्तचतुष्टयलक्ष्मीः (८), धर्मः = अपवर्गद्वारकपाटोद्घाटनसाधनम्, श्रुतादिरूपो यथाख्यातचारित्ररूपो वा (९), ऐश्वर्यं = त्रैलोक्याधिपत्यं (१०) चाऽस्यास्तीति भगवान् तेन तथोक्तेन, एवम् = 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठ' मित्याद्यारभ्य 'तायिणो परिनिव्वुडे' इत्यन्तं यावत् पूर्वोपदिष्टरूपेण, आख्यातम् परस्परासङ्कीर्णतया कथितम्, प्रवचने, येऽमया श्रुतम् = श्रवणगोचरीकृतम्। खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे। इह = अरिमन् प्रवचने, षड्जीवनिकायानामाध्ययनम् = पद च ते पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रयलक्षणा जीवाश्चेति षड्जीवास्तेषां निकायः = समूहः प्रतिपाद्यत्वेनाऽस्ति यस्यामागमपद्धतौ सा 'षड्जीवनिकाया' तन्नाम यस्य तच्च तदध्ययनं चेति' षड्जीवनिकायानामाध्ययनम् 'अस्ती' -तिशेषः।

वाली या ससारकी रक्षा करनेवाले अलौकिक ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली कीर्ति, (४) क्रोध आदि कृपायोका सर्वथा निग्रहरूप वैराग्य, (५) समस्त कर्मोंका क्षयस्वरूप मोक्ष, (६) सुर-असुर और नरोके अन्तःकरणको हर लेनेवाला सौन्दर्य, (७) अन्तराय कर्मके नाशसे उत्पन्न होनेवाला अनन्त बल, (८) घातिया कर्मरूपी पटलके हट जानेसे प्रादुर्भूत होनेवाली अनन्त-चतुष्टय लक्ष्मी, (९) मोक्षके द्वारको खोलनेका साधन श्रुत-चारित्र-यथाख्यातचरित्ररूप धर्म, (१०) तीन लोकका आधिपत्य रूप ऐश्वर्य।

ये सब भगवच्छब्दके अर्थ जिनमें पाये जाते हैं उन्हें भगवान् कहत है। हे आयुष्मन् ! 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठ' से लेकर 'तायिणो परिनिव्वुडे' तक सब भगवानने ही कहा है और मैंने

अनुपम-महिमा, (३) विविध प्रकारका अनुग्रह अने प्रतिक्रम परीपडोने सहन करवाथी उत्पन्न थनारी अथवा जगतनी रक्षा करनारा अलौकिक ज्ञानथी उत्पन्न थनारी कीर्ति, (४) क्रोध आदि कृपायोका सर्वथा निग्रहरूप वैराग्य, (५) अथा कर्मोंका क्षय-स्वरूप मोक्ष, (६) सुर असुर अने नरोका अतःकरणने हरनाइं सौंदर्य, (७) अंतराय कर्मना नाशथी उत्पन्न थनारं अन्त जण (८) घाती-कर्म-रूपी पडण हुठी जवाथी उत्पन्न थनारी अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी, (मोक्षना द्वारने जोलवा ॥ साधन श्रुत-चारित्र-यथाख्यात-चारित्र-रूप धर्म (१०) त्रय लोकना आधिपत्य-रूप ऐश्वर्य

आ अथा लग शब्दना अर्थो जेनामा भणी आवे छे तेने भगवान् कहे छे। हे आयुष्मन् ! धम्मो मंगलमुक्किट्ठ थी लछने तायिणो परिनिव्वुडे सुधी अधुंय भगवाने ज

१ सूत्रे 'छज्जीवणिया' इति पदं 'स्वराद्यस्य' (५४६२) इति निज्ञायाघटक्यकारस्य लोपे, 'क ग-च ज न द-प य-वां प्रायो लुक्' इति ककारलोपे कृते 'नि+आ+आ+' इति स्थिते 'सवर्णे दीर्घः' (१२।७) इति द्वयोरकारयोः स्थाने दीर्घकादेशे 'अवर्णी यश्नुति', इति यकार श्रुत्या णत्वेन च सिद्धम्।

‘सा च षड्जीवनिकाया’ इत्यध्याह्रियते उत्तरवाक्याऽऽकाङ्क्षोन्धानाय, श्रमणेन = श्राम्यति = तपस्यतीति श्रमणस्तेन या ‘द्वादशर्षाणि घोरतपश्चरणाच्छ्रमण इतिप्रसिद्धिं लब्धवता, भगवता काश्यपेन = कश्यपमात्रोत्पन्नेन महावीरेण = वीरयति = पराक्रमते मोक्षानुष्ठाने इति वीरः, यद्वा वि = विशेषेण ईरयति = गमयति प्रापयति मोक्षं प्रति भव्य जनानिति, वि = विशेषेण ईत्त = गच्छति क्षपिताखिलकर्मा मोक्षमिति, वि = विशेषेण ईरयति = कम्पयति कषायःदिपरिपन्थिन इति, वि = विशेषेण इरयति = प्रक्षिपति घनघातिकर्मपटलमवकरनिकरमिवेति, वि = विशेषेण इरयति = प्रेरयति प्रवर्त्तयति सयमाद्यनुष्ठाने प्राणिन इति वा वीरः’, महाश्र्वासौ वीरश्च महावीरस्तेन श्रीवर्द्धमानस्वामिनेत्यर्थः । प्रवेदिता = प्रकर्षेण सकलप्राणिगणस्य स्वस्वभाषापरिणमनरूपेण यथा वस्थितार्थद्वारेण च वेदिता = केवलाऽऽलोकेन विलोक्य प्रतिपादिता, स्वाख्याता = सुष्ठु-पूर्वापराविरोधियुक्तयुक्तिभिरुपपन्न-तयाऽऽख्याता = उक्ता, सुप्रज्ञप्ता = सुष्ठु-सदेव-

सुना है । इस अव्ययनका नाम ‘षड्जीवनिकाया’ है । वह इसलिए कि इसमें पृथिवी आदि षड्जीव-निकायोका वर्णन है ।

साढे बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करने के कारण श्रमण नाम से प्रसिद्ध काश्यप गोत्र में उत्पन्न होने वाले भगवान् महावीरने, वीर शब्द के छह अर्थ हैं, अर्थात्—(१)मोक्षके अनुष्ठान में पराक्रम करनेवाले, अथवा(२)भव्य जीवोको मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले, या (३) समस्त कर्मों को दूर करके मोक्षको प्राप्त होनेवाले, (४)कषाय आदि शत्रुओं को सर्वथा हरानेवाले, (५)चार घन-घातिया कर्मोंको कचरेकी तरह दूर करनेवाले(६)प्राणियोंको विशेष-रूपसे सयम अनुष्ठान में प्रवृत्ति करानेवाले श्रीवर्द्धमान स्वामीने, प्रत्येक प्राणीको अपनी २ भाषामें परिणत होनेवाले इस प्रवचनको केवल-ज्ञानसे जानकर प्रतिपादित किया है । पूर्वापर विरोध-रहित और युक्तियों

कह्युं छे. अने मे सावज्युं छे आ अध्ययननु नाम षड् जीवनिकाया छे तेअेटला भाटे के अेमा पृथिवी-आदि छ जीवनिकायनु वखुंन छे

साढा बार वर्ष सुधी घोर तपश्चर्या करवाने कारणे श्रमणु नामधी प्रसिद्ध, कश्यप गोत्रमा उत्पन्न थयेला भगवान् महावीरे (वीर शब्दना छ अर्थ छे), अर्थात् (१) मोक्षना अनुष्ठानमा पराक्रम करनारा, अथवा (२) अेवाने मोक्षनी प्राप्ति करानारा या (३) सर्व कर्मने दूर करीने मोक्षने प्राप्त थयेला, [४] कषाय आदि शत्रुअेने सर्वथा उठा वनारा, (५) चार घनघातो कर्मने क्यरानी पेठे दूरकरी देनारा, (६) प्राणीअेना विशेष-इपथी संयमना अनुष्ठानमा प्रवृत्ति करानारा, अेवा श्री वर्द्धमान स्वामीअे, प्रत्येक प्राणीनी पोत-पोतानी भाषामा परिणत प्रवावाणुं आ प्रवचन केवण ज्ञानथी अणुनीने प्रतिपादन कथुं छे ‘पूर्वापर-विरोध रहित अने युजितअे सद्धित कह्युं छे, अेवु देव अनुभ्य अने असु-

१ ‘वीर विक्रान्तौ’ अस्मात्पचाद्यच् ।

२ ‘ईर गतो कम्पने च’ इत्यादादिकात् ‘ईर क्षेपे’ इति चौरादिकाच्च घातो पचाद्यच् ।

मनुजामुरसमायां दिव्यध्वनिना प्रज्ञप्ता = प्ररूपिता, यद्वा धातूनामनेकार्थत्वादुपसर्गस-
मभिव्याहार वलाच्चेह ज्ञापिरासेवनार्थः तथा च—येनैव रूपेणाऽऽख्याता तेनैव रूपेण =
प्रकर्षेण ज्ञप्ता = आसेविता, अणुमात्रतोऽपि हिंसां परिहृता भगवता यथाकथितमा
चरितेत्यर्थः । तदेतदध्ययनं पद्मजीवनिकायाख्यं धर्मप्रज्ञप्तिः धर्मप्ररूपकम्, यद्वा
धर्मप्रज्ञप्तिः = एतदपरसञ्जाकं मे = मम अध्येतुम् = अभ्यासितुं श्रेयः — प्रज्ञस्य निःश्रेय-
सकरमित्यर्थः ॥ १॥

एतन्निशम्य जम्बूस्वामी परिपृच्छति—कयरा०, इत्यादि ।

मूलम्—कयरो खलु सा छज्जीवणिया नामज्जयणं समणेणं भ
—गवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता. सेयं
मे अहिज्जिउं अज्जयणं धम्मपन्नत्ती ? ॥ २ ॥

छाया—कतरा खलु सा पद्मजीवनिकायानाममध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण
काश्यपेन प्रवेदिता साख्यता सुप्रज्ञप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुम् अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ? ॥२॥

सान्वयार्थः—सा खलु = वह छज्जीवणिया = पद्मजीवनिकाया कयरा = कौनसी
है ? जो अज्जयणं नाम = अध्ययन नाम से प्रसिद्ध है, जो कासवेणं = काश्यपगोत्रीय
समणेणं = श्रमण भगवया = भगवान् महावीरेणं = महावीरने पवेइया = प्रवेदित की है,
सुअक्खाया = सम्यक्प्रकार कही है, सुपन्नत्ता = सम्यक्तया बताई है । वह धम्मपन्नत्ती
अज्जयणं = धर्मप्रज्ञप्ति अपरनामक अध्ययन अहिज्जिउं = पढ़ना मे = मुझे सेय = श्रेय है ॥२॥

टीका—सा = पूर्वोक्ता पद्मजीवनिकाया खलु कतरा = किंभूता या अध्ययनं नाम = अध्य-
यनत्वेन प्रसिद्धेत्यर्थः, या च काश्यपेनेत्यादि व्याख्यातपूर्वम् । 'कयरा' इत्यनेन मोक्षा-
भिलाषिणा शिष्येण सकलक्रियाकलापे स्वाभिमानपरित्यागपूर्वकं गुरुः प्रष्टव्य इति सूचितम् ॥

सहित कहा है, देव मनुष्य और असुरो की समा—ममवसरण-मे दिव्य ध्वनि से प्ररूपित किया
है । अथवा भगवानने जैसा कहा है वैसा ही उन्होंने आचरण किया है ।

इसलिए यह पद्मजीवनिकाया नामक, धर्मकी प्ररूपणा करनेवाला अध्ययन में अध्ययन
करनेके लिए श्रेय है—कल्याणकारी है ॥१॥

यह सुनकर जम्बूस्वामी प्रश्न करते हैं—'कयरा खलु०' इत्यादि । हे भगवन् ! पहले बताई
हुई पद्मजीवनिकायाका स्वरूप क्या है जो इस अध्ययनरूप से कही गई है अर्थात् जिसका इस

शैली सभा—सभवसरणुमा दिव्य ध्वनिथी प्ररूपित कथुं छे. अथवा लगवाने जेवुं कलु छे
जेवुं तेमणे आचरणु कथुं छे

तेथी करीने आ पद्मजीवनिकाया नामक धर्मनी प्ररूपणा करनाई अध्ययन भारे अध्य-
यन करवाने श्रेय छे—कल्याणकारी छे, (१)

आ सांलणीने ज'णस्वामी प्रश्न करे छे—कयरा खलु० इत्यादि.

हे भगवान ! पहले बतावेली पद्मजीवनिकायातुं स्वरूप केवु छे के जे आ अध्यय-

सम्प्रति सुधर्मस्वामिन उत्तरयन्ति—‘इमा खलु०’ इत्यादि ।

मूलम्—इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मन्नत्ती ॥३॥

छाया—इयं खलु सा पइजीवनिकाया नामाध्ययन श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥३॥

सान्वयार्थः—सा=वह छज्जीवनिकाया खलु=निश्चय करके इमा=यह है जो अज्झयणं नाम=अध्ययन नाम से प्रसिद्ध है, और जो कासवेणं=कश्यपगोत्रीय समणेणं=श्रमण भगवया=भगवान् महावीरेणं=महावीरने पवेइया=प्रवेदित की है, सुअक्खाया=सम्यक्प्रकार कही है, सुपन्नत्ता=सम्यक्तया वताई है । वह धम्मपन्नत्ती अज्झयणं = धर्मप्रज्ञप्ति अपरनामक अध्ययन अहिज्जिउं = पढना मे = मुझे सेयं = श्रेयस्कारी है ॥३॥

टीका—‘इमा’ इत्यनेन ‘विनीतविनेयाय करुणासञ्चारचारुहृदयेन गुरुणा शास्त्रोपदेशः कर्त्तव्यः’ इति सूचितम् । अन्यत्प्राग्वत् ॥३॥

तामेव पइजीवनिकायां सूत्रकारः प्रदर्शयति = ‘तं जहा’ इत्यादि ।

मूलम्—तं जहा—पुढविकाइया, आउकाइया. तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया । पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेग-

समस्त अध्ययनमे वर्णन किया गया है, और भगवान महावीर स्वामीने यावत् प्ररूपित किया है और धर्मप्रज्ञप्ति अपरनाम से प्रसिद्ध उस अध्ययन का पढना मेरे लिये कल्याणकर है । इस प्रश्न से यह आशय निकलता है कि—मुमुक्षु शिष्य को अहंकार त्यागकर समस्त क्रिपाएँ गुरुसे पूछनी चाहिए ॥२॥

श्री सुवर्मा स्वामी उत्तर देते है—‘इमा खलु०’ इत्यादि ।

इस पाठका व्याख्यान पहले किया जा चुका है । ‘इमा’ पदसे यह सूचित होता है कि करुणासागर गुरु महाराज विनीत शिष्यको शास्त्र का उपदेश अवश्य देवें ॥३॥

नइथी कडेवामा आवे छे ? अर्यात् जेनु आ आप्पा अध्ययनमा वणुंन कत्वामा आवुं छे, अने लगवान महावीर स्वामीअे जेनुं प्रइपालु कयुं छे ? अने धर्मप्रज्ञप्ति अेम पील नामथी जे प्रसिद्ध छे ते अध्ययननु अध्ययन करवु भारे भाटे कट्याणुकारक छे ? आ प्रश्नथी अेवो आशय नीकणे छे के—मुमुक्षु शिष्ये अहंकारने त्याग करीने अधी कियाअे गुइने पूछनी जेधअे (२)

श्री सुधर्मास्वामी उत्तर आपे छे के—इमा खलु० इत्यादि

आ पाठनु व्याख्यान पढेला करवामा आवुं छे इमा शब्दथी अेम सूचित थाय छे के कइणासागर गुइ महाराज विनीत शिष्यने शास्त्रने उपदेश जर आवे (३)

जीवा पुद्गोसत्ता अन्नतथ सत्थपरिणणं । आऊ चित्तमंतमक्खाया
अणेगजीवा पुद्गोसत्ता अन्नतथ सत्थपरिणणं । तेऊ चित्त मंतमक्खाया
अणेगजीवा पुद्गोसत्ता अन्नतथ सत्थपरिणणं, वाऊ चित्तमंतमक्खा
या अणेगजीवा पुद्गोसत्ता अन्नतथ सत्थपरिणणं । वणस्सई चित्त-
मंतमक्खाया अणेगजीवा पुद्गोसत्ता अन्नतथ सत्थपरिणणं ॥४॥

छाया तद्यथा—पृथिवीकायिकाः (१), अप्कायिकाः (२), तेजस्कायिकाः (३) वायु-
कायिकाः (४), वनस्पतिकायिकाः (५), त्रसकायिकाः (६) । पृथिवी चित्तवत्याख्याता,
अनेकजीवा, पृथक्सत्त्वा, अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः । आपश्चित्तवत्य आख्याताः, अनेक-
जीवाः, पृथक्सत्त्वाः, अन्यत्र शस्त्रपरिणताभ्यः । तेजश्चित्तवदाख्यातम्, अनेकजीवं, पृथ-
क्सत्त्वमन्यत्र शस्त्रपरिणतान् । वायुश्चित्तवानाख्यातो ऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वोऽन्यत्र शस्त्रपरि-
णतात्, वनस्पतिश्चित्तवानाख्यातोऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वोऽन्यत्र शस्त्रपरिणतात् ॥४॥

सान्त्वयार्थः—तं जहा—ब्रह्म इस प्रकार हे—(१) पुढविकाइया=पृथ्वीकायिक, (२) आउ-
काइया=अप्कायिक, (३) तेउकाइया=तेजस्कायिक, (४) वाउकाइया=वायुकायिक, (५)
वणस्सइकाइया=वनस्पतिकायिक, (६) तसकाइया=त्रसकायिक ॥

अब आचार्य महाराज एक-एककी सचित्तता बतलाने हैं—

उस षड्जीवनिकायको सूत्रकार दिखाते हैं—‘त जहा’ इत्यादि ।

कठिनता- स्वभाववाली पृथ्वी ही जिनका शरीर है उन्हें पृथ्वीकायिक कहते हैं । द्रवत्व
-स्वभाववाला जल ही जिनका शरीर है उन्हें अप्कायिक कहते हैं । उष्णतास्वभाववाला तेज ही
जिनका शरीर है उन्हें तेजस्कायिक कहते हैं । चलन स्वभाववाला वायु ही जिसका शरीर है
उन्हें वायुकायिक कहते हैं । लता वृक्ष-गुल्म आदि वनस्पति ही जिनका शरीर है उन्हें वनस्पति-
कायिक कहते हैं । जिन्हें शीत-आतप(गर्मि) आदिद्वारा उत्पन्न हुई पीढासे त्रास होता है ऐसा
चलने-फिरने वाला काय जिनका होना है उन्हें त्रसकायिक कहते हैं ।

ये षड्जीवनिकायने सूत्रकार दिखाते हैं—त जहा— इत्यादि

१-कठिनता-स्वभाववाली पृथ्वी जेनु शरीर छे तेने पृथ्वीकायिक कहे छे २-द्रवत्व
-स्वभाववाली जल जेनु शरीर छे तेने अप्कायिक कहे छे ३-उष्णता-स्वभाववाली तेज
जेनु शरीर छे तेने तेजस्कायिक कहे छे, ४ चलन स्वभाववाली वायु जेनु शरीर
छे तेने वायुकायिक कहे छे, ५-लता वृक्ष गुल्म (गुल्म) आदि वनस्पति जेनु शरीर
छे तेने वनस्पतिकायिक कहे छे ६-जेने ठंडी गरमी आदि द्वारा उत्पन्न थयेली पीढाथी
त्रास थाय छे ओवी डरवा डरगावाणी काया जेनी डाय छे तेने त्रसकायिक कहे छे.

हुवे अकेकनी सचित्तता देखाउे छे.

(१) पृथ्वीकाय

सान्वयार्थः—(भगवानने) पुढवी=पृथ्वीको चित्तमंतं=सचित्त अक्खाया=कही है, वह अणेगजीवा=अनेकजीववाली है—अनेकजीवोका पिण्डभूत है, पुढोसत्ता=उसमें अनेकजीव भिन्न-भिन्न रहे हुए है, अन्नत्थ=सिवाय सत्थपरिणएणं=शस्त्रपरिणतके, अर्थात् जहां शस्त्र नहीं लगा है वहांका पृथ्वीकाय सब सचित्त है। इसी प्रकार छहों कायो में समझ लेना चाहिये

(२) अप्काय.

सान्वयार्थः—आऊ = जल चित्तमंतं = सचित्त अक्खाया = कहा है, वह अणेगजीवा = अनेक जीवोंका आश्रयभूत है, पुढोसत्ता = वे अनेक जीव भिन्न-भिन्न रहे हुए है, अन्नत्थ = सिवाय सत्थपरिणएणं = शस्त्रपरिणतके ॥२॥

(३) तेजस्काय.

तेऊ = तेजस्काय चित्तमंतं = सचित्त अक्खाया = कहा गया है, वह अणेगजीवा = अनेक जीवोंका आश्रयभूत है, पुढोसत्ता = वे अनेक जीव भिन्न-भिन्न रहे हुए हैं, अन्नत्थ = सिवाय सत्थपरिणएणं = शस्त्रपरिणतके ॥३॥

(४) वायुकाय.

वाऊ = वायु चित्तमंतं = सचित्त अक्खाया = कहा गया है, वह अणेगजीवा = अनेक जीवोंका आश्रय है, पुढोसत्ता = भिन्न-भिन्न जीवोंवाला है, अन्नत्थ = सिवाय सत्थपरिणएणं = शस्त्रपरिणतके ॥४॥

(५) वनस्पतिकाय.

वणस्सई = वनस्पति चित्तमतं = सचित्त अक्खाया = कही गई है, वह अणेगजीवा = अनेक जीवोंका आधार है, पुढोसत्ता = भिन्न-भिन्न जीववाली है, अन्नत्थ = सिवाय सत्थपरिणएणं = शस्त्रपरिणतके ॥

भावार्थ—पांचों स्थावरकाय सचित्त है, वे अनेक जीवरूप हैं, उन जीवोंका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है,। इन कायोंके जो जो शस्त्र हैं उनसे यदि ये परिणत हो जायें तो अचित्त हो जाते हैं ॥५॥

टीका—तद्यथा = तदेव प्रदर्श्यते—पृथ्वी = कठिनस्वभावा सैव कायः = शरीरं येषां ते पृथिवीकायास्त एव पृथिवीकायिकाः ('विनयादित्वात्स्वार्थे ठक्, तस्येकादेशः' एवमग्रेऽपीयं प्रक्रिया ज्ञेया)। आपः = द्रवलक्षणास्ता एव कायो येषां तेऽप्कायास्त एवाप्कायिकाः। तेजः = उष्णलक्षणं तदेव कायो येषां ते तेजस्कायिकाः। वायुः = चलनस्वभावः स एव कायो येषां ते वायुकायिकाः। वनस्पतिकायिकाः = वनस्पतिः = लतातरुगुल्मादिलक्षणः कायो येषां ते तथोक्ताः। त्रस्यति शीतातपादिजनितपोडया उद्भिजते इति त्रसः, त्रसनस्वभावः कायो येषां तथोक्ताः।

अथ प्रत्येकं सचित्ततां दर्शयन्नाह—

पृथिवीकायः ।

पृथिवी, चित्त=चेतनाऽस्त्यस्या इति चित्तवती=सात्मिका आख्याता=केवलज्ञाना-
ऽऽलोकावलोकिताखिललोकालोकलक्षणेन भगवता कथिता ।

ननु पृथिव्याः कथं सचेतनत्वमिति चेदाकर्णय—(१) पृथिवी सचेतना खानितख-
निभूम्यादिषु तत्सजातीयावयवान्तरद्वारा परिपूर्तिदर्शनात् मनुष्यादिशरीरवत्, तद्यथा—मनु-
ष्यशरीरस्थं व्रणादिकं स्वयं भ्रियते, एवमेव खानित खनिभूम्यादिकं स्वसमानजातीयाव-
यवैर्भ्रियमाणं प्राक्समानरूपतां भजते तस्माद् गम्यते पृथिव्याः सचेतनत्वम् ।

(२) यद्वा—पृथिवी सजीवा दैनिकवर्षणोपचयसंदर्शनात् चरणतलवत्, तद्यथा चरण-
तलं घृष्यते पुष्यति च तद्वत् पृथिव्यपि प्रत्यहं घृष्यते उपचीयते च तस्मात्तस्याः सजी-
वत्वम् । अथवा—

अब एक-एकको सचित्तता दिखलाते है—

पृथ्वीकाय

केवल-ज्ञानरूपी आलोकसे समस्त लोक और अलोकको प्रत्यक्ष जाननेवाले भगवानने
पृथिवीको सचेतन कहा है ।

प्रश्न—पृथिवी सचेतन कैसे है ?

उत्तर—(१) पृथिवी सचेतन है, क्यो कि उसमें खोदी हुई खान आदिकी भूमि सजातीय
अवयवोसे स्वयमेव भर जाती है, । जो सजातीय अवयवोसे स्वयं भर जाता है वह सचेतन होता
है, जैसा मनुष्यका शरीर । अर्थात् मनुष्यके शरीरमे घाव हो जाता है वह उसी तरहके अवयवो
से स्वयं भर जाता है, उसी प्रकार खोदी हुई खान आदिका भूमि उसी प्रकारके अवयवो से भर
जाती है और पहलेके समान हो जाता है इसलिए पृथिवी सचेतन है

[२] यद्वा—पृथिवी सचेतक हैं, क्योकि उसमें प्रतिदिन वर्षण और उपचय देखा जाता
है जैसे पैरका तलवा । अर्थात् जैसे तलवा घिसकर फिर भर जाता है वैसे ही पृथिवी भी
घिस कर भर जाती है इसलिए वह सजीव है । अथवा—

‘ पृथिवीकाय ’

केवल-ज्ञान-रूपी प्रकाशधी अधा लोक अने अलोकने प्रत्यक्ष ज्ञानुवावाणा भगवाने
पृथिवीने सचेतन कही छे

प्रश्न-पृथिवी सचेतन केवी रीते छे ?

उत्तर-(१) पृथिवी सचेतन छे, कारण के तेमा जोहोदी जाणु आदिनी भूमि सजातीय
अवयवोधी पोतानी भेणे भरार्थ जाय छे, जे सजातीय अवयवोधी स्वयमेव भरार्थ जाय छे
ते सचेतन होय छे, केमके मनुष्यनु शरीर अर्थात् मनुष्यका शरीरमा घा पडे छे ते केवी
रीतना अवयवोधी पोतानी भेणे भरार्थ जाय छे, जे जे रीते जोहोदी जाणु आदिनी भूमि जे
प्रकारना अवयवोधी भरार्थ जाय छे अने पहिलानी केवी जनी जाय छे, तेथी पृथिवी सचेतन छे.

(२) पृथिवी सचेतन छे, कारण के तेमा प्रतिदिन वर्षण अने उपचय जेवामा आवे
छे, जेमके पगनु तणीउ अर्थात् जेम पगनु तणीउ घसाधने पाणु भरार्थ जाय छे, तेम

(૩) વિદ્રુમપાષાણાદિરૂપા પૃથિવી સચેતના કાઠિન્યે સત્યપિ વૃદ્ધ્યાદિદર્શનાત્ શરી-
રસ્થિતાઽસ્થ્યાદિવત્, તદ્વથા—શરીરસ્થિતમસ્થ્યાદિકં કમઠપૃષ્ઠકઠિનં સદપિ ચિત્તવદનુભૂ-
યમાનમુપચયં ચ ગચ્છત્ સંદૃશ્યતે । એવં વિદ્રુમશિલાઘાત્મિકાયાઃ પૃથિવ્યાઃ કાઠિન્યે
સત્યપિ વૃદ્ધ્યાદિકં પ્રત્યક્ષં દૃશ્યતે તસ્માત્તસ્યાઃ સચેતનત્વમ્ । અથ ચ—

(૪) વિદ્રુમાઘાત્મિકાપૃથિવી સચિત્તા, છેદ્વાદોં તત્સજાતીયધાતુત્પત્તિદર્શનાત્ અર્શો-
ઽહુરવત્, તદ્વથા=અર્શસોઽહુરે છિન્નેઽપિ પુનસ્તત્સમાન એવાહુરઃ પ્રાદુર્ભવતિ, એવં
વિદ્રુમશિલાઘાત્મિકાયાઃ પૃથિવ્યાઃ સ્વન્યાદોં છેદેઽપિ તત્સજાતીયધાતુભિસ્તદ્રિક્તભાગઃ
પરિપૂર્યતે, તસ્માત્સિદ્ધં પૃથિવ્યાઃ સચિત્તત્વમ્ ।

અનેકજીવા=અનેકે = વહવો જીવાઃ = એકેન્દ્રિયા યસ્યાં સા તથોક્તા । પૃથક્સ-
ત્વા = પૃથક્-પૃથગ્ભૂતાઃ = અહુલાસંખ્યેયભાગભાગાવગાહનામાશ્રિત્યાઽનેકે વિમિત્તરૂપેણ

[૩] વિદ્રુમ [મૂંગા] પાષાણ આદિ-રૂપ પ્રથિવી સચેતન હૈ ક્યોંકિ કઠિન હોને પર મી ઉસમેં
વૃદ્ધિ દેસ્ત્રી જાતી હૈ જૈસે શરીર કી હડ્ડી આદિ । અર્થાત્ જૈસે શરીર કી હડ્ડી આદિ કહુએકી પીઠ
કી મોંતિ કઠોર હોને પર મી સચેતન હૈ ઓર વઢતી હૈ ઉસી પ્રકાર વિદ્રુમ શિલા આદિ-રૂપ
પૃથિવીમેં કઠિનતા હોનેપર મી વૃદ્ધિ આદિ ગુણ પ્રત્યક્ષસે હૈ ઇસસે સિદ્ધ હૈ કિ પ્રથિવી સચેતન હૈ ।
અથવા—

[૪] વિદ્રુમ આદિ રૂપ પ્રથિવી સચિત્ત હૈ ક્યોંકિ ઉસે કાટ દેને પર મી સજાતીય ઘાતુકી
ઉત્પત્તિ દેસ્ત્રી જાતી હૈ, જસે શરીર મે મસા । અર્થાત્ જૈસે મસાકો ઉપરસે કાટ ઢાલને પર મી ફિર
ઉસી કે સમાન અવયવ ઝગ આતે હૈ, વૈસેહી—વિદ્રુમ ઓર શિલા આદિકો સ્થાનમેં કાટ દેને પર
મી સજાતીય સ્કન્ધોસે કટા હુઆ ભાગ ફિર મર જાતા, અત પ્રથિવાકી સચેતનતા સિદ્ધ હૈ ।

વહ પ્રથિવી અનેક જીવવાલો હૈ ઓર વે સ્પર્શનેન્દ્રિયવાલે પ્રથિવીકાયકે જીવ અગુલકે

પૃથિવી પણ ઘસાઈ ને ભરાઈ જાય છે, તેથી પૃથિવી સજીવ છે અથવા—

(૩) વિદ્રુમ (મૂંગા) પથર આદિ-રૂપ પૃથિવી સચેતન છે, કારણ કે કઠિન હોવા છતાં
તેમા વૃદ્ધિ જોવામા આવે છે, જેમકે શરીરના હાડકા વગેરે, અર્થાત્ જેમ શરીરના હાડકાં
વગેરે કાચખાની પીઠની જેમ કઠોર હોવા છતાં સચેતન છે અને વધે છે, તેવી રીતે વિદ્રુમ,
શિલા આદિ-રૂપ પૃથિવીમાં કઠિનતા હોવા છતાં તેમા વૃદ્ધિ આદિ ગુણ પ્રત્યક્ષ છે. એથી
સિદ્ધ થાય છે કે પૃથિવી સચેતન છે. અથવા—

(૪) વિદ્રુમ આદિ રૂપ પૃથિવી સચિત્ત છે કારણ કે તેને કાપી નાખવા છતાં પણ
સજાતીય ઘાતુની ઉત્પત્તિ જોવામા આવે છે, જેમકે શરીરમાં મસા, અર્થાત્ જેમકે મસાને
ઉપરથી કાપી નાખ્યા છતાં પણ તેના સમાન અવયવો જગી આવે છે, તેમ જ વિદ્રુમ અને
શિલા આદિને ખાણમાં કાપી નાખ્યા છતાં સજાતીય સ્કન્ધોથી કાપેલો ભાગ પાછો ભરાઈ
જાય છે તેથી પૃથિવીની સચેતનતા સિદ્ધ થાય છે.

એ પૃથિવી અનેક-જીવ-વાળી છે, અને એ સ્પર્શનેન્દ્રિય-વાળા પૃથિવીકાયતા જીવો

स्थितः सत्त्वाः = स्पर्शनेन्द्रियवन्तो जीवा यस्यां सा तथोक्ता 'आख्याता' इति पूर्वोक्तेना-
न्वयः, भगवता प्ररूपितेति तदर्थः ।

ननु तर्ह्युक्तस्वरूपायां जीवपिण्डभूतायां पृथिव्यां गमनागमनादिक्रियां लुप्ततां संय-
मिनामहिंसाव्रतस्य संरक्षणं कथं भवति ? प्रत्युताऽवश्यकरणीयोच्चारप्रस्रवणादिक्रियया
हिंसैव भवत्यतोऽहिंसाव्रतपालनं वन्द्यामुत्पालनवदसम्भवमित्यत आह—'अन्यत्र' ति,
शस्त्रपरिणताया अन्यत्र=शस्त्रपरिणतां पृथिवीं वर्जयित्वाऽन्या पृथिवी सजीवेत्यर्थः, गरय-
ते = हिंस्यते प्राणिगणोऽनेनेति शस्त्रं, तद् द्विविधं—द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यशस्त्रं—स्व-
परोमयकायलक्षणम्, भावशस्त्रं पृथिवीं प्रति दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायात्मन्, एवमेवान्येषां
तत्तत्कायानामपि भावशस्त्रं बोद्धव्यम् । स्वकायशस्त्रं पृथिव्याः स्वेतरवर्णगन्धादिनती

असह्यातवे—भाग—प्रमाण अवगाहनाको आश्रय करके भिन्न—भिन्न स्वरूप से स्थित है, ऐसा
भगवाने कहा है ।

शिष्य गुरसे पूछता है—हे गुरु महाराज ! जबकि पृथिवी जीवोंके पिण्डरूप है तो उस
पर अहसात की रक्षा कैसे होगी ? उच्चार-प्रस्रवण आदि क्रियाएं अनिवार्य हैं और इन
इन क्रियाओं के करने से हिंसा अनिवार्य है, इसलिए अहिंसाव्रत का पालन ऐसा ही असंभव
है जैसा वन्द्या के पुत्र का पालन करना ।

उत्तर— हे शिष्य ! शस्त्रपरिणत पृथिवी के सिवाय अन्य समस्त पृथिवी सचित्त है जिससे
प्राणियों की हिंसा होती है उसे शस्त्र कहते हैं ।

शस्त्र दो प्रकार का है—(१) द्रव्य-शस्त्र और भाव शस्त्र । उनमें से स्व-काय, परकाय और
उभय-काय को द्रव्य-शस्त्र कहते हैं । पृथिवी के विषय में मन-वचन-काय की दृष्परिणति
करना भाव-शस्त्र है । इसी प्रकार अन्य सब काय के जीवों के भाव-शस्त्र समझ लेने चाहिये ।
अपने से भिन्न वर्णगन्धवाली पृथिवी ही पृथिवी का स्वकाय-शस्त्र है, जैसे पोली मिट्टी का शस्त्र

आगणना असंग्रहात्मा लाग प्रमाणुनी अवगाहनानो आश्रय करीने भिन्न भिन्न स्वरूपे
स्थित छे, जेवु भगवाने कहुं छे.

शिष्य गुरने पूछे छे—हे गुरु महाराज ! जे पृथिवी, जेवोनां पिण्ड-रूप छे तो तेनी
उपर गमनागमन आदि क्रियाओ करनार सयभीओना अहिंसाव्रतनी रक्षा केम थरो ?
उच्चार, प्रस्रवण आदि क्रियाओ अनिवार्य छे, तेथी अहिंसा-व्रतनुं पालन जेवुं असं-
भवित छे के जेवुं वन्द्याना पुत्रनुं पालन करवुं असंभवित छे

उत्तर—हे शिष्य ! शस्त्रपरिणत पृथिवी सिवायनी अधी पृथिवी सचित्त छे. जे वडे
प्राणीओनी हिंसा थाय छे, तेने शस्त्र कहे छे.

शस्त्र जे प्रकारनां छे. (१) द्रव्य-शस्त्र (२) भाव-शस्त्र जेभा स्वकाय, परकाय अने
उभयकायने द्रव्य-शस्त्र कहे छे, पृथिवीना विषयमां मन वचन कायाथी दुष्परिणति करवी
जे भावशस्त्र छे जेवु रीने अधी कायाना जेवोनां भावशस्त्र समजु देवा पोताथी

पृथिव्येत्र, यथा पीतमृत्तिकायाः कृष्णमृत्तिका शस्त्रमित्यादि, परकायशस्त्र-जलाग्निगोम-
यचरणसंमर्दनादि । उभयकायशस्त्रं-जलादिमिश्रमृत्तिका । एवं च शस्त्रपरिणतायाः पृथि-
व्या अचित्ततया न तत्रोच्चार-प्रस्रवणादिक्रियासम्पादने काऽपि क्षतिर्मुनीनां संयमपालने
इति सिद्धम् ।

अपकायः ।

आपः = भौमाऽऽन्तरिक्षोभयलक्षणाः, चित्तवत्यः = सचेतनाः, आख्याताः = भग-
वताऽभिहिताः, तथाहि-भूमिगता आपः सचेतनाः खातभूमिसजातीयस्वभावसम्भवात्
मण्डूकवत् । आन्तरिक्षयोऽप्यापः सचेतनः मेघादिविकृतौ स्वाभाविकसम्भूयसंपतनशील-
त्वान्मीनवत् । यद्वा-आपः सचेतनाः, ग्रीष्महेमन्तः स्वाभाविकशैत्यौष्ण्यवाप्पाद्युपलम्भा-

काली मिट्टी है । जल, अग्नि गोबर तथा पैरो से रोदना आदि परकाय गल्ल है । जल आदि से
मिली हुई मिट्टी उभयकाय शस्त्र है ।

इस प्रकार शस्त्र परिणत पृथिवी अचित है, अतः उस पर आहार-विहार आदि क्रियाएं
करने से मुनियों के अहिसात्रत पालने में कुछ भी क्षति नहीं होती ।

अपूकाय

पार्थिव और आकाशीय दोनो प्रकार के जलो को भी भगवान ने सचित कहा है ।

(१) भूमि में रहा हुआ जल सचेतन है, क्योंकि खोदी हुई भूमिमें सजातीय-स्वभाववाला
जल उत्पन्न होता है, जैसे मेंढक । भूमि को खोदने से जैसे मेंढक निकलता है और वह सचेतन
होता है, उसी प्रकार पानी निकलता है अतएव वह भी सचेतन है आकाश का भी जल सचेतन
है । क्योंकि मेघादि-विकार होने पर स्वयं ही गिरने लगता है-जैसे मछली । अथवा-

(२) जल सजीव है क्योंकि उसमें ग्रीष्म और हेमन्त ऋतु में स्वाभाविक शीतता उष्णता

सिन्न वष्णु-ग घ-वणी पृथिवीञ् पृथिवीञ् स्वकाय-शस्त्र छे, जेम पीणी माटीनुं शस्त्र
काणी माटी छे जण, अग्नि, छाणु तथा पग वडे पु ह्वुं वगेरे परकाय-शस्त्र छे. जण
आदिथी भणेदी माटी अे उलयकाय शस्त्र छे.

अे रीते शस्त्रपरिणत पृथिवी अचित्त छे, तेथी अेनी उपर आहार विहार आदि क्रिया
अे करवाथी मुनिअेना अहि सा मत्तना पालनमा कछ पणु क्षति आवती नथी.

अपूकाय

पार्थिव अने आकाशीय अेउ प्रकारना जणने पणु 'लगवाने सचित्त कलु छे

(१) भूमिमा अडेलु जण सचेतन छे कारणके जोहेदी जमीनमा सजातीय स्वाभा-
ववाणु जण उत्पन्न थाय छे जेमके देउके भूमिने जोहवाथी जेम देउके नीकणे छे अने
ते सचेतन होय छे, तेम पाणु पणु नीकणे छे तेथी ते पणु सचेतन छे. आकाशनु जण
पणु सचेतन छे, कारण के मेघादि-विकार थवाथी स्वय पडवा लागे छे, जेमके माछवी
अथवा—

न्मनुष्यशरीरवत्, तद्यथा—भूमिगृहस्थितनरस्य शरीरं ग्रीष्मे शीतलं हेमन्ते चोष्णं भवति, मुखाच्च वाष्पमुद्गच्छति, एवमेव गभीरतरतडागकूपादिस्थसलिलं हेमन्ते सवाष्पोद्गमाशु-
ष्णतां, ग्रीष्मे च शीतलतां धत्ते । अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः आख्याता इत्यनेनान्वयः,
व्याख्या चैषां पदानां प्रवद्वोध्या ।

नन्वेवमपां जीवपिण्डभूततयाऽद्भिर्विना संयमिनां संयमयात्रा अमंभवन्निर्वाहा स्या-
दित्यत आह—शस्त्रेत्यादि, शस्त्रपरिणताभ्योऽन्यत्र=शस्त्रपरिणता अपो विहायान्या आप स-
चित्ता इत्यर्थः । शस्त्रं—द्रव्यभावभेदाद्द्विविधं, द्रव्यशस्त्रं—स्वकायपरकायो मयकायस्वरू-
पं, भावशस्त्रम्—अपः प्रति मनोवाक्कायानां दुष्प्रणिहितत्वम् । तत्र स्वकायशस्त्रं—तडागाद्युद-
कस्य कूपाद्युदकम् एवंविधशस्त्रपरिणत जलं व्यवहारतोऽशुद्धत्वाद्भगवदनादिघृत्वाच्च सर्वथै-

और भाफ आदि देखे जाते हैं जिसमें ग्रीष्मादि ऋतुओमें शीतता आदि पाये जातेहैं वह सजीव होते हैं, जैसे मनुष्य का शरीर । जैसे भोयरे में स्थित मनुष्य का शरीर ग्रीष्म—ऋतुमें शीत और हेमन्त-ऋतु में उष्ण होता है, तथा हेमन्त ऋतु में मुह से भाफ निकलनी है, वैसेही खूब गहरे तालाब या कूपका जल भी हेमन्त में भाफ वाला और उष्ण होता है तथा ग्रीष्म में शीतल होता है ।

अनेक जीव और पृथक्सत्त्व आदि पदोका व्याख्यान पहले कहे हुए पृथिवीकाय के आलापक के समान समझना चाहिए ।

हे गुरो ! जल के बिना संयमियो का निर्वाह नहीं हो सकता और वह जीवो का पिण्ड है, इसलिए उसको पीने आदिके काम में लानेसे संयम की रक्षा नहीं हो सकती । ऐसी आशङ्का होने पर गुरु करते हैं— हे शिष्य ! शस्त्रपरिणत जल के सिवाय अन्य जल सजीव है । यहाँ पर भी शस्त्र, द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है । उसका कथन पहले किया जा चुका है । यह विशेष समझना चाहिये कि तालाब आदि के जल का कूप आदि का जल स्वकायशस्त्र है ।

(२) ऋण सञ्चल्ये । कारणे के तेमा ग्रीष्म अने हेमन्त ऋतुमा स्वाभाविक शीतता उष्णता अने आर्द्र आदि लोवामां आवे छे जेमां ग्रीष्मादि ऋतुओमां शीतलता आदि ऋणसञ्चल्ये आवे छे ते सञ्चल्ये डोय छे, जेमके माणुसनुं शरीर. जेम लोयरांमां रडेला माणु-
सनुं शरीर ग्रीष्म-ऋतुमा शीतल अने हेमन्त-ऋतुमां गरम डोय छे, तथा हेमन्त-ऋतुमां रडेलांमांशी आर्द्र (वराण) नीकणे छे, जेज रीते पूण उँडा ताजाव कुवानुं ऋण पणु हेमन्त ऋतुमां आर्द्रवाणु अने उष्णु डोय छे तथा ग्रीष्ममा शीतल डोय छे,

अनेक ऋण तथा पृथक्सत्त्व आदि शब्दोनु व्याख्यान पडेलां कडेला पृथिवीकायना आ-
लापकनी जेम समञ्जु

हे गुरु ! ऋण बिना संयमिओनो निर्वाह थर्ष शक्तो नथी अने जे लोवोनेो पिठ छे तेथी तेने पीवा आदिना काममां लेवाथी संयमनी रक्षा नडि थर्ष शके. जेवी आशङ्का थतां गुरु कडे छे हे शिष्य ! शस्त्र-परिणत ऋण सिवायनुं अन्य ऋण सञ्चल्ये छे. जेमां पणु शस्त्र, द्रव्य अने भावना लेहे करीने जे प्रकारना छे. जेतुं कथन पडेलां करवांमां आण्यु

वाग्राह्यम् । परकायशस्त्रं-द्राक्षा-शाक-तण्डुल पिष्ट-दाली-चण इति । अपां शस्त्रपरिणतत्वं च वर्णादीनां पूर्ववत्थावैलक्षण्यरूपम् । तत्र-वर्णतो धूसरत्वादिरूपम्, गन्धतरतत्तद्वस्तुसम्बन्धिब्रह्मणो रसतस्ति क-कटुकपायत्वादिरूपम्, स्पर्शतः स्निग्धरूक्षत्वादिरूपम् इत्यमुक्तप्रकारं द्राक्षादिवादाजलं प्रागुक्तत्वान्मुनिग्राह्यम् । उपलक्षणमेतद्ग्निसस्त्रपरिणतस्योदकरयापि । भस्ममिश्रजलग्राह्यं, तत्र मिश्रशङ्कायाः सद्भावात्, शास्त्रे कचिदप्यप्रतिपादितत्वाच्च । उभयकायशस्त्रं मृत्तिका मिश्रजलम् । भावशस्त्रमुक्तस्वरूपमेवेति ।

तेजस्कायः ।

तेजश्चित्तवत्=सचेतनम् आख्यातम्=उक्तम्, तथाहि-

तेजश्चेतनावत् इन्धनाद्याहारोपादानानाभ्याम् तद्वृद्धिमान्योपलम्भात्, मनुष्या-

इस प्रकार का शस्त्रपरिणत जल व्यवहार से अशुद्ध होने के कारण ग्राह्य नहीं है तथा ऐसे जल के लने में भगवान की आज्ञा भी नहीं है ।

दाख, शाक, चावल, आटा, आदि परकायशस्त्र है । जल में पहले जैसा वर्ण गन्ध आदि या उसका बदल जाना शस्त्रपरिणत होना कहलाता है ।

जैसे-धूमर वर्ण हो जाना, वस्तु उसमें डाली गई हो उसकी गन्ध आने लगना, तीखा, कड़ुवा, कपायला आदि रस हो जाना, स्निग्ध या रूक्ष आदि स्पर्श हो जाना । इस प्रकार यह दाख, शाक, चावल, आटा, दाल, वेसम आदि का घोवन प्रासुक होने से मुनि के लिए ग्राह्य है । यह तो उपलक्षण है, इससे यह भी समझना चाहिये कि अग्निशस्त्रपरिणत अर्थात् उष्ण जल भी मुनि को ग्राह्य है । राख का पानी ग्राह्य नहीं है क्योंकि उसमें मिश्र की शङ्का रहती है । मृत्तिका आदि से मिला हुआ जल उभयकाय शस्त्र है । भावशस्त्र पहले कह चुके हैं ।

(तेजस्काय)

तेजस्काय को भी भगवान ने सचेतन कहा है, यही कहते हैं तेजस्काय सजीव है, क्योंकि

तेजस्काय इत्युक्तं सभज्जुं के तणाव आदिना जणतुं कूपादितुं जण ये स्वकाय शस्त्रं छे ये प्रकारतुं शस्त्र-परिणतं जण व्यवहारथी अशुद्ध होवाना कारणे ग्राह्यं नथी तथा अणुं जण देवानां लगवानां आज्ञा पणुं नथी ।

द्राक्ष, शाक, योषा, आटो इत्यादि परकाय शस्त्रं छे । जणमां पडेला जेवा वणुं गध आदि हुता नेतुं अहलाथं जणुं ये शस्त्रपरिणतं थणुं कडेवाय छे ।

जेमके-धु धणा वणुं तुं थं जणुं, वस्तु तेमा नाथवामां आवी होय तेनी गध आववा लागवी तीणो कडेवा कमायतो आदि रस थं जणुं, स्निग्ध या रूक्ष आदि स्पर्श थं जणुं ये प्रभरे ये द्राक्ष, शाक, योषा, आटो, दाल, वेसलु आदितुं धोवणुं प्रासुक होवाथी मुनिने माटे ग्राह्य छे आतो उपलक्षणुं छे, जेथी जेम पणुं सभज्जुं जेमके-अग्निशस्त्र-परिणतं अर्थात् उष्ण जल पणुं मुनिने ग्राह्य छे राखतुं पाणी ग्राह्यं नथी, कारणे के जेममां मिश्रनी शङ्का कडे जे, माटी आदिथी सणुं जण उलयकाय शस्त्रं छे (२) भावशस्त्र पडेलां कडे दीधु छे ।

दिशरीरवत् ।

अङ्गारादीनां प्रकाशनशक्तिर्यावदात्मसंयोगभाविनी देहस्थत्वात् खद्योतशरीरपरिणामवत्

अङ्गारादीनां तापोऽपि आत्मसंयोगसद्भावहेतुकः , शरीरस्थत्वात् ज्वरतापवत् , न हि कचिदपि विरहितात्मानो ज्वरतापोष्णमात्राः संश्रूयन्ते न वोपलभ्यन्ते, एवमेव निस्तेजस्काङ्गारादितोऽणुमात्रोऽपि तापो न जन्यते, तस्माद् यावदात्मसंयोगभाव्येवाङ्गारादी-

इन्धन आदि आहार देने से उसको वृद्धि और न देनेसे हानि (मन्दता) होती है, जैसे मनुष्य का शरीर । अर्थात् मनुष्य का शरीर आहार देने से बढ़ता और न देने से घटता है, अतः वह सचेतन है । इम प्रकार तेजस्काय भी ईंधन देने से बढ़ती और न देने से घटती है, अतः वह भी सचेतन है ।

अंगार आदि की प्रकाशन शक्ति जीव के संयोग से ही उत्पन्न होती है क्योंकि वह देहस्थ है जो जो देहस्थ प्रकाश होता है वह वह आत्मा के संयोग के ही निमित्त से होता है, जैसे जुगुनू के शरीरका प्रकाश । जुगुनू के शरीर में प्रकाश तब तक ही रहता है जब तक उसके साथ आत्माका संयोग रहता है ।

इसी प्रकार अंगार आदि का प्रकाश भी तब तक ही रहता है जबतक उसमें आत्मा रहती है ।

अंगार आदिका ताप भी आत्मा के संयोगके ही कारण है क्योंकि वह शरीरस्थ है, जितने शरीरस्थ ताप होते हैं वे सब आत्मा के निमित्तसे ही होते हैं, जैसे ज्वरके ताप । आत्मा रहित शरीर (शव—मुर्दा) में कभी ज्वरका ताप नहीं सुना जाता न उपलब्ध होता है । इसी प्रकार निस्तेजस अंगारमें अणुमात्र भी ताप नहीं होता, अतएव सिद्ध है कि अंगार आदिमें

(तेजस्काय)

तेजस्कायने पणु लगवाने सचेतन कहेल छे, जे हुवे कहे छे,—

तेजस्काय सञ्जव छे कारणु के लाकडां (धंधणु) आदि आहार आपवाथी तेनी वृद्धि अने न आपवाथी हानि (मन्दता) थाय छे, जेभके मनुष्यनु शरीर अर्थात्—मनुष्यनु शरीर आहार आपवाथी वधे छे अने न आपवाथी घटे छे, तेथी ते सचेतन छे, जेरीते तेजस्काय पणु धंधणु आपवाथी वधे छे अने न आपवाथी घटे छे तेथी ते सचेतन छे, अंगारा आदिनी प्रकाशन-शक्ति लुपना संयोगथी न उत्पन्न थाय छे कारणु के जे देहस्थ छे, जे जे देहस्थ प्रकाश होय छे ते ते आत्माना संयोगना न निमित्तथी होय छे, जेभके आगीयाना शरीरना प्रकाश आगीयाना शरीरमा प्रकाश त्यासुधी न रहे छे के जया सुधी तेनी साथे आत्माना संयोग रहे छे जेरीते अंगारा आदिना प्रकाश पणु त्यां सुधी न रहे छे के कया सुधी तेमा सचेतन रहे छे

अंगारा आदिना ताप पणु आत्माना संयोगना न कारणु छे, जेभके ते शरीरस्थ छे जेटला—शरीरस्थ ताप होय छे ते जथा आत्माना निमित्तथी न होय छे, जेभके ज्वरना ताप आत्मा रहित शरीर (मउहु) मा कदि ज्वरना ताप सांख्यनामा आवता नथी के

नां तापजनकत्वमतः सिद्धं तेजसः सचेतनत्वम् अनेकजीवं, पृथक्सत्वम् ' इति प्राग्वत्, 'आख्यात' मित्यनेनान्वयः, 'शस्त्रपरिणतादन्यत्र' इति च पूर्ववत् । शस्त्रस्वरूपमाह, तत्र सकायशस्त्र-करीपाग्नेस्तृणाग्निः, एवंविधशस्त्रपरिणतोऽप्यग्निः सर्वथैवाग्राह्यो व्यवहारतोऽशुद्धत्वात् । परकायशस्त्रं जलमृत्तिकादि । उभयकायशस्त्रमुष्णोदकादि । भावशस्त्रमग््निकायं प्रति मनसोदुष्प्रणिधानम् ।

शस्त्रपरिणताचित्ताग््निकायमाह-उष्णमन्नं-कृशरोदनादि, उष्णपानकं शाकौदनादीनामवसावणादि (ओसामण इति भाषा), तप्तेष्टका सिकतादि च, एतेष्वग्निसंयोगनिष्पाद्यत्वादचित्ताग््निकायशब्दो व्यपदिश्यते, क्षुधाद्युपशमनार्थं ग्राह्योऽसौ ।

वायुकायः ।

वायुश्चित्तवानाख्यातः । कथमस्य सचेतनत्वमिति चेत्तत्प्रमाणाद् गृहाण, तथाहि-वायुश्चेत्तानवान् अनन्यप्रेरिताऽनियततिर्यग्गमनत्वात्, हरिणगवयादिवत्, स च 'अनेक-

तापजनन शक्ति जव-तक आत्मा रहतो है तब तक होता है, इसलिए तेजस्काय सचेतन है । अनेकजीव और पृथक्सत्व' आदि पदोंकी व्याख्या पहलेकी भाँति है ।

यह भी समझ लेना चाहिये कि वही तेजस्काय सचित्त है जो शस्त्र-परिणत न हो । तेजस्कायके शस्त्र ये हैं-जैसे छाणाकी अग्निका शस्त्र तृणकी अग्नि हैं । इस प्रकार की शस्त्रपरिणत अग्नि ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह व्यवहार से अशुद्ध है । तथा इसके ग्रहण करने में भगवान की आज्ञा भी नहीं है । जल मृत्तिका आदि परकाय शस्त्र है । उष्णजल उभयकाय शस्त्र है ।

खिचड़ी, भात आदि उष्ण अन्न, गाकका ओसामण और चावलो का मण्ड आदि उष्ण पान, तपी हुई ईट, बालू आदि शस्त्र-परिणत अचित्त अग््निकाय कहलाते हैं । ये सब अग्नि के संयोग से निष्पन्न होते हैं इसलिए इनमें अचित्त अग््निकाय शब्द की प्रवृत्ति होती है ।

नथी नेवामां आवतो, ये रीते निस्तेजस अगाराभा आणुमात्र पणु ताप डोतो नथी. तेथी सिद्ध थाय छे के अगारा आदिमा न्यासुधी आत्मा डोय छे त्यांसुधी न ताप-जनन शक्ति रहे छे तेथी तेजस्काय सचेतन छे 'अनेक-शुव अने पृथक्-सत्व' आदि शब्दोनी व्याख्या पडेवानी नेम छे.

ये पणु समणु देवु' नेधये के अज तेजस्काय अचित्त छे के ने शस्त्रपरिणत न डोय तेजस्कायना शस्त्र आ छे:-नेम छाणुना अग्निन्न शस्त्र तरणुना अग्नि छे. ये प्रकारना शस्त्रपरिणत अग्नि ग्राह्य नथी, कारणु के ते व्यवहारथी अशुद्ध छे. वणी तेने अडणु करवानी भगवाननी आज्ञा पणु नथी नण, माटी वगेरे परकाय-शस्त्र छे उनु पाणी उलयकाय-शस्त्र छे.

खिचड़ी, भात आदि जनु अन्न शाकनु ओसामणु अने ओषानु ओसामणु, आदि जनु पान, तपेटी छट गरम रेती आदि शस्त्रपरिणत अचित्त अग््निकाय कडेवाय छे. ये अथां अग्निना संयोगथी निष्पन्न थाय छे. तेथी येमा अचित्त अग््निकाय शब्दनी प्रवृत्ति थाय छे. (३)

जीवः, पृथक्सत्त्वः आरूपातः, शस्त्रपरिणतादन्यत्र' इत्यादिकानां प्राग्ब्रह्म्या वो-
द्धव्या ।

शस्त्रं चास्य द्रव्य-भावभेदाद्विविधं तत्र द्रव्यशस्त्रं स्व पर-तदुभय-कायभेदात्त्रिविधम्
स्वकायशस्त्रं-पौरस्त्यादिवायोः पाश्चात्यादिवायुः । परकायशस्त्रमनलादि । उभकायशस्त्र-
मनलादिसंतप्तो वायुरेव । भावशस्त्रं तु वायु प्रति मनसो दुष्प्रवृत्तिः ।

वायुः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा, तत्र सचित्तो घनवातादिः, अचित्तो दृतिप्रभृ-
त्तिषु पूरिपः, सोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं यावदेकं यापमचेतनः, तदनु पूर्णद्वितीययामं यावन्मि-

(वायुकाय)

वायुकाय को भी भगवानने सचित्त कहा है । वायु कैसे सचित्त है सो कहते है वायु
सचेतन है । क्योंकि दूसरे की प्रेरणा के विना अनियत रूप से तिर्यक्गमन करने वाला है जैसे
हिरन या रोज (गवय) ।

अनेक जीव और पृथक्सत्त्व आदि व्याख्या पहले के समान समझनी चाहिए।

वायुकाय का शस्त्र द्रव्य-भाव-भेद से दो प्रकार का है, द्रव्यशस्त्र --स्वपर-उभयकाय के
भेद से तीन प्रकार का है । वहां स्वकाय-शस्त्र पूर्व आदि दिशा के वायुका पश्चिम आदि दिशाका
वायु, परकाय-शस्त्र अग्नि आदि है, उभयकाय-शस्त्र अग्नि आदि से तपा हुआ वायु ही है ।
वायु तीन प्रकार का है—

(१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) मिश्र । घनवात आदि सचित्त है, दृति या रबर को
थैली आदि में भरी हुई हवा अचित्त होती है, किन्तु अन्तर्मुहूर्त्त के बाद एक प्रहर तक अचित्त

(वायुकाय)

वायुकायने पणु भगवाने सचित्त कही छे वायु केवी रीते सचित्त छे ते कडे छेः—

वायु सचेतन छे कारण के भीजानी प्रेरणा विना अनियतरूपे तिर्यक् गमन करना छे
छे, जेवु के डरणु अथवा रोज (नीलगाय)

अनेक लव अने पृथक्सत्त्व आदिनी व्याख्या पडेलांनी पेठे समजवी.

वायुकायना शस्त्र द्रव्य-भावभेदे जे प्रकारना छे द्रव्यशस्त्र स्व-पर-उभयकायना लेहे
करी त्रणु प्रकारना छे, त्यां स्वकायशस्त्र-पूर्वादि दिशाना वायुना पश्चिम-आदि दिशाना
वायु, परकायशस्त्र अग्नि आदि छे, उभयकायशस्त्र अग्निआदिथी तपेदी वायु न छे भाव-
शस्त्र पडेलांनी जेभ समलु लेवु वायु त्रणु प्रकारना छे -

(१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) मिश्र घन-वात आदि वायु सचित्त छे. मसक या
रभारनी थैली आदिमा लरेदी हुवा अचित्त छे, परन्तु अंतर्मुहूर्त्तनी यथी ओक प्रहर

१ भगवतोसूत्रस्य द्वितीयशतके प्रथमोद्देशे वाय्वधिकारे—

“ से भंते ! किं पुहे उदाह अपुहे उदाह ? गो० ? पुहे उदाह नो अपुहे उदाह ?

छाया—‘स (वायु) भगवन् ? किं स्पृष्ट अपद्रवति (म्रियते) अस्पृष्ट अपद्रवति ?
नौतम ? स्पृष्टः अपद्रवति नो अस्पृष्टः अपद्रवति । अस्य टीका—‘स्पृष्ट स्वकायशस्त्रेण
परकायशस्त्रेण वा अपद्रवति म्रियते’-।

श्रः , तत्पश्चात्सचित्त एव, रोगाद्यवस्थायां वायोरावश्यकत्वे दृश्यदिपूरितोऽपि मिश्रत्वाद्-
ग्राह्य एव सचित्तवत् । (४)

वनस्पतिकायः ।

वनस्पतिश्चित्तवान् आख्यातः, व्याख्या तु पूर्ववत् । चैतन्यवन्वसिद्धिश्चेत्थम्-
वनस्पतिः सचेतनः, बाल्याद्यवस्थासन्दर्शनात्, छेदन-भेदनादिभिर्म्लानतादिदर्श-
नाच्च मनुष्यशरीरवत् । शेषं पूर्ववत् । शस्त्रं द्रव्यभावभेदाद्विविधं' तत्र द्रव्यशस्त्रं स्वपरोभ-
यकायात्मकम् । स्वकायशस्त्रं-यष्ट्यादि । परकायशस्त्रं पापाणाऽसिकर्तृर्यादि, उभयकायशस्त्र
-परशुदात्रादि । भावशस्त्रं तु तं प्रति मनोमालिन्यम् ॥ ४ ॥

रहती है, उसके बाद दूसरे पहर तक मिश्र अवस्था में रहती है बाद में सचित्त हो जाती है ।
रोग, आदि अवस्था में वायु की आवश्यकता होने पर दृति आदि में भरा हुआ अचित्त वायु
साधुओंको ग्राह्य है, किन्तु दूसरे प्रहर का मिश्र वायु, सचित्त वायु की तरह अग्राह्य है । (४)

(वनस्पतिकाय)

वनस्पतिकायको भी भगवान ने सचित्त कहा है । वनस्पति सचित्त है, क्योंकि उस में
बाल्यावस्था आदि, तथा छेदन भेदन आदि करने से म्लानता आदि सचेतनके गुण देखे जाते
है , जैसे मनुष्य का शरीर । अर्थात् बाल्य-तरुण आदि अवस्थाएं और छेदन-भेदन आदि
करने से म्लानता होने के कारण जैसे मनुष्य-शरीर सचेतन है वैसे ही वनस्पतिकाय भी सचेतन
है । 'अनेकजीव' आदि पदोका व्यख्यान पहले की भाँति जानना चाहिये ।

वनस्पति-काय के शस्त्र दो प्रकारके हैं-(१) द्रव्यशस्त्र और (२) भावशस्त्र । द्रव्य-शस्त्र
स्वकाय, परकाय और उभयकाय है, लकड़ी आदि स्वकाय शस्त्र है । लोह पत्थर आदि परकाय

सुधी अचित्त रहें छे, त्यारपछी भील प्रहर सुधी मिश्र अवस्थामा रहें छे. अने त्यारपछ
सचित्त भी लय छे रोगादि अवस्थामा वायुनी आवश्यकता पडतां मसक आदिनी अंहर
लरेलो अचित्त वायु साधुओने ग्राह्य छे, किन्तु भील प्रहरने मिश्रवायु सचित्तवायुनी
पेठे अग्राह्य छे (४)

(वनस्पतिकाय)

वनस्पतिकायने पणु लगवाने सचित्त कही छे.

वनस्पति सचित्त छे, कारण के तेमा, आद्यावस्था आदि तथा छेदन लेहन करवाथी
म्लानता आदि सचेतनना गुणु लेवामां आवे छे, जेमके मनुष्यनुं शरीर, अर्थात् आद्य-
तरुण आदि अवस्थाओ अने छेदन-लेहन आदि करवाथी म्लानता थवाने कारणे जेम मनु-
ष्यनुं शरीर सचेतन छे तेम वनस्पतिकाय पणु सचेतन छे 'अनेक-जिव' आदि शब्दोनुं
व्याख्यान पडेलानी पेठे लणुवु.

वनस्पतिकायना शस्त्र ओ प्रकारनां छे (१) द्रव्यशस्त्र अने (२) भावशस्त्र. द्रव्यशस्त्र,
स्वकाय, परकाय अने उभयकाय छे लकड़ी आदि स्वकायशस्त्र छे. लोह पत्थर आदि परकाय

सम्प्रति वनस्पतिमेव सविशेषं वर्णयति—‘तं जहा’ इत्यादि ।

मूलम्—तं जहा—अग्रबीया मूलबीया पोस्वीया, खंधवीया
बीयरुहां संमुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खा-
या अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥५॥

छाया—तद्यथा—अग्रबीजा मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः बीजरुहाः सम्मुच्छि-
मास्तृणलतावनस्पतिकायिकाः सवीजश्चित्तवन्त आख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वा-
अन्यत्र शस्त्रपरिणतेभ्य ॥ ५ ॥

यहां वनस्पतिकायका विशेष वर्णन करते हैं —

सान्वयार्थः—तं जहा=वह इस प्रकारसे है-अग्रबीया=जिनका बीज अग्रभागमें
होता है, मूलबीया=जिनका बीज मूलभाग में होता है, पोस्वीया=जिनका बीज पोस्
(सन्धि) में होता है, खंधवीया=जिनका बीज स्कन्ध (डाले) में होता है, बीयरुहा=
बीजसे उगनेवाले, संमुच्छिमा=विना बीजके उत्पन्न होनेवाले, तणलया= तृण और
लताएँ; ये सभी वणस्सइकाइया=वनस्पतिकायिक हैं सवीका=पूर्वोक्त अपने-अपने नाम-
प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुए बीजसहित सब वनस्पतिकाय चित्तमंतं=सचित्त अक्खाया=
कहे गये है, अन्नत्थ=सिवाय सत्थपरिणएणं=शस्त्रपरिणतके; ये वनस्पतिकाय अणेगजी-
वा=अनेक जीववाले और पुढोसत्ता=भिन्न-भिन्न सत्तावाले हैं ॥५॥

टीका—तथाहि अग्रजीवाः=अग्रे=अग्रभागे बीजं येषां ते तथा कोरुण्टकादयः । मूल-
बीजाः=मूलमेव बीजं येषां ते कमलकन्दप्रभृतयः । पर्वबीजाः=पर्वणि-ग्रन्थो पर्वेव बीजं-
येषां ते तथा इक्षुप्रमुखाः स्कन्धबीजाः=स्कन्धः-स्थुड स एव बीजं येषां ते तथा शल्ल-

शस्त्र है, परशु (फरसा) दात्र आदि उभयकाय शल्ल है । भावशल्ल उसके प्रति मनके परिणाम
दुष्ट करना ॥ ४ ॥

अब वनस्पतिकाय का विशेष वर्णन करते हैं—‘तं जहा’ इत्यादि ।

अग्रबीज—जिनके बीज अग्र-भाग में होते हैं ऐसे कोरुण्टक आदि अग्रबीज कहलाते हैं ।

मूलबीज—मूलही जिनका बीज हो वह, कमल का कन्द आदि मूलबीज है ।

पर्वबीज—पोस् (गाठ)में या पर्व ही जिनका बीज है ऐसे, गन्ना (साठा) आदि पर्वबीज
कहलाते हैं ।

यशस्त्र छे कोडाडो, दानरडु आदि उलयकाय शस्त्र छे. लावशस्त्र जेनी प्रति मनना परि-
णाम दुष्ट करवा ते (४)

डेवे वनस्पतिकायनुं विशेष वणुंन करे छे—तं जहा इत्यादि.

अग्रबीज—जेना बीज अग्रभागमां होय छे जेवा कोरुण्टक (डमरी गुल) आदि
अग्रबीज कडेवाय छे

मूलबीज—मूलज जेनुं बीज छे ते कमलनो कंद आदि मूलबीज छे,

કી મૃતયઃ । વીજરુહાઃ=વીજાદ્ રોહન્તિ = પ્રાદુર્ભવન્તીતિ તે તથા શાલિગોધ્રમાદયઃ । સમ્મૂર્ચ્છિમાઃ=સમ્મૂર્ચ્છન્તિ=વીજં વિનાપિ દગ્ધભૂમાવપિ સમુદ્ભવન્તીતિ તે તથોક્તાઃ પૃથિ-વીજલસંયોગમાત્રજનિતાસ્તૃણવિશેષા इत्यर्थः । આર્પત્વાત્સિદ્ધિઃ તથા તૃણલતાઃ=તૃણાનિ-લતાશ્ચેત્યર્થઃ । વનસ્પતિકાયાિકાઃ'=અવશિષ્ટાઃ સમસ્તવનસ્પતય इत्यर्थ । યદ્વા તૃણલતા-વનસ્પતિકાયાિકાઃ' इत्येक पदम् , તત્ર તૃણાનિ=દર્ભાદીનિ, લતા =ચમ્પકાઽગોકવાસન્ત્યા દયઃ, વનસ્પતિકાયાિકાઃ=વનસ્પતિકાયભેદા', -અગ્રવીજાદયઃ સર્વેઽપિ વનસ્પતિકાયાિકા એવ, પુનર્વનસ્પતિકાયાિકગ્રહણં સ્વગતસૂક્ષ્માદિસકલભેદરૂપાપનાર્થમ્ । સ્વવીજા =પૂર્વવિહિ-તસ્વસ્વનામગોત્રપ્રકૃત્યુદયાત્મકકારણવન્તઃ, અર્થાત્ પૂર્વોક્તા અગ્રવીજાદય સર્વેઽપિ ચિત્ત-વન્તઃ, इत्यादीनां व्याख्या पूर्ववत् ।

इति पञ्चस्थावरकायनिरूपणम् ॥ ५ ॥

સ્કન્ધવીજ--સ્કન્ધ (થુડ) હી જિસકા વીજ હૈ । ડસ ગલ્લકી આદિકો સ્કન્ધબોજ કહતે હૈ ।

વીજરુહ--ચાંવલ ગેહું આદિ વીજસે ડગનેવાલો વનસ્પતિ કો વીજરુહ કહતે હૈ ।

સમ્મૂર્ચ્છિમ=વિના વીજ કે જલી હુર્ડે મૂમિ મેં મી જો પૃથિવી ઓર જલ કે સયોગ સે ડગ જાવે ંસી ઘાસ આદિ કો સમ્મૂર્ચ્છિમ કહતે હૈ ।

“ તૃણલતા-તિનકા (ઘાસ) ઓર લતાં સવ વનસ્પતિકાયાિક હૈ અથવા “તૃણલતા-વનસ્પતિકાયાિકાઃ” યહ ંક હી પદ હૈ । દર્મ (રૂબ આદિ) તૃણ, ચમ્પક, અગોક ઓર વાસન્તી આદિ લતાં ઓર વનસ્પતિકાયકે ભેદ અગ્રવોજ આદિ સવ વનસ્પતિકાયાિક હૈ । સૂત્ર મે ઢૂસરી વાર ‘વનસ્પતિકાયાિક’ પદ કા ગ્રહણ ડસલિં કિયા હૈ કિ-ઊપર વતાયે હું ભેદોકે સિવાય શૂક્ષ્મ વાદર આદિ ઓર મી સમસ્ત ભેદોં કા ગ્રહણ હો જાવે । ંસે સવ પહલે ઢિસ્લાયે હું

પર્વખીજ--ગાઠે યા પર્વમા જેનું ખીજ છે એવી શેરડી આદિ પર્વખીજ કહેવાય છે.

સ્કન્ધખીજ--સ્કન્ધ-થડજ જેનું ખીજ છે એવા શલ્લકી આદિ ને સ્કન્ધખીજ કહે છે.

ખીજરૂહ--એખા ઘઉં આદિ ખીજથી ઉગનારી વનસ્પતિને ખીજરૂહ કહે છે.

સમ્મૂર્ચ્છિમ--ખીજ વિના ખળી ગએલી ભૂમિમા પણ જે પૃથ્વી અને જળના સંયોગથી ઉગે એવા ઘાસ આદિને સમ્મૂર્ચ્છિમ--કહે છે

તૃણલતા--તરણા (ઘાસ) અને લતા એ બધાં વનસ્પતિકાયાિક છે

અથવા તૃણલતાવનસ્પતિકાયાિકા એ એક જ પદ છે દર્મ (દાલડો) તૃણ, ચપક, અશોક, અને વાસતી આદિ લતાઓ અને વનસ્પતિકાયના ભેદ અથ્ર ખીજ આદિ બધા વનસ્પતિકાયાિક છે. સૂત્રમા ખીજ વાર ‘વનસ્પતિકાયાિક’ શબ્દનુ ગ્રહણ એટલા માટે કરવામાં આન્યું છે કે-ઉપર બતાવેલા ભેદો ઉપરાત સૂક્ષ્મ બાદર આદિ ખીજ પણ બધા ભેદોનું ગ્રહણ થઈ જવા પામે એ બધા પહેલાં બતાવેલા પોત-પોતાના નામ-ગોત્ર-રૂપ પ્રકૃતિનાં

साम्प्रतं क्रमप्राप्तं त्रसकायस्वरूपमाह—‘से जे०’ इत्यादि ।

मूलम्—से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तं जहा अंडया पोयया जरायुया रसया संसेइमा संमुच्छिमा उब्भिया उववाइया । जेसिं केसिचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तम्मियं पलाइयं, आगइगइविन्नाया जे य कीडपयंगा । जा य कुंथुपिपीलिया । सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया, सव्वे पंचिंदिया. सव्वे तिरिक्खजोणिया. सव्वे नेरइया. सव्वे मणुया. सव्वे देवा.सव्वे पाणा परमाहम्मिया एसा खलु छट्ठो जीवनिक्काओ तसकाउत्ति पवुच्चइ ॥ ६ ॥

छाया—अथ ये पुनरिमेऽनेके बहवस्तसाः प्राणिनस्तद्यथा—अण्डजा. पोतजा जरायुजा रसजाः संस्वेदजाः संमूर्च्छिमा उद्भिज्जा औपपातिकाः येषां केषाञ्चित्प्राणिनामभिक्रान्तं प्रतिक्रान्तं संकुचितं प्रसारितं रुतं भ्रान्तं त्रस्तं पलायितम् , आगतिगतिविज्ञातारः । ये च कीटपतङ्गाः । याश्च कुन्थुपिपीलिकाः । सर्वे द्वीन्द्रियाः, सर्वे त्रीन्द्रियाः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे तिर्यग्योनिकाः, सर्वे नैरयिकाः, सर्वे मनुजा सर्वे देवाः, सर्वे प्राणाः परमयर्माणः । एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते ॥६॥

(६) त्रसकायवर्णन

सान्त्वयार्थः—से=अथ पुण=और जे=जो इमे=ये (आगे कहे जाने वाले) अणेगे=अनेक प्रकारके बहवे=बहुतसे तसा=त्रस पाणा=प्राणी हैं, तं जहा=वे इस प्रकार हैं—(२) अंडया=अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले, (२) पोयया=विना जेर (जरायु-आंवल-जड) के अर्थात् विना ही कुछ मलभागके वस्त्रसे पूंछे हुएके समान उत्पन्न होनेवाले, (३) जराउया=जेरसे लिपट हुए उत्पन्न होनेवाले, (४) रसया=रसमें उत्पन्न होनेवाले, (५) संसेइमा=पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले, (६) संमुच्छिमा=संमूर्च्छिम, (७) उब्भिया=पृथ्वीको भेदकर उत्पन्न होनेवाले (शलपत्रादि), (८) उववाइया=उपपात जन्मवाले-देव और नारकी, जेसिं-केसिचि=इनमेंसे जिन किन्हीं पाणाणं=प्राणियोंका अभिक्कंतं=अभि-

अपने अपने नाम-गोत्र रूप प्रकृति के उदयरूप कारण वाले हे । अर्थान् पूर्वोक्त बीज आदि सब सचित्त होते है और पृथक्-पृथक् स्पर्शरूप एक इन्द्रियवाले है ॥ ५ ॥

यह पाच स्थावरकायका निरूपण समाप्त हुआ

उदय-रूप कारणवाला छे अर्थात् पूर्वोक्त बीज आदि अर्थात् सचित्त होय छे अने पृथक्-पृथक् स्पर्शरूप अेक इन्द्रियवाला छे (५)

इति पंच-स्थावर - कायानु निरूपण समाप्त.

मुख गमन होता है, पडिक्कंतं=प्रतिकूल गमन होता है, 'संकुचिय — शरीरमें संकोच-सिकुडन होता है पसारियं=शरीरमें फैलाव होता है, स्य=शब्द का प्रयोग होता है, भंतं=इधर-उधर भ्रमण होता है, तसियं=उद्योग होता है, पलाइयं=डरसे भागना देखा जाता है, (वे त्रस) आगइगइविन्नाया=आगमन और गमनको जाननेवाले, य=और जे=जो कीडपयंगा=कीड-कोडे और पयंगा-पतंगिये हे, य=और जा=जो कुंथुपिवीलिया=कुंथवा और चींटियाँ हैं, वे सव्वे वेइंदिया= सब द्वोन्द्रिय सव्वे तेइंदिया=सब त्रीन्द्रिय सव्वे च उरिदिया= सब चार इन्द्रियवाले सव्वे पंचिंदिया=सब षड्वेन्द्रिय सव्वे तिरक्खजोणिया=सब तिर्यञ्चगतिवाले सव्वे नेरइया=सब नारकी सव्वे मणुया=सब मनुष्य सव्वे देवा=सब देव सव्वे=पूर्वोक्त सब पाणा=प्राणीमात्र परमाहम्मिया=सुखके अभिलाषी हैं । एसो=यह खलु= निश्चय करके छट्टो=छठा जीवनि काओ=जीवनिकाय तसकाउत्ति=" त्रसकाय " ऐसा पउच्चइ=कहा जाता ह ॥ ६ ॥

टीका—'से'=स्थावरपञ्चकनिरूपणान्तरं पुनः इमे=वक्ष्यमाणभेदाः अनेके=द्वीन्द्रियादिभेदेनाऽनेकप्रकाराः बहवः=एकैरुस्था जाता प्रचुरा भिन्नयोनयो वा त्रसाः=त्रसनामकर्मादयात्, त्रस्पन्ति=आतपाद्यभिपीडिता उद्विजन्ते प्रच्छायशीतलं स्थलं प्रयान्ति वेति तथोक्ताः प्राणन्ति=जीवन्त्येभिरिति, प्राण्यन्ते=जीव्यन्ते प्राणिन एभिरिति वा (प्रोपसृष्टादनितेः, अण्यतेर्वा करणे घञ्) प्राणाः=उच्छ्वासादयस्ते सन्त्येपामिति प्राणः प्राणिन इत्यर्थः, तद्यथा अण्डे = पक्ष्यादिप्रादुर्भावककोषे जायन्ते=उत्पद्यन्ते इत्यण्डजाः = पक्षि-सर्पादः । पोता एव जाता पोतजाः न जरायवादिना वेष्टिताः पूर्णावयवयोनिनिर्गतमात्रा

अब क्रमप्राप्त त्रसकायका स्वरूप कहते हैं—'से जे' इत्यादि ।

जो ये आवालप्रसिद्ध द्वीन्द्रिय आदिभेद से अनेक, एक एक जाति में बहुत से अथवा भिन्न-भिन्न योनि वाले आतप(गर्मी) आदि से पीड़ित होने पर त्रास (उद्वेग) पाने वाले, अथवा छायादार शीतल और निर्भय स्थल में चले जाने वाले, व्यक्त चेतनावान्, उच्छ्वास आदि प्राणवाले त्रास कहलाते हैं, उनके भेद इस प्रकार है—

पक्षी सर्प आदि अण्डज है (१) जरायु से वेष्टित न होना योनि से निकलते ही गमन-आगमन आदि क्रियाएँ करनेकी सामर्थ्यसे युक्त पूर्ण अवयववाले, या वस्त्रसे पोँछे हुएके समान साफ

हुए कमप्राप्त त्रसकायनु स्वरूप कहे छे 'से जे' इत्यादि

जे जे आवाल-प्रसिद्ध द्वीन्द्रियादिना भेदे करीने अनेक, अक अक जातिमां घण्टा अथवा भिन्न-भिन्न योनिवाणा, गरमी आदिथो पीडित थता त्रास (उद्वेग) पामनारा, अथवा छायावाणा शीतल अने निर्भय स्थलमा आदया जनारा, व्यक्त चेतनावान् उच्छ्वास आदि प्राणवाणा त्रास कहेवाय छे, तेना भेद आ प्रकारे छेः—

पक्षी सर्प आदि अण्डज छे (१). जरायुथी वेष्टित न होअने योनिमांथी नीकणतां न गमनागमन आदि क्रियाओ करवाना सामर्थ्यथी युक्त पूर्ण अवयववाणा. या वस्त्र द्वारा

१ त्रसेः पचाद्यच् २ 'अर्शआदित्वादच्'

एवं परिस्पन्दाद्रिमामथ्योपेताः पोतजाः । यद्वा पोतो वस्त्रम्-(इति शब्दकल्पद्रुमः), तेन तत्संमार्जिता लक्ष्यन्ते, तथा च-पोता इव=वस्त्रसंमार्जिता इव गर्भवेष्टनचर्माऽनावृतत्वात्, जायन्ते=उत्पद्यन्ते इति, पोतात्=गर्भवेष्टनचर्मरहितगर्भात् जायन्त इति वा पोतजाः कुञ्जर-शल्लक-शश-नकुल-सूपिक-चर्मचटिका-वल्गुलिकादयः । जरायुजाः=जराभेति=गच्छतीति जरायुः=गर्भवेष्टनचर्म तस्माज्जायन्त इति ते=नर-महिष-गवादयः । रसजाः=रसे=मद्यलक्षणे 'रसजी मद्यकीटः' इति हेमात्, जायन्त इति, रसे=विकृतमधुरादौ जायन्त इति वा रजमाः । संस्वेदजा'=संस्वेदात्=वर्माज्जायन्त इति ते यूका-लिखा-मत्कुणप्रमुखाः । सम्पूच्छिमाः=सम्पूच्छेन सम्पूच्छेः=गर्भाधानमन्तरेणैव स्वयं समुत्पत्तिः, ('मूच्छा मोह समुच्छ्राययोः' अस्माद्भावे घञ्, व्युत्पत्तिप्रदर्शनमेतत्, शब्दोऽयं मनोविकले रूढः, ।)

यद्वा समन्ततो देहस्य मूच्छेनम्=अत्रयत्रसंयोगरतेन निवृत्ताः सम्पूच्छिमाः=मातापितृसयोगं विनैव स्वयंमनुत्पन्नः=पिपीलिका-मक्षिका-मत्कोटकादयः, (आर्पत्वात्सिद्धिः) । उद्भिज्जाः=उद्भिद्य=पृथिवीं भित्वा जायन्त इति ते शलमादयः । औपपातिकाः=उपपत्त-

उत्पन्न होनेवाले हाथी, शल्लको, खरगोश, नीला, चूहा आदि पोतज कहलाते हैं (२) 'जरायु (आँवल-जड) महित उत्पन्न होनेवाले मनुष्य महिषादि जरायुज कहलाते हैं (३), मदिरा आदि रसोमें उत्पन्न होनेवाले तथा स्वादसे चलिता अर्थात् सड़े हुए मधुरादि रसोमें उत्पन्न होनेवाले रसज कहलाते हैं (४) पसीने से पैदा होनेवाले जू, लीख, खटमल आदि संस्वेदज कहलाते हैं (५) गर्भाधानके बिना शरीरनाम-कर्मके उदयसे शरीरके अवयवोंका संग्रह हो जानेसे स्वयं ही उत्पन्न होनेवाले जीव सम्पूच्छिम कहलाते हैं (६), पृथ्वीको भेदकर उत्पन्न होनेवाले शलभ (टिड्डी) आदि उद्भिज्ज हैं (७), गर्भ और सम्पूच्छेन जन्मोंसे भिन्न देव और नारकोके जन्मको उपपात कहते हैं, उमसे उत्पन्न होनेवाले देव और नारकी औपपातिक कहलाते हैं (८), देव शय्या पर और नारकी कुम्भीमें स्वयं उत्पन्न होते हैं ।

लुछेलानी चेठे साइ उत्पन्न थनारा हाथी, शेणो, ससला नोणिया, उदर आदि पोतज कडेवाय छे (२) जरायु (नाण वगेरे मण लाग) सहित उत्पन्न थनारा मनुष्य महिषादि (लेश वगेरे) जरायुज कडेवाय छे (३) मदिरा आदि रसोमा उत्पन्न थनारा तथा स्वादथी चलिता अर्थात् सडेला मधुरादि रसोमा उत्पन्न थनारा रसज कडेवाय छे (४) संस्वेदथी चेदा थनारा जू, लीख, माकड, आदि संस्वेदज कडेवाय छे. (५) गर्भाधान विना शरीरनाम-कर्मना उदयथी शरीरना अवयवोना संग्रह थम जवाथी स्वयं उत्पन्न थनारा जीवो सम्पूच्छिम कडेवाय छे (६) पृथ्वीने लेटीने उत्पन्न थनारा शलभ (टिड) आदि उद्भिज्ज कडेवाय छे (७) गर्भ अने सम्पूच्छेन जन्मोथी भिन्न देव अने नारकीना जन्मने उपपात कडे छे, तेथो उत्पन्न थनारा देव अने नारकी औपपातिक कडेवाय छे (८) देव शय्या पर अने नारकी कुलीमा स्वयं उत्पन्न थाय छे

१. अन्येष्वेपि दृश्यते' इति डः

नमुपपातः (पतधातोर्भावे यञ्) देवनारकाणां प्रसिद्धगर्भगन्धर्वान्तरूपजन्म प्रकारद्वयविलक्षण उद्भवस्तेन निवृत्ताः ओपपातिकाः=देवनारकाः, देवा हि पुष्पशय्यायां नारकाश्च कुम्भ्यादिषु स्वयं समुत्पद्यन्ते । तानेव त्रिगिनेष्टि - 'येषां' -मिन्यदीना, येषां केषाञ्चित्पूर्वोक्तानां प्राणानां=श्वासोच्छ्वासादिप्राणवताम्, अभिक्रान्तम्=अभिमुख्येन अभिमुखं वा प्रज्ञापकस्य क्रमण = गमनमभिक्रान्तं 'भवती' तिगेषः । प्रतिक्रान्तं=प्रति = प्रातिकूल्येन प्रतिकूलं वा प्रज्ञापकस्य क्रमणम्, यद्वा प्रतिक्रान्त = परावृत्त्य गमनम्, संकुचितं = सकोचः शात्रावकुञ्चनम्, प्रसारितं = करचरणादिप्रसारण, स्तं = शब्दकरणम्, भ्रान्तम् = इतस्ततो भ्रमणम्, त्रस्तं = त्रासः=उद्वेगः, पलायितं=पलायनं भयादिना स्थानान्तरगमनं 'भवतो' त्यध्याहृतेन प्रत्येक सप्तन्वयः । सर्व एवैतेऽभिक्रान्तादयः शब्दाः भावक्रान्ताः । त्रसाः, आगतिगतिविज्ञातारः = आगतिः = आगमनम्, गतिः = गमनं तयोर्विज्ञातारः = वेदितारः = ओघसज्ञया प्रवृत्तिमन्तः स्वस्वाभिक्रान्त प्रतिक्रान्तादिविषयकाऽवबोधसम्पन्ना भवन्तीत्यर्थः ।

इन्द्रियादिविभागप्रदर्शनेन तानेव परिचाययति- 'ये चै' त्यादि ये च कीटपतङ्गा = कीटाः = कृमयो गण्डोलकप्रभृतयः, तज्जातीया अन्ये द्वीन्द्रियाश्च, पतङ्गाः = शलमाश्चतुरिन्द्रियास्तज्जातीया भ्रमरादयश्च । याश्च कुन्थु-पीपिलिकाः, कुन्थवश्च पिपीलिकाश्चेत्यनयोरितरेतरयोगे 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयो'-रिति परवल्लिङ्गता । कुन्थवः = चलन्त एव परिज्ञेया न स्थिताः सूक्ष्मत्वात् लघुकायजीवाः, पिपीलिकाः = कीटिकास्तज्जाती-

ये सब पूर्वोक्त जीवोके प्रज्ञापककी अपेक्षा सामने आना, लौटके पीछे जाना, इसी प्रकार अंगको सिकोड़ना, हाथ-पैर फैलाना, बोलना, भ्रमण करना, उद्विग्न होना, भय आदि कारणोंसे भागना आदि क्रियाएँ होता है । वे गमन आगमन आदिके जाननेवाले अर्थात् ओघसज्ञासे प्रवृत्ति करनेवाले होते हैं । अनुकूलता आर प्रतिकूलताको सामान्यतया ओघसज्ञासे जानते हैं ।

इन्द्रियोका विभाग करके फिर उनका कथन करते हैं—

कृमि, शूलट, गण्डोल आदि उनकी जातिवाले द्वीन्द्रिय हैं । शलभ और उनकी जातिके भ्रमर आदि चार इन्द्रियवाले हाने हैं । कुन्थु और पिपीलिका (चिउंटो) तथा उनकी जातिके अन्य जीव

ये जथा पूर्वोक्त एतेषु प्रज्ञापकनी अपेक्षाये सामे आवु', इरीने पाछा जपु ये ज रीते अ ज स कोयवा, हाथ-पग फैलावना मोलवु लमवु, उद्विग्न थवु, भयादि कारणे लागी जपु, वगेरे क्रियाये होय ते ये गमनागमन आदिने ज्ञानारा अर्थात् ओघ-सज्ञाथी प्रवृत्ति करनारा होय छे. अनुकूलता अने प्रतिकूलताने सामान्य रीते ओघ-सज्ञाये करी जाले छे

'इन्द्रियोना विभाग करीने हुवे येतु कथन करवाभा आवे छे —

कृमि (कर्मियां), लट, अणसीया वगेरे येनी जतिवाणा द्वीन्द्रिय छे तीउ अने येनी जतिवाणा भ्रमर आदि चार 'इन्द्रियवाणा छे कुथवा अने डीडी तथा तेनी जतिवाणा भील

यास्त्रीन्द्रियाश्च, द्वि-त्रि चतुरिन्द्रियकममुल्लङ्घ्य द्विचतुस्त्रीन्द्रियेति व्युत्क्रमेणोपादानमार्पत्वात्सूत्रगतैर्वैचित्र्याच्च । ततः सर्वे द्वीन्द्रियाः, सर्वे त्रीन्द्रियाः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे तिर्यग्योनिकाः, सर्वे नैरयिकाः, सर्वे मनुष्याः, सर्वे देवाः, सर्वे प्राणाः = पूर्वोक्ताः सकलप्राणिनः परमधर्माणः = परमं सुखमेव धर्मो येषां ते सुखाभिलाषुका इत्यर्थः 'परमा' इत्यत्र दीर्घं आर्पत्वात् । एषः = अनन्तरोदीरितस्वरूपो अण्डजादिलक्षणः खलु = निश्चयेन पठः = स्थावरपञ्चकापेक्षया पठत्वमापन्नः जीवनिकायः = प्राणिसमूहः 'त्रसकाय' इति प्रोच्यते = कथ्यते त्रसकायनाम्ना ख्यात इत्यर्थः ॥६॥

सर्वे प्राणिनः सुखाभिलाषिणो भवन्ति, सुखं च तेषामनारम्भेणैव सम्पद्यतेऽत इदानीमनारम्भोपदेशः—'इच्छेसि' इत्यादि ।

मूलम्—इच्छेसिं छण्डं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा. नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभंतेवि अन्ने समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंणि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि; अप्पाणं वोसिरामि ।७।

छाया—इत्येषां पण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, नैवान्यैर्दण्डं समारम्भयेत, दण्डं समारम्भमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात्, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मनं व्युत्सृजामि ॥७॥

षट्कायका आरम्भं न करनेका उपदेश देते हैं—

सान्वयार्थः—इच्छेसिं = इन पूर्वोक्त छण्डं = छह जीवनिकायाणं = जीवनिकायोंके दंडं = दण्ड-हिंसा आदि-को सयं = स्वयं नेव = न समारंभिज्जा = आरम्भ करे, नेव = न अन्नेहिं = दूसरोंसे दंडं = दण्डको समारंभाविज्जा = आरंभ करावे, दंडं = दण्डका

तीन इन्द्रियवाले होते हैं । यहाँ द्वीन्द्रिय बतानेके बाद पहले चार इन्द्रिय फिर तीन इन्द्रियवाले जीव बताये हैं, यह कथन आर्प होनेसे किया गया है, इसलिए सब द्वीन्द्रिय, सब त्रीन्द्रिय, सब चतुरिन्द्रिय, सब पञ्चेन्द्रिय, सब तिर्यञ्च, सब नारकी, सब मनुष्य, सब देव, इस प्रकार पूर्वोक्त सब प्राणी सुखको अभिलाषावाले हैं । इस छठे जीवनिकायको भगवानने त्रसकाय कहा है ॥६॥

जबो त्रिषु इन्द्रियवाणा डोय छे अर्धी द्वीन्द्रिय अताच्या पष्ठी पडेलो याचो इन्द्रियवाणा अने पष्ठी त्रिषु इन्द्रियवाणा अताच्या छे, ओ कथन आर्प डोवायी करेलु छे. ओ रीते अथा द्वीन्द्रिय अथा त्रीन्द्रिय, अथा चतुरिन्द्रिय, अथा पञ्चेन्द्रिय, अथा तिर्यञ्च, अथा नारकी, अथा मनुष्य, अथा देव, ओ प्रकारे पूर्वोक्त अथा प्राणी सुखनी अलिहापावाणा छे. ओ छठो जीवनिकायने लगवाने त्रस-काय कडेल छे. (६)

સમારંભંતેવિ = આરંભ કરતે હુઓંકો મી અન્ને = દૂસરોંકો ન = નહીં સમણુજાણેજ્જા
 = મહાજાને, જાવજ્જીવાણ = યાવજ્જીવન-જીવનપર્યન્ત તિવિહં = કૃતકારિત-અનુમોદના-
 રૂપ ત્રીન-કરણ-પૂર્વક (ઇસ પ્રકાર) તિવિહેણં = ત્રીન પ્રકારકે મણેણં = મનસે વાયાણ
 = વચનસે કાણેણં = કાયાસે ન કરેમિ = નહીં કરુંગા, ન કારવેમિ = નહીં કરાઉંગા,
 અન્ને = દૂસરે કરંતંપિ = કરનેવાલેકોમી ન સમણુજાણામિ = મહા નહીં સમજુંગા । મતે!
 = મદન્ત ! તસ્સ = પૂર્વોક્ત ઉસ ઢણ્ડસે પહિક્કમામિ = પૃથક્કુ હોતા હુ, નિંદામિ = આત્મ-
 સાક્ષીસે જુગુપ્સા કરતા હું, ગરિહામિ = ગુરુસાક્ષીસે ગર્હા કરતા હું (ઓર) અપ્પાણં =
 ઢંડસેવન કરનેવાલે આત્માકા વોસિરામિ = ત્યાગ કરતા હું ॥ ૭ ॥

ટીકા---ઇત્યેપાં પૂર્વોક્તસ્વરૂપાણાં પળ્લાં જીવનિકાયાનાં=ત્રસસ્થાવરલક્ષણજીવસમુદા-
 યાનામ્ , ઢણ્ડચતે = સારહીનઃ ક્રિયતે આત્માડનેનેતિ ઢણ્ડઃ = પ્રાણવ્યપરોપણાદિસ્તમ્ ,
 સ્વયં = આત્મના નૈવ = ન કદાપિ સમારંભેત = વિદધીત, = નૈવ અન્યૈઃ = સ્વવ્યતિરિક્તૈઃ
 કૈરપિ જનૈસ્તદ્વારેતિ માઃ, ઢણ્ડમ્ = ઉક્તલક્ષણવ્યાપારં સામાગ્મમયેત્ = કારયેત્, ઢણ્ડં
 સમારંભણાન્ = કુર્વાણાન્ અપિ અન્યાન્ ન સમણુજાનીયાત્ = અનુમન્યેત્ । કિયત્સમય-
 પર્યન્ત ? મિત્યાહ-‘જાવજ્જીવાણ’ ઇતિ, અત્ર યાવજ્જીવઃ પરિમાણાર્થકો મર્યાદાર્થકોડવધા-
 ર્ણાર્થકોશ્ચાવ્યયઃ, જીવનં જીવા (‘જીવ પ્રાણધારણે) અસ્માત્ ‘ગુરોશ્ચ હલઃ’ (૩।૩।૧૦૩)

સમસ્ત પ્રાણી મુલકે અમિલાષા હૈ, કિન્તુ સુલકો પ્રાપ્તિ તવ હી હો સકતી હૈ જવ આરં-
 મકા પરિત્યાગ કર દિયા જાય, ડસલિણ આરંમકે ત્યાગકા ઉપદેશ દેતે હૈ-‘ઇચ્છેસિ’ ઇત્યાદિ ।

જિસસે આત્મા જ્ઞાન દર્શન ચારિત્રસે રહિત હોજાય ઉસ હિસા આદિ વ્યાપારકો ઢણ્ડ
 કહતે હૈ । મુનિ પૂર્વોક્ત છહ કાગોકે ઢણ્ડકા યાવજ્જીવ ન સ્વય સમારંભ કરે ન દૂસરોસે કરાવે ઓર
 ન સમારંભ કરનેવાલે દૂસરોકો અનુમોદના કરે । ઢણ્ડ તોન પ્રકારકા હૈ-(૧) કૃત, (૨) કારિત,
 (૩) અનુમોદિત ।

કૃત-અપની ઇચ્છાસે સ્વયં કરના ।

કારિત-દૂસરે વ્યક્તિસે કરાના ।

અધ્યાં પ્રાણી સુખના અલિલાષી છે, પરન્તુ સુખની પ્રાપ્તિ ત્યારે થાય છે કે જ્યારે
 આરંભનો પરિત્યાગ કરવામાં આવે, તેથી આરંભના ત્યાગનો ઉપદેશ આવે છે-‘ઇચ્છેસિ
 ઇત્યાદિ.

જેથી આત્મા જ્ઞાન દર્શન ચારિત્રથી રહિત થઈ જાય, એ હિસા આદિ વ્યાપારને ઢંડ
 કહે છે. મુનિ પૂર્વોક્ત છ કાયોના ઢંડનો યાવજ્જીવન પોતે ન સમારંભ કરે, ન બીજાઓ
 પાસે કરાવે અને સમારંભ કરનારા બીજાઓની ન અનુમોદના કરે ઢંડ ત્રણ પ્રકારનો છે

(૧) કૃત, (૨) કારિત, (૩) અનુમોદિત.

કૃત-પોતાની ઇચ્છાથી પોતે કરવું.

કારિત-બીજા વ્યક્તિ પાસે કરાવવું.

इतिपाणिनिवचनेन स्त्रियामकारप्रत्यये स्त्रीत्वाद्वाप् 'ईहा, ऊहे'-त्यादिवत् ,) तथा जीवया जीवामित्यर्थः ('ततोऽन्यत्रापि दृश्यते') इति वचनबलाद् यावच्छब्दयोगे द्वितीयायाः प्राप्तावपि सौत्रत्वात्तृतीया, तेन यावन्मम जीवनं तावदिति, जीवनं मर्यादीकृत्यार्थान्न केवलं मरणकाल एवाऽपितु ततः प्रागपीति, जीवन एव न तदुत्तरं परलोकेऽपीत्यर्थः । दण्डं किविध ? मित्याह-त्रिविधं=तिस्रो विधाः प्रकारा यस्य स तम्=कृत-कारिताऽनुमतरूपम् , तत्र कृतं=स्वतन्त्रेणाऽऽत्मना सम्पादितम् , कारितम्=अन्य-(व्यक्त्यन्तर)-द्वारा निष्पादितम्, अनुमनं=सावद्यव्यापारमारम्भमाणस्य 'त्वं साधु करोषि, एवमेव कुर्वन्नास्व' इत्यादिना प्रोत्साहितम् , त्रिविधेन=प्रकारत्रयविशिष्टेन करणभूतेन, केने ? त्याह मनसा वाचा कायेने ' ति ।

ननु त्रिविधेने त्यनेन यत्प्रकारत्रयं ग्रह्यते तत् 'मनसे' त्यादिना प्रतिपदमेवोक्तम् एवं सति त्रिविधेनेत्युपादनं पौनरुक्त्यदोषग्रस्तं भवति । यद्वा 'त्रिविधेने' ति विशेषणं मनसे'-त्यादेरेव संभवति, ततश्च 'त्रिविधेन मनसा, त्रिविधया वाचा, त्रिविधेन कायेने'-त्यन्वये मनोवाक्कायानां प्रत्येकं त्रैविध्यं प्राप्नोति तच्चाऽनिष्टं, नह्यत्र मनआदीनि प्रत्येकं त्रैविध्यमर्हन्ति किं तर्हि ? तद्व्यापारा एवेति चेन्न,

अनुमोदित—जो सावध व्यापार कर रहा हो उसे अच्छा समझना ।

यह सब सावध व्यापार तीन करण तीन योगसे न करे । वे तीन योग ये है—(१) मन, (२) वचन, (३) काय ।

प्रश्न—सूत्रमें 'त्रिविधेन' (तीन प्रकारसे) कहा ही है फिर 'मनसा' (मनसे) 'वाचा' (वचनसे) 'कायेन' (कायसे) कहनेसे पुनरुक्ति (कहे हुए को पुनः कहना) होती है । या 'तीन प्रकारसे' यह विशेषण 'मन' वचन, काय' का ही हो सकता है । यदि ऐसा मान लिया जाय तो इसका अर्थ होगा कि 'तीन प्रकारके वचनसे' और तीन प्रकारके कायसे' आरम्भ न करे । अर्थात् मन वचन कायके तीन तीन भेद होंगे । ऐसा अर्थ शास्त्रविरुद्ध है—शास्त्रोंमें भगवानने मन आदिके तीन तीन भेद नहीं बताये है, किन्तु मन आदिके व्यापारोको तीन प्रकारका बताया है ।

अनुमोदित—जे सावध व्यापार करी रह्यो होय तेने साऽ ङणुपु'

जे ङधा सावध व्यापार त्रणु करणु त्रणु योगथी न करे. ते त्रणु योग, आ छे—(१) मन, (२) वचन, (३) काय ।

प्रश्न—सूत्रमा त्रिविधेन (त्रणु प्रकारे) कडेवु ङ छे, पछी मनसा (मनथी), वाचा (वचनथी) कायेन (कायाथी) कडेवाथा पुनरुक्ति (कडेवाने करी कडेवु) थाय छे. आ 'त्रणु प्रकारे' जे विशेषण 'मन वचन काया' नु ङ होऽ शके छे जे जेभ मानवामां आवे तो जेनो अर्थ जेवो जेसे के त्रणु प्रकारना मनथी, त्रणु प्रकारना वचनथी, जेने त्रणु प्रकारनी कायाथी' आर ल न करे अर्थात् मन वचन कायाना पणु त्रणु भेद ङनशे. जेवो अर्थ शास्त्र विरुद्ध छे. शास्त्रमां लगवाने मन आदिना त्रणु भेद अताव्या नथी, परन्तु मन आदिना व्यापारेने त्रणु प्रकारना अताव्या छे.

तदभावे हि 'मनसा वाचा कायेन' इत्येतावन्मात्रोक्तौ 'न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामी'-त्यनेन सह 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्, (१ । ३ । १०) इति वचनानुरोधेन' शत्रु मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जये' त्यादिवत्, एचोऽयवा-यावः' (६ । १ । ७८) इत्यादिवद्वा क्रमिकान्वये 'मनसा न करोमि, वाचा न कारयामि कायेन कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामी'-त्यनभीष्टोऽर्थ आपद्येत तद्वारणाय त्रिविधेनेत्युक्तम्, तेन मनसा न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि; वाचा न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि; एवं कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामीत्यर्थो भवति, यद्वा पूर्वं सामान्यतस्त्रिविधेनेत्युक्त्वा केन त्रिविधेने ? ति जिज्ञासायां तत्प्रकारान् दर्शयितुं विशेषणाऽऽह—'मनसे'—त्यादीति नास्ति पौनरुक्त्यदो-

उत्तर—यह शका ठीक नहीं है। यदि 'त्रिविधेन' न कहकर केवल 'मनसा वाचा कायेन' कह देते तो अर्थ ठीक न बैठता, क्योंकि जैसे कोई कहे कि "हेय और उपादेयको त्यागो और ग्रहण करो।" तो इस वाक्यमें क्रमसे 'हेय' के साथ 'त्यागो' का सम्बन्ध होजाता है और 'उपादेय' के साथ ग्रहण करो' का। इसी प्रकार 'चोलपट्टा चादर पहनो, ओढो' कहनेसे यह अर्थ होता है कि "चोलपट्टा पहनो—और चादर ओढो।" इसीप्रकार 'त्रिविधेन' (तीन प्रकारसे) पद न रखते तो ऐसा अनिष्ट अर्थ होजाता कि—मनसे न करे, वचनसे न करावे और कायसे अनुमोदना न करे। इस अनिष्ट अर्थका परिहार करनेके लिए 'त्रिविधेन' पद रखनेसे यह अर्थ हुआ कि—(१) मनसे न करूँ, (२) न कराऊँ, (३) न करते हुए को भला जानूँ। (४) वचनसे न करूँ, (५) न कराऊँ, (६) न करते हुएको भला जानूँ। (७) कायसे न करूँ, (८) न कराऊँ (९) न करनेवालेको भला जानूँ।

अथवा पहले सामान्य रूपसे कहा है कि तीन प्रकारसे न करूँ, परन्तु तीन प्रकार कौन—कौनसे है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर विशेष बता दिया कि "मनसा वाचा कायेन" ये तीन

उत्तर—ये शका भराभर नहीं जे त्रिविधेन न कडीने डेवण मनसा वाचा कायेन कहुं छोट तो अर्थ भराभर अंध भेसत नहिं. कारण के जेभे कौं कडे के "हेय अने उपादेयने त्यागो अने ग्रहण करो." तो जे वाक्यमा कमानुसार 'हेय'नी साथे 'त्यागो'नी सम्बंध थई जय छे, अने 'उपादेय'नी साथे 'ग्रहण करो'नी जेअ रीते 'चोलपट्टो चादर पहिरो ओढो' कडेवाथी जे अर्थ थाय छे के 'चोलपट्टो पहिरो अने चादर ओढो। जे रीते त्रिविधेन (त्रिषु प्रकारे) शब्द न राख्यो छोट तो जेवो अनिष्ट अर्थ थई जत के मनथी न करे, वचनथी न करावो अने कायाथी न अनुमोदना करे. आ अनिष्ट अर्थनी परिहार करवाने माटे त्रिविधेन शब्द आप्यो छे, जेभे त्रिविधेन शब्द आपवाथी जेवो अर्थ थयो के—(१) मनथी न करे (२) न करावु, (३) करनारने लदो न जाणु, (४) वचनथी न करे. (५) न करावु, (६) न करनारने लदो जाणु, (७) कायाथी न करे, (८) न करावु, (९) न करनारने लदो जाणु.

अथवा पहिले सामान्यरूपे कहुं छे के 'त्रिषु प्रकारे न करे' परन्तु त्रिषु प्रकार कया कया छे ? जेवी जिज्ञासा थता विशेष बतावी आप्युं छे के मनसा वाचा कायेन जे त्रिषु

पाऽऽपानः । केचित् 'मनसा वा वाचा वा कायेन वेति विकल्पसंग्रहार्थं 'त्रिविधेने'-त्युक्त-मित्यूचिरे । 'न कारयामी त्यत्राऽन्येनेतिशेषः पूरणीयः । न समनुजानामि = नानु मन्ये । तस्येति तस्मात्=पूर्वोक्तरूपाङ्गुडादित्यर्थः, अत्रापादानस्य शेषत्वविवक्षया पृष्ठी । भते' भदन्त !' भदन्ते=कल्याणं सुखं वा प्रापयतीति भदन्तः, (अन्तर्भावित-प्यर्थाद् 'भदि कल्याणे मुखे च' त्यस्माद्धातोः ' भन्देर्नलोपश्चे ' त्यौणादिकसूत्रेण ब्र-घातुनकारलोपयोः 'झोऽन्त' इति झरयान्तादेशः ।) यद्वा भवं=संसारमन्तयति=दूरीकरो-तीति, ('कर्मण्यण् (३ । १ ।) इत्यण शकन्धादेराकृतिगणत्वात्पररूपे पृषोदरादित्वा-द्वस्य दः । (अथवा भयस्य=संसारस्यान्तो =ऽवसान येनेति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः पररूपादेशो प्राग्वन् । भयस्य = जन्म-जरा-मरण-निमित्तकस्याऽन्तो = नाशो येनेति भयान्तः, स एव भदन्त इति वा, पृषोदरादित्वादेकस्याकारस्य लोपो यस्य च दः । अपि-

प्रकार है इसलिए पुनरुक्ति आदि कोई दोष नहीं है ।

अथवा मन वचन और कायके निमित्तसे होनेवाले तीन भेदोंका सप्रह करनेके लिए 'त्रिवि-धेन' पद रखा है ।

व्याकरणमें 'भंते' शब्द अनेक प्रकारसे सिद्ध होता है, इसलिए उसके अर्थ बहुतसे हैं । जैसे (१) कल्याण और सुखको देनेवाले, (२) संसारका अन्त करनेवाले, (३) जिनकी सेवा-भक्ति करनेसे संसारका अन्त हो जाता है, (४) जन्म-जरा-मरणके भयका नाश करनेवाले, (५) भोगोंको त्याग देनेवाले, (६) भयको दमन करनेवाले निर्भय, (७) इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, (८) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चरित्रसे दीपनेवाले । इन सबको 'भंते' कहते हैं । इसी प्रकार और अर्थ भी समझने चाहिए । 'भदन्त', इस सम्बोधनसे यह प्रगट होता है कि समस्त क्रियाएँ गुरु महाराजकी साक्षी से ही करनी चाहिए ।

हे भगवन् ! मैं दण्डसे निवृत्त होता हूँ, निन्दा करता हूँ, और गर्हा करता हूँ । क्रोशोंमें निन्दा और गर्हा शब्दका एक ही अर्थ है इसलिए पुनरुक्ति होती है, ऐसा नहीं समझना चाहिए,

प्रकार छे. अथी धरीने पुनरुक्ति आदि केछ दोष थतो नथी

अथवा मन वचन अने कायाना निमित्ते थनारा त्रणु लेहोनेा संग्रह करवाने माटे त्रिविधेन शब्द राख्यो छे

व्याकरणमां भंते शब्द अनेक प्रकारे सिद्ध थाय छे, तेथी अनेा अर्थ धणुा छे जेवा के (१) कल्याण अने सुखने आपनार, (२) संसारनेा अंत करनार, (३) जेनी सेवाभक्ति करवाथी संसारनेा अंत आवी जाय छे, (४) जन्म जरा मरणना लयनेा नाश करनार, (५) भोगोनेा त्याग करनार, (६) लयनु दमन करनार-निर्भय, (७) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन अने सम्यक्-चरित्रथी दीप्तिमान, जे अधाने भंते कडे छे जेज रीते जीव अर्थी पणु समञ्ज देवा 'भदन्त' जे सम्बोधनथी जेम प्रकट थाय छे के अधी क्रियाओ गुर्.महाराजनी साक्षीजे ज करवी जेधजे.

हे भगवन् ! हुं हंउथी निवृत्त थउ छुं, निन्दा कइं छुं अने गर्हा कइं छु, शब्द-केशोमां 'निन्दा' अने 'गर्हा' शब्दनेा अेकज अर्थ छे, तेथी पुनरुक्ति थाय छे, जेम न

वा भयं ददतीति भयदाः = भोगास्तानन्तयतीति कर्मण्यणिति सूत्रविहिताऽणन्त-भयदाः
न्त शब्दस्य पृषोदरादित्वाद् भदन्त इति ।

यद्वा दान्तं भयं येन स भदान्तः निष्ठान्तस्य परनिपात अहिताग्न्यादिपाठात् ,
स एव तदन्तः 'यलोप ह्रस्वो पृषोदरादिपाठकृतौ ।

अथच भान्ति=दोष्यन्ते (समुल्लसन्तीत्यर्थात्) स्वस्वविषयेष्विति भानि=इन्द्रियाणि,
तानि दान्तानि येन स भदान्तः, स एव भदन्तः, (निष्ठान्तपरनिपातः प्रग्रत्, पृषोदरादित्वादा-
कारस्य ह्रस्वः) । यद्वा भाति=सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यैर्दीप्यते इति भान्तः ('भा दीप्तौ'
अस्मादीणादिकोऽन्तप्रत्ययः) स एव भदन्तः, ('सिद्धिः पृषोदरादित्वादेव') ।

(एवं यथामति व्युत्पत्त्यन्तरेष्वपि निरुक्तोक्तशाकटायनादिप्रतिपादितरीत्या साधन-
प्रक्रिया बोद्धव्या ।) तत्सम्बोधने हे भदन्त ! = हे भगवन् ! अनेन सम्बोधननिर्देशेन
व्रतप्रत्याख्यानादिकः सर्वोऽपि क्रियाकलापो गुरुसाक्षिरु एव विधातव्य इति बोधितम् ।
प्रतिक्रामामि=प्रतिनिवर्त्ते भूतदण्डात्पृथग्भवामीत्यर्थः । यत्तु टीकान्तरेषु 'पडिक्कमामी'-
त्यस्य 'प्रतिक्रमामी' ति छायोपलभ्यते सा प्रमाद-विजृम्भितैव, (क्रमः परस्मैपदेषु) (७।
३।७६) इति पाणिनिवचनबलेन क्रमेरुपयादीर्घस्य दुर्वारत्वात् ।) निन्दामि=जुगुप्से । गर्हं

क्योकि निन्दा आत्मसाक्षीसे होती है और गर्हा गुरुसाक्षीसे होती है । अथवा निन्दा साधारण
कुत्साको कहते है और गर्हा अत्यन्त निन्दाको कहते है ।

इसका अर्थ यह होता है कि-हे भगवन् ! अतीत कालमें दण्ड (सावध व्यापार) करने-
वाले आत्मा (आत्मपरिणामि) को अनित्य आदि भावना भाकर त्यागता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा
करता हूँ । जैसे घरका देहलीपर दीपक रखनेसे भीतर भी प्रकाश होता है और बाहर भी प्रकाश
होता है इसको 'देहली-दीपक' न्याय कहते है । कहा भी है-"परै एक पद बीचमें, दुहु दिस
लागै सोय । सो है 'दीपक देहरी', जानत है सब कोय ॥१॥" बीचमें मणि जड देनेसे दोनो
ओर मणिका प्रकाश होता है, यह 'मध्यमणि' न्याय कहलाता है, इसी प्रकार 'अप्पाण' का
दोनोके साथ सम्बन्ध होता है । अर्थात् सावध व्यापारवाली आत्माको त्यागता हूँ और उसकी

समञ्जसु कारणु के निन्दा आत्मसाक्षीये थाय छे अने गर्हा गुरु साक्षीये थाय छे अथवा
निन्दा साधारणु कुत्साने कडे छे अने गर्हा अत्यन्त निन्दाने कडे छे

अने अर्थ ये थाय छे के- हे भगवन् ! अतीत कालमा दंड (सावध व्यापार) कर-
नारा आत्मा (आत्मपरिणामि)ने अनित्य आदि भावना भावीने त्यागुं छु, निन्दुं छु, गर्हुं
छु, जेभ घरनी उडेली (आरण्य) पर हीरो राभवार्थी अहर पणु प्रकाश थाय छे अने
अहार पणु प्रकाश थाय छे तेने 'देहली-दीपक' न्याय कडे छे कहुं छे के- "परै एक
पद बीचमें दुहु दिस लागै सोय, सो है 'दीपक-देहरी' जानत है सब कोय (१)" वय-
मां मणि जडी देवार्थी जेउ आणु मणिने प्रकाश थाय छे तेने 'मध्य-मणि न्याय' कडे छे,
ये रीते अप्पाण ने जेउनी साथे सम्बन्ध थाय छे अर्थात् सावध-व्यापारवाला आत्माने
त्यागुं छु अने तेनी निन्दा कइ छु, तथा गर्हा कइ छु (७)

=प्रजुगुप्से इत्येवार्थः ।

ननु तर्हि निन्दा गर्हयोः 'कुत्सा निन्दा च गर्हणे'-ति कोशरीत्या पर्यायत्वेन पौन-
रुत्पन्नं वज्रश्रेयायितमेवेति चेन्न. यतः स्वमाक्षिकी निन्दा, गुरुमाक्षिकी च गर्हेति परस्परं
भवति भेदः । यद्वा 'निन्दा=याचारगो कुत्सा. गर्हा=मैत्राते भूयसो'-ति परस्परमर्थभेदा-
न्नास्ति पर्यायता. यथा प्रवृद्ध एव कोपः क्रोधो न साधारण इति कोप-क्रोधयोः पर्या-
यत्वाभावेन कु-यर्थत्वाभावात् कुर्यात्तुयोगे चतुर्थो 'नेप्यते, 'निन्दामि, गर्हं' इत्यनयो-
स्तस्येन्येन प्रागुक्तेन सम्बन्धस्तेन अतीतदण्डसम्बन्धिनी. स्वमाक्षिकीं गुरुमाक्षिकीं च
निन्दा क्रोमाति निर्गन्धितोऽर्थः, तस्येन्यत्र सम्बन्ध-सामान्ये पृथ्याः प्रागुक्तत्वात् । यद्वा
'आत्मान'-मित्यस्यैव मन्थमणिन्यायाद् देहलीदीपन्यायाद्वा व्युत्स्रजामीत्यनेन 'निन्दामि,
गर्हं' इत्याभ्यां च सम्बन्धस्तेन भूतकान्तिरुदण्डविधायिनमप्रगस्तमात्मानं जुगुप्से व्युत्स्र-
जामि=द्विविधाऽनिन्यादिभावनाया विशिष्य वा परित्यजामीत्यर्थः ॥७॥

दण्डपरित्यागो द्विविधः सामान्यविशेषभेदात्, सामान्यतो दण्डपरित्यागोऽहिंसासा-
मान्यम्. विशेषतो दण्डपरित्यागश्च पञ्च महाव्रतानि ।

ननु पञ्चमं महाव्रतेषु सत्यादिव्रतानामहिंसातो भेदः सुरपृष्ठं प्रतीयत इति कथ-
महिंसया पञ्चानां महाव्रतानां सामान्य-विशेषभाव उपपद्येत ? सामान्यविशेषभावो हि वि-
शेषत्वेन विवक्षितपदार्थस्य सामान्यधर्माक्रान्तत्वादेव संपद्यते, अत एव 'व्याप्यव्यापकभा-
वापन्नयोः सामान्यविशेषभाः' इत्युक्तोपवः, यथा-द्रोणो व्रीहि' रित्यत्र प्रथमाविभक्त्यर्थस्य

निन्दा करता हँ, तथा गर्हा करता हू ॥७॥

दण्डपरित्याग दो प्रकारका है—(१) सामान्य-दण्डपरित्याग और (१) विशेष-दण्डपरित्याग ।
अहिंसा-सामान्यको सामान्य-दण्डपरित्याग कहते हैं और पञ्च महाव्रतोंको विशेष-दण्डपरित्याग
कहते हैं ।

प्रश्न—पाच महाव्रतोमें सत्य आदि महाव्रतोका अहिंसासे स्पष्ट भेद प्रतीत होता है ,
फिर अहिंसाके साथ सत्य आदि महाव्रतोंका सामान्यविशेषभाव कैसे हो सकता है ? सामान्य-
विशेषभाव वही होता है जिसको विशेष बनावे उसमें सामान्य धर्म भी पाया जाय । इसलिए

दण्डपरित्याग दो प्रकारका है (१) सामान्य-दण्डपरित्याग अने (२) विशेष-दण्डपरित्याग
अहिंसासामान्यने सामान्य दण्ड-परित्याग कहे छे, अने पांच महाव्रतोने विशेष-दण्डपरि-
त्याग कहे छे.

प्रश्न—पाच महाव्रतोमां सत्य आदि महाव्रतोने अहिंसाथी स्पष्ट भेद प्रतीत थाय
छे. तो पछी अहिंसाथी साथे सत्य आदि महाव्रतोने सामान्यविशेष-भाव केवी रीते डोढ
शके छे ? सामान्य-विशेष-भाव तेमा डोढ शके छे के जेने विशेष जतावे तेमां सामान्य

१ कुप्यते हेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोप " (१।५।६४) इत्यत्र शब्देन्दुशेखरे 'न- ह्यकुपित
कुप्यती'-ति भाष्येण प्रवृद्धकोप एव क्रोध इति कुपेस्तदर्थत्वाभावेन न तद्योग इदम् 'कुप्य
ति कस्मैचि'-दित्याद्यसाधेवेति ।

परिमाणसामान्यस्य द्रोणशब्दार्थे चतुराढकात्मक परिमाणविशेषे तादात्म्यसम्बन्धेन (अभेद-सम्बन्धेन) अन्वये सति द्रोणाभिन्नं परिमाणमिति बोधः, ततश्च प्रत्ययार्थपरिमाणस्य परिच्छेद्य-परिच्छेदकभावेन व्रीहियदार्थेऽन्वये द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो (तत्परिमितो) व्रीहिरिति बोधः, अत्र प्रत्ययार्थस्य व्रीहावन्यप्रदर्शनं प्रकृतानुपयोग्यपि प्रसङ्गतः कृतम् । यद्वा-यथा 'उपाध्यायो मुनि'-रित्यत्रोपाध्यायशब्दार्थे उपाध्यायपदधारिणि मुनिविशेषे मुनिशब्दार्थस्य मुनिसामान्यस्य तादात्म्यसम्बन्धेन (अभेदसम्बन्धेन) अन्वयः, तथा च-उपाध्यायभिन्नो मुनिरितिबोधः, तत्र विशेषत्वेन विवक्षितपदार्थे उपाध्याय-पदधारिणि मुनिविशेषे मुनिशब्दार्थस्य मुनित्वस्य सत्त्वाद्भयोः पदार्थयोः सामान्य-

यह कहा गया है कि 'व्याप्य-व्यापक भाव जिनमें होता है उन्हींमें सामान्यविशेषभाव पाया जाता है' जैसे 'द्रोणो व्रीहिः,' इस वाक्यमें प्रथमा विभक्तिका अर्थ परिमाण-सामान्य है इस-परिमाण-सामान्यका द्रोण शब्दके अर्थ चार आढकरूप परिमाण-विशेषमें अभेद सम्बन्धके द्वारा अन्वय होता है । इस अन्वयसे "चार आढकरूप परिमाण" (एक प्रकारका तौल) ऐसा बोध होता है । उस प्रत्ययार्थ परिमाण-सामान्यको परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भाव सम्बन्धसे व्रीहि पदार्थमें अन्वय होनेसे "उस परिमाणसे परिमित (मापा हुआ) व्रीहि" ऐसा बोध होता है । यहां व्रीहिमें अन्वय प्रसगवश दिखलाया गया है । अथवा—

“उपाध्यायो मुनिः” यहाँ उपाध्याय शब्दका अर्थ है उपाध्यायपदवारी मुनिविशेष (१), तथा मुनि शब्दका अर्थ मुनिसामान्य (२), अतः जो उपाध्याय है वही मुनि है, अर्थात् मुनिसे अन्य उपाध्याय नहीं है इसलिए उपाध्याय शब्दार्थको मुनि शब्दार्थके साथ अभेद सम्बन्धसे अन्वय होता है तो 'उपाध्यायसे अभिन्न मुनि' ऐसा बोध होता है । यहां विशेष याने उपाध्यायपदधारी

धर्म पणु मणी आवे तेथी करीने अम कडेवामा आण्यु छे छे 'जेमां व्याप्य-व्यापकभाव डोय छे तेमां न सामान्यविशेष-भाव मणी आवे छे' जेमके द्रोणो व्रीहिः अे वाक्यमां प्रथमा विलक्षितने अर्थ परिमाण-सामान्य छे अे परिमाण-सामान्यने, द्रोणु शब्दना अर्थ चार आढक रूप परिमाण-विशेषमां अलेह संभधना द्वारा अन्वय थाय छे अे अन्वयथी "चार आढक रूप परिमाण" (अेक प्रकारने तौल) अेवो बोध थाय छे. अे प्रत्ययार्थ-परिमाण-सामान्यने परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भाव संभधथी व्रीहि पदार्थमा अन्वय थवाथी "अे परिमाणथी परिमित (मापेला) व्रीहि" अेवो बोध थाय छे अे व्रीहिमां अन्वय प्रसगवश अनाववामा आण्ये छे अथवा—

उपाध्यायो मुनि अेमा उपाध्याय शब्दने अर्थ छे-उपाध्याय पदधारी मुनि-विशेष (१), तथा मुनि शब्दने अर्थ छे मुनि-सामान्य (२), अेवले ते उपाध्याय छे तेन मुनि छे, अर्थात् मुनिथी नूढे उपाध्याय नथी अेथी करीने उपाध्याय शब्दार्थने मुनि शब्दार्थनी साथे अलेह संभधथी अन्वय थाय छे, अने तेथी 'उपाध्यायथी अलिन्न मुनि' अेवो बोध थाय छे. अेमा विशेष करीने उपाध्याय-पदधारी (व्यक्ति)मा मुनिना सामान्य धर्म-

विशेषभावोऽभेदान्वयश्च भवति, तथा प्रकृतेऽन्वयो न संभवति, सत्यादिमहाव्रतानाम हिंसातः सुस्पष्टभेदप्रतीतिवलाद्भेदान्वयस्य बाधादिति चेन्न—

पठचानामपि महाव्रतानां वस्तुतोऽहिंसात्मकत्वात् सामान्य-विशेषभावः सुबोध एव । अहिंसासामान्यस्वरूपावदातकरणाय शिष्याणां सुस्पष्टप्रतिपत्तये च दण्ड-परित्यागस्य द्वैविध्यं कृतम्, एकैवाऽहिंसा पठचधा विभाजिता ।

ननु यथा 'द्रोणो व्रीहि' ;रित्यादौ द्रोणादिशब्दार्थचतुराहकात्मकपरिमाणे चतुराहकत्वादिधर्मेण परिमाणत्वादिसामान्यधर्माक्रान्तात् प्रत्ययार्थपरिमाणादितो विशेषत्वं प्रतीयते, यथा च नीलघटो घट इत्यादौ नीलगुणविशिष्टत्वेन नीलघटे घटसामान्यापेक्षया

(व्यक्ति) में मुनिके सामान्यधर्म मुनित्वका अस्तित्व पाया जाता है, अत एव दोनो पदार्थोंका सामान्य-विशेषभावमें अभेदान्वय होता है ।

अर्थात् जैसे इन दो उदाहरणों से अभेदमें सामान्य-विशेषभेद पाया जाता है, वैसा अहिंसाके साथ सत्यादि व्रतोंका अभेद नहीं है, अतएव सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उनका स्पष्ट भेद प्रतीत होता है ।

उत्तर—पाँचो महाव्रत वास्तवमें अहिंसास्वरूप है, इसलिये अहिंसासे भिन्न नहीं है । अहिंसा के स्वरूपको स्पष्ट करने के लिये और शिष्यों को स्पष्ट बोध करने के लिये दण्ड परित्याग के दो भेद कर दिये हैं, अर्थात् एक ही अहिंसा को पाच महाव्रतोंमें विभक्त कर दिया है ।

प्रश्न—जैसे "द्रोणो व्रीहिः" इत्यादि वाक्योंमें परिमाणत्व आदि सामान्यधर्मसे युक्त प्रत्ययार्थ परिमाण-सामान्यसे द्रोण शब्दार्थ चार आठकरूप परिमाणमें चार अठकत्व आदि धर्मसे विशेषता प्रतीत होती है । अथवा "जो नीला घडा है वह घडा हो है" इत्यादि वाक्यों में अन्य घडोकी

इय मुनित्वनुं अस्तित्व भणी आवे छे. तेथी करीने जेउ शब्दोना अर्थोने। सामान्य-विशेष भावमां अलेहान्वय थाय छे.

अर्थात्—जेम जेउ उदाहरणोथी अलेहमां सामान्य-विशेष भाव भणी आवे छे, तेम आहिसानी साथे सत्यादि व्रतोनो अलेह नथी तेथी सामान्यविशेष-भाव थर्ध शकतो नथी, कारणे जे अनेो स्पष्ट लेह प्रतीत थाय छे

उत्तर—पांचे महाव्रत वस्तुताये अहिंसास्वरूप छे, तेथी करी अहिंसार्थी सिन्न नथी अहिंसाना स्वरूपने स्पष्ट करवाने माटे अने शिष्योने स्पष्ट बोध कराववाने माटे दण्ड परित्यागना जे लेह करवामा आब्या छे, अर्थात् जेक न अहिंसाने पांच महाव्रतोंमां विलकृत करी नाणवामां आवी छे

प्रश्न—जेम द्रोणो व्रीहिः इत्यादि वाक्योंमां परिमाणत्व आदि सामान्य धर्मथी युक्त प्रत्ययार्थ परिमाण-सामान्यथी द्रोण शब्दार्थ चार आठकरूप परिमाणमा चार आठकत्व आदि धर्मथी विशेषता प्रतीत थाय छे, अथवा 'जे नीलो घडा छे ते घडा न छे' इत्यादि वाक्योंमा अन्य घडानी अपेक्षाये नीला घडामा नीलापणुथी विशेषता भणी आवे छे अने

વિશેષત્વં વિદ્યતે, વિશેષત્વં ચાત્ર વ્યાપ્યત્વમેવ, તથા પ્રકૃતે :પઠ્ચમહાત્રતલક્ષણેઽહિંસા-વિશેષે કથં વિશેષત્વમિતિ ચેચ્છૃણુ-

પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વાદિના વ્યાપ્યધર્મેણ પઠ્ચમુ મહાત્રતેષુ વિશેષત્વં સુવચમેવેતિ ।

નનુ તર્હિ અહિંસાસામાન્યસ્ય કિં લક્ષણં યત્ પઠ્ચમુ મહાત્રતેષુ વ્યાપકં ભવે ? દિ-તિ ચેદ્ ઉચ્યતે-પદ્મજીવનિકાયેષુ દણ્ડસમારમ્ભવર્જનત્વમેવાઽહિંસા-સામાન્યસ્ય લક્ષણમ્, તત્ચ પઠ્ચમુ મહાત્રતેષુ પ્રત્યેકં ભવતીતિ લક્ષણસમન્વયો વોધ્યઃ, તથા ચ મહાત્રતાન્યત્ર વ્યાપ્યાનિ સામાન્યત્તો દણ્ડપરિત્યાગો વ્યાપકસ્તસ્ય પઠ્ચમહાત્રતરૂ-પાગેર્પાવિશેષનિષ્ઠવા-દતો વ્યાપકસ્વરૂપસામાન્યદણ્ડપરિત્યાગં વ્યાખ્યાય વિશેષદણ્ડપરિત્યાગલક્ષણમહાત્રતાન્ય-ભિધત્તે, તેષુ પ્રાણાતિપાતવિરમણાત્મિકાયા અહિંસાયાઃ પ્રધાનત્વમ્, ઇતરેપાં સમ્યક્ષેત્ર-

અપેક્ષા નીલે ઘડેમેં નીલેપનસે વિશેષતા પાઈ જાતી હૈ ઓર વહ વિશેષતા વ્યાપ્યતારૂપ હૈ, વૈસે પંચ મહાત્રતરૂપ અહિંસાવિશેષમેં વિશેષતા કિસ ધર્મકે કારણ હૈ ? ।

ઉત્તર-પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વ આદિ વ્યાપ્યધર્માસે પાંચ મહાત્રતોમેં વિશેષતા પાઈ હો જાતી હૈ । અર્થાત્ જહાં પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વ આદિ વ્યાપ્ય ધર્મ પાચે જાને હૈ વહાં અહિંસા-સામાન્યકા અસ્તિત્વ રહતા હી હૈ ।

પ્રશ્ન-અહિંસાસામાન્યકા લક્ષણ કયા હૈ ? જિસસે વહ પાંચ મહાત્રતોમેં વ્યાપક હોજાવે ? ।

ઉત્તર-પદ્મજીવનિકાયોમેં દણ્ડકા પરિત્યાગ કરના અહિંસા-સામાન્યકા લક્ષણ હૈ । યહ લક્ષણ પાંચોહી મહાત્રતોમેં પાચા જાતા હૈ, અતઃ મહાત્રત વ્યાપ્ય હૈ ઓર સામાન્ય-દણ્ડપરિત્યાગ વ્યાપક હૈ ।

વ્યાપકરૂપ સામાન્ય-દણ્ડપરિત્યાગકા પૂર્વ સૂત્રમેં વ્યાખ્યાન ક્રિયા હૈ । અવ વિશેષ-દણ્ડ-પરિત્યાગરૂપ પાંચ મહાત્રતોકા વ્યાખ્યાન આરંભ કરતે હૈ, ઊનમેં પ્રાણાતિપાતવિરમણરૂપ અહિંસા તે વિશેષતા વ્યાપ્યતારૂપ છે તેમ પંચમહાત્રતરૂપ અહિંસા-વિશેષમા વિશેષતા કયા ધર્મને કારણે છે ?

ઉત્તર-પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વ આદિ વ્યાપ્ય-ધર્મોત્થી પાચ મહાત્રતોમા વિશેષતા મળી આવે છે. અર્થાત્ જ્યાં પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વ આદિ વ્યાપ્ય ધર્મ મળી આવે છે ત્યા અહિંસા સામાન્યનુ અસ્તિત્વ રહેલુ જ હોય છે.

પ્રશ્ન-અહિંસા-સામાન્યનુ લક્ષણ કયુ છે કે જેથી તે પાચ મહાત્રતોમા વ્યાપક થઈ જાય છે ?

ઉત્તર-પદ્મજીવનિકાયામા દંડને પરિત્યાગ કરવો એ અહિંસા-સામાન્યનુ લક્ષણ છે, એ લક્ષણ પાચે મહાત્રતોમા મળી આવે છે, તેથી મહાત્રત વ્યાપ્ય છે અને સામાન્ય દંડ-પરિત્યાગ વ્યાપક છે

વ્યાપકરૂપ-સામાન્ય-દંડપરિત્યાગનુ વ્યાખ્યાન આગળના-સૂત્રમાં કહેલુ છે હવે વિશેષ-દંડપરિત્યાગરૂપ પાંચ મહાત્રતોમા વ્યાખ્યાન શરૂ કરવામા આવે છે. તેમા પ્રાણાતિપાતવિ-

वर्ति-वृत्ति (वाड) वत्तत्परिपालनार्थतया तदङ्गत्वात्, तथाचोक्तम्—

“अहिंसैका मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥१॥”

अन्यच्च—

“आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।

अनृतवचनादिकेवल, -मुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥२॥ ” किञ्च—

“एगं चिय इत्थ वर्य, निदिहं जिणवरेहि ।

पाणाइवायविरमण, -मवसेसा तस्स रक्खट्ठा ॥३॥ सू० ७॥

अनश्वादी प्राणातिपातविरमणारूपं प्रथमं महाव्रतमाह—‘पहमे० ’ इत्यादि ।

मूलम्—पहमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते !

पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा वायरं वा तसं वा थावरं वा नेव

प्रधान है, जैसे धान्यकी रक्षाके लिए खेतके चाणे ओर वाड होती है, उसी प्रकार अन्य महाव्रत अहिंसाके रक्षक होनेसे अग है । कहा भी है—

“स्वर्ग और मोक्षको सिद्ध करनेवाली एक अहिंसा ही मुख्य है इसीको रक्षाके लिए सत्यादि महाव्रतोका पालन करना उचित है ।” ॥१॥

और भी कहा है—

“असत्य-वचन बोलने आदिसे भी आत्माके परिणामोकी हिंसा होती है, अतः असत्य आदि सभी हिंसारूप है । असत्य आदिका अलग कथन शिष्योको स्पष्ट समझानेके लिये किया गया है ॥२॥”

तथा—

“भगवानने एक प्राणातिपातविरमणको ही मुख्य कहा है अन्य व्रत उसीकी रक्षाके लिए है ॥३॥ ”

रमणुइप अडि सा प्रधान छे जेम धान्यनी रक्षाने भाटे जेतरनी आरे आणुओ वाड डोय छे, तेम अन्य मडावने अडि माना रक्षक डोवाने लीधे अ गइप छे कल्लुं छे के—

“स्वर्ग अने मोक्षने सिद्ध करवावाणो अेक अडि सा ज मुण्य छे. तेनी रक्षाने भाटे सत्यादि मडावनेनुं पालन करवुं उचित छे” (१)

वणी कल्लुं छे के—

“असत्य वचन जेसवा वगेरेथी पणु आत्माना परिष्ठाभोनी डि सा थाय छे, तेथी असत्य आदि जधा डि साइप छे असत्य आदिनुं जूडं कथन शिष्योने स्पष्ट सरणववाने भाटे करवामां आणु छे” (२)

तथा—

“लगवाने अेक प्राणातिपात विरमणुने ज मुण्य कल्लु छे. अन्य वने तेनी रक्षाने भाटे छे” (३)

सयं पाणे अइवाइज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायं-
तेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेणं
वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणा
मि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।
पढमे भंते ! महव्वए उवड्ढिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेर-
मणं ॥८॥

छाया-प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं
प्रत्याख्यामि, अथ सूक्ष्मं वा वादरं वा स्थावरं वा नैव स्वयं प्राणानतिपातयामि, नैवान्यैः
प्राणानतिपातयामि, प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवया त्रिविधं-
त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि,
तस्माद् भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि, प्रथमे मथन्त ! महा-
व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥

शिष्य षट्कायकी विराधना का त्याग करके अब पाँच महाव्रत और छठे रात्रि भोजन-
विरामणव्रतको ग्रहण करता है—

(१) प्राणातिपातविरमण.

सान्वयार्थः—भंते ! हे भदन्त !-हे भगवन् ! पढमे = प्रथम महव्वए = महाव्रतमें
पाणाइवायाओ = प्राणातिपातसे वेरमणं = विरमण होता है, (अतः मैं) भंते ! = हे भगवन् !
सव्वं = सब प्रकारके पाणाइवायं = प्राणातिपात (हिंसा) का पच्चक्खामि = त्याग करता
हूँ । से = अथ-अवसे लेकर (मैं) सुहुमं = सूक्ष्म वा = अथवा वायर = वादर वा = अथवा
तसं = तस वा = अथवा थावरं = स्थावर पाणे = प्राणियोंका सयं = स्वयं-खुद नेव = नहीं
अइवाइज्जा = अतिपात-हनन-करूँगा, नेव = न अन्नेहि = दूसरोंसे पाणे = प्राणियोंको
अइवायाविज्जा = हनन कराऊँगा, (और) पाणे = प्राणियोंको अइवायंतेवि = हनन करते
हुए भी अन्ने = दूसरोंको न = नहीं = समणुजाणिज्जा = भला जानूँगा, जावज्जीवाए =
जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृतकारितअनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं =
तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि = न करूँगा, न
कारवेमि = न कराऊँगा, करंतंपि = करते हुए भी अन्नं = दूसरे को न समणुजाणामि = भला
नहीं समझूँगा । भंते ! = हे भगवन् ! तस्स = उसदण्डसे पडिक्कमामि = पृथक् होता हूँ,
निंदामि = आत्ममाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं =
दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ । भंते = हे भगवन् ! पढमे = प्रथ-
म महव्वए = महाव्रतमें मैं उवड्ढिओमि = उपस्थित हुआ हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब
प्रकारके पाणाइवायाओ = प्राणातिपातका वेरमणं = त्याग है ॥८॥ (१)

(१) प्राणातिपात-विरमणव्रतम् ।

टीका— भदन्त ! = हे भगवन् ! प्रथमे = आद्य महाव्रते = महत्-विशां व्रतं = शास्त्रीयमर्यादानुसरणम्, महच्च तद् व्रतं च महाव्रतम्, महत्त्वं चास्य श्रावकाणुव्रतापेक्षया, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावतः सर्वव्यापकत्वेन, महद्भिस्तीर्थं करगणधरादिभिराचरितत्वेन' महापुरुषाचर्यमाणत्वेन चास्ति, तस्मिन्, प्राणातिपातात् = प्राणः = स्वर्गनेन्द्रियादयः सन्त्येषामिति प्राणाः = एकेन्द्रियादयो जीवाः (अर्श आदित्वादचू) तेषामतिपातो = वियोजनं हिंसनमित्यर्थः, तस्माद् विरमण = निवर्तनम् 'अस्ती'ति शेषः, अतोऽहं भदन्त ! = हे भगवन् ! सर्व = स्थूलसूक्ष्मादियावद्भेदविशिष्टं कृतकारिताऽनुमोदितस्वरूपं वा प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि = प्रति = प्रातिकूल्येन आख्यामि = ऋययामि सर्वथा परित्यजामोति भावः, तदेव विशेषयति - 'से०' इति, से = अथ = अनन्तरम् अद्यारभ्य सूक्ष्मं = सूक्ष्मनामर्कप्रकृत्युदयसंपन्नम् । यद्यप्यस्य कायिकी हिंसा न भवति तथाऽपि तद्ग्रहण 'न केवल कायिक्येव हिंसा किन्तु वाङ्मनसयोर्दुष्प्रणिधानेनापि हिंसा संभवत्येवेति ज्ञापनार्थम् । यद्वा सूक्ष्मं = लघुकायिकं

इसलिये पहले-पहल प्राणातिपात-विरमण महाव्रतका कथन करते हैं- "पढमे भते०" इत्यादि ।

(१) प्राणातिपातविरमण ।

ये श्रावकके व्रतकी अपेक्षा विनाल होनेसे महाव्रत कहलाते हैं (१), अथवा सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा प्राणातिपात आदिका सर्वथा त्याग होता है इस कारण महाव्रत कहलाते हैं (२) या तीर्थकर गणधर आदि महापुरुषोंने इनको अंगीकार किया है और वर्तमानमें भी महापुरुष इनको अंगीकार करते हैं इससे ये महाव्रत कहलाते हैं (३) ।

हे भगवन् ! प्रथम महाव्रतमें प्राणातिपातसे विरमण होता है इसलिये हे भगवन् ! मैं कृत कारित-अनुमोदनासे सूक्ष्म-स्थूल सब प्रकारके प्राणातिपातका परित्याग करता हूँ । अर्थात् सूक्ष्म

तेथी करीने सौंगी पडैलां प्राणातिपात-विरमण महाव्रतनु कथन करे छे-पढमे भते धत्यादि.

(१) प्राणातिपातविरमण

ये श्रावकनां व्रतानी अपेक्षाये विशाल होवाने लीधे महाव्रत कहेवाय छे. (१) अथवा सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावनी अपेक्षाये प्राणातिपात आदिने सर्वथा त्याग थाय छे ये कारणे ते महाव्रत कहेवाय छे (२) अथवा तीर्थकर गणधर आदि महापुरुषोंने येना अंगीकार करे छे तेथी ये महाव्रत कहेवाय छे. (३)

हे भगवन् ! प्रथम महाव्रतमा प्राणातिपातथी विरमण होय छे, तेथी, हे भगवन् ! मैं कृत-कारित-अनुमोदनाथी सूक्ष्म स्थूल सर्व प्रकारना प्राणातिपातने परित्याग करूँ छुँ. अर्थात् सूक्ष्म-नामकर्मनी प्रकृतिथी उत्पन्न सूक्ष्म अथवा सूक्ष्म कायवाणा कुथवा आदि

१ देशीशब्दोऽयम् ।

કુન્થવાદિકમ્ , વાદરં=સ્થૂલકાયિકં ગોગજાદિકમ્ , અનયોરપિ ત્રસ-સ્થાવરભેદાદૈવિ
ધ્યં,તદાહ-ત્રસં સ્થાવરં ચ, તત્ર સૂક્ષ્મત્રસં=કુન્થવાદિકમ્ , સૂક્ષ્મસ્થાવરં=પનકાદિવનસ્પતિ-
મ્ , વાદરત્રસમ્=અજ-ગજ-ગવયાદિકમ્ , વાદરસ્થાવરં=ભૂમ્યાદિકમ્ , ઇતોમાન્ પ્રાણાન્=
જોવાન્ નૈવસ્વયમ્=આત્મના અતિપાતયામિ=હન્મિ'નૈવાન્યૈઃ પ્રાણાનતિપાતયામિ=વાતયામિ,
પ્રાણાનતિપાતયતોઽન્યાન્ ન સમનુજાનામિ,ઇત્યાદિ પ્રાગ્વત્ ।

સમ્પ્રતિ શિષ્યઃ સ્વસ્ય મહાવ્રતિત્વં રૂપાપયન્નુપસંહરતિ-હે ભગવન્ ! પ્રથમે મહા-
વ્રતે ઉપસ્થિતોઽસ્મિ=અભ્યુદયતોઽસ્મિ કૃતોદ્યમોઽસ્મીત્યર્થઃ । અતોઽદ્યપ્રભૃતિ મમ સર્વસ્માત્
પ્રાણાતિપાતાદ્ વિરમણ સકલપ્રાણાતિપાતાલમ્બનસાવદ્યવ્યાપારપ્રત્યાહ્યાનમ્ 'અસ્તી'
-તિ શેષઃ ॥ ૮ ॥ (૧)

સલિલેન તરુગુલ્મલતાદીનામિવ પ્રાણાતિપાતવિરમણસ્ય પરિપુષ્ટિર્મૃષાવાદપરિત્યાગેન

નામકર્મકી પ્રકૃતિસે ઉત્પન્ન સૂક્ષ્મ અથવા સૂક્ષ્મ કાયવાલે કુંથવા આદિ ઓર વાદર (સ્થૂલ) કાય-
વાલે ગો-હસ્તી આદિ જીવોકે પ્રાણોકા કમી અતિપાત નહીં કરૂંગા । યદ્યપિ સૂક્ષ્મ નામકર્મકી
પ્રકૃતિવાલે સૂક્ષ્મ પ્રાણિયોકી કાયિક હિસા નહીં હોતી પરન્તુ વચન ઓર મનસે હો સકતી હૈ,
જૈસે-‘યહ મર જાય તો અચ્છા હૈ’ એસા કહના વચનસે હિસા હૈ, ઓર ઘાતકી ભાવના કરના
મનસે હિસા હૈ, ઇસલિલ્લે સૂક્ષ્મકા મી યહાં પ્રહણ ક્રિયા હૈ । સૂક્ષ્મ ઓર વાદરકે મી દો દો ભેદ
હૈ-(૧) ત્રસ ઓર (૨) સ્થાવર । સૂક્ષ્મ-ત્રસ કુંથવા આદિ હૈ, સૂક્ષ્મ સ્થાવર, પનક આદિ વનસ્પતિ
(નીલણ-ફૂલણ) હૈ । વાદર-ત્રસ મેંઢા ઘોડા રોજ્ઞ આદિ । ઓર વાદર-સ્થાવર ભૂમિ આદિ હૈ ।
ઇન સવ પ્રાણિયોકો કમી પ્રાણોસે વિયુક્ત નહીં કરૂંગા, ન દૂસરેસે કરાઝગા ન કરનેવાલેકો
મલા જાનૂંગા ।

હે ભગવન્ ! મૈ પ્રથમ મહાવ્રતકો પાલનેકે લિયે ઉચત હુઆ હૂં, ઇસલિલ્લે આજસે મુજે સમ-
સ્ત પ્રકારકે પ્રાણાતિપાતકા પ્રત્યાહ્યાન હૈઃ(૧) ॥૮॥

જૈસે વૃક્ષ-લતા આદિ પાનોસે પુષ્ટ હોતે હૈ વૈસેહી મૃષાવાદકા ત્યાગ કરનેસે પ્રાણાતિપાતવિ-

અને ખાદર (સ્થૂલ) કાયવાળા ગાય હાથી આદિ જીવોના પ્રાણોનો કદાપિ અતિપાત નહિ
કરૂં, જો કે સૂક્ષ્મ-નામકર્મની પ્રકૃતિવાળા સૂક્ષ્મ પ્રાણીઓની કાયિક હિસા થતી નથી.
તોપણ વચન અને મનથી થઈ શકે છે, જેમકે-‘એ મરી જાય તો સાડું’ એમ કહેવું તે
વચનથી હિસા છે, અને ઘાતની ભાવના કરવી એ મનથી હિસા છે, તેથી કરીને સૂક્ષ્મને
પણ અહીં ગ્રહણ કરેલ છે. સૂક્ષ્મ અને ખાદરના પણ એ-એ ભેદ છે (૧) ત્રસ, અને (૨)
સ્થાવર, સૂક્ષ્મ ત્રસ કુંથવા આદિ છે. સૂક્ષ્મ સ્થાવર લીલન-ફૂલન આદિ વનસ્પતિ છે. ખાદર
ત્રસ-મેંઢા ઘોડા રોજ્ઞ વગેરે છે અને ખાદર સ્થાવર-ભૂમિ આદિ છે એ સર્વ પ્રાણીઓને
કદાપિ પ્રાણથી વિયુક્ત કરીશ નહીં, ખીજા વડે કરાવીશ નહીં અને કરનારને ભલો જાણીશ નહીં

હે ભગવન્ ! હું પ્રથમ મહાવ્રતને પાળવા માટે ઉઘન થયો છું, તેથી આજથી મારે
બધા પ્રકારના પ્રાણાતિપાતના પ્રત્યાહ્યાન છે (૧) (૮)

જેમ વૃક્ષ-લતા આદિ પાણીથી પુષ્ટ થાય છે તેમ મૃષાવાદનો ત્યાગ કરવાથી પ્રાણા-

भवतीत्यतस्तदनन्तरं मृषावादपरित्यागलक्षणं द्वितीयं महाव्रतमाह— ' अहावरे दोच्चे ' इत्यादि ।

मूलम्—अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए सुसावायाओ वेर-
मणं. सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि से कोहा वा लोहा वा भया
वा हासा वा नेव सयं सुसं वड्ज्जा नेवन्नेहिं सुसं वायाविज्जा सुसं
वयंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा ! जावज्जीवाए तिविहं तिविहणं
मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि कस्तंपि अन्नं न समु-
णुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहाणि अप्पाणं
वोसिरामि । दोच्चे भंते । महव्वए उवड्ढिओमि सवाओ मुसावायाओ
वेरमणं ॥९॥

छाया—अथापरे द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! मृषावादं
प्रत्याख्यामि, अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हासाद्वा नैव स्वयं मृषा वदामि नेवान्यैर्मृषा
वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि । यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा
वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्माद् भदन्त !
प्रतिक्रामामि निन्दामि गहं आत्मानं व्युत्सृजामि । द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितो-
ऽस्मि (अतः) सर्वस्मात् मृषावादार्द्विरमणम् ॥ ९ ॥

(२) मृषावादविरमण.

सान्वयार्थः—भंते ! = हे भगवन् ! अहावरे = इसके बाद दोच्चे = दूसरे महव्वए = महा-
व्रतमें मुसावायाओ = मृषावादसे वेरमणं = विरमण होता है (अतः में) भंते ! = हे भगवन् !
सव्वं = सब प्रकारके मुसावायं = मृषावादका पच्चक्खामि = त्याग करता हूं । से = अथ-अब से
लेकर मैं कोहा वा = क्रोध से लोहावा = लोभ से भयावा = भय से हासावा = हास्यसे सयं =
खुद मुसावायं = असत्य नेव = नहीं वड्ज्जा = बोलाऊंगा, नेव = न अन्नेहिं = दूसरों से जुलुं = अस-
त्य वायाविज्जा = बोलाऊंगा, सुसं = असत्य वयंतेवि = बोलते हुए भी अन्ने = दूसरों को न
समणुजाणिज्जा = भला नहीं जानूंगा । जावज्जीवाए = जीवनपर्यन्त (इसका) तिविहं = कृत
कारित-अनुमोदनारूप तीन कारणसे (तथा) तिविहणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वा-
याए = वचन से काएणं = कायसे न करेमि = न करूंगा, न कारवेमि = न कराऊंगा, कस्तंपि
= करते हुए भी अन्नं = दूसरेको न समणुजाणामि = भला नहीं समझूंगा, । भंते ! = हे भगवन्
तस्स = उस दण्ड से पडिक्कमामि = पृथक् होता हूं, निंदामि = आत्मसाक्षीसे निन्दा करता
हूं, गरिहामि = गुरु साक्षी से गहं करता हूं, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको
वोसिरामि = त्यागता हूँ, भंते ! = हे भगवन् ! दोच्चे = दूसरे महव्वए = महाव्रतमें उवड्ढिओ-
मि = उपस्थित हुवा हूं, इसलिये मुझे सवाओ = सब प्रकारके मुसावायाओ = असत्य से वेर-
मणं = त्याग है ॥९॥ (२)

(૨) મૃષાવાદવિરમણવ્રતમ્ ।

ટીકા—અથ=પ્રથમમહાવ્રતાનન્તરં હે ભદન્ત ! હે ભગવન્ ! અપરે—સમનન્તરોદીરિ-
તમહાવ્રતાપેક્ષયા મિન્ને દ્વિતીયે મહાવ્રતે મૃષાવાદાત્—મિથ્યાભાષણાત્ ‘વિરમણ’મિત્યનેન
સમ્બન્ધો વક્ષ્યતે । મૃષાવાદો હિ સદ્ભાવપ્રતિષેધા-અમૃતોદ્ભાવના-અર્થાન્તરાભિધાન-ગર્હૈતિભે-
દૈશ્ચતુર્વિધઃ, તત્ર સદ્ભાવપ્રતિષેધઃ—જીવાજીવાદિપદાર્થસત્તાનિરાકરણમ્, યથા—‘નાસ્ત્યાત્મા
પરલોકઃ, પુણ્યપાપાદિકં, ચેતિ (૧) । અમૃતોદ્ભાવનમ્—જીવાજીવાદિતત્ત્વાનામતદ્રૂપત્વેન
પ્રતિપાદનમ્, યથા—‘આત્માઅયમ્દુષ્ટમાત્રો, નિષ્ક્રિયઃ, સર્વગતો વેત્યાદિ (૨) । અર્થાન્ત-
રાભિધાનમ્—પ્રસિદ્ધપદાર્થસ્ય પદાર્થાન્તરત્વેન કથનમ્, યથા—ગોર્ગર્દભત્વેન, ગર્દભસ્ય ગો-
ત્વેનાભિધાનમ્ (૩) । ગર્હા—ગર્હિતં—હીનતાપ્રદર્શનમ્, યદ્વા હિંસાપારુષ્યાદિયુક્તં સત્યમપિ
વચઃ, યથા—‘અયં હન્તવ્યઃ’ ઇત્યાદિ, ‘એહિ અન્ધ !, આચાહિ વધિર !, આગચ્છ પદ્મો !,
ઇત્યાદિ ચ (૪) ઇમેઅપિ (ચત્વારો ભેદાઃ) પ્રત્યેકં ચતુર્ધા—દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર કાલ-ભાવ-ભેદાત્ ।

રમણ મહાવ્રતકી પુષ્ટિ હોતી હૈ, અત. પ્રાણાતિપાતવિરમણકે વાદ દૂસરે મૃષાવાદવિરમણ મહાવ્રત-
કા વ્યાખ્યાન કરતે હૈ—‘અહાવરે દોચ્ચે૦’ ઇત્યાદિ ।

(૨) મૃષાવાદવિરમણવ્રત ।

હે ભગવન્ ! પ્રથમ મહાવ્રતકે અનન્તર દૂસરે મહાવ્રતમેં મૃષાવાદસે વિરમણ હોતા હૈ । મૃષા-
વાદ ચાર પ્રકારકા હૈ—(૧) સદ્ભાવપ્રતિષેધ, (૨) અમૃતોદ્ભાવન, (૩) અર્થાન્તરાભિધાન, (૪)
ગર્હા । જીવ અજીવ આદિ પદાર્થોકે અસ્તિત્વકા નિરાકરણ કરના સદ્ભાવપ્રતિષેધ મૃષાવાદ હૈ,
જૈસે—‘આત્મા નહીં, પરલોક નહીં, પુણ્ય નહીં, પાપ નહીં’ ઇત્યાદિ (૧) । જીવ અજીવ આદિ તત્ત્વો-
કા અયથાર્થ સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરના અમૃતોદ્ભાવન મૃષાવાદ હૈ, જૈસે—આત્મા અંગૂઠેકે બરાબર
હૈ, નિષ્ક્રિય હૈ યા સર્વગત હૈ’ (૨) એક પદાર્થકો દૂસરા પદાર્થ કહ દેના અર્થાન્તરાભિધાન મૃષા-
વાદ હૈ જૈસે—‘ગાયકો ગધા બતાના, યા ગધેકો ગાય કહના’ (૩) । દૂસરેકી હીનતા પ્રકટ કરના

તિપાતવિરમણ મહાવ્રતની પુષ્ટિ થાય છે. એટલે પ્રાણાતિપાતવિરમણની પછી બીજા મૃષાવા-
દવિરમણ મહાવ્રતનું વ્યાખ્યાન કરે છે—અહાવરે દોચ્ચે૦ ઇત્યાદિ

(૨) મૃષાવાદવિરમણવ્રત.

હે ભગવન્ પ્રથમ મહાવ્રતની પછી બીજા મહાવ્રતમાં મૃષાવાદથી વિરમણ હોય છે.
મૃષાવાદ ચાર પ્રકારનો છે. તે આપ્રમાણે—(૧) સદ્ભાવપ્રતિષેધ, (૨) અમૃતોદ્ભાવન (૩)
અર્થાન્તરાભિધાન, (૪) ગર્હા. જીવ અજીવ આદિ પદાર્થોના અસ્તિત્વનું નિરાકરણ કરવું એ
સદ્ભાવપ્રતિષેધ મૃષાવાદ છે, જેમકે—‘આત્મા નથી, પરલોક નથી, પુણ્ય નથી પાપ નથી,
ઇત્યાદિ. (૧) જીવ અજીવ આદિ તત્ત્વોનું અયથાર્થ સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરવું એ અમૃતોદ્ભાવન
મૃષાવાદ છે, જેમકે—‘આત્મા અંગૂઠા જેવડો છે, નિષ્ક્રિય છે યા સર્વગત છે’ (૨) એક પદાર્થને
બીજો પદાર્થ કહી દેવો એ અર્થાન્તરાભિધાન મૃષાવાદ છે, જેમકે—‘ગાયને ગધેડો કહેવો યા
ગધેડાને ગાય કહેવી.’ (૩) બીજાની હીનતા પ્રકટ કરવી, અથવા હિંસા તથા કઠોરતા—યુક્ત

तत्र द्रव्यविषयकसद्भावप्रतिषेधः—धर्माधर्मादिपद्द्रव्यागामन्यथा प्ररूपणम् । क्षेत्रविषयसद्भावप्रतिषेधः—लोकालोकयोरन्यथा निरूपणम् । कालविषयक सद्भाव प्रतिषेधः, क्षण-मुहूर्त—दिवसादि स्वरूपाणामन्यथानिरूपणम् । भावविषयकसद्भावप्रतिषेधः—रागद्वेषादीनामन्यथा प्रतिपादनम् । एवमेवाऽभूतोद्भावनादित्रयेऽपि द्रव्यादिचर्तुभङ्गी योजनीया । तस्माद्विरमणमिति । हे भगवन् ! सर्व—समस्तं मृषावादं प्रत्याख्यामीति पूर्ववद्भोद्भव्यम् ।

तदेव विशदयति—‘से’—इति, अथ—अनन्तरम्—अधारभ्य—क्रोधात्—क्रोधः—आत्मनः क्रोधमोहनोयप्रकृत्युदयेन स्वपरचित्तविकृतिजनको निरनुकम्पक्रौर्यवैभाविकपरिणामविशेषस्तस्मात् । लोभात्—लोभः—लोभप्रकृत्युदयवशाद्द्रव्याद्यभिलाषलक्षणो जीवस्य वैभाविक-

अथवा हिंसा और कठोरतायुक्त सत्य वचन कहना गहाराूप असत्य है, जैसे—यह मार डालने योग्य है, ओ अंधे ! इधर आ, ओ बहिरे ! या लंगड़े ! यहाँ आ’ इत्यादि (४)

इन चार प्रकारके मृषावादोके भी द्रव्य क्षेत्र काल भावके भेदसे चार चार भेद होते हैं ॥ धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि पद्द्रव्योंके स्वरूपकी अन्यथा प्ररूपणा करना द्रव्य—सद्भाव-प्रतिषेध है । लोक और अलोकका अयथार्थ निरूपण करना क्षेत्र—सद्भावप्रतिषेध है । क्षण मूहूर्त दिन आदिके स्वरूपका मिथ्या कथन करना काल—सद्भावप्रतिषेध है । रागद्वेष आदि भावों का विपरीत स्वरूपवताना भावसद्भावप्रतिषेध है । इसी प्रकार अन्य तीन भेदोंकी चतुर्भंगी समझ लेनी चाहिये, जैसे—द्रव्य अभूतोद्भावन, क्षेत्र अभूतोद्भावन, इत्यादि ।

हे भगवन् ! मैं सब प्रकारके मृषावादका प्रत्याख्यान करता हूँ ।

मृषावाद किस किस कारणसे होता है ? सो कहते हैं—

जीवके क्रोध—मोहनीय प्रकृतिके उदयसे स्व—परके चित्तमें विकार करनेवाला अनुकम्पारहित क्रूरतारूप वैभाविक परिणाम क्रोध है ।

सत्यवचन कहेवा ओ गडाइप असत्य छे, जेभके—‘ओ मारी नांभवा योग्य छे; ओ आधणा ! अही’ आव. ओ अडेरा ! ओ ल गडा ! अहीं आव’ इत्यादि (४)

ओ चार प्रकारना मृषावादेना पणु द्रव्य क्षेत्र काल भावना लेहे करीने चार चार लेहे थाय छे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि छ द्रव्येना स्वरूपनी अन्यथा प्ररूपणा करवी ओ द्रव्य—सद्भावप्रतिषेध छे लोक अने अलोकनु अयथार्थ निरूपणु करवुं ओ क्षेत्र—सद्भाव प्रतिषेध छे, क्षण मुहूर्त दिन आदिना स्वरूपनु मिथ्या कथन करवुं ओ काल—सद्भावप्रतिषेध छे. राग द्वेष आदि भावोनु विपरीत स्वरूप अताववुं ओ भाव—सद्भावप्रतिषेध छे. ओ प्रकारे अन्य त्रयु लेहेनी अतुल गी समञ्ज लेवी, जेभके—द्रव्य—अभूतोद्भावन क्षेत्रअभूतोद्भावन इत्यादि.

हे भगवन् ! दु सर्व प्रकारना मृषावादेना प्रत्याख्यान करुं छु

मृषावाद कया कया कारणथी थाय छे ! ते हवे कहे छे—

एवना क्रोध—मोहनीय प्रकृतिना उदयथी स्व—परना चित्तमा विकार करवावाणे अनु-कम्पारहित क्रूरताइप एवना वैभाविक—परिणाम ओ क्रोध छे.

परिणामस्तस्मात् । भयात्-भयं-भयमोहनीयप्रकृत्युदयेनोद्वेगाऽऽवेदको विकारविशेषस्तस्मात् हासात्-हासः-हास्यमोहनीयप्रकृत्युदयेन वागादिविकृत्या कपोलयुगलोल्लासनलोचनसंकोचन-दशनप्रकाशन-सहकृतसशब्दप्राय-वदनव्यादानादिलक्षणश्चेतो विकाशस्तस्मात् । नैव स्वयं मृषा-मिथ्या वदामि, नैवान्यैर्मृषा वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान् समनुजानामीत्यादि पूर्ववत् ॥ ९ ॥ (२)

सत्यपरिपालनं चाऽदत्तादान-(चौर्य)-परित्यागपूर्वकं कर्तुं शुभकमिति तदनन्तरमदत्तादानविरमणमञ्जकं तृतीयं महाव्रतमाह-‘अहावरे तच्चे ’ इत्यादि ।

मूलम्-अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वैरमणं, सव्वं भंते ? आदिन्नादाणं पच्चक्खामि से गामे वा नगरे वा रन्ने वा अप्पं वा बहं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं ति विहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ? पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाणं वासिरामि । तच्चे भंत ! महव्वए उवड्ढिओभि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वैरमणं ॥१०॥

लोभ-प्रकृतिके उदयसे द्रव्य आदिकी अभिलाषारूप जीवके वैभाविक भावको लोभ कहते है, भय-मोहनीयके उदयसे उद्वेगको उत्पन्न करनेवाला विकार भय कहलाता है ।

हास्य-मोहनीयके उदयसे वचनोकी विकृतिके साथ गाल फुलाकर आँखे कुछ २ मूदकर दाँत निकालकर ‘ही-ही’ शब्द करके मुखको प्रफुल्लित करना हास्य कहलाता है ।

इन सब कारणोसे मृषावाद होता है । मैं इन कारणोके वश होकर न स्वयं मृषा बोळूँगा, न दूसरोसे बोळूँगा, न किसी मृषा बोलते हुएको भला जानूँगा (२) ॥९॥

बोला-प्रकृतिना उदये करीने द्रव्य आदिनी अभिलाषारूप भुवना वैभाविकभावने बोला कहे छे

भय-मोहनीयना उदयथी उद्वेगने उत्पन्न करवावाणो विकार भय कहेवाय छे.

हास्य-मोहनीयना उदयथी वचनोनी विकृतिनी साथे गाल कुलावीने आँखो काँधंके भीचीने दाँत काटीने ‘ही-ही’ शब्द करीने मुखने प्रफुल्लित करवु ओ हास्य कहेवाय छे.

ओ सर्व कारणोथी मृषावाद उत्पन्न थाय छे. हुँ ओ कारणोने वश थअने नही स्वयं मृषा (बूढं) बोळुं, नही भीअ पासे बोलावु, के नही मृषा बोलावने लवो जाळुं. (२)९

छाया—अथापरे तृतीये भदन्त ! महाव्रतेऽदत्तादानाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि नेवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् समनुजानामि, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्मात् भदन्त ! प्रतिक्रामामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि । तृतीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माददत्तादानाद्विरमणम् ॥१८॥

(३) अदत्तादानविरमण.

सान्त्वयार्थः—भंते ! = हे भगवन् ! अहावरे = इसके बाद तच्चे = तीसरे महव्वए = महाव्रतमें अदिन्नादाणाओ = अदत्तादानसे वेरमणं = विरमण होता है (अतः मैं) भते ! = हे भगवन् ! सव्वं = सब प्रकार के अदिन्नादाणं = अदत्तादान (चोरी) का पचचक्खामि = प्रत्याख्यान करता हूँ से = अथ-अब से ले कर मैं-ग्रामे वा = ग्राममें नगरे वा = नगरमें रण्णे वा = अरण्यमें अपं वा = अल्प-थोडा वहुं वा = बहुत-घणा अणुं वा = मक्ष्म-छोटा थूलं वा = स्थूल-मोटा चित्तमंतं वा = सचेतन अचित्तमंतं वा = अचेतन (आदि किसी भी) अदिन्नं = विना दिये हुए पदार्थ को सयं = स्वयं नेव = नहीं गिण्हिज्जा = ग्रहण करूंगा, नेवन्नेहिं = न दूसरोंसे अदिन्नं = विना दिया हुआ गिण्हाविज्जा = ग्रहण कराऊंगा, अदिन्नं = विना दिये हुए पदार्थ को गिण्हंतेवि = ग्रहण करते हुए भा अन्ने = दूसरे को न समणुजाणामि = भला नहीं जानूंगा, जावज्जीवाए = जीवनपयन्त (इसको) तिविहं = कृत-कारित-अनुमोदनारूप तीन कारणसे (तथा) तिविहेणं = तीन प्रकारसे मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि = न करूंगा, न कारवेमि = न कराऊंगा, करं प = करते हुए भी अन्नं = दूसरे को न समणुजाणामि = भला नहीं समझूंगा । भंते ! हे भगवन् ! तस्स = उस दण्डसे पडिक्कामामि = पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्मसक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसक्षी से गर्हा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ । भंते ! = हे भगवन् ? तच्चे = तीसरे = महव्वए = महाव्रतमें उवट्ठिओमि = उपस्थित हुआ हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब अदिन्नादाणाओ = अदत्तादानसे वेरमणं = विरमणं-त्याग है ॥१०॥ (३)

अदत्तादानविरमणव्रतम्

टीका—हे भगवन् ? अथ = मृषावादविरमणानन्तरम् अपरे = तृतीये महाव्रते अदत्तादानात् = न दत्तमदत्त = देवगुरु भूपगाथापतिसाधर्मिकैरनुज्ञातं तस्याऽऽदानं = ग्रहणमदत्तादानं तस्मा द्विरमणम्, सर्वं भगवान् ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, एतत्तु व्याख्यातपूर्वम् । तदेव विशदयति—‘से’-इति, अथ = अनन्तरम्-अद्यारभ्य-ग्रामे = ग्रस्यन्ते = अद्यन्ते = विनाश्यन्ते बुद्धिविद्याविवेकादयो गुणा यत्र स इति, गम्यो गोमहिषादीनां करैरिति वा ग्रामः (सिद्धिः पृषोदरादित्वात्) कृषिप्रचुरभूभागो, हृष्टादिशून्यवसतिः, कण्टकमय-

વૃત્તિપરિવેષિતગૃહસમૂહસમ્પન્નો વા તસ્મિન્ । નગરે = ન ગચ્છન્તીતિ નગા; = વૃક્ષાઃ પર્વ-
તાશ્ચ, ત ઇવ સમુન્નતાઃ પ્રાસાદાદયો યસ્મિન્સ્તન્નગરમ્, ('નગ-યાંસુ પાણ્ડુભ્યશ્ચ' -તિ વાર્ત્તિ-
કેન નગશબ્દાદઃ) નકરમિતિચ્છાયાપક્ષે તુ ન વિદ્યતે ગોમઠિપાદીનામષ્ટાદશવિધઃ ક્રરઃ =

સત્ય મહાવ્રતકા પાલન અદત્તાદાનકા ત્યાગ કરનેસે હી હો સક્રતા હૈ, ડમ કારણ સત્ય મહાવ્રતકે પશ્ચાત્ અદત્તાદાનવિરમણ નામક તોસરે મહાવ્રતકા કથન કરતે હૈ—' અહાવરે તચ્ચે' ઇત્યાદિ ।

(૩) અદત્તાદાનવિરમણ ।

મૃષાવાદવિરમણકે વાદ તોસરે મહાવ્રતમેં દેવ ગુરુ રાજા ગાથાપતિ ઓર સાધર્મિકકે દ્વારા ન દિયે હુણ્ પદાર્થકે ગ્રહણકા ત્યાગ ડિયા જાતા હૈ, ઇસલિણ્ હૈ ભગવન્ ! મૈ સર્વ અદત્તાદાન-કા પરિત્યાગ કરતા હૈ । વહ ડમ પ્રકાર—

જહાં રહને સે વુદ્ધિ, વિદ્યા, વિવેક આદિ ગુણ નષ્ટ હો, જાતે હૈ ઉસે ગ્રામ કહતે હૈ । અથવા પૃથ્વીકે અધિક ભાગમે કૃપિ હોતી હો, વાજાર યા દુકાને હો, કોટોકી વાડસે ઘિરે હુણ્ ઘર હો ઉસ વસ્તીકો ગ્રામ (ગાંવ) કહતે હૈ ।

જહાં વૃક્ષ તથા પર્વતકી તરહ અત્યન્ત ઉન્નત મહલ-હવેલિયાં હો અથવા ગો મહિષ આદિ પર કર (જકાત) ન લગતા હો, અથવા જિસ વસ્તીમેં પુણ્ય-પાપ ક્રિયાઓકે જ્ઞાતા, દયા-દાનકે પ્રવર્તક, કાશઓમેં કુગલ ચાગે વર્ણ હો, ઓર જહાં નાના દેશકી ભાષા વોલનેવાલે મનુષ્ય રહતે હો ઉસે નગર કહતે હૈ ।

સત્ય મહાવ્રતનુ પાલન અદત્તાદાનનો ત્યાગ કરવાથી જ થઈ શકે છે, તે કારણથી સત્ય મહાવ્રતની પછી અદત્તાદાન-વિરમણ નામના ત્રીજા મહાવ્રતનું કથન કરે છે—અહાવરે તચ્ચે ઇત્યાદિ.

(૩) અદત્તાદાનવિરમણ.

મૃષાવાદવિરમણની પછી ત્રીજા મહાવ્રતમા દેવ ગુરુ, રાજા, ગાથાપતિ અને સાધર્મિકે ન આપેલા એવા પદાર્થનું ગ્રહણ કરવાનો ત્યાગ કરવામાં આવે છે, તેથી હે ભગવન્ ! હું સર્વ અદત્તાદાનનો પરિત્યાગ કરું છું તે આ પ્રકારે—

જ્યા રહેવાથી બુદ્ધિ, વિદ્યા, વિવેકાદિ ગુણો નષ્ટ થઈ જાય છે તેને ગ્રામ કહે છે અથવા જ્યા ગાય લેશ આદિનો કર (ટેક્સ) લેવામાં આવે છે, અથવા પૃથ્વીના વધારે ભાગમાં ખેતી થાય છે, ખલ્લ અથવા દુકાને હોય નહીં, કાટાની વાડથી ઘેરાયેલા ઘર હોય એ વસ્તીને ગ્રામ (ગામ) કહે છે.

જ્યા વૃક્ષ કે પર્વત જેવી અત્યન્ત ઉચ્ચ મહલ-હવેલીઓ હોય, અથવા ગાય-લેશ આદિ પર કર (જકાત) ન લાગતો હોય, અથવા જે વસ્તીમા પુણ્ય-પાપ ક્રિયાઓના જ્ઞાતા, દયા-દાનના પ્રવર્તક, કાશઓમા કુગલ ચાગે વર્ણ હોય, અને જ્યા જૂદા જૂદા દેશોની ભાષાઓ બોલનારા મનુષ્યો રહેતા હોય, તેને નગર કહે છે.

रापग्राह्यभागः (जकात) यत्र तत् । यद्वा—

“पुण्यपापक्रियाविज्ञैः, दयादानप्रवर्तकैः ।

कलाकलापकुशलैः, सर्ववर्णैः समाकुलम् ॥

भाषाभिर्विधाभिश्च, युक्तं 'नगर'-मुच्यते ॥”

इत्युक्तलक्षणं तस्मिन् । अरण्ये = अर्यते-गम्यते एकान्तविविक्तदेशप्रियैर्ध्यानार्थिभिः, काष्ठा-
घातुं काष्ठहारकैर्वत्यरण्यं तस्मिन्, उपलक्षणात्खेट इदौ । एतेषां मध्ये कस्मिंश्चिदपि स्थले
अल्पं = मूल्यतो न्यूनं दन्तादिपरिगोधनार्थं तृणादिकम्, बहु = अधिकमूल्यकं सुवर्णा-
दिकम्, अणु = प्रमाणतो लघु माणिक्यदिकम्, स्थूलम् = प्रमाणतो विशालमेरण्डकाष्ठा-
दिकम्, चित्तवत् = सचेतनम्, अचित्तवत् = अचेतनं वा, एतत्सर्वम् एतदन्यतमं वा
अदत्तं = तत्स्वामिना ग्रहणायाऽननुमतं नैव स्वयं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि अदत्तं
गृह्णतोऽप्यन्यान् समनुजानामीत्यादिकं सर्वं व्याख्यातपूर्वम् ।

ननु सामान्येनाऽदत्ताऽदानस्य स्तेयत्वे प्रतिक्षणमनन्यदेयकर्माण्याददानस्य समि-
तिशुप्तिप्रभृतिभिर्धर्म वा समुपार्जयतः साधोरदत्तादानापत्तिप्रसक्तिरिति चेन्न,

एकान्त और पवित्र स्थानके अभिलाषी ध्यानार्थी योगी अथवा लकड़ी लानेके लिए लकड़-
हारे जहाँ जाते हैं वह अरण्य कहलाता है ।

इन ग्राम, नगर, अरण्य और उपलक्षसे खेटक (खेड़ा) आदि किसी स्थानमें कम मूल्य-
वाला-दाँत खुजानेका तिनका आदि, अधिक कीमतवाला-सुवर्ण अदि, प्रमाणकी अपेक्षा अणु-
माणिक्य आदि, प्रमाणकी अपेक्षा बड़ा-एरण्डकाष्ठ आदि, सचेतन अथवा अचेतन कोई पदार्थ
या सब पदार्थ बिना स्वामीकी अनुगतिके न स्वयं ग्रहण करूँगा, न दूसरोसे ग्रहण कराऊँगा
और न ग्रहण करनेवालेको भला जानूँगा ।

प्रश्न—हे गुरु महाराज । बिना दी हुई सब वस्तुओंको ग्रहण करना यदि अदत्तादान है
तो मुनियो को भी अदत्तादानका प्रसंग आवेगा, क्योंकि मुनि बिना दिये हुए कर्मोंको प्रतिक्षण

एकान्त अने पवित्र स्थानना अभिलाषी ध्यानार्थी योगी अथवा लाकडा लेवाने भाटे
कठियारा ज्यां जाय छे ते अरण्य (जगल) कहवाय छे

जे गाम नगर अरण्य अने उपलक्षणे करीने खेटक (गामडु) आदि केरि स्थानमा
ओछा मूल्यवाणु दाँत खोतरवानु तणुण्डुं वगेरे वधारे मूल्यवाणुं सोनु वगेरे प्रमाणुनी
अपेक्षाओे नातुं माणिक्यादि प्रमाणुनी अपेक्षाओे मोटुं ओेर डानुं लाकडुं आदि सचेतन
अथवा अचेतन केरि पदार्थ या सर्व पदार्थ तेना स्वामीनी अनुमति बिना नहि स्वयं हुं
ग्रहणु करे नहि ओेना पासे ग्रहणु करवानुं अने नहि ग्रहणु करनारने लयो जाणु

प्रश्न—हे गुरु महाराज । आपवामां आन्या विनामी अधी वस्तुओेने ग्रहणु करवी ओे
जे अदत्तादान छे तो मुनिओेने पणु अदत्तादाननेनप्रसंग आवेशे कारणु के मुनि बिना
अपायला कर्मने प्रतिक्षणु ग्रहणु करे छे अने समिति शुभितुं पालन करीने धर्मनु पणु
उपार्जन करे छे.

लोकप्रसिद्धहस्तादिकरणकदानाऽऽदानादिव्यवहारस्य कर्मादिष्वभावात्, तथाहि लोके वस्त्रपात्रादिकमन्यस्मै हस्तेन दीयतेऽन्यस्माद्वाऽऽदीयते, इत्येव दानाऽऽदानादिव्यवहारो दृश्यते तस्य न कर्मविषयकत्वं संभवति, तेषां सूक्ष्मत्वात्, नहि सूक्ष्मं कर्मादिकं हस्तादिकरणकग्रहणवितरणयोग्यतां भजते इति ।

धर्ममुपार्जयतश्चाऽप्रमत्तत्वात्तीर्थकराणां धर्मार्जनोपदेशाच्च न स्तेयप्रसङ्गः, अत एवाऽल्प-बहु-स्थूलाऽणुग्रहणं सूत्रे कृतमिति ॥१०॥ (३)

ग्रहण करते हैं और समिति-गुप्तिका पालन करके धर्मका भी उपार्जन करते हैं ।

उत्तर—हे शिष्य ! ऐसा नहीं है हाथोंसे लेने-देनेका जैसा व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध है वैसा कर्मोंमें नहीं हो सकता, आर्थात् लोकमें ऐसा व्यवहार होता है कि—वस्त्र पात्र दूसरोको हाथ से दिया जाता है, दूसरेसे लिया जाता है ।' इस प्रकारका व्यवहार कर्मोंके विषयमें नहीं होता, क्योंकि कर्म अत्यन्त सूक्ष्म है, वे इन्द्रियके विषय भी नहीं होते तो उनका लेन देन कैसे हो सकता है ? दूसरी बात यह है कि प्रमादके योगसे अदत्त पदार्थका आदान (ग्रहण) करना अदत्तादान कहलाता है, मुनिराजको तद्विषयक प्रमाद नहीं है इसलिए उन्हे अदत्तादानका दोष नहीं लगता । मुनिराज तो कभी नहीं चाहते कि हम कर्मोंको ग्रहण करें, किन्तु ससारी आत्मा और कर्मोंका स्वभाव ही ऐसा है कि जिनसे कर्म बध जाते हैं । रहा धर्मोपार्जन, सो तीर्थकर भगवानने धर्मोपार्जन करनेका आदेश तथा उपदेश दिया है इसलिए अदत्तादानका प्रसंग नहीं आता ।

सूत्रमें अल्प, बहु, स्थूल, और अणु, इन शब्दोंका ग्रहण भी इसी आशयसे किया गया है, अत एव कर्मोंके बन्धन तथा समिति-गुप्ति द्वारा धर्मोपार्जनमें अदत्तादान नहीं लगता है । ३ ॥१०॥

उत्तर—हे शिष्य ? ऐसा नहीं. हाथेथी लेना-देवाने जेवो वडेवार लेना प्रसिद्ध छे तेवो वडेवार कर्मोभा नथी होय शकते, अर्थात् लोकमें जेवो वडेवार थाय छे के—वस्त्र पात्र भीजने आषवामा आवे छे भीज पासेथी देवामा आवे छे' जे प्रकारने वडेवार कर्मोनी आषतमां थते नथी केमके-कर्म अत्यन्त सूक्ष्म छे ते इन्द्रियने विषय न नथी होतो तो जेनी लेणु-देणु केनी रीते थय शके ? भीज वान जे छे के प्रमादना योगथी अदत्त पदार्थनुं आदान (ग्रहण) करवु जे. अदत्तादान कडेवाय छे मुनिराजने तद्विषयक प्रमाद होतो नथी तेथी तेमने अदत्तादानने दोष लागने नथी मुनिराज तो कदापि जेम नथी छे छेते के हु कर्मोने ग्रहण करे. किन्तु ससारी आत्मा जने कर्मोने स्वभाव न जेवो छे के जेथी कर्म अघाथ जय छे आशी रह्यु धर्मोपार्जन ते तीर्थकर भगवाने धर्मोपार्जन करवाने आदेश तथा उपदेश आये छे तेथी तेमा अदत्तादानने प्रसंग न आवतो नथी.

सूत्रमें अल्प, बहु, स्थूल, जने अणु, जे शब्दोनु ग्रहण पणु जे न आशयथी करवामा आयु छे. जेद्वे कर्मोना बन्धन तथा समिति-गुप्ति द्वारा धर्मोपार्जन, जेमा अदत्तादान लागतुं नथी (३) (१०)

मैथुनविरमणमन्तरेण ह्यहिंसादिमहाव्रतानां संरक्षणं न भवितुं शक्नोति, यतो मैथुन-
परायणः प्राणी त्रस-स्थावर जीवन हिनस्ति, पिथ्या वदति, अदत्तं चाऽऽदत्तेऽतस्तेषां निर-
पायपरिपालनाय 'मैथुनविरमण' नामधेयं चतुर्थं महाव्रतमाह—'अहावरे चउत्थे ' इत्यादि

मूलम्—अहावरे चउत्थे भंते ? महव्वए मेहुणाओ वेरमणं, सव्वं
भंते ? मेहुणं पच्चक्खामि. से दिव्वं वा माणसं वा तिरिक्खजो-
णियं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहि मेहुणं सेवाविज्जा, मे-
हुणं सेवंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं-तिवि-
हणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न
समणुजाणामि । तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि
अप्पाणं वोसिरामि । चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ
मेहुणाओ वेरमणं ॥११॥ (४)

छाया—अथापरे चतुर्थे भदन्त ? महाव्रते मैथुनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! मैथुन प्रत्या-
ख्यामि, अथ दैवं वा मानुष वा तैर्यग्योन वा नैव स्वयं नैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवया-
मि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यानन=समनुजानामि, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिनिधेन मनसा वाचा
कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्माद् भदन्त ! प्रति-
क्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मान व्युत्सृजामि । चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि
सर्वस्मान्मैथुनाद्विरमणम् ॥११॥

(४) मैथुनविरमण.

सान्त्वयार्थः—भंते! = हे भगवन् ! अहावरे = इसके बाद चउत्थे = चौथे महव्वए = महा-
व्रतमें मेहुणाओ = मैथुनसे वेरमणं = विरमण होता है, (अतः मै) भंते ! = हे भगवन् ! सव्वं =
सब प्रकारके मेहुणं = मैथुनका पच्चक्खामि = प्रत्याख्यान करता हूँ, से = अब से लेकर मैं
दिव्वं वा = देवसम्बन्धी माणुसं वा = मनुष्यसम्बन्धी तिरिक्खजोणियं वा = तिर्यञ्चसम्बन्धी
मेहुणं = मैथुनको सयं = स्वयं नेव = न सेविज्जा = सेवन करूंगा, मेहुणं = मैथुन सेवंतेवि = सेव-
न करते हुए भी अन्ने = दूसरोंको न समणुजाणिज्जा = भला नहीं समझूंगा, जावज्जीवाए =
जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं =
तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि = न करूंगा न का-
रवेमि = न कराऊंगा करंतंपि = करते हुए भी अन्न = दूसरे को न समणुजाणामि = भला नहीं
समझूंगा । भंते ! = हे भगवन् ! तस्स = उस दण्डसे पडिक्कमामि = पृथक् होता हूँ, निंदामि =
आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरु साक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड
सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ । भंते ! = हे भगवन् ! चउत्थे =
चौथे महव्वए = महाव्रतमें उवट्ठिओमि = उपस्थित होता हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब
प्रकारके मेहुणाओ = मैथुनसे वेरमणं = त्याग है ॥११॥ (४)

(४) मैथुनविरमणव्रतम्

टीका—हे भगवन् ! अथ अपरे चतुर्थे महाव्रते मैथुनान्=मिथुनेन=स्त्रीपुंसाभ्यां निर्वृत्तं कर्म मैथुन प्रत्याख्यामीति प्राग्ब्रूत्, तदेव विशदयति-‘से’ इति । अयं=अनन्तरम्-अद्यारभ्य देवं=देवानामिदं मानुषं=स्त्री-पुंससम्बन्धीत्यर्थः, तैर्यग्योनं=तिर्यग्योनं=पश्वादि-सम्बन्धीत्यर्थः, मैथुनं नैव स्वयं सेवे, इत्यादि सर्वं पूर्ववत् । द्रव्यादिचतुर्भङ्गचपि प्राग्ब्रू-योजनीया ॥११॥ (४)

(५) परिग्रहविरमण.

मैथुनविरमणं च परिग्रहविरमणमन्तरेण न भवितुं मुशकमिति मैथुनविरमणानन्तरं परिग्रहविरमणनामकं पञ्चम महाव्रतमाह -‘अहावरे पंचमे’ इत्यादि ।

मूलम्—अहावरे पंचमे भंते ! महाव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चवखापि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हविज्जा, परिग्गह परिगिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जोवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए

मैथुनविरमणक विना अहिंसा आदि महाव्रतोको रक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि मैथुन सेवन करनेवाला तस स्थावर जीवोकी हिंसा करता है, असत्य बोलना है, और अदत्तका आदान करता है । अत एव अहिंसादि महाव्रतोका निरतिचार पालन करनेके लिए मैथुन-विरमण नामक चतुर्थ महाव्रतका प्रतिपादन किया जाता है—अहावरे चउत्थे, इत्यादि ।

(४) मैथुनविरमण

हे भगवन् ! चौथे महाव्रतमें समस्त प्रकारके मैथुनसे विरमण किया जाता है, इसलिए हे भगवन् ! मैं सब तरहके मैथुनका प्रत्याख्यान करता हूँ । अप्सराओं सम्बन्धी देवी स्त्री पुरुष संबंधी मानुषी पशु आदि संबंधी तैर्यग्योनिक मैथुनको मैं न स्वयं सेवन करूँगा न दूसरो से सेवन कराऊँगा न सेवन करते हुए को भला जानूँगा । । द्रव्य क्षेत्र काल भावकी चौभंगी यहाँ पर भी लगानी चाहिए, अर्थात् द्रव्यसे स्त्री आदिके साथ, क्षेत्रसे किसी क्षेत्रमें, कालसे-किसी कालमें और भावसे—किसी भी भावसे, तीन करण तीन योगसे मैथुन सेवन नहीं करूँगा ॥११॥ (४)

मैथुनविरमण विना अहिंसा आदि महाव्रतोनी रक्षा थछ शकती नथी, कारण उ-मैथुन सेवन करवावाणे तस-स्थावर जीवोनी हिंसा करे छे, असत्य बोले छे अने अदत्तवुं आदान करे छे तेथी करीने अहिंसादि महाव्रतानुं निरतिचार पालन करवाने माटे मैथुन-विरमण नामनुं योथा महाव्रतानुं प्रतिपादन करवाभां आवे छे—अहावरे चउत्थे इत्यादि

(४) मैथुनविरमण.

हे भगवन् ! योथा महाव्रतमा सर्व प्रकारना मैथुननुं विरमणुं करवाभा आवे छे, तेथी हे भगवन् ! इं सर्व प्रकारना मैथुननुं प्रत्याख्यान करे छु अप्सराओ संभ धी देवी, स्त्री-पुरुष-संभ धी मानुषिक पशु-आदि-संभ धी तैर्यग्योनिक मैथुन नहीं इं स्वयं सेवुं, नहीं भीज्जो पासे सेवन करावु अने नहीं सेवन करनारने लोकोन ज्जालु द्रव्य-क्षेत्र-क्षण-भावनी चौभंगी योथा पणु लगाव्थी, अर्थात् द्रव्यथी स्त्रीआदिनी साथे, क्षेत्रथी कोष पणु क्षेत्रमां, कालथी कोष कालमा अने भावथी कोष पणु भावे करीने तणु करणु तणु योगथी मैथुन सेवीश नहीं. (४) (११)

काएणं न करेमि न कारवेमि, कस्तंपि अन्नं न समणुजाणामि ।
तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।
पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं
॥१२॥ (५)

छाया—अथापरे पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामि, अथ अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तवन्तं वा नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुनामि भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि । पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात्परिग्रहाद्विरमणम् ॥१२॥ (५)

सान्त्वयार्थः—भंते ! = हे भगवन् ! अहावरे = इसके बाद पंचमे = पांचवें महव्वए = महाव्रतमें परिग्गहाओ = परिग्रहसे वेरमणं = विरमण होता है, अतः मैं भंते = हे भगवन् सव्वं = सब प्रकारके परिग्रहं = परिग्रहको पच्चक्खामि = त्यागता हूँ, से = अब से लेकर मैं अप्पवा = अल्प-बहुंवा = बहुत-अणुंवा = अणु-छोटा थूलंवा = स्थूल मोटा चित्तमतंवा = सचेतन अचित्तमतंवा = अचेतन परिग्रहं = परिग्रहको स्वयं = स्वयं नेव = नहीं परिगिण्हाविज्जा = ग्रहण कराऊँगा, परिग्गहं = परिग्रहको, परिगिण्हंतेवि = ग्रहण करनेवालेभी, अन्ने = दूसरेको न समणुजाणिज्जा = भला नहीं जानूँगा । जावज्जीवाए = जीवनपर्यन्त (इसको), तिविह = कृत कारित अनुसोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेण = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि न करूँगा, न कारवेमि = न कराऊँगा, कस्तंपि = करते हुए भी अन्नं = दूसरेको न समणुजाणामि = भला न समझूँगा । भंते = हे भगवन् ! तस्स = उसदंडसे पडिक्कमामि पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ । = हे भगवन् ! पंचमे = पांचवें महव्वए = महाव्रतमें उवट्ठिओमि = उपस्थित होता हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब परिग्गहाओ = परिग्रहसे वेरमणं—विरमण त्याग है ॥१२॥ (५)।

(५) परिग्रहविरमणव्रतम्

टीका— हे भगवन् ! अथापरे पञ्चमे महाव्रते परिग्रहः 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' इति वचनात्, धर्मोपकरणमिन्नं सर्वमित्यर्थस्तस्माद्विरमणम् । हे भगवन् ! सर्वं परिग्रहं प्रत्याख्यामि, अथ ग्रामे वा नगरे वेत्यादि प्राग्बद्धोद्धव्यम् ॥१२॥ (५)

मैथुनविरमण, परिग्रहके त्यागे विना नहीं हो सकता, इसलिए मैथुनविरमणके अनन्तर परिग्रहविरमणनामक पाचवा महाव्रत कहते हैं—अहावरे पचमे' इत्यादि ।

मैथुन-विरमण, परिग्रहना त्याग विना थर्म शक्तुं नहीं, तैथी मैथुनविरमणनी पञ्च परिग्रहविरमण नामनु पांचम भवान्त उडे छे—अहावरे पचमे इत्यादि

द्वाविंशतितीर्थकरशासने ऋजुप्रज्ञापुरुषापेक्षयाऽस्योत्तरगुणत्वेऽपि आद्यान्तिमतीर्थकरसाधू-
नामृजुजड-वक्रजडत्वादनर्थप्रतिरोधार्थं स्फुटप्रतिबोधार्थं च महाव्रतानन्तरं मूलगुणत्वेनो-
पादातुं षष्ठं रात्रिभोजनविरमणव्रतमाह—‘अहावरे छट्टे इत्यादि ।

मूलम्—अहावरे छट्टे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं. सव्वं भंते !
राइभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं
भुंजेतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं
मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न
समणुजाणामि । तस्स भंते पडिक्कपामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं
वोसिरामि । छट्टे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ
वेरमणं ॥१३॥ (६)

छाया—अथापरे षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! रात्रिभो-
जनं प्रत्याख्यामि, अथ अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे,
नैवान्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यानन समनुजानामि यावज्जीवया त्रिविधं
त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।
तस्माद् भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मान व्युत्सृजामि । तस्माद् भदन्त !
व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद्वात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥१३॥ (६)

(५) परिग्रहविरमण.

हे भगवन् ! चतुर्थ महाव्रतके पश्चात् पाँचवे महाव्रतमें परिग्रहका पूर्ण प्रत्याख्यान किया
जाता है । जिससे आत्मा जन्म-जरा, मरण-आदि-जनित नाना दुःखोंसे गृहीत होता है, अथवा जो
मूर्च्छा-पूर्वक स्वीकार किया जाता है वह परिग्रह कहलाता है, क्योंकि भगवानने मूर्च्छाको ही परि-
ग्रह बतलाया है । अतएव तीन करण तीन योगसे ग्राम नगर आदिमें न स्वयं परिग्रह धारण करूँगा,
न दूसरेसे धारण कराऊँगा, न धारण करते हुंको भला जानूँगा ॥१२॥ (५)

(५) परिग्रहविरमण.

हे भगवन् ! चतुर्थ महाव्रतकी पछी पाँचवा महाव्रतमा परिग्रहनां पूर्ण प्रत्याख्यान
कारवामा आवे छे, जेथी आत्मा जन्म जरा मरणादिजनित नाना प्रकारना दुःखोथी अस्त
थाय छे, अथवा जे मूर्च्छापूर्वक स्वीकारवामा आवे छे ते परिग्रह कहेवाय छे, कारखु के
भगवाने मूर्च्छाने परिग्रहउप गतावी छे तेथी करीने त्रय करण त्रय योगे ग्राम नगर
आदिमा न स्वयं परिग्रह धारणु इ करीश, न मीतमे द्वारा धारणु करानीश, न धारणु
करनारने लदे। लक्ष्मीश (५) (१२)

(६) रात्रिभोजनविरमणः

सान्वयार्थः—भंते ! = हे भगवन् ! अहावरे = इसके अनन्तर छट्टे = छठे वए = व्रत में राइभोयणाओ = रात्रिभोजनसे वेरमणं = विरमण होता है, (अतः भंते ! = हे भगवन् सत्त्वं = सब प्रकारके राइभोयणं = रात्रिभोजनको पञ्चक्खामि = त्यागता हूँ) से = अब से लेकर मैं—असणं वा = लड्डू पूरी घी सत्तू आदि अशन, पाणं वा = दूध-कूर्बन् आदि पान-पीने योग्य, स्वाइमं वा = दाख खजूर आदि खाद्य, साइमं वा = लोंग-इच्छयची आदि स्वाद्य, नेव = न-सयं = स्वयं राइं = रात्रिमें भुंजिज्जा खाऊंगा, नेवन्नेहिं = न दूसरों को राइं = रात्रि में भुंजाविज्जा = खिलाऊंगा, राइं = भुंजं तेवि अन्ने = रात्रिमें भोजन करनेवाले दूसरोंको भी न समणुजाणिज्जा = भला नहीं जानुंगा, जाव-उजीवाए = जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करण से (तथा) तिविहेणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचन से काएणं = कायसे न करेमि = न कळंगा न कारवेमि = न कराऊंगा, करंतंपि = करते हुए भी अन्नं = दूसरों को न समणुजाणामि = भला नहीं समझुंगा । भंते ! = हे भगवन् तस्स = उस दण्डसे पडिकमामि = पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्मसाक्षी से निन्दाकरता हूँ, गरिहामि = गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्मा को वोसिरामि = त्यागता हूँ, भंते ! = हे भगवन् ! छट्टे-छठे वए = व्रतमें उवट्ठिओमि = उपस्थित होता हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब प्रकारके राइभोयणाओ = रात्रिभोजनसे वेरमणं = विरमण-त्याग है ॥१३॥ (६)

(६) रात्रिभोजनविरमणव्रतम्

टीका—हे भगवन् ! अथापरे षष्ठे व्रते रात्रिभोजनात् = रात्रौ = निशि भोजनं रात्रिभोजनं तस्माद् विरमणम् । रात्रिभोजनेन हि सकलमहाव्रतेषु दोषो जन्यते, तथाहि—

अजितनाथ भगवान्से लेकर श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र पर्यन्त बाईस तीर्थकरोके शिष्य ऋजु (सरल स्वभावके) और प्राज्ञ (समझानेसे समझनेवाले) होते हैं । उन शिष्योंकी अपेक्षासे रात्रिभोजन उत्तरगुण है । किन्तु ऋषभदेवके शिष्य ऋजु—जड़ तथा वर्द्धमान—स्वामीके शिष्य वक्र और जड़ होते हैं, अत एव अनर्थको रोकनेके लिए और स्पष्ट बोध करानेके लिए पंच महाव्रतोंके बाद मूल-गुणोंमें गिनानेके लिए छट्टे रात्रिभोजन विरमण व्रतको कहते हैं—'अहावरे छट्टे' इत्यादि ।

अजितनाथ भगवान्थी लक्ष्मिने पार्श्वनाथ जिनेन्द्र सुधीना आवीस तीर्थकरोना शिष्यो ऋजु (सरल स्वभाववाला) अने प्राज्ञ (समझववाथी समझनारा) हुता, ते शिष्योनी अपेक्षासे रात्रिभोजन उत्तरगुण छे, परंतु ऋषभदेवना शिष्यो ऋजु जड़ तथा वर्द्धमानस्वामीनी शिष्यो वक्र अने जड़ हुता तीर्थ अनर्थने रोकवाने भाटे अने स्पष्ट बोध कराववाने भाटे पंच महाव्रतानी पछी मूल-गुणोमां गणनाववाने भाटे छट्टे रात्रिभोजनविरमण व्रत के छे—अहावरे छट्टे इत्यादि.

रात्रौ दिनकरकिरणाभावान्नानाविधसूक्ष्मतनुधारिजन्तुजातसमुत्पातावपातसञ्चारबाहुल्यात् हिंसाऽवश्यम्भाविनी. दीक्षाग्रहणसमये प्रतिज्ञा कृता यदद्यप्रभृति न कस्यापि प्राणिनः प्राणान् पीडयिष्यामीति, रात्रिभोजनेन तु प्राणिवधस्याऽ-निवार्यत्वात्कृतप्रतिज्ञाभङ्गो भवितुमर्हतीति मृषवादः, यद्वा तीर्थकरैर्लोकालोकाऽव'-लोकिकेवलालोकेनै'-तत्संयमविरा धकमाञ्ज्याऽऽदित्यालोके आलोकितान्नपाना-द्यदनमप्राणातिपातायोक्तम् । अपिच रात्रिभोजनव्यवस्थापने रात्रौ भुक्त्वाऽऽत्मनः साधुत्वकथने च मृषवादः । रात्राभ्यवहरे षे हन्यमानप्राणिनिदेशमन्तरेण तत्प्राणापहरणाद्रजन्यधिकरणकभोजननिषेधलक्षणजिनाज्ञा-

(६) रात्रिभोजनविरमण ।

हे भगवन् ! पांच महाव्रतोंके पश्चात् छट्टे व्रतमें रात्रिभोजनसे विरमण किया जाता है । रात्रिभोजनसे समस्त महाव्रतोंमें दोष लगता है । रात्रिके समय सूर्यकी किरणोंके अभावसे सूक्ष्म-शरीरवाले भाँति-भाँतिके जन्तु इधर-उधर उड़ते हैं, नवीन उत्पन्न होते हैं, नीचे ऊपर आते-जाते हैं, इसलिए हिंसा अवश्य ही होती है । दीक्षा लेते समय ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि—‘आजसे किसी प्राणीके प्राणोंको पीड़ा नहीं पहुँचाऊँगा’ जब रात्रिभोजन किया तो हिंसा अवश्य हुई, इस-लिए मृषावादका भी दोष लगा । अथवा लोक और अलोकको अवलोकन करनेवाले अलौकिक केवल-आलोकसे अवलोकन करके केवली भगवान्ने कहा है कि—सूर्यके आलोकमें अवलोकन किया हुआ अशन आदिक सेवन करनेसे ही हिंसाका परिहार हो सकता है । रात्रिभोजनका कर्तव्य-रूपसे निरूपण करना और रात्रिभोजन करके अपनेको साधु कहना मृषावाद है ।

रात्रिभोजनसे विराधित होनेवाले प्राणियोंकी आज्ञाके विना ही उनके प्राणोंका अहरण करनेसे, तथा रात्रिभोजन न करनेकी जिन भगवान्की आज्ञाका लोप करनेसे, अदत्तादानका दोष

(६) रात्रिभोजनविरमण

हे भगवन् ! पांच महाव्रतोंकी पछी छट्टा व्रतमा रात्रिभोजनथी विरमण करवाभां आवे छे. रात्रिभोजनथी अर्वा महाव्रतोंमा दोष लागे छे. रात्रिने समये सूर्यना किरणोंना अभावथी सूक्ष्म-शरीरवाणा भात-भातना जन्तुओं अड्डी-तड्डी उडे छे, नवीन उत्पन्न थाय छे, नीचे-उपर आव-ण करे छे, तेथी हिंसा जर थाय छे

दीक्षा लेती व्रतते ऐसी प्रतिज्ञा करी हती के ‘आजथी केरि प्राणीना प्राणोंना पीडा नही उपणवुं जे रात्रिभोजन कर्युं’ तो हिंसा अवश्य थय, तेथी मृषावादनो दोष लाग्यो. अथवा लोक अने अलोकनुं अवलोकन करनारा अलौकिक केवल ज्ञानथी अवलोकन करीने केवली भगवाने कह्यु छे के सूर्यना प्रकाशमा अवलोकन करेलु अशन आदि सेववाथी अ हिंसानो परिहार थय शके छे रात्रिभोजननु कर्तव्यरूपे निरूपण करवु अने रात्रिभोजन करीने पोताने साधु कहेवडावयो अ मृषावाद छे

रात्रिभोजनथी विराधित थनारा प्राणीओंनी आज्ञा विना अ ऐमना प्राणवु अप-

१ केवलालोकस्य करणस्य कर्तृत्वविवक्षया णिनिः । २ एतत्=रात्रिभोजनम् ।

भङ्गाच्च स्तेयम् । रात्रि-भोजनशीलस्यावश्यमेव भिक्षार्थं रात्रावितस्ततः परिभ्रमतः स्या-
दिसंसर्गादब्रह्म-दोषप्रसङ्गः । रात्रिभोजने संग्रहोऽनिवार्यस्तेन च मूर्च्छाऽवश्यम्भाविनी,
सैव परिग्रहः 'मुच्छा परिग्रहो वुत्तो' इति भगवता स्वयमेवाऽभिधानादतो निशा-
शनमशेषदोषराशिभूतम्, न तत्त्यागादृते व्रतपरिपोषस्तस्मात्सर्वं भगवन् ! रात्रि
भोजनं प्रत्याख्यामि, तदेव विशदयति-'से'इति, अथ=अनन्तरम्-अधारभ्य अशनम्=अश्य-
ते=भुज्यते क्षुधोपशमनार्थं यत् तत्=ओदन-दूध-सक्तु-मुग्दमोदक-घृतपूर-लपन-श्रीप्रभृतिक-
म्, पानं=पीयते यत्तत्पानं=दुग्धादिकं तिलतण्डुलादिधावनोदकं च । खाद्यं=खादितुं यो-
ग्यं खाद्यम्=अचित्तद्राक्षाखर्जूरादि । स्वाद्यं=स्वादितु योग्यं स्वाद्यं=लवङ्गचूर्णपूगीफलादि ।
रात्रिभोजनमपि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भेदाच्चतुर्धा, तत्र द्रव्यतोऽशनपानादिकम्, क्षेत्रतो-
ऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षितं, तद्बहिः प्रसिद्धदिनरात्र्यभावात्, कालतो रात्रौ, भावतो निशा-
शनाभिलाषः । रात्रिभोजनस्य स्वरूपतश्चतुर्भङ्गी यथा-(१) रात्रौ गृहीत्वा रात्रौ भुङ्क्ते,

लगता है । रात्रिमें भोजन करनेवाला भिक्षाके लिए रात्रीमें भ्रमण भी करेगा, भ्रमण करते समय
स्त्री आदिका संसर्ग होनेसे अब्रह्मचर्यका भी दोष लगेगा ।

रात्रिभोजन करनेसे अन्न आदि सामानका भी संग्रह करना पड़ेगा इससे संनिधि-दोष
लगेगा । संग्रह करनेसे मूर्च्छा भी होगी, मूर्च्छाको भगवानने स्वयं परिग्रह कहा है, इसलिए
रात्रिभोजन सब दोषोका कोष है, उसका त्याग किये विना व्रतोका पालन नहीं हो सकता ।
इसलिए हे भगवन् ! मैं समस्त-रात्रिभोजनका प्रत्याख्यान करता हूँ । अर्थात् भात, दाल,
सक्तु, मूंगके लड्डू, घेवर, लप्सी आदि अशन, दूध, तिल और चावलका धोवन आदि पान, प्रासुक
दाख, खजूर आदि खाद्य, लोगका चूर्ण, सुपारी आदि स्वाद्य, इन चार प्रकारके आहारोमेंसे किसी
एक प्रकारका भी आहार रात्रिमें नहीं करूँगा ।

रात्रिभोजन भी द्रव्य क्षेत्र काल भावसे चार प्रकारका है । अशन पान आदि द्रव्यसे रात्रि-

हरणु करवाथी तथा रात्रिलोञ्जन न करवानी जिनभगवाननी आज्ञानो दोष करवाथी अह-
त्तादाननो दोष लागे छे रात्रे लोञ्जन करनाराओ लिक्षाने भाटे रात्रे भ्रमणु पणु करशे.
भ्रमणु करती वभते स्त्रीआदिनेो संसर्ग थवाथी अप्रह्मचर्यनेो पणु दोष लागशे.

रात्रिलोञ्जन करवाथी अन्न आदि सामाननो पणु संग्रह करवो पडशे. तेथी संनिधि
दोष लागशे संग्रह करवाथी मूर्च्छा पणु उत्पन्न थशे मूर्च्छाने लगवाने पोते परिग्रहइय
कही छे, तेथी रात्रिलोञ्जन सर्व दोषोनेो दोष छे

अनेो त्याग कर्या विना व्रतोनु पालन थधं शकतु नथी तेथी हे लगवन् ! हुं सर्व
रात्रिलोञ्जननां प्रत्याख्यान कर छुं अर्थात्-भात, दाल, भगल भगना लड्डू, घेवर, दापसी
आदि अशन दूध तल अने योभानुं घेवणु आदि पान, प्रासुक द्राक्ष भजुर आदि पाद्य,
लवंगनुं चूर्ण, सोपारी आदि स्वाद्य अे चारे प्रकारना आहारमाथी केधं पणु अेक
प्रकारनो आहार रात्रे हुं करीश नही.

रात्रिलोञ्जन पणु द्रव्य=क्षेत्र-काल-भावथी चार प्रकारनुं छे. अशन-पान आदि द्रव्यथी

भुञ्जंतं वा साइज्जइ ×××आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण ॥सू. ७६॥” इति ।

तच्च सर्वमशनादिकं रात्रौ नैव स्वयं भुञ्जे, इत्यादि सर्वं व्याख्यातपूर्वम् ॥१३॥

सम्प्रति गृहीतमहाव्रतः शिष्य उपसंहारनाह-‘इच्चेयाइं’ इत्यादि ।

मूलम्—इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं
अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ॥१४॥

छाया—इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणपष्ठानि आत्महितार्थायोपसम्पद्य विहरामि ॥१४॥

उपसंहारः

सन्वयार्थः—इच्चेयाइं=ये पहले कहे हुए राइभोयणवेरमणछट्ठाइं=छठे रात्रिभोजन-विरमण-व्रतके साथ पंच महव्वयाइं=पांच महाव्रतोंको अत्तहियट्ठयाए=आत्मकल्याणके लिये उवसंपज्जित्ताणं=स्वीकार करके विहरामि=संयममें विचरता हूँ ॥१४॥

टीका—इत्येतानि=समनन्तरोदीरितलक्षणानि रात्रिभोजनविरमणपष्ठानि= रात्रौ भोजनं रात्रिभोजनं, रात्रिभोजनाद्विरमणं रात्रिभोजनविरमणं, पण्णां पूरणं पष्ठं=षट्संख्या-प्रपूरकं, रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं येषु तानि पञ्च महाव्रतानि आत्महितार्थाय=आत्मने हितम्=इष्टमिति आत्महितम्, आत्मनो हितं= मङ्गल मस्मादिति वाऽऽत्महितो मोक्षः, स एवार्थः=प्रयोजनम् आत्महितार्थस्त्वस्मै तथोक्ताय उपसम्पद्य=सामस्त्येन स्वीकृत्य विहरामि=संयमविषये विचरामि ॥१४॥

जो साधु रात्रिमें अशनादिक-लेकरके रात्रिमें भोगे दूसरेको भोगवावे और अन्य भोगने-वालेको भला जाने उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लगता है । ॥सू. ७६॥

इन सब अशन आदि चार प्रकारके आहारको रात्रिमें नहीं भोगूंगा, इत्यादिका व्याख्यान पहिले कर चुके हैं ॥१३॥ (६)

अब महाव्रतको स्वीकार करनेवाला शिष्य उपसंहार करता हुआ कहता है—‘इच्चेयाइं’ इत्यादि ।

हे भगवन् ! मैं पांच महाव्रतको और छठे रात्रिभोजनविरमण व्रतको आत्माके हित-मोक्ष-के लिए स्वीकार करके संयममार्गमें विचरता हूँ ॥१४॥

जे साधु रात्रे अशनादि बधने रात्रे लोगवे, भीजने लोगवावे अन्य लोगवनारने भेदे भये. (सू. ७६) तेने चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लागे छे”

ये सर्व अशनादि चार प्रकारना अहारने रात्रे नहि लोगवुं. धत्यादिनु व्याख्यान भेदशां करवाभां-आवेद्युं छे. (१३) (६)

इवे-महाव्रतोंने स्वीकार करवावाणे शिष्य उपसंहार करतो छतो छडे छे-इच्चेयाइ धत्यादि.

हे भगवन् ! हुं पांच महाव्रतोंने अने छठा रात्रिलोअनविरमण्य व्रतने आत्माने हित-स्वक्ष्म मोक्षने भाटे स्वीकार करीने संयम-मार्गमां विचरुं छुं. (१४)

यतनापुरस्सरमेव व्रतग्रहणं सफलं भवतीत्यतस्तद्यतनास्वरूपं प्रदर्शयते—‘से भिक्षु वा’ इत्यादि ।

मूलम्—से भिक्षु वा भिक्षुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खा यपावकम्मै दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से पुढविं वा भित्ति वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्टेण वा किलिचेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा सिलागहत्थेण वा न आलिहिज्जा न विलिहिज्जा न घट्टिज्जा न भिदिज्जा, अन्नं न आलिहाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिदाविज्जा, अन्नं आलिहंतं वा, विलिहंतं वा, घट्टंतं वा भिदंतं वा न समणुजाणिज्जा. जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि ! तेस्स भंते ! पडिक्कामामि निंदामि गरिहामिअप्पाणं वोसिरामि ॥ १ ॥ १५ ॥

छाया—सभिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिपद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, स पृथिवीं वा भित्ति वा शिलां वा लेष्टुं वा सरजस्कं वा कायं सरजस्कं वा वस्त्रं हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा किलिञ्चेन वा अङ्गुल्या वा शलाकया वा शलाकाहस्तेन वा नाऽऽलिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात्, अन्यं नाऽऽलेखयेन्न विलेखयेन्न घट्टयेन्न भेदयेद्, अन्यमालिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात्, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्माद् भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१॥ १५॥

(१) पृथ्वीकाययतना.

सान्त्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मै=वर्तमानकालीन सावध व्यापारोंसे रहित, भूत मत्रिष्यत्कालीन सावधव्यापारोंसे रहित, वर्तमान कालमें भी स्थिति और अनुभागको न्यूनता करके तथा पहले क्रिये हुए अतिचारोंको निन्दा करके सावध व्यापारके त्यागी, से=वह पूर्वोक्त भिक्षु वा=साधु भिक्षुणी वा=अथवा साध्वी दिया वा=दिनमें राओ वा=अथवा रात्रिमें एगओ वा=अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमें स्थित सुत्ते वा=सोया हुआ जागरमाणे वा=अथवा जागता हुआ रहे, वहां से=वह पुढविं वा=पृथ्वीको भित्ति वा=भीत-दीवार-को सिल वा=शिलाको लेलुं वा=ढेलेको ससर-

कखं=सचित्तरजसहित कायं वा = शरीरको ससरकख = सचि । सहित वत्थं वा वस्त्र को हत्येण वा = हाथसे पाएण वा परसे कट्टेण वा = काष्ठसे किलिचेण वा = वांस आदि की खपच्चसे अंगुलियाए वा = अंगुलीसे सिलागाए वा = छडसे सिलागहत्येण वा = बहुतसी छडोसे न आलिहिज्जा = जराभी संघर्षण न करे न विलिहिज्जा = वारम्बार संघर्षण न करे, न घट्टिज्जा = न घट्टन करे-न चलावे न भिदिज्जा = न भेदे, अन्नं = दूसरेसे न आलिहाविज्जा = जराभी संघर्षण न करावे, न विलिहाविज्जा = न वारम्बार संघर्षण करावे, न घट्टाविज्जा = न घट्टन करावे, न भिदाविज्जा = न भेदन करावे, आलिहंतं वा = संघर्षण करनेवाले विलिहंतं वा = वार-वार संघर्षण करनेवाले घट्टंतं वा = घट्टन करनेवाले भिदंतं वा = भेदन करनेवाले अन्नं = दूसरेको न समणुजाणिज्जा = भला न समझे । इसलिये मैं जावज्जीवाए = जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृतकारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि = न करूंगा, न कारवेमि = न कराऊंगा, करंतं पि = करते हुए भी अन्नं = दूसरेको न समणुजाणामि = भला नहीं समझूंगा । भंते ! = हे भगवन् ! तस्स = उस दण्डसे पडिकमामि = पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ ॥१॥ १५॥

टीका-से = सः = भिक्षावृत्तिकत्वेन प्रसिद्धः, भिक्षुः = भिक्षितुं = याचितुं शीलं धर्मो वा यस्य स भिक्षुः । ('भिक्ष याञ्चायामलाभे लाभे चे'-त्यस्माद्भातोः 'आक्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु' इत्यधिकारे 'सनाशंसभिक्ष उः' (३।२। १६२) इत्युप्रत्यये भिक्षुपदं सिध्यति) । अत्र 'उ' प्रत्ययेन ताच्छील्यद्योतनाद् भिक्षणशीलत्वं भिक्षुत्वमिति पर्यवस्यति ।

। व्रतोको यतनापूर्वक स्वीकार किया जाय तभी वे सफल होते हैं, इसलिए यतनाका कथन करते हैं—'से भिक्खू०' इत्यादि ।

भिक्षावृत्तिसे प्रसिद्ध भिक्षु कहलाते हैं, अर्थात् याचना करके आहारादि लेनेवाले लोको भिक्षु कहते हैं ।

संस्कृत व्याकरणके अनुसार 'भिक्षु' पदमें 'उ' प्रत्यय लगा हुआ है । उससे यह प्रगट होता

व्रतोको यतनापूर्वक स्वीकार करवाना आवेत्यारे ते सङ्ग थाय छे, तेथी यतनानुं कथन करे छे—जे भिक्खू० इत्यादि

भिक्षावृत्तिथी प्रसिद्ध होय ते भिक्षु कहेवाय छे अर्थात् याचना करीने आहारादि देवावाणा ने भिक्षु कहे छे,

संस्कृत व्याकरणने अनुसरीने भिक्षु शब्दमा उ प्रत्यय लागेला छे. तेथी अत्र प्रकट थाय छे के भिक्षु अने कहेवा जे उ अने के उ काठ वस्तुने भिक्षा विना दे नही, अर्थात् भिक्षु-शील होय ते भिक्षु कहेवाय छे.

ननु काषायाम्बरधारिणापि-भिक्षोपजीवित्वेन तत्रोक्तभिक्षुलक्षणमतिव्याप्तमिति चेन्न

भिक्षावृत्तिरुत्वे सति भिक्षेतरवृत्तिरहितत्वं हि भिक्षुत्वम्; तथा च स्वामिनिदेशकान्तरेणापि जलाशयादितोऽपि स्वहस्तेनापि जलादिग्रहणस्य तदीयोजविकान्तर्भवस्येत्यथा कदाचिद् भिक्षाया अलाभे पचन-पाचनादिक्रियया, कन्दमूलफलादिमात्र जीवनिर्वाहार्त्तेषामुक्तलक्षणभिक्षुत्वाभावात्।

न च 'भिक्षवो यदा भिक्षमाणास्तदा तत्रास्तु भिक्षुत्वं परन्त्वभिक्षमाणत्वावस्थायां कथं तेषु भिक्षुशब्दः प्रवर्त्तत तदानीं भिक्षणव्यापाराभावा?' 'दिति वयम् उभयव्याप्य-

है-कि-भिक्षु उसे कहना चाहिए जो किसी वस्तुको बिना भिक्षाके न ले, अर्थात् भिक्षणशील-भिक्षु कहलाते है ।

प्रश्न-गेरुआ या अन्य किसी प्रकारके रंगसे रंगे हुए कपड़े पहननेवाले संन्यासी आदि भी भिक्षा मांग कर अपने जीवनका निर्वाह करते है, इसलिए यह भिक्षुका लक्षण उनमें भी चला जाता है, वे भी भिक्षु कहलावेगे ?

उत्तर-जो भिक्षासे ही अपना निर्वाह करते है और सिवाय भिक्षाके अन्य वृत्तिको कदापि स्वीकार नहीं करते वे ही भिक्षु कहलाते है, संन्यासी आदि स्वामीकी आज्ञाके बिना भी जलाशय आदिसे भी जल आदि अपने हाथोंसे ले लेते हैं। जब भिक्षा नहीं मिलती तब पचन-पाचनादि करते कराते हैं, तथा कन्द-मूल-फल-आदिसे निर्वाह कर लेते है, इसलिए वे भिक्षु नहीं कहला सकते ।

प्रश्न-अच्छा, जो भिक्षासे ही अपना निर्वाह करे उसे भिक्षु कहते है तो साधु जब भिक्षाकी गवेषणा करेगे तब ही भिक्षु कहलावेगे, जिस समय स्वाध्याय आदि अन्य क्रिया करते होंगे उस समय भिक्षु कैसे कहलावेगे ?

प्रश्न-गेरुथी या अन्य कौन प्रकारका रंगथी रंगेवां कपडा पहनेनारा संन्यासीआदि पणु भिक्षा मागिने पोताना एवननो निर्वाह करे छे. तेथी ये भिक्षुमु लक्षणु अने पणु वांशु पडे छे; तेओ पणु भिक्षु कडेवाशे ?

उत्तर-ओओ भिक्षाथी न पोतानो निर्वाह करे छे अने भिक्षा सिवाय अन्यवृत्तिने कदापि स्वीकारतानथी तेओ न भिक्षु कडेवाय छे संन्यासी आदि स्वामीनी आज्ञा बिना पणु जलाशय आदिथी पणु नण आदि पोताना हाथे लथ ले छे, अयारे भिक्षा नथी भणतीत्यारे रांधवा-रंधाववानी क्रिया करे छे, तथा कंद मूल इण आदिथी निर्वाह करी ले छे; तेथी तेओ भिक्षु कडेवाध शकता नथी

प्रश्न-हीक, ओओ भिक्षाथी न पोतानो निर्वाह करे तेमने भिक्षु कडे छे; तो संन्यासे भिक्षानी गवेषणा करशे तयारे न भिक्षु कडेवाशे, ओसमये स्वाध्याय आदि अन्य क्रिया करत छे ते संमये भिक्षु केवी रीते कडेवाशे !

वस्थायां भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावेन भिक्षुशब्दप्रवृत्तिसंभवात्, तथाहि शब्दस्य द्वे निमित्ते व्युत्पत्तिनिमित्तं प्रवृत्तिनिमित्तं चेति, तत्र व्युत्पत्तिऋभ्यार्थप्रतीतौ प्रकारोभूतो धर्मोव्युत्पत्तिनिमित्तम्, यथा पङ्कजशब्दस्थ पङ्कजनिकर्तृत्वम् । सङ्केतग्रहे प्रकारोभूतो धर्मः प्रवृत्तिनिमित्तम्, यथा पद्मत्वजातिः ।

न च शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति वाच्यम्, पाचकादिशब्दे तथा-
त्वेऽपि पङ्कजादिशब्दे तद्व्यभिचारात् । तथाहि—पङ्कजपदं 'पङ्काज्जायते' इति व्युत्पत्त्या
पङ्कजनिकर्तृत्वाच्चिच्छन्ने शक्ततया पद्मरूपार्थबोधकं सदपि शैवालादिष्वतिप्रसङ्गवारणाय

उत्तर—भिक्षाकी गवेपणा करते समय भो साधुको भिक्षु कह सकते है और न करते समय भो कह सकते है । दोनो अवस्थाओमें भिक्षु शब्दकी प्रवृत्तिका कारण मौजूद है ।

शब्दोकी प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है । जैसे कमलका वाचक एक पङ्कज शब्द है दूसरा पद्म शब्द है । पङ्कज शब्द का अर्थ है कीचडसे उत्पन्न होनेवाला, कमल कीचडसे उत्पन्न होता है इसलिए पङ्कजत्व व्युत्पत्तिनिमित्त है । अर्थात् पङ्कज शब्दकी व्युत्पत्ति करनेसे जो अर्थ निकलता है वही अर्थ उसके वाच्यमें (अर्थमें) ठीक—ठीक घट जाता है, इसे व्युत्पत्तिनिमित्त कहते है ।

दूसरा प्रवृत्तिनिमित्त है । शब्दके संकेतसे बोध्य अर्थमें विशेषणभूत धर्मको प्रवृत्तिनिमित्त कहते है, जैसे पद्मत्व या कमलत्व (कमलपन) जाति ।

यदि कोई कहे कि—'जो व्युत्पत्तिनिमित्त है वही प्रवृत्तिनिमित्त है तो ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि 'पाचक' आदि शब्दोंमें जो व्युत्पत्तिनिमित्त है वही प्रवृत्तिनिमित्त है तथापि पङ्कज आदि शब्दोंमें यह कथन नहीं घटता, 'पङ्क' (कीचड) से उत्पन्न होनेवाला पङ्कज है" इस व्युत्पत्ति से पङ्कज शब्द कमलका बोध तो कराता है परन्तु साथही साथ शैवाल तथा इस प्रकारसे पैदा

उत्तर—भिक्षाकी गवेपणा करती वधने साधुने भिक्षु कही शक्य छे अने न करती वधने पणु कही शक्य छे अउ अवस्थांमां भिक्षु शब्दनी प्रवृत्तिनु कारण मे जुड छे.

शब्दोकी प्रवृत्ति दो प्रकारे थाय छे जेमेके—कमलको वाचक अउ पङ्कज शब्द छे, जीने पद्म शब्द छे पङ्कज शब्दको अर्थ काहवमा उत्पन्न थअए अवेो थाय छे कमल काहवमां उत्पन्न थाय छे, तेथी पङ्कजत्व व्युत्पत्तिनिमित्त छे अर्थात् पङ्कज—शब्दनी व्युत्पत्ति करवाथी जे अर्थ नीकरो छे तेज अर्थ तना वाच्यमां (अर्थमां) अराअर अंध जेसे छे, तेथी तेने व्युत्पत्तिनिमित्त कडे छे

जीने प्रवृत्तिनिमित्त छे शब्दना संकेतथी बोध्य अर्थमां विशेषणभूत धर्मने प्रवृत्ति-
निमित्त कडे छे जेमेके—पद्मत्व या कमलत्व (कमलपणुं) जाति.

जे कोछ कडे के—जे व्युत्पत्तिनिमित्त छे तेज प्रवृत्तिनिमित्त छे, तो ते अराअर नथी. कारण के जे के 'पाचक' आदि शब्दोमां जे व्युत्पत्तिनिमित्त छे तेज प्रवृत्तिनिमित्त छे, तथापि पङ्कज आदि शब्दोमां जे कथन अंध जेसतुं नथी, कारण के 'पङ्क' (काहव) मांथी उत्पन्न थवावाणुं पङ्कज छे, —जे व्युत्पत्तिथी पङ्कज शब्द कमलको बोध तो करावे छे, परन्तु साथे

પદ્મ(જાતિ)રૂપં પ્રવૃત્તિનિમિત્તમાદાયૈવ પદ્મં बोधयति न त्वितरथा ।

एवमत्रापि भिक्षुशब्दस्य भिक्षणं व्युत्पत्तिनिमित्तम्, भिक्षत इत्येवगीळो भिक्षुरिति व्युत्पत्तिः । तथा चाऽभिक्षमाणत्वावस्थायां भिक्षुत्वाप्रसक्तावपि ऐहिकपारत्रिकाऽऽसंसाधिरहेण समितिगुप्त्यादिधारित्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तमादाय भिक्षुत्व-समित्यादिपालकत्वयोर्भिक्षुलक्षणैकार्थसमवायेन कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणेन भिक्षमाणेऽभिक्षमाणे वा भिक्षौ भिक्षुशब्द-प्रवृत्तेः, वर्तमानपर्यायमात्रग्रहणलक्षणञ्च जुसूत्रनयाभिप्रायाच्च भिक्षुत्वसिद्धिः ।

ननु पूर्वोक्तलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तकापायाम्बरधारिप्रभृतिष्वपि विद्यते, तेऽपि मार्ग

होनेवाळे गड्डुळे फूठ आदिका अर्थ भां उससे निकळता है, क्योंकि वे भी कीचडसे पैदा होते है । यदि व्युत्पत्तिनिमित्तको ही शब्दकी प्रवृत्तिमें कारण माना जाय तो शैवाल आदिमें भी पक्क शब्दका प्रयोग हो जायगा, इस आपत्तिका निवारण करनेके लिए व्युत्पत्तिनिमित्तके सिवाय प्रवृत्तिनिमित्त कमलत्व धर्मकी भी आवश्यकता है, इससे शैवाल आदिका निराकरण हो जाता है, दोनो निमित्तोसे ठीक-ठीक अर्थका प्रतिपादन हो जाता है कि जो कीचडसे उत्पन्न हो और जिसमें कमलस्वरूप सामान्य (जाति) पाया जाय उसे पक्कज कहते है ।

इसी प्रकार यहाँ 'भिक्षु' शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त भिक्षण (याचना) धर्म है, जिस समय साधु भिक्षण नहीं करते उस समय व्युत्पत्तिनिमित्त से भिक्षु नहीं कहला सकते, फिर भी 'समितिगुप्तिपालकत्व'—रूप प्रवृत्तिनिमित्त से भिक्षु शब्दकी प्रवृत्ति होती है क्योंकि भिक्षुत्व और समितिगुप्तिपालकत्व दोनो धर्म भिक्षुमें कथाञ्चित् तादात्म्यसम्बन्धरूप एकार्थसमवायसे रहते है । इसलिए भिक्षा न करते समय भी 'समितिगुप्तिपालकत्व'—रूप प्रवृत्ति—निमित्तसे भिक्षु शब्द की प्रवृत्ति होती है ।

शङ्का—समिति—गुप्तिपालकता तो गेरुआ आदि वस्त्र पहननेवालोमें भी पाई जाती है । वे

शेવાળ તથા એ પ્રકારે યેગ થનારા ધીનેલાં શીંગોડા આદિનો અર્થ પણ તેમાથી નીકળે છે, કારણ કે તે પણ કીચડમાથી પેદા થાય છે જે વ્યુત્પત્તિનિમિત્તને જે શબ્દની પ્રવૃત્તિમાં કારણ રૂપ માનવમાં આવે તે શેવાળ આદિમા પણ પંકજ શબ્દનો પ્રયોગ થઈ જશે એ આપત્તિનું નિવારણ કરવાને માટે વ્યુત્પત્તિનિમિત્ત ઉપરાત પ્રવૃત્તિનિમિત્ત કમળત્વ ધર્મની પણ આવશ્યકતા છે તેથી શેવાળ આદિનું નિરાકરણ થઈ જાય છે એક નિમિત્તથી બરાબર અર્થનું પ્રતિપાદન થઈ જાય છે કે જે કીચડમાંથી ઉત્પન્ન થાય અને જેમા કમલત્વરૂપ સામાન્ય (જાતિ) મળી આવે તેને પંકજ કહે છે.

એ રીતે અહીં 'ભિક્ષુ' શબ્દનો વ્યુત્પત્તિનિમિત્ત ભિક્ષણ (યાચના) ધર્મ છે જે સમયે સાધુ ભિક્ષણ કરતો નથી તે સમયે વ્યુત્પત્તિનિમિત્તથી ભિક્ષુ નથી કહેવાતો, તે પણ 'સમિતિ-ગુપ્તિ-પાલકત્વ' રૂપ પ્રવૃત્તિનિમિત્તથી ભિક્ષુ શબ્દની પ્રવૃત્તિ થાય છે, કારણ કે ભિક્ષુત્વ અને સમિતિગુપ્તિ-પાલકત્વ એક ધર્મો ભિક્ષુમાં કોઈપણ રીતે તાદાત્મ્ય સંબંધરૂપ એકાર્થ—સમવા-યથી રહે છે, તેથી ભિક્ષા ન કરતી વખતે પણ 'સમિતિગુપ્તિ પાલકત્વ' રૂપ પ્રવૃત્તિનિમિત્ત-થી ભિક્ષુ શબ્દની પ્રવૃત્તિ થાય છે

पश्यन्त एव गच्छन्ति, तेन च तेषां समित्यादिपालकत्व, मौनादिसमवलम्बनेन गुप्ति-पालकत्व चास्ति, ततश्च समिति, गुप्तिपालकत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तस्य तेष्वपि सत्त्वे कुतो न तेषां भिक्षुशब्दव्यवहार्यत्वमिति चेत् ?

यत् इहलोकाद्याशंसाविरहिततया समित्यादिपालकत्वमेव भिक्षुशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, तच्च तेषु न विद्यते तेषां तथाविधप्रवृत्तेः, ऐहिककण्ठकादिनिवृत्त्यर्थत्वात्, यशःक्रीत्यादि-सम्पादनार्थत्वाच्च, नातस्तेषां वस्तुतः समितिगुप्त्यादिपालकत्वं विद्यते । अन्यथा—‘याव-न्निगडवद्धोऽहं तावदेनं न हनिष्यामि, यावन्न समालपामि तावदहं मृपात्यागी, यावत्स-निद्रोऽहं तावदचौर्यव्रतो’—त्यादाभिमाना अपि केचिद् व्रतधारित्वेन व्यवहियेरन्, किन्तु तेषामान्तरिकेच्छायाः सततानुबन्धितया विद्यमानत्वान्न व्रतित्वमस्ति ।

भी मार्ग देखकर ही चलते हैं इसलिए वे समितिका पालन करते हैं । और कभी मौन रखते हैं इसलिए गुप्तिका भी पालन करते हैं । जब उनमें समिति-गुप्तिपालकता पाई जाती है तो उन्हें भी भिक्षु क्यो नहीं कहना चाहिए ?

समाधान—इहलोक और परलोक सम्बन्धी आकांक्षा या स्वार्थरहित होकर जो समिति-गुप्तिका पालन करते हैं वे ही भिक्षु कहलाते हैं । उनमें ऐसा नहीं पाया जाता । वे हिसासे बचने के लिए मार्ग देख कर गमन नहीं करते, किन्तु ऋंटे आदि लग जानेके भयसे मार्ग देखकर गमन करते हैं, और यश-क्रीर्त्ति सम्पादन करनेके लिए मौन रखते हैं, इसलिए वे वास्तवमें समिति-गुप्तिके पालक नहीं हो सकते । यदि उन्हें समितिगुप्तिका पालक माना जाय तो वह मनुष्य भी व्रती कहलायगा जो ऐसी प्रतिज्ञा करे कि “मैं जब तक वेड़ीमें जकड़ा हुआ हू तबतक इसे नहीं मारूँगा” “जब तक न बोड़ें तब तक मृपावादका त्यागो हूँ” “जब तक सोया रहूँगा

शंका—समितिगुप्ति पालकता तो गेइया आदि वस्त्र पहिरनाराओमां पणु जेवामां आवे छे. तेओ पणु मार्ग जेधने न आवे छे, तेथी तेओ समितिनुं पालन करे छे, अने कोध-कोधवार मौन रहे छे तेथी गुप्तिनु पणु पालन करे छे, जे तेओमा समितिगुप्ति-पालकता जेवामा आवे छे, तो तेमने पणु भिक्षु केम न कडेवा जेधये ?

समाधान—इहलोक अने परलोक सम्बन्धी आकांक्षा अथवा स्वार्थरहित थधने जेओ समिति गुप्तिनु पालन करे छे तेओ न भिक्षु कडेवाय छे तेओमां ओवुं जेवामा आवतुं नथी. तेओ हिसाथी जयवाने माटे मार्ग जेधने गमन करता नथी, परन्तु काटा वगेरे वागी नवाना लयथी मार्ग जेधने आवे छे अने यश क्रीर्त्ति संपादन करवाने माटे मौन राखे छे, तेथी तेओ वस्तुताओ समिति-गुप्ति ॥ पालक नथी थध सकता. जे तेमने समिति-गुप्तिना पालक मानवामां आवे तो जे माणुस पणु व्रती कडेवाये के जे जेरी प्रतिज्ञा करे के—“ज्यां सुधी हु जेडीथी जघायवो छु त्यासुधी हुं तेने नहिं भाइ” “ज्यां सुधी हुं न जेओ त्यां सुधी मृपावादनो त्यागी छु” “ज्या सुधी सुध रडीश त्यां सुधी अचौर्य वस्तु पालन

કિંચ્ચ ભિક્ષુમ્મન્યેષુ કાપાયામ્બરધારિષુ નૈવાડયં ભિક્ષુશબ્દ આત્મસત્તાં લક્ષ્મતે, તેષામુદ્ગમોત્પાદનાદિદોષદુષ્ટાન્નભોજિત્વ- સચિત્તતોયકન્દમૂલાદ્યાસેવિત્વ- પચન-પાચનાદિક્રિયે-ચ્છાનિવૃત્ત્યભાવાદિદોષદૂષિતત્વાત્, અતો સમિત્તિગુપ્તિધારકા ભિક્ષામાત્રોપજીવિનોઽચિ-ત્તામેષણીયામુદ્ગમોત્પાદનાદિદોષરાહિત્યેન વિશુદ્ધાં પ્રમાણોપેતાં ચ ભિક્ષાં ગૃહ્ણન્તિ, પ્રાણા-ત્યયસમયેઽપિ પચનપાચનાદિનવકોટિવિશુદ્ધિ નૈવ સ્વઙ્ડ યન્તિ ત ઇવ ભિક્ષુ પદવ્યવહારયો-ગ્યતાં લક્ષ્મન્તે, ઇતિ વિદેલિમમ્ ।

યદ્વા ક્ષોભતે ક્ષુભ્યતિ વા=અન્તર્ભાવિત્પ્યર્થતયા ક્ષોભ્યતિ=સંચાલ્યતિ ચતુર્ગતિસસારે સકલપ્રાણિન ઇતિ ક્ષુપ્=અપૃવિધં કર્મ (અન્તર્ભાવિત્પ્યર્થાદુભૌવાદિકાદ્ દૈવાદિકાદ્વા 'ક્ષુમ સઙ્ચલને' અસ્માદ્વાતોઃ 'સમ્પદાદિત્વાત્ ક્ષિપ્) તદ્ જ્ઞાનદર્શનાદિના મિનત્તિ=ક્ષપયતીતિ ભિક્ષુઃ (પૃષોદરાદિત્વાત્સિદ્ધિઃ) ॥

ભિક્ષુકી=સાધ્વી । 'સંજય૦' ઇત્યાદીનિ ભિક્ષુ વિશેષણાનિ ભિક્ષુક્યા અપિ વોધ્યાનિ ઉભયોઃ સમાનાચારશીલત્વાત્ ।

તવ તક અચૌર્ય વ્રતકા પાલન કરૂંગા વાસ્તવમેં એસે મનુષ્ય વ્રતી નહીં કહલાતે હૈ, ક્યોકિ ઉનકી આન્તરિક ઇચ્છા પાપોસે નિવૃત્ત નહીં હુઈ હૈ

ગેરુઆ આદિ વલ્લ વારણ કરનેવાલે ઓર અનેકો ભિક્ષુ સમજને વાલે સન્યાસી આદિ વાસ્ત-વ મેં ભિક્ષુ નહીં કહલા સકતે, ક્યોકિ વે ઉદ્ગમ-ઉત્પાદના આદિ દોષોસે દૂષિત અન્ન આદિ અંગીકાર કરતે હૈ, સચિત્ત જલ એતે હૈ, સચિત્ત કન્દ મૂલ આદિકા સેવન કરતે હૈ, પચનપાચ-નાદિ ક્રિયાઈ કરતે હૈ ઓર ઇચ્છાકા દમન નહોં કરતે હૈ । અન વાસ્તવમેં વે હી ભિક્ષુ કહલાને યોગ્ય હૈ જો સમિત્તિ-ગુપ્તિકે ધારક તથા ભિક્ષામાત્રસે ઉપજીવી હૈ, અચિત્ત એષણીય ઉદ્ગમ આદિ દોષરહિત વિશુદ્ધ પ્રમાણોપેત ભિક્ષા લેતે હૈ ઓર પ્રાણ જાનેકા અવસર આ જાને પર મી પચન-પાચન આદિ નવ કોટિકી વિશુદ્ધતાકો સ્વઙ્ડિત નહીં કરતે ।

અથવા સસારકે સમસ્ત શરીરધારિયોકો ક્ષોભિત કરનેવાલે જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મોં કો ભેદનેવાલે ભિક્ષુ કહલાતે હૈ ।

કરીશ ” વસ્તુત એવો માણુસ વ્રતી નથી કહેવાતો, કારણ કે એના આંતરિક ઇચ્છા પાપથી નિવૃત્ત થઇ નથી

ગેરુઆ આદિ વસ્ત્રો ધારણ કરનારા અને પોતાને ભિક્ષુ માનનારા સ ન્યાસી આદિ વસ્તુતઃ ભિક્ષુ કહેવાઈ શકના નથી, કારણ કે તેઓ ઉદ્ગમ ઉત્પાદના આદિ દોષોથી રૂપિન અન્ન આદિ અંગીકાર કરે છે, સચિત્ત જળ લે છે, સચિત્ત કન્દ-મૂળ આદિનુ સેવક કરે છે પચન-પાચનાદિ ક્રિયાઓ કરે છે અને ઇચ્છાનુ દમન કરતા નથી એથી કરીને વસ્તુતઃ તેઓ જ ભિક્ષુ કહેવાવા યોગ્ય છે કે જેઓ સમિત્તિ-ગુપ્તિના ધારક તથા ભિક્ષામાત્રથી ઉપજીવી છે, અચિત્ત, એષણીય, ઉદ્ગમહિ-દોષથી રહિત, વિશુદ્ધ, પ્રમાણોપેત ભિક્ષા લે છે, અને પ્રાણ જવાને અવસર આવે તો પણ પચન-પાચનાદિ નવ કોટિની વિશુદ્ધતાને અડિત કરતા નથી

અથવા સસારના સર્વ શરીરધારીઓને ક્ષોભિત કરનારા જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મોંને લેદનારા ભિક્ષુ કહેવાય છે.

(१) पृथिवीकाययतना ।

संयत- विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा-संयतः-वर्तमानकालिकसर्वसावधानुष्ठान-निवृत्तः, विरतः अतीतकालिकपापाज्जुगुप्सापूर्वकं, भविष्यति च संवरपूर्वकमुपरतो निवृत्त इत्यर्थः अत एव प्रतिहतं=वर्तमानकाले स्थित्यनुभागहासेन नाशित, प्रत्याख्यातं=पूर्वकृतातिचारनिन्दया भविष्यत्यकरणेन निराकृतं पापकर्म=पापानुष्ठानं येन स प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, संयतश्चासौ विरतश्च (विशेषयोरपि परस्परविशेष्यविशेषण-भावविवक्षया समासो गतप्रत्यागतादिवत्) संयतविरतश्चासौ प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा चेति तथोक्तः, दिवा=दिवसे, रात्रौ=रजन्याम्, एककः=एकाकी द्रव्यतो ध्यानादिहेतो-रेकान्तस्थानस्थितोऽद्वितीयः, भावतो रागद्वेषरहितो वा, परिपहतः=परि=समन्ततः सीदन्ति=गच्छन्ति गत्वा संहता शान्ति जना अस्यामिति परिपत्=सभा, तां गतः परिपहतः=साध्वादिसङ्घस्थित इत्यर्थः, सुप्तः=स्वाध्यायादिजनितश्रमापनोदार्थं रजनी मध्यमयामयुगलमात्र निद्रितः, जाग्रत्=इन्द्रियादिकरणकविषयज्ञानयोग्यावस्था प्राप्तःनिद्रा-विमुक्तो भवेत् । एवंविधो भिक्षुर्वक्ष्यमाणरीत्या दुष्कृत्यं न करोतीति प्रदर्श्यते-‘से’ इति

भिक्षुकी साध्वीको कहते है । सजय आदि विशेषण साध्वीके साथ भी समझना चाहिए क्योंकि साधु और साध्वीका आचार प्राय समान है ।

(१) पृथ्वीकाययतना ।

वर्तमान कालके सब प्रकारके सावध व्यापार से निवृत्त होने के कारण संयत, अतीतकालीन पापोंसे जुगुप्सा-पूर्वक और भविष्यत्कालीन पापोंसे संवर-पूर्वक निवृत्त होनेसे विरत, संयत और विरत होनेके कारण वर्तमान कालमें स्थितिवन्ध और अनुभागबन्धका हास करके पापकर्म को नष्ट करनेवाले, दिनमें, रात्रिमें, द्रव्यसे ध्यान आदिके लिए एकान्तमेंस्थित और भावसे राग-द्वेषरहित होनेसे एकाकी, अथवा साधुओंके सघमें स्थित, स्वाध्याय आदिसे उत्पन्न श्रमको दूर करनेके लिए रात्रिके बोचके दो प्रहरोंमें सोते हुए, तथा जागते हुए भिक्षु, आगे कहे हुए सावध व्यापार नहीं करते है ।

(भिक्षुकी साध्वीने कहे छे सजय आदि विशेषण साध्वीनी साथे पण समझवानुं छे, कारणु के साधु अने साध्वीने आचार प्राय समान छे

(१) पृथिवीकाययतना

वर्तमानकालना सर्व प्रकारना सावध-व्यापारथी निवृत्त होवाने कारणे संयत, अतीतकालीन पापोंथी जुगुप्सापूर्वक अने भविष्यत्कालीन पापोंथी संवरपूर्वक निवृत्त होवाथी विरत, संयत अने विरत होवाने कारणे वर्तमान कालमा स्थितिबन्ध अने अनुभागबन्धना हास करीने पापकर्मने नष्ट करना, दिवसमा अने रात्रे, द्रव्यथी ध्यान आदिने माटे एकान्तमा स्थित अने साधुथी राग-द्वेष आदिथी रहित होवाने कारणे एकाकी अथवा साधुओंना सघमा स्थित स्वाध्याय आदिथी उत्पन्न थना श्रमने दूर करवाने माटे रात्रिनी वन्धेना ओ पड़ोरमा सूता तथा जागता भिक्षु, आगण कहेला सावध व्यापारने करता नथी.

सः-भिक्षुः पृथिवीं=खनिममुद्भूतमृत्तिकारूपाम्, भित्तिं=सर्गितीरमृत्तिकाम्, शिलां=विशाठपाताणलक्षणाम् लेप्टुं=पिण्डात्मकमृत्खण्डम्, सरजरकं=सचित्तजोऽवगुण्ठितम्, कायं=शरीरम्, वस्त्रं=चोलपट्टप्रमुखं च, पात्रादीनाप्युपलक्षणमेतत्, एतेषु अन्यतमं किमपि वस्तु हस्तेन=हरेण, पादेन=चरणेन, काष्ठेन=खदिरादिदारुखण्डेन, किलिञ्चेन=वंशादिकञ्चिकया, अङ्गुल्या=रुचरणायप्रविशेषेण. गलाक्या=ओहादिभ्रचितया, गलाकाहस्तेन=पुञ्जीकृतशलाकाभिर्नासाऽऽलिखेत्=यत्नं न वा न सार्धयेत् न विलिखेत्=बहुशोऽविरतं विशेषतो वा न घट्टयेत्=चालयेत्, न भिन्द्यात्=न विदारयेत्=न विदीर्णतां नयेत्, तथाऽन्येन=(सूत्रे त्वार्पत्वाद्धितीया) स्वव्यतिरिक्तजनेन नाऽऽलेखयेत्, न विलेखयेत् न घट्टयेत्=न भेदयेत्, अलिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा अन्यं=व्यक्त्यन्तरं न समनुजानीयात्=नानुमन्येत, इत्येवं भगवदुपदिष्टाचारपद्धतिसंरक्षणपरायणान्तःकरणोऽहं यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेनेत्यादि पूर्ववत् ।१। ॥१५॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तमपकाययतनामाह—‘से भिक्खू वा०’ इत्यादि ।

मूलम्— भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्च-क्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हर-

खानसे निकलीहुई मृत्तिकारूप पृथ्वीपर, नदी के किनारेकी मिट्टी पर, पत्थरकी शिलापर, मिट्टीके ढेरपर, सचित्त धूलीसे धूमर काय, चोलपट्ट आदि वस्त्र तथा पात्र पर, अर्थात् इनमेंसे किसी भी पदार्थ पर हाथसे, पैसे, काष्ठसे, नास आदि जो सटक (छडो-खापटो)से, अंगुलीसे, लोहे आदि की बनी हुई छड़से, अथवा बहुतसी छडो (सलाइयो)से, न स्वयं एकवार लकीर खींचे, न बार-बार लकीर खींचे अर्थात् इनको न घिसे तथा न हिलावे, न विदारे, न दूसरेसे ये सब क्रियाएँ करावे और न ये सब क्रियाएँ करते हुए अन्यको भला जाने ।

हे गुरुमहाराज ! इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् द्वारा उपदेश किए हुए आचारकी रक्षा करने में मनको तत्पर रखनेवाला मैं तीन करण तीन योगसे यह सब कार्य नहीं करूँगा ॥१॥१५॥

आखुमांथी नीकणेली माटीइप पृथ्वी पर, नदीना किनारानी माटी पर पत्थरनी शिला पर, माटीना ढेरां पर, सचित्त धूणथी धूसरःकाय, चोलपट्टो आदि वस्त्र तथा पात्र पर अर्थात् अेमांता केठ पञ्च पदार्थ पर हाथथी, पगथी, काष्ठथी वास आदिनी अपाटथी, आगणीथी, लोढा आदिनी सगीथी अथवा केठपणु सगीओथी न पोते अेकवार रेणा होरे, न बारवार रेणा होरे, अर्थात् अेने न घिसे तथा न हिलावे, न विदारे, न भीलओ पासे अे अप्पी क्रियाओ करावे अेने न अे अप्पी क्रियाओ करनारा अन्यने लडो लणु

हे गुरु महाराज ! अे प्रकारे सर्वज्ञ भगवाने उपदेशेला आचारनी रक्षा करवामां मनने तत्पर राअनारे अेवो हु त्रणु करणु त्रणु योगथी अे अधा कार्य करीश नडी . (१) (१५)

तणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं
 वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसिज्जा न संफुसिज्जा न आवि-
 लिज्जा, न पविलिज्जा न अक्खोडिज्जा, न पक्खोडिज्जा, न आया-
 विज्जा, न पायाविज्जा, अन्नं आयुसंतं वा, संफुसंतं वा अवीलंतं
 वा पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंतं वा, आयावंतं वा, पया-
 वंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं
 न मणेणं न मणेणं न मणेणं न मणेणं न मणेणं न मणेणं न मणेणं

अन्नं न आमुसाविज्जा संफुसाविज्जा न अविलाविज्जा न पविला-
 विज्जा न अक्खोडाविज्जा न पक्खोडाविज्जा न आयाविज्जा. न
 पयाविज्जा,

अन्यं न आमृश्येन्न संस्पृशेन्न आस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् न आस्फोटापयेत्
 प्रस्फोटापयेत् न आनापयेत् न प्रतापयेत्

और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावध
 व्यापारके त्यागी से=वह पूर्वोक्त भिक्खू वा=साधु भिक्खुणी वा=अथवा साध्वी दिया
 वा=दिन मे राओवा=अथवा रात्रि में एगओ वा=अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमे
 स्थित सुत्तेवा=सोया हुआ जागरमाणे वा=अथवा जागता हुवा रहे वहां से = वह उदगं
 वा=जलको हिम वा=हिमको महियं वा=कुहरे-धुअर-को करगं वा=ओलेको हरतणुगं
 वा=घास पर बूंद-बूंद पड़ा हुआ जलविशेषको सुद्धोदगं वा=आकाशसे गिरे हुए निर्मल
 जलको (और) उदउल्लं वा=जलसे भीने हुए-गीले काय=शरीरको उदउल्लं वा वत्थं=
 जलसे भीगे हुए वस्त्रको ससिणिद्धं वा कायं=कुछ-कुछ गीले शरीरको ससिणिद्धं वा
 वत्थं=कुछ-कुछ गीले वस्त्रको न आमुसिज्जा=जराभी स्पर्श न करे न संफुसिज्जा=

सः-भिक्षुः पृथिवीं=खनिममुद्भूतमृत्तिकारूपाम्, भित्तिं=सगितीमृत्तिकाम्, शिलां=विशाठपाताणलक्षणाम् लेप्टुं=पिण्डात्मकमृत्खण्डम्, सरजम्कं=सचित्तगजोऽवगुण्ठितम्, कायं=शरीरम्, वस्त्रं=चोलपट्टप्रमुखं च, पात्रादीनामयुपलक्षणमेतत्, एतेषु अन्यतमं किमपि वस्तु हस्तेन=हरेण, पादेन=चरणेन, क्राण्ठेन=खदिरादिदारुखण्डेन, किलिञ्चेन=वंगादिकृश्विकया, अङ्गुल्या=हरचरणावयवविशेषेण गलाक्या=ओहादिसचितया, गलाकाहस्तेन=गुञ्जीकृतशलाकापित्रीनाऽऽलिखेत्=वक्रन् वलयं वा न संसर्पयेत् न विलिखेत्=बहुगोऽविरतं विशेषतो वा न घट्टयेत्=चालयेत्, न भिन्द्यात्=न विदारयेत्=न विदीर्णतां नयेत्, तथाऽन्येन=(सूत्रे त्वार्पत्वाद्धितीया) स्पृश्यतिरिक्तजनेन नाऽऽलेखयेत्, न विले-

हे गुरुमहाराज ! इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् द्वारा उपदेश किए हुए आचारकी रक्षा करने में मनको तत्पर रखनेवाला मैं तीन करण तीन योगसे यह सब कार्य नहीं करूंगा ॥१॥१५॥

आशुभांथी नीकणेली माटीरूप पृथ्वी पर, नदीना छिनारानी माटी पर पत्थरनी शिला पर, माटीना ठेकां पर, सञ्चित धूणथी धूसरःकाय, बोलपट्टो आदि वस्त्र तथा पात्र पर अर्थात् अभांना केरि पण्य पदार्थ पर हाथथी, पगथी, काण्ठथी वांस आदिनी अपाटथी, आगणीथी, दोढा आदिनी सगीथी अथवा केरिपण्य सगीओथी न पोते अेकवार रेभा होरे, न वारंवार रेभा होरो, अर्थात् अने न धसे तथा न डलावे, न विहारे, न भीलओ पासे अे अथी क्रियाओ करावे अने न अे अथी क्रियाओ करनारा अन्यने लतेो लथे

हे गुरु महाराज ! अे प्रकारे सर्वज्ञ भगवाने उपदेशेला आचारनी रक्षा करवामां मनने तत्पर राखनारे अेवो हु त्रणु करणु त्रणु योगथी अे अधा कार्य करीश नही. (१)(१५)

तणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं
वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसिज्जा न संफुसिज्जा न आवि-
लिज्जा, न पविलिज्जा न अक्खोडिज्जा, न पक्खोडिज्जा, न आया-
विज्जा, न पायाविज्जा, अन्नं आयुसंतं वा, संफुसंतं वा अवीलंतं
वा पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंतं वा, आयावंतं वा, पया-
वंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं
वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजा-
णामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गस्सिहामि अप्पाणं
वोसिरामि ॥२॥१६॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा
वा रात्रौ वा एकको वा परिपद्धतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स उदकं वा आवश्यायं वा हिम
वा मिहिकां वा करकं वा हरतनुं वा शुद्धोदकं वा उदकार्द्रं वा कायं उदकार्द्रं वा वस्त्रं,
सस्निग्धं वा कायं, सस्निग्धं वा वस्त्रं नाऽऽमृशेन्न संस्पृशेन्नाऽऽपीडयेन्न प्रपीडयेन्नास्फो-
टयेन्न प्रस्फोटयेन्नातापयेन्न प्रतापयेत्, अन्यमामृशन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं
वा, प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा, प्रतापयन्तं
वा न समनुजानीयात् । यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि,
न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ॥२॥१६॥

(२) अप्काययतना.

सान्त्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे=वर्त्तमानकालीन सावध व्यापा-
रोंसे रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावध व्यापारोंसे रहित, वर्त्तमान कालमें भी स्थिति
और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावध
व्यापारके त्यागी से=वह पूर्वोक्त भिक्खू वा=साधु भिक्खुणी वा=अथवा साध्वी दिया
वा=दिन में राओवा=अथवा रात्रि में एगओ वा=अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमें
स्थित सुत्तेवा=सोया हुआ जागरमाणे वा=अथवा जागता हुआ रहे वहां से = वह उदगं
वा=जलको हिमं वा=हिमको महियं वा=कुहरे-धुअर-को करगं वा=ओलेको हरतणुगं
वा=घास पर वृंद-वृंद पड़ा हुआ जलविशेषको सुद्धोदगं वा=आकाशसे गिरे हुए निर्मल
जलको (और) उदउल्लं वा=जलसे भीने हुए-गीले काय=शरीरको उदउल्लं वा वत्थं=
जलसे भीगे हुए वस्त्रको ससिणिद्धं वा कायं=कुछ-कुछ गीले शरीरको ससिणिद्धं वा
वत्थं=कुछ-कुछ गीले वस्त्रको न आमुसिज्जा=जराभी स्पर्श न करे न संफुसिज्जा=)

अधिक स्पर्श न करे, न आवीलिज्जा=पीडित न करे, न पवीलिज्जा=अधिक पीडित न करे, न अक्खोडिज्जा=स्फोटन न करे, न पक्खोडिज्जा=प्रस्फोटन न करे, न आयाविज्जा=तपावे नहीं, न पयाविज्जा=अधिक तपावे नहीं, अन्नं=दूसरेसे न आमृसा-विज्जा=जराभी स्पर्श न करावे, न संफुसाविज्जा=अधिक स्पर्श न करावे, न अवी-लाविज्जा=पीडित न करावे, न पवीलाविज्जा=अधिक पीडित न करावे, न अक्खो-डाविज्जा=स्फोटन न करावे, न पक्खोडाविज्जा=प्रस्फोटन न करावे, न आयाविज्जा=तपावे नहीं, न पयाविज्जा=अधिक तपावे नहीं, आमृसंतं वा=जराभी स्पर्श करनेवाले संफुसंतं वा=अधिक स्पर्श करनेवाले आवीलंतं वा=पीडित करनेवाले पवीलंतं वा=अधिक पीडित करनेवाले अक्खोडंतं वा=स्फोटन करनेवाले पक्खोडंतं वा=प्रस्फोटन करने-वाले आयावंतं वा=तपानेवाले पयावंतं वा=अधिक तपानेवाले अन्नं=दूसरेको न समणु-जाणिज्जा=भला न समझे । जावज्जीवाए=जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं=कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं=तीन प्रकारके मणेणं=मनसे वायाए=वच-नसे काएणं=कायसे न करेमि=न करूँगा, न कारवेमि=न कराऊँगा, करंतंपि=करते हुएभी अन्नं=दूसरेको न समणुजाणामि=भला नहीं समझूँगा । भंते !=हे भगवन् ! तस्स=उस दण्डसे पडिक्कमामि=पृथक् होना हूँ, निदामि =आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि =गुरु साक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं - दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको बोसिरामि =त्यागता हूँ ॥२॥१६॥

(२) अप्काययतरा ।

टोका—स भिक्षुर्वेत्यादि पूर्ववत् । उदकं = प्रसङ्गात्कूपादिजलम् भूगर्भोद्गतस्रो-तोजलमित्यर्थः, अवश्यायं = मेघमन्तरेण रात्रौ पतितं सूक्ष्मतुषाररूपमप्कायम् । हिमं = शीतर्तौ शीताधिक्येन वनोभूतमपूकायम् - 'वर्ष' इति लोके प्रसिद्धम् । मिहिकां = हेमन्त-शिशिरयोः कदाचित् २ सान्द्रतया धूमन्प्रतिभासमानस्वरूपां कुञ्जटिकाम् 'धूँअर' इति

अब अप्कायकी यतनाका प्रतिपादन करते हैं—'से भिक्खू०' इत्यादि ।

(२) अप्काययतना ।

भिक्षु और भिक्षुकी आदि पदोका अर्थ पङ्केकी भाँति समझना चाहिए । कुएँका पानी अर्थात् भूमिमें सोता (झरना)से निकलनेवाला जल, ओम, पाला, कुहरा (धूँअर), क्षाला (गड़ा), हर-तनु (भूमिमें भेद कर गेहूँ आदिके अकुगेपर जमनेवाले जलविन्दु), वर्षाका निर्मल जल, इन

हुवे अप्कायनी यतनानु प्रतिपादन करे छे 'से भिक्खू' इत्यादि.

(२) अप्काययतना

भिक्षु अने भिक्षुकी आदि पदोका अर्थ पङ्केकी भाँति समझना चाहिए । कुएँका पानी अर्थात् भूमिमें सोता (झरना)से निकलनेवाला जल, ओम, पाला, कुहरा (धूँअर), क्षाला (गड़ा), हर-तनु (भूमिमें भेद कर गेहूँ आदिके अकुगेपर जमनेवाले जलविन्दु), वर्षाका निर्मल जल, इन

लोकप्रसिद्धाम् । करकं = किरति = क्षरति पानीयमिति करकं = वर्षोपलम् । हरतनुम् = भूमिमुद्भिद्य तृणाङ्कुराद्युपरि विन्दुरूपेण स्थितमपूकायविशेषम् । शुद्धोदकम् = आकाशात्पतितं स्वभावनिरमलं सलिलम् । तथा उदकार्द्रं = जलक्लिननं कायं वस्त्रं च । सस्निग्धम् स्निग्धमिति भावत्कान्तम्, स्नेहः = स्निग्धत्वमिति तदर्थस्तेन सह वर्तमानं तत् = विन्दुरहितमीषदारु कायं वस्त्रं च, स्वयं न आमृशेत् = आ = ईषत् 'आङ्गीपदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे' इति कोशात्, मृशेत् = स्पृशेत्, न स्पर्शयुक्त कुर्यादित्यर्थः । न संस्पृशेत् = न सं = प्रकर्षेण स्पृशेत् । नापीडयेत्, न प्रपीडयेत् । नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत् । नाऽऽतापयेत्, प्रतापयेत् । शेषं सुगमम् । एषु ('आमृशेत् संस्पृशेत्' इत्यादिषु) सर्वत्र धात्वर्थोऽविशेषेऽप्युपसर्ग (आ. सं. प्र) कृतवाच्यवैलक्षण्यान्न पौनरुक्त्यदोषावसर इति बोध्यम् ॥२॥१६॥

सम्प्रति तेजस्काययतनामाह—'से भिक्खू वा' इत्यादि ।

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय—विरय—पडिहय पच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा; से अगणि वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चि वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणि वा उक्कं वा न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा न उज्जालेज्जा न पज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा, अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा, न उज्जालावेज्जा न पज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा, अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा उज्जालंतं वा पज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं

सबको, तथा जलसे बहुत गीला या थोडा गीला शरीर या वस्त्र, इन सबको स्वयं एक बार स्पर्श न करे, बार—बार स्पर्श न करे, वस्त्रको एकबार न निचोड़े, बार—बार न निचोड़े, न एकबार झटके न बार—बार झटके, न एकबार धूपमें सुखावे, न बार—बार सुखावे, न ये सब क्रियाएँ दूसरे से करावे, न करते हुएको भला जाने, शेष सुगम है ॥२॥१६॥

७ण ओ सर्वने, तथा ७णथी अहु लीलु अथवा थोडुं लीलु शरीर या वस्त्र, ओ सर्वने स्वयं ओकवार स्पर्श नही, कइं वारवार स्पर्श नही कइं वस्त्रने ओकवार नही नीथोपुं, वारंवार नहि नीथोपु, ओकवार नहि आटकुं, वारवार नहि आटकुं, ओकवार तडकाभां नही सुकापुं, वारंवार नही सुकापुं, नही ओ अधी कियाओ पीण पासे न करापुं, अने करनारने नही लदेा नालु शेष भाग सडेदेा छे. (२) (१६)

न समणुजाणामि ! तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि
अप्पाणं वोसिरामि ॥३॥१७॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा पग्निद्वतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, सः अग्नि वा अद्धारं वा मुर्धुरं वा अर्चिर्वा ज्वालां वा अलातं वा शुद्धाग्नि वा उल्कां वा नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत् न भिन्यान्नो-
ज्ज्वालयेन्न प्रज्वालयेन्न निर्वापयेद्, अन्येन नीत्सेचयेन्न घट्टयेन्न भेदयेन्नोज्ज्वालयेन्न
प्रज्वालयेन्न निर्वापयेद् अन्यमुत्तिञ्चन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा उज्ज्वालयन्तं वा
प्रज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा न समणुजानीयात् । यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा
वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समणुजानामि । तस्माद् भदन्त !
प्रतिक्रामामि निन्दामि गहे आत्मानं व्युत्सुजामि ॥३॥१७॥

(३) तेजस्काययतना.

सान्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्ममे=वर्तमानकालीन सावद्य व्यापारो
से रहित, वर्तमान कालमें भी स्थिति और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये
हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावद्य व्यापारके त्यागी, से=ग्रह पूर्वोक्त भिक्षू वा=
साधु भिक्षुणी वा=अथवा साध्वी; दिया वा=दिनमें राओ वा=अथवा रात्रिमें; एगओ
वा=अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमें स्थित, सुत्ते वा=सोया हुआ जागरमाणे वा=
अथवा जागता हुआ रहे, वहां से=वह अगणि वा=अग्निको इंगालं वा=अंगारेको मुम्पुरं
वा=मुर्धुर-भू भूदर-(तुषाग्नि) को अर्चि वा=ज्योति-मूलाग्निसे विच्छिन्न ज्वालाको, जालं
वा=मूलाग्निसे अविच्छिन्न जलती हुई ज्वालाको, अलाय वा=जिराका अग्रभाग जल रहा
हो ऐसे काठको, सुद्धाग्नि वा=शुद्ध अग्नि-लोहापिण्डमें संबद्ध अग्नि अथवा विजलीरूप
अग्निको, उक्कं वा=चिनगात्थिओको न उंजेज्जा=इंधन डालकर अग्निको बढ़ावे नहीं, न
घट्टेज्जा=चलावे नहीं न भिंदेज्जा=भेदे नहीं, न उज्जालेज्जा=थोड़ाभी जलावे नहीं,
न पज्जालेज्जा=प्रज्वलित करे नहीं, न निव्वावेज्जा=बुझावे नहीं, अन्नं=दूसरेसे न
उंजावेज्जा=बढ़वावे नहीं, न घट्टावेज्जा=बलवावे नहीं, न भिंदावेज्जा=भिंदावे नहीं न
उज्जालावेज्जा=न जलवावे, न पज्जालावेज्जा=न प्रज्वलित करावे, न निव्वावेज्जा=
न बुझावावे, उंजंत वा=बढ़ानेवाले घट्टंत वा=चलानेवाले भिंदंत वा=भेदनेवाले उज्जा-
लंत वा=जलानेवाले पज्जालंत वा=प्रज्वलित करनेवाले निव्वावंतं वा=बुझानेवाले अन्नं=
दूसरेको न समणुजाणिज्जा=भला न समझे । जावज्जीवाए=जीवनपर्यन्त (इसको)
तिविह=कृत-कारित-अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं=तीन प्रकारके मणेरं=
मनसे वायाए=प्रचनेसे न्पाएणं =कायसे न करेमि =न करूंगा, न कारवेमि =न करा-
ऊंगा, करंतंमि=करते हुएतो भी अन्नं=दूसरेको न समणुजाणामि=भला नहीं समझूंगा ।
भंते !=हे भगवन् ! तस्स=उस दण्डसे पडिक्कमामि=पृथक् होता हूँ, निंदामि =आत्म-

साक्षी से निन्दा करता हूँ, गरिहामि=गुरु साक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं=दण्डसेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि=त्यागता हूँ ॥३॥१७॥

टीका-अग्नि=वह्निम्, अङ्गारं=निधूमज्वालं ज्वलदिन्धनम्, मुम्पुरं=प्रविरलस्फुलिङ्गसंमिश्रभरमरूपं तुपानलं वा, 'मुम्पुरस्तु तुपानलः' इति वैजयन्तिकोशात्, अजालिण्डिकाग्निं वा, अर्चिः=मूलाग्निविच्छिन्नां ज्वालाम्, ज्वालां=दह्यमानतृणादिसम्भ्रद्धाऽऽमूलोर्ध्वप्रसारितेजोराशिम्, अलातं = ज्वलद्ग्रभागं काष्ठम्, शुद्धाग्निम् = अयः पिण्डानुसंबद्ध विद्युदादिरूपं वा, उलकां = मूलवह्नेर्विच्छिद्यं समन्तात्प्रसर्पदग्निकणात्मिकाम्, (चिनगारी, तडंगिया, इति भाषा) स्वयं न उत्सिञ्चेत्=न तत्रेन्धनादिकं प्रक्षिपेत्, न घट्टयेत्=न सञ्चालयेत्, न भिन्द्यात्=दण्डेष्टकखण्डादिना न स्फोटयेत्, न उज्ज्वालयेत्=तालवृन्तादिना सकृदल्पं वा न ध्यापयेत्-न वधयेदित्यर्थः, न प्रज्वालयेत्=सततं बहुशो वा न प्रज्वलितं कुर्यात्, न निर्वापयेत्=न विध्यापयेत् न निर्वाणं नयेदित्यर्थः, अन्येन न उत्सेचयेदित्यादि सर्वं सुगमम् ।३।१७।

वायुकाययतनामाह-'से भिक्खू वा०' इत्यादि ।

मूलम्-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय पडिहय पच्च-क्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा परिसागओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्तेवा जागरमाणेवा, से सिएण वा विहुणेण वा

अग्निकायकी यतना कहते हैं-'से भिक्खू वा०' इत्यादि ।

(३) तेजस्काययतना ।

अग्नि, अगारा, भूमल (गर्म राख) बकरीकी लेडीकी आग, मूलसे दृष्टी हुई ज्वाला, मूलसे अविच्छिन्न ज्वाला, लुआठा (जलती हुई लकड़ी), गर्म लोहेके गोलेकी या त्रिजलीकी अग्नि, अथवा चिनगारी आदिमें स्वयं इन्धन न डाले, न संचालन करे (न सघटा करे), न दंड ईट आदि से उसे भेदे, न पंखा आदिसे एकवार प्रज्वलित करे, न बार-बार प्रज्वलित करे, न बुझावे । न ये सब क्रियाएँ दूसरेस करावे, न करते हुएकी अनुमोदना करे. इत्यादि सब पूर्ववत् ॥३॥१७॥

अग्निकायनी यतना कडे छे-'से भिक्खू वा०' इत्यादि

(३) तेजस्काययतना.

अग्नि, अंगारा, गरम राख, बकरीनी लीडीनी आग भूणथी तटेदी ज्वाला, भूणथी अविच्छिन्न ज्वाला, अणता लाकडा, गरम लोअंडना गोणानो अथवा त्रिजलीनी अग्नि, अथवा चिणुगारी आदिमां पोते धंधन (अणतणु) नही नाणे, नहीं संचालन करे (नही संधटन करे), नही दंड के ईट आदिथी तेने लेहे, नही पंखा वगेरेथी तेने अेकवार प्रज्वलित करे नहीं बार-बार प्रज्वलित करे, नहीं बुझावे, नहीं अे अधी क्रियाओ थीण पासे करावे नहीं, करनारनी नही अनुमोदना करे इत्यादि पूर्ववत् (३) (१७)

तालिअंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा
 पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकन्नेण वा हत्थेण वा
 मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वावि पुग्गलं न फुमेज्जा न
 वीएज्जा, अन्नं न फुसावेज्जा न वीआवेज्जा, अन्नं फुमंतं वा
 वीअंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेणं
 वायाए काएणं न करेमि. न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजा
 णामि । तस्स भंत ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं
 वोसिरामि ॥४॥ १८ ॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा
 रात्रौ वा एकको वा परिपद्रतो वा जाग्रद्वा, स सितेन वा विधूननेन वा तालवृन्तेन वा
 पत्रेण वा पत्रभङ्गेन वा शाखया वा पिहुनेन वा पिहुनहस्तेन वा चैलेन वा चैलकर्णेन वा हस्तेन
 मुखेन वा, आत्मनो वा कायं वाह्यं वाऽपि पुद्गलं न फूत्कुर्यात्, न वीजयेत्, अन्येन न
 फूत्कारयेन्न वीजयेद्, अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा वीजयन्तं वा न समनुजानीयात् । यावज्जी-
 वया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनु-
 जानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥४॥ १८॥

(४) वायुकाययतना.

सान्वायार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्ममे=वर्त्तमानकालीन सावध व्या-
 पारोंसे रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावध व्यापारोंसे रहित, वर्त्तमान कालमें भी स्थिति
 और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावध
 व्यापारके त्यागी से = वह पूर्वोक्त भिक्षु वा= साधु भिक्षुणी वा=अथवा साध्वी दिया
 वा=दिनमें राओ वा=अथवा रात्रिमें एगओ वा अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमें स्थित
 सुत्ते वा=सोया हुआ जागरमाणे वा=अथवा जागता हुआ रहे, वहाँ से=वह सिएण वा=
 चामरसे, विहुणेणवा=पंखेसे, तालिअंटेण वा ताडके पंखेसे पत्तेण वा=पत्तेसे, पत्तभंगेण
 वा=बहुतसे पत्तोंसे, साहाए वा=शाखा-डाली-से, साहाभंगेण वा=शाखाके खण्डसे, पिहु-
 णेण वा मोरपीछीसे, पिहुणहत्थेण वा=मोरपीछियोंके समूहसे, चेलेण वा कपडेसे, चेल-
 कण्णेण वा=कपडेके छोर-पल्ले से, हत्थेण वा=हाथसे, मुहेणवा=मुखसे, अप्पाणो वा=
 अपने काय=शरीरको, वा=अथवा बाहिरं वि पुग्गल=बाहरी पुद्गलोंको भी न फुमेज्जा=
 फूक न मारे, न वीएज्जा=चँवर आदिसे हवा न करे, अन्नं=दूसरेसे न फुसावेज्जा=फूक
 न मरावे, न वीआवेज्जा=हवा न करावे, फुमंतं वा=फूंकनेवाले वोअंतं वा=हवा करने-
 वाले अन्नं=दूसरेको न समणुजाणिज्जा=भला न समझे । जावज्जीवाए=जीवनपर्यन्त
 (इसको) तिविहं=कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेण=तीन प्रकार

के मणेणं=मतसे वायाए=वचनसे काएणं=कायसे न करेमि=न करूंगा, न कारवेमि=न कराऊंगा, करंतंपि=करते हुए भी अन्नं=दूसरेको न समणुजाणामि= भला नहीं समझूंगा । भंते ! =हे भगवन् ! तस्स=उस दण्डसे पडिक्कमामि=पृथक् होता हूँ, निंदामि=आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि=गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं=दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको बोसिरामि=त्यागता हूँ ॥४॥१८॥

(४) वायुकाययतना ।

टीका-सितेन=चामरेण श्वेतत्वगुणवत्त्वेनोपचारात्, विधूननेन=वीजनकेन, तालवृन्तेन=ताले = करतले = वृन्तं = वन्धनमस्येति, तालस्येव वृन्तमस्येति, ताडयते = करादिनाऽऽहन्यत इति तालम्, उभयोरेकत्वस्मणात्, तादृशं वृन्तं यस्येति वा तालवृन्तं=ताल्पत्रादिरचितं व्यजनं तेन, उपलक्षणमिदं विद्युद्व्यजनादीनामपि, पत्रेण = कमलिनी-दलादिना, पत्रभङ्गेन = दलशकलेन, शाखया = वृक्षभुजया, शाखाभङ्गेन = तदेकदेशेन, पिहुनेन = बर्हिर्वर्हेण (मयूरपिच्छेन) पिहुनदस्तेन = पुञ्जीकृतमयूरपिच्छेन' चैलेन = वस्त्रेण, चैलकर्णेन = अञ्चलेन (वस्त्रप्रान्तेन) दस्तेन = करेण, मुखेन = वदनेन, आत्मनः=स्वस्य कायं = शरीरं बाह्यमपि पुद्गलम् = उष्णदुग्धादिकं वा स्वयं न फूत्कुर्यात् न मुखेन धमेत्, न वीजयेत् = चामरादिना वातं न सञ्चालयेत्, अन्येन वा न फूत्कारयेत्, इत्याद्यन्यत्सुबोधम् ॥४॥१८॥

वायुकायकी यतना कहते है-‘से भिक्खू वा०’ इत्यादि ।

(४) वायुकाययतना ।

चाँवरसे, पंखेसे, ताडके बने हुए पंखेसे अथा अन्य बिजली आदिके किसी प्रकार के पंखेसे, कमल आदिके पत्तेसे, पत्तेके टुकड़ेसे, वृक्षकी शाखासे, शाखाके खण्डसे, मयूरके पिच्छसे मयूरके बहुतसे पिच्छोसे, वस्त्रसे, वस्त्रके पल्ले (छोर) से, हाथसे, मुखसे, अपने शरीरको तथा अन्य गरम दूध आदि पुद्गलोको न स्वयं फूँके न चाँवर आदिसे वीजे-वायुका सचालन करे, न दूसरेसे फूँकावे, न वीजावे, न फूँकते हुए तथा वीजते हुए अन्यको भला जाने, इत्यादि सुगम ही है ॥

वायुकायनी यतना कहे छे-‘से-भिक्खू वा०’ इत्यादि

(४) वायुकाययतना.

आभरथी, पंभाथी, ताडना बनावेला पंभाथी अथवा अन्य विजली आदिना केछ प्रकारना पंभाथी, कुमण आदिना पाँडडाथी, पाँडडाना टुकडाथी, वृक्षनी शाभाथी, शाभाना भंडथी, मयूरना पिच्छथी, मयूरना अनेक पीछाथी, वस्त्रथी, वस्त्रना छेडाथी, हाथथी, मुखथी, पोताना शरीरने, तथा जीव गरम दूध आदि पुद्गलोने नहि स्वयं कूँके नही आभर आदिथी वीजे-वायुनुं संचालन करे नही, नहि जीव पासे कूँकावे, तथा कूँकनार तथा वीजनार अन्यने लला लक्षे नही. इत्यादि सरल छे. (४) (१८)

वनस्पतिकाययतनागाह—'से भिक्षू वा०' इत्यादि

मूलम्—से भिक्षू वा भिक्षुणी वा संजय-विरय पडिह
य पच्चक्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसा
गतो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, से वीएण वा वीयपइट्ठेसु वा
रूढेसु वा रूढपइट्ठेसु वा जाएसु वा जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा
हरियपइट्ठेसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठेसु वा सचित्तेसु वा सचि-
त्तकोलपडिनिरिसएसु वा न गच्छेज्जा न चिट्ठेज्जा न निसी
इज्जा न तुयट्ठिज्जा, अन्नं न गच्छाविज्जा न चिट्ठाविज्जा न
निसीयाविज्जा न तुयट्ठाविज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसी
यंतं वा तुयट्ठंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जीवाए तिवि तिहं
विहेणं मणेणं वायोए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं
न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि
अप्पाणं वोसिरामि ॥ ५ ॥ १९ ॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संजयविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा
रात्रौ वा एकको वा परिपद्धतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, स बीजेषु वा बीजप्रतिष्ठितेषु वा
रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा
छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तेषु वा सचित्तकोलप्रतिनिश्चितेषु वा न गच्छेन्नति-
ष्ठेन्न निपीडेन्न त्वग्वर्त्तयेत्, अन्यं न गमयेन्न स्थापयेन्न निपादयेन्न त्वग्वर्त्तयेत्, अन्यं
गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निपीदन्तं वा त्वग्वर्त्तयन्तं वा न समनुजानीयात् । यावज्जीवया
त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजा-
नामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ५ ॥ १९ ॥

(५) वनस्पतिकाययतना.

सान्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे = वर्त्तमानकालीन सावद्य
व्यपारोंसे रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावद्य व्यापारोंसे रहित, वर्त्तमान काल में स्थिति
और अनुभागकी न्यूनता करके, तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावद्य
व्यापारके त्यागी से = वह पूर्वोक्त भिक्षू वा = साधु भिक्षुणी वा = अथवा साध्वी दिया
वा = दिनमें, राओ वा = अथवा रात्रिमें, एगओ वा = अकेला परिसागओ वा = अथवा
सवमें स्थित सुत्ते वा = सोया हुआ जागरमाणे वा = अथवा जागता हुआ रहे, वहाँ से =

वह वीणसु वा = शालि आदि बीजों पर, वीयपइष्टेषु वा = बीजों पर रखे हुए शयन आसन आदि पर, रूढेषु वा = अङ्कुरित वनस्पति पर रूढ पइष्टिणसु वा = अङ्कुरित वनस्पति पर रखे हुए शयन आसन आदि पर, जाणसु वा = पत्ते आनेकी अवस्थावाली वनस्पति पर, जायपइष्टेषु वा = पत्ते आनेकी अवस्थावाली वनस्पति पर रखे हुए शयन आसन आदि पर, हरिणसु वा = हरित पर, हरियपइष्टेषु वा = हरित पर रखे हुए शयन आसन आदि पर, छिन्नेसु वा = कटे हुए हरित पर छिन्नपइष्टेषु वा = कटे हुए हरित पर रखे हुए शयन आसन पर स चित्तसु वा = फिर अन्य सचित्त अण्डा आदि सहित वनस्पति पर, सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा = घुने हुए— सडे हुए काठ पर न गच्छेज्जा = गमन न करे, न चिट्ठेज्जा = न खड़ा होवे न निसी- इज्जा = न बैठे, न तुअट्टिज्जा = न सोवे, अन्नं = दूसरेको न गच्छावेज्जा = न चलावे न चिट्ठावेज्जा = न खड़ा करे न निसीयावेज्जा = न बैठावे, न तुअट्ठाविज्जा = न मुलावे, गच्छंतं वा = सोते हुए अन्नं = दूसरेको न समणुजाणेज्जा = भला न जाने । जावज्जी- वाए = जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृत कारित अनुमोदनारूप तान कारणसे (तथा) तिविहेणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायासे नकरेमि न करुंगा न कारवेमि न कराऊंगा, करंतंपि = करते हुए भी अन्नं = दूसरेको न समणु जानामि = भला नहीं समझूंगा भंते ! हे भगवन् ! तस्म = उस दण्डसे पडिकयामि = पृथक् होता हूँ, निदामि = आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसाक्षीसे गर्दा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको बोसिरामि = त्यागता हूँ ॥५॥१९॥

(५) वनस्पतिकाययतना.

टीका—बीजेषु = शाल्यादिषु, बीजप्रतिष्ठितेषु = बीजोपरिस्थितेषु शयनाऽऽसना- दिषु, एवमग्रेऽपि प्रतिष्ठितपदव्याख्या कार्या, रूढेषु = अङ्कुरितेषु, जातेषु = प्ररोहणान- न्तरकालिकावस्थां सम्प्राप्तेषु पत्रितेष्वित्यर्थः, हरितेषु = कीरप्रयूरपक्षसच्छायतां गतेषु, छिन्नेषु = कुठारादिना संछिद्य पृथक्कृतेषु आर्द्रेषु = सचित्तेषु = अन्येष्वपि सजीवाण्डा-

वनस्पतिकायकी यतना कहते है—से भिक्खु वा०' इत्यादि ।

(५) वनस्पतिकाययतना

शालि आदि बीजो पर, बीजो पर रखे हुए शयना आसन आदि पर, अङ्कुरो पर अङ्कुरोपर रखे हुए शयन आदि पर, अङ्कुर अवस्थाके पश्चात् पत्रित अवस्थाको प्राप्त वनस्पतिपर, अथवा उसपर रखे हुए शयन आदिपर, कटो हुई वनस्पतिपर, हरी वनस्पतिपर, तथा इनके सिवाय

वनस्पतिकायनी यतना कहे छे—से भिक्खु वा० इत्यादि.

(५) वनस्पतिकाययतना.

शालि आदि बीजो पर, बीजो पर रखे हुए शयना आसन आदि पर, अङ्कुरो पर, अङ्कुरो पर रखे हुए शयनादि पर, अङ्कुर अवस्था पक्षी पत्रित अवस्थाने प्राप्त अण्डेकी वनस्पति पर, अथवा ते पर रखे हुए शयनादि पर, कटो हुई वनस्पति पर, लीली वनस्पति

दिपु, सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु=सचित्तैः सचेतनैः, कोलैः=घृणैः प्रतिनिश्रितेषु=आश्रितेषु जीवद्घृणयुक्तकाष्ठादिष्वित्यर्थः, न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निषीदेत्=नोपविशेत्, न त्वग्वर्त्तयेत्=वर्त्तनं वर्त्तः=परिवर्त्तनम् (भावे घञ्) त्वचः=त्वगिन्द्रियस्थ शरीरस्येत्यर्थात् वर्त्तः त्वग्वर्त्तः=वामपार्श्वतः परावृत्त्य दक्षिण पार्श्वेन दक्षिणपार्श्वतः परावृत्त्य वामपार्श्वेन वा स्नपनम्, त्वग्वर्त्तं करोति त्वग्वर्त्तयति (त्वग्वर्त्तशब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि टिलोपे धातुत्वाल्लडादयः) तस्य विधौ त्वग्वर्त्तयेत्=सुष्यादित्यर्थः ॥५॥१९॥

अथ त्रसकाययतनामाह—'भिक्षू वा०' इत्यादि ।

मूलम्—से भिक्षू वा भिक्षुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पञ्चक्वाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिवी-लियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा कंबलंसि वा पायपुच्छ-णंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पम-ज्जिय एगंतमवणेज्जा नो संघायमावज्जेज्जा ॥६॥२०॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स, कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपी-लिकां वा हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरौ वा उदरे वा शीर्षे वा वस्त्रे वा पात्रे वा कम्बले वा पादप्रोच्छनके वा रजोहरणे वा गोच्छे वा उन्दके वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा

सजीव अन्डा आदि पर, घुने (सुले) हुए काष्ठ आदिपर न स्वयं गमन करे, न खड़ा होवे, न बैठे, तथा बाँयाँ पसवाडा बदलकर दाहिने पसवाडेसे और न दाहिना पसवाडा बदलकर बाये पसवाडे से सोवे अर्थात् पसवाड़ा न बदले, ये सब क्रियाएँ दूसरे से भी न करावे, न करते हुए को भला जाने । इसलिए तीन करण तीन योगसे इनका त्याग करता हूँ, इत्यादि व्याख्यान पूर्ववत् ॥५॥१९॥

पर तथा ये उपरात सञ्च व धडा आदि पर, सडेला काष्ठ आदि पर नहिं हुं स्वयं गमन करे, नहीं उलो रहुं, नहीं भेसुं, तथा ठाथु पडथुं गहलीने जमणे पडणे अने जमथुं पडथुं गहलीने ठाणे पडणे नहीं सूपुं अर्थात् पडथा नहीं गहलुं, ये गधी क्रियाओ जीण पासे नहीं करावु, नहीं करनारने लोला जाथुं. ये रीते त्रथु करणु त्रथु योगथी अने त्याग करे छुं धत्यादि व्याख्यान पूर्ववत् (५) (१६)

शय्यायां वा संस्तारहे वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते ततः संयत एव प्रत्यु-
पेक्ष्यर प्रमृज्यर एकान्तेऽपनयेन्नैनं संवातमापादयेत् ॥६॥२०॥

(६) त्रसकाययतना.

सान्प्रयार्थः—संजयविरयपडिहयपञ्चक्खायपावकम्पे = वर्तमानकालीन सावद्य
व्यापारों से रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावद्य व्यापारोंसे रहित, वर्तमान कालमें भी
स्थिति और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके
सावद्य व्यापारके त्यागी से=वह पूर्वोक्त भिक्खू वा=साधु भिक्खुणी वा=अथवा साध्वी
दिया वा=दिनमें राओ वा = अथवा रात्रिमें एगओ वा अक्रेला परिप्लागओ वा=अथवा
संघमें स्थित सुत्ते वा=मोया हुआ अथवा जागरमाजे वा = जागता हुआ रहे, वहां से=वह
कोंडं वा = कीढेको पयंगं वा = पतंगेको कुंधुवा = कुंधुवाको पिवीत्रियं वा = कीडी-
चिऊंटीको हत्थंसि वा हाथ पर पायंसि वा = पैरपर वाहुंसि वा = भुजापर ऊरुसि वा=
जांघपर उदरंसि वा = पेट पर सीसंसि वा = सिरपर वत्थसि वा = ब्रह्मपर पडिग्गहंसि
वा = पात्रपर कंबलंसि वा = कम्बल पर पायपुच्छणंसि वा = पैर पोछनेके उपकरणवि-
शेष पर रयहरणंसि वा = रजोहरण पर गोच्छणंसि वा = पूजनी पर उंडगंसि वा = स्थ-
ण्डिलपात्र पर दंडगंसि वा = दंड पर पीढगंसि वा = चौकी पर फल्लगंसि वा = पाठे पर
सेज्जंसि वा = शरीरपरिमित शयन करनेके उपकरण पर संथारगंसि वा = संस्तारक-साढे
तीन हाथ परिमित विछौंने पर (अथवा) अन्नयरंसि वा = फिर दूसरे तहप्पगारे = इसी
प्रकार के उवगरणजाए = उपकरणों पर (लगे हुए पूर्वोक्त कीडे आदिको) तओ = उस
स्थान-हाथ पैर आदिसे संजयामेव = यतनाके साथही पडिलेहियर = बार-बार प्रति-
लेखन करके पमज्जियर = बार-बार पूंजकर एगंतं = एकान्त-निरुपद्रव स्थान-में अव-
गेज्जा = ले जाकर रखदे. (किन्तु उनको) नो णं संवायमावज्जेज्जा=एकट्ठा न करे ॥२०॥

(६) त्रसकाययतना ।

टीका—हस्ते, पादे, बाहौ, ऊरौ = जानूपरिभागे, उदरे, शीपें, वस्त्रे = मुख-वस्त्रि-
काचोलपट्टादौ, प्रतिग्रहे = प्रतिगृह्णाति = आधत्ते स्वरिमन् भक्तपानादिकमिति प्रतिग्रहः

अब त्रसकायकी यतना कहते हैं—‘से भिक्खू वा०’ इत्यादि ।

(६) त्रसकाययतना ।

हाथ, पैर, भुजा, जांघ, उदर, मस्तक, मुखवस्त्रिका, चोलपट्ट आदि वस्त्र, पात्र, कम्बल,
पाद-प्रोच्छन=पैर पोछने का वस्त्रखण्ड, रजोहरण, गोछा=पूजनी (पैरोमें लगी हुई रजको पोछने

डवे त्रसकायनी यतना कडे छे—‘से भिक्खू वा०’ इत्यादि

(६) त्रसकाययतना.

हाथ, पग, लुण, जांघ, उदर, मस्तक, मुखवस्त्रिका, चोलपट्टा आदि वस्त्र पात्र,
काभणी, पगदूँछणु, रणेडरणु, पूंजणी, स्थण्डिलपात्र, वृद्धापस्थाभ्यादिने कसणे आलवाभां

= पात्रं तस्मिन्, कम्बले, पादप्रोच्छने = प्रोच्छयते = प्रमृज्यतेऽनेनेति प्रोच्छनं = प्रमार्जनसाधनम्, पादयोः प्रोच्छनं = पादप्रोच्छनं तस्मिन् = पादप्रोच्छन-साधने वस्त्रखण्डे, रजोहरणे, गोच्छे सचित्तरजः -संसृष्टचरणप्रमार्जनिकाम् 'पूजनी' इति भाषाप्रसिद्धाम्, उण्डके = स्थण्डिलपात्रे, दण्डे वृद्धत्वादिना प्रस्थानविप्रवृत्तिभिरवलम्बनाय धार्यमाणे, नान्यथा, "थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा" इत्यादिना स्थविर-स्थविरभूमिप्राप्तातिरिक्तमुनीनां दण्डाग्राह्यत्वस्य भगवता स्पष्टं प्रतिपादितत्वात्, पीठके = काष्ठनिर्मितचतुरस्राद्यासनविशेषे 'चौकी, चौरंग' इति-भाषाप्रसिद्धे, फलके = शयनोपयोगिकाष्ठविरचितपट्टादिरूपे, शय्यायां = शयनोपकरणरूपायां वसतौ वा, अस्या अपि धर्मोपकरणत्वात्, संस्तारके = संस्तार्यते=विस्तार्यते शयनार्थिभिरिति संस्तारः (सं+स्तृञः कर्मणि घञ्) स एव संस्तारकः = (स्वार्थिकः कः) अर्द्धतृतीयहस्तप्रमाणस्तस्मिन्, दर्भादिनिर्मितास्तरणे इत्यर्थः । अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे = तत्सदृशे संयमोपयोगिनि उपकरणजाते = उपक्रियन्ते = उपयुज्यन्ते संयमादिदार्ढ्यकृते यानि तान्युपकरणानि-साधूनां संयमसाधनाङ्गीभूतोपकारकवस्त्रपात्रादीनि तेषां जातं = समूहस्तस्मिन् उपकरणमात्रे इत्यर्थः, समापतितं कीटादिकत्रसजीवम्, ततःतस्मात् हस्तादेः स्थानात् संयत एव=सम्यग् यतमान एव 'सजयामेव' इति मूलपाठे आर्षत्वाद्दीर्घो मकारश्च, प्रतिलेख्यर=प्रत्यवेक्ष्यर सम्यगवलोकयेत्यर्थः, प्रमृज्यर = पौनः पुन्येन प्रमार्जनिकादिद्वारा निस्सार्य एकान्ते = निरुपद्रवस्थाने अपनयेत् = नीत्वा स्थापयेत् किन्तु संघातम् = एकत्र पुञ्जीकरणेन पीडाजनकपरस्परशरीरसंघर्षकारणदृढसंयोगं सामान्येन सम्मेलन वा नो = नैव आपादयेत् = सप्रापयेत्

का उपकरण), स्थण्डिलपात्र, वृद्धावस्था आदि के कारण गमन करनेमें असमर्थ मुनिके (चलनेमें) सहायक दण्ड, क्योंकि भगवानने "स्थविर और स्थविरभूमिको प्राप्त मुनियोको ही दण्ड धारण करना कल्पनीय है" ऐसा कहा है, अन्यको दण्ड धारण करना मना है । अत एव उनके द्वारा गृहीत दण्ड पर तथा चौकी पाटा (पट्ट) शय्या अर्थात् उपाश्रय, क्योंकि यह भी एक धर्मोपकरण है, संस्तारक अर्थात् दर्भ आदिका बिछौना, तथा संयममें उपयोगी इस प्रकार का अन्य कोई उपकरण, इन सबमें कीट आदि त्रम जन्तु हो तो उन्हें संयमी स्वयं सम्यक् प्रकार प्रतिलेखन करके बार-बार पूजनी आदिसे पूजकर बाधारहित एकान्त स्थानमें यतनासे रखे, किन्तु उन्हें

असमर्थ मुनिने सहायक एवे दंड, कारण के लगवाने "स्थविर अने स्थविर भूमिने प्राप्त मुनिअने माटे न दंड धारण कल्पनीय छे" एवुं कहुं छे, अन्यने दंड धारणनी मनाछे, अटले अमण्णे धारण करेदा दंड पर, तथा चौकी, पाटा, शय्या अर्थात् उपाश्रय कारण के अे पण्णे एक धर्मोपकरण छे संस्तारक अर्थात् दर्भ आदिनु पिछानु, तथा संयममा उपयोगी अे प्रकारना अन्य केछे उपकरणे, अे सर्वमां झीडी-झीडा आदि त्रस न्तु छेय तो तेने संयमी स्वयं सम्यक् प्रकारे प्रतिलेखन करीने बार-बार पूजणी आदिथी पूजने न धारित अेकान्त स्थानमा यतनाथी भूके, परन्तु अेने अेकठा करीने न राणे,

‘ण’-मिति वाक्चालङ्कारे । ‘संघातो दृढसंयोगः’ इति वाचस्पत्यम् । यत्तु केचित्-एकान्तप्रदेशे रक्षार्थं त्रसजीवानां स्थापने साधूनामसंयतिवैयावृत्यदोषेण महाव्रतभङ्गो भवतीत्याहुस्तदेतद्भगवदाज्ञाविरुद्धम्, अनेनापि सूत्रेण धर्मोपकरणस्थानां त्रसजीवानां निरुपद्रवप्रदेशे रक्षार्थं यतनया स्थापनविधानात् ॥६॥ ॥२०॥

इत्येवं षट्काययतनामभिधाय सम्प्रति तदपरिपालनपरिणामदारुणत्वं वर्णयते-‘अजयं चरमाणो’ इत्यादि ।

मूलम्—अजयं चरमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।

बंधई पावयं कम्मं. तं से होइ कडुयं फलं ॥१॥

छाया-अयतं चरंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

वध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥१॥

यतना न पालन करने का बुरा फल कहते हैं-

सान्त्वयार्थः-अजयं= अयतनापूर्वक चरमाणो=गमन करता हुआ साधु पाणभूयाइं = त्रस स्यावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है य=और पावयं कम्मं=पापकर्मको बंधई = बांधता है, तं = उस कारण से=उस पाप कर्मका फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ = होता है ॥१॥

इकट्टा करके न रखे, क्योंकि ऐसा करनेसे उनको पीडा होने की सभावना है । कितनेक कहते हैं कि-रक्षाके लिए त्रस जीवको एकान्त स्थानमें रखनेमें साधुको असंयति की वैयावच करनेरूप दोष लगता है और उससे महाव्रतका भंग होता है । यह उनका कहना भगवानकी आज्ञासे विरुद्ध है, क्योंकि इस सूत्रसे भगवानने स्पष्ट विधान किया है कि धर्मोपकरणमें स्थित त्रस जीवको रक्षा के लिए निरुपद्रव स्थानमें यतनासे रखना चाहिये ॥६॥ ॥२०॥

इस प्रकार षट्कायकी यतना कहकर “उसकी रक्षा नहीं करनेसे भयंकर परिणाम होता है” इस बातका उपदेश देते हैं-‘अजय चरमाणो’ इत्यादि ।

यतना रहित गमन करनेवाला सयत (साधु) द्वीन्द्रिय आदि प्राणोकी तथा एकेन्द्रिय पृथ्वी-काय आदि भूतोकी अर्थात् त्रस और स्थावर जीवोकी हिंसा करता है, और ज्ञानोवरणीयादि पाप

कारण के अंगे करवाथी तेमने पीडा थवानी संभावना रहे छे डेटलाके छे छे के रक्षाने माटे त्रस अवेने अकाल स्थानमा राखवामा साधुने असंयतिनी वैयावच्य करवा इप दोष लागे छे अने तेथी महाव्रतने लग थाय छे. अमनु अबुं कथन भगवाननी आज्ञाथी विरुद्ध छे, कारण के आ सूत्रथी लगवाने स्पष्ट विधान कथुं छे के धर्मोपकरणमा स्थित त्रस अवेनी रक्षाने माटे निरुपद्रव स्थानमा यतनाथी तेमने भूकवा जेधअ (६) (२०)

अे रीते षट्कायनी यतना कहीने ‘अमनी रक्षा नहि करवाथी लय कर परिणाम आवे छे, अे बातने उपदेश आवे छे-अजयं चरमाणो इत्यादि

यतनारहितपणे गमन करनार संयत (साधु) द्वीन्द्रिय आदि प्राणोनी तथा अेकेन्द्रिय पृथिवीकाय आदि भूतोनी अर्थात् त्रस अने स्थावर अवेनी हिंसा करे छे अने ज्ञानावरणी-

टीका—अयतं=यतनारहितं यथास्यात्तथा चग्न्=गच्छन् 'संयतः' इति शेषः, प्राण-
भूतानि=प्राणन्तीति प्राणः=उच्छ्वासादिमन्तो द्वीन्द्रियप्रभृत यो जीवाः, भूतानि=भवन-
शीला एकेन्द्रिया पृथिव्यादयः, प्राणाश्च भूतानि चेति प्राणभूतानि (द्वन्द्वत्वात्परबलिङ्गता)
तानि=त्रसस्थावराणीत्यर्थः, हिनस्ति=हन्ति, च=तथा पापकं =पं =पङ्किलमर्थान्मलिनं
भावमापयति, =प्रापयतीति, प =क्षेमम् आ =समन्तान् पिवति =नाशयतीति, पानं-
पास्तमर्थात्प्राणिनामात्मानन्दरसपानम् आप्नोति प्राप्नोति =गृह्णातीति, नरकादिकुगतिषु
जीवन पातयतीति, कर्मरजोभिरात्मान पांशयति' =मलिनयतीति वा पापं तदेव पापकं
= (कुत्सायां कन्) ज्ञानावरणीयादि, कर्म = तत्सम्बन्धयति सूक्ष्मपुद्गलसञ्चयं बन्धाति =
उपार्जयति, तत् = तेन हेतुना, तस्य = पापकर्मणः फलं = परिणतिः कटुकं = दुःखदम्,
यद्वा 'कटुकफल' मिति च्छाया, तत् = पापकर्म तस्य अयतनया गच्छतः कटुकफलं =
कटुकम् अनिष्टं फलं = परिणामो यस्य तत् अशुभफलप्रदमित्यर्थः. भवति=जायते । अत्र
पक्षे 'कटुक'-मित्यत्रानुस्वार आर्षत्वात् ॥१॥

१ २ ५ ३ ४
मूलम्—अजयं चिद्वमाणो य पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥२॥

छाया—अयतं तिष्ठंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बन्धाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥२॥

सान्प्रयार्थः अजयं = अयतनापूर्वकं चिद्वमाणो = खड़ा होता हुआ साधु पाणभू-

कर्मका उपार्ज करता है । पाप (१) मलिनताको प्राप्त कराता है, (२) नरक आदि अधोगतिमें पहुँचाता है, (३) आत्माके हितका नाश करता है, (४) प्राणियों के आत्मिक आनन्द रसको सुखा डालता है, (५) आत्माको कर्मरूपी रजसे मलिन कर देता है, इसलिए उसे पाप कहते हैं । अर्थात् अयतनापूर्वक प्रवृत्ति करनेसे जीवोंकी हिंसा होती है, और ज्ञानावरणीय आदि अशुभ कर्मोंका बन्ध भी होता है, और उम पापकर्मका परिणाम दुःखदायी होता है, तथा उसका कडुआ फल भोगना पडता है ॥१॥

यादि पापकर्मनुं उपान् न करे छे पाप—(१) मलिनताने प्राप्त करावे छे, (२) नरक आदि अधोगतिमा पहुँचावे छे, (३) आत्माना हितने नाश करे छे, (४) प्राणीयेना आत्मिक आनन्द रसने सुखावी नाये छे (५) आत्माने कर्मरूपी रजथी मलिन करी नांये छे, तेथी तेने पाप कडे छे अर्थात् अयतनापूर्वक प्रवृत्ति करवाथी जीवोनी हिंसा थाय छे अने ज्ञाना-
वरणीय आदि अशुभ कर्मोना अंध पक्षु उत्पन्न थाय छे. ये पापकर्मनुं परिणाम दुःख-
दायी आवे छे, तथा येनां कडवां क्षण भोगववा पडे छे (१)

१ पांशयति=पांशु-घूलि, 'पांशुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः' सोऽस्यास्तीति पांशुमान्
पांशुमन्तं करोति पांशयति 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचीण्टवद्भवात् 'विस्मतोर्लुग' इति
मत्तुपो लुक्' ततष्टिलोपः ।

याइं = तस स्थावर जीवोंकी हिंसइ = हिंसा करता है य = और पावयं कम्मं = पाप कर्म-
को बंधई = बांधता है, तं = उस कारण से = पापकर्म का फलं = फल कडुयं = दुःखदा-
यी होइ = होता है ॥२॥

टीका—‘अजयं चिट्टमाणो’ इत्यादि । अयतं = यतनारहितं तिष्ठन् = करचरणा-
दिप्रसारणेनाऽनरहितं दण्डवद्भ्रूवस्थानं कुर्वन् । प्राग्बद्ध्याख्येयम् ॥२॥

१ २ ५ ३ ४
मूलम्—अजयं आसमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥३॥

छाया—अयतमासीनश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥३॥

सान्त्वयार्थः—अजयं=अयतना-पूर्वक आसमाणो=वैठता हुआ साधु पाणभूयाइं=तस
स्थावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है, य और पावयं कम्मं=पापकर्मको बंधई=बांधता
है, तं=उस कारण से=उस पापकर्म का फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ=होता है ॥३॥

टीका—‘अजयं आसमाणो’ इत्यादि । अयतमासीनः=प्रमार्जन विनाऽनुपयुक्तोऽनरहित
उपविशन्नित्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥३॥

१ २ ५ ३ ४
मूलम्—अजयं सयमाणो य पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४॥

छाया—अयतं स्वपंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥४॥

सान्त्वयार्थः—अजयं=अयतना पूर्वक सयमाणो=सोता हुआ साधु पाणभूयाइं=तस-
स्थावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है, य=और पावयं कम्मं=पापकर्मको बंधई=बांधता
है, तं=उस कारण उस पापकर्म का फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ=होता है ॥४॥

टीका—‘अजयं सयमाणो’ इत्यादि अयतं स्वपन्=शय्या प्रमार्जनादिकं विना
प्रकामशय्यादिना दिवसे वा शयानः । शेषं पूर्ववत् ॥४॥

‘अजयं चिट्टमाणो’ इत्यादि । अयतनापूर्वक खडा होने,से पापकर्म बंधता है और उसका कडुआ
फल होना ॥२॥

‘अजयं आसमाणो’ इत्यादि । भूमि आदिकी विना प्रमार्जना किये ही अयतनापूर्वक बैठनेसे
पापकर्म बधता है और उसका कडुआ फल होता है ॥३॥

‘अजयं चिट्टमाणो’ इत्यादि अयतनापूर्वक खडा रहनेवाली पापकर्म बांधाय छे अने
तेना कडुवा इण अ वे छे (२)

‘अजयं आसमाणो’ इत्यादि भूमि आदिनी प्रमार्जना कर्था विना अयतनापूर्वक बैठनेवाली
पापकर्म बांधाय छे, अने तेना कडुवा इण भणे छे. (३)

१ २ ५ ३ ४
मूलम्—अजयं भुंजमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥५॥

छाशा—अयतं भुञ्जानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक फलम् ॥५॥

सान्त्वयार्थः—अजयं=अयतना-पूर्वकं भुंजमाणो=खाता हुआ साधु पाणभूयाइं=त्रस-
स्थावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है, य=और पावयं कम्मं=पाप-कर्मको बंधता है, तं=
उस कारण से=उस पापकर्मका फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ=होता है ॥५॥

टीका—‘अजयं भुंजमाणो’ इत्यादि । अयतं भुञ्जानः=यथाकल्पलब्धान्त प्रान्ता-
घाहारं संयोजनादिमण्डलदोषपरिहारेण चपड-चपड-शब्दपूर्वकमभ्यग्रहरन् । अन्यत् सुबो-
धम् ॥५॥

१ २ ५ ३ ४
मूलम्—अजयं भासमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥६॥

छाया—अयतं भाषमाणश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥६॥

सान्त्वयार्थः—अजयं=अयतना-पूर्वकं= भासमाणो=बोलता हुआ साधु पाणभूयाइं=
त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है, य=और पावयं कम्मं=पापकर्मको बंधई=
बांधता है, तं=उस कारण से=उस पापकर्मके फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ=होता
है ॥६॥

टीका—‘अजयं भासमाणो’ । इत्यादि । अयतं भाषमाणः=अयतनया ब्रुवन् ।
ननु यतनापूर्वकभाषणार्थमेव मुनिर्मुखवस्त्रिकां बध्नातीति त प्रति पुनरयं विधि-

‘अजय सयमाणो’ इत्यादि । अयतनासे अर्थात् शय्याकी प्रमार्जना न करके शयन करनेसे
पापकर्म बंधता है और उसका कडुआ फल होता है ॥४॥

‘अजयं भुंजमाणो’ इत्यादि । साधुके कल्पके अनुसार प्राप्त हुए आहारका संयोजना आदि
मण्डल दोषोका परित्याग न करके ‘चपड-चपड’ आदि शब्द करते हुए भोजन करनेसे पापकर्म
बंधता है और उसका फल कडुआ होता है ॥५॥

‘अजय भासमाणो’ इत्यादि । अयतनापूर्वकं भाषण करनेसे हिंसा होती है और पापकर्मका

अजयं सयमाणो इत्यादि अयतनाथी अर्थात् शय्याकी प्रमार्जना कर्त्वा विना शयन
करवाथी पापकर्म अंधाय छे अने अना कडुवा इण भणे छे (४)

अजयं भुंजमाणो इत्यादि साधुना कल्पके अनुसार प्राप्त थयेला आहारना संयोजना
आदि मंडल दोषोका परित्याग कर्त्वा विना ‘चपड-चपड’ अवाज करता लोअन करवाथी
पापकर्म अंधाय छे, अने तेना कडुवा इण आवे छे (५)

व्यर्थ एवेति चेन्न, यथाविधिनिबद्धमुखवस्त्रिकस्यापि मुनेरनृतकर्मशादिसावद्य-भाषणेऽना-
वृतमुखेन भाषणवदयतना भवतीति सर्वथा भाषासमितिसमाराधनाऽवधानमाधातुमस्योपदे-
शस्य सार्थक्यात् । शेषं पूर्ववद्र्याख्येयम् ॥६॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
मूलम्—कहं चरं कहं चिट्टे कहमासे कहं सए ।

९ १० ११ १२ १३ १४
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकर्मं न बंधई ॥७॥

छाया—कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्, कथरमासीत् कथ शयीत् ।

कथं भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥७॥

सान्त्वयार्थः—शिष्य पूछता है—(अगर ऐसा है तो हे गुरु महाराज !)कहं = कैसे
चरे = गमन करे ?, कहं = कैसे चिट्टे = खड़ा हो ?, कहं = कैसे आसे = बैठे ?, कहं =
कैसे सए = सोवे ?, कहं = किस प्रकार भुंजंतो = आहार करता हुआ (तथा) भासंतो =
बोलता हुआ पावकर्मं = पापकर्म न बंधई = नहीं बांधता है ॥७॥

शिष्यः पृच्छति—‘कह चरे’ इत्यादि ।

टीका—हे भगवन् ! यद्येवं तर्हि संयतः कथं=केन प्रकारेण चरेत्=विहरेत् ?, कथं
बन्ध होता है । उस पापकर्मका फल कडुआ होता है ।

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! अयतनाको दूर करनेके लिए ही मुखवस्त्रिका मुख पर बाँधी जाती
है, फिर उनके प्रति ‘अजय भासमाणो य’ ऐसा उपदेश देना कैसे सगत है ? ।

उत्तर—हे शिष्य ! सुनो, मुख पर मुखवस्त्रिका सदा बाँधी रहने पर भी असत्य कर्मक श कठोर
आदि बोलनेसे तथा सावध उपदेश देनेसे उसी प्रकार अयतना होती है जिस प्रकार खुले मुख
बोलनेसे होती है । साधुको भाषासंबन्धी सब प्रकारकी अयतनाका त्याग करना चाहिए इस-
लिए यह अयतनाके त्यागका उपदेश दिया गया है ॥६॥

शिष्य पूछता है—‘कहं चरे०’ इत्यादि ।

हे भगवन् ! यदि ऐसा है तो मुनि कैसे चले ? कैसे खड़ा रहे ? कैसे बैठे ? कैसे शयन

अजय भासमाणो इत्यादि अयतनापूर्वक लाषणु करवाथी हिंसा थाय छे अने पापकर्म
अधाय छे. अने पापकर्मना इण कडवा आवे छे

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! अयतनाने दूर करवाने माटे मुखवस्त्रिका मुख पर बांधवामां
आवे छे, पछी तेमनी प्रत्ये ‘अजयं भासमाणो य’ अने उपदेश आपवो केवी रीते संगत छे ?

उत्तर—हे शिष्य ! मुख पर मुखवस्त्रिका सदा बांधी रहैवा छता पणु असत्य
कर्मक श कठोर आदि बोलवाथी तथा सावध उपदेश आपवाथी अने प्रकारनी अयतना थाय
छे के अने प्रकारनी अयतना उधाउे भेजे अने बोलवाथी थाय छे साधुअने भाषासंबन्धी सर्व
प्रकारनी अयतनाने त्याग करवो जेईअने, तेथी आ अयतनाना त्यागने उपदेश आपवामा
आये छे (६)

शिष्य पूछे छे—‘कह चरे०’ इत्यादि

=केन प्रकारेण तिष्ठेत्=स्थितो भवेत् ?, कथं=केन रूपेण आसीत्=उपविशेत् ?, कथं शयीत्=स्वप्यात् ?, कथं वा भुञ्जानः=अभ्यवहरमाणः, भाषमाणश्च पापकर्म=व्याख्यातपूर्वं न वध्नाति ? ॥७॥

मूलम्—^१जयं ^२चरे ^३जयं ^४चिद्धे, ^५जयमासे ^६जयं ^७सए

^९जयं ^{१०}भुञ्जंतो ^{११}भासंतो, ^{१२}पापकर्मं ^{१३}न ^{१४}बंधई ॥८॥

छाया—यतं चरेद् यतं तिष्ठेद्, यतमासीत् यतं शयीत् ।

यतं भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्मं न वध्नाति ॥८॥

सान्त्वयार्थः—गुरु महाराज उत्तर देते हैं—जयं=यतनापूर्वक चरे=गमन करे जयं=यतनापूर्वक चिद्धे=खड़ा होवे जयं=यतनापूर्वक आसे=वैठे जयं=यतना पूर्वक सए=सोवे (और) जयं=यतना पूर्वक भुजतो=खाता हुआ तथा भासंतो=बोलता हुआ पापकर्मं=पापकर्म न बंधई=नहीं बांधता है ॥८॥

टीका—यतम्=ईर्यादिसमितिसमन्वितं यथा तथा चरेत्=विहरेत्, यतं तिष्ठेत्=कर-चरणादिकमविक्षिपन् समग्रहितो दण्डावस्थिति विदध्यात्, यतमासीत्=यतनया—हस्तपादा-द्याकुञ्चनप्रसारणादिकमकुर्वन् सोपयोगमुपविशेत्—दृढासनादिना स्थिरः सन्नावश्यककार्यमन्तरेण नेतस्ततो अभ्येदित्यर्थः, यतं शयीत्=प्रकाम-शयनीयादिपरिहारेण स्वप्यात्, यतं भुञ्जानः=यथाकल्पप्राप्ताहारं संयोजनादिमण्डलदोषवर्जनपुरस्सर 'चपड-चपड' इति-

करे ? कैसे आहार करे ? और कैसे बोले ? जिससे पापकर्म न बंधने पावे ॥७॥

गुरु महाराज उत्तर देते हैं—'जयं चरे०' इत्यादि ।

हे शिष्य ! संयत ईर्यासमितियुक्त होकर चले, यतनासे खड़ा रहे, अर्थात् हाथ-पैर न हिलाता हुआ सावधान होकर दडकी तरह खड़ा रहे यतनासे वैठे अर्थात् वृथा हाथ पैर न हिलावे, उपयोग-सहित दृढासन आदिसे वैठे, विना कार्यके इधर उधर न हिले, यतनासे शयन करे अर्थात् प्रकाम शय्याका परिहार करता हुआ सोवे, यतनासे आहार करे अर्थात् जैसा निरवध आहार मिल जाय उसीमे सन्तुष्ट रहे और 'चपड-चपड' आदि शब्द न करते हुए भोजन करे, न भोजन

डे लगवन् । ने भेभ छे तो मुनि डेवी रीते आदे ? डेवी रीते उलो रडे ? डेवी रीते भेसे ? डेवी रीते सूभे ? डेवी रीते आहार करे ? अने डेवी रीते भेदे ? डे भेथी पाप कर्म बांधवा न पावे ? (७)

गुरु महाराज उत्तर आपे छे—'जयं चरे०' इत्यादि

हे शिष्य ! संयत ईर्यासमितियुक्त यथने आदे, यतनाथी उलो रडे, अर्थात् हाथ-पग न हिलावे ने हंडनी भेभ उलो रडे यतनाथी भेसे अर्थात् वृथा हाथ-पग न हिलावे उपयोग सहित दृढासन आदिथी भेसे, कार्य विना आभ-तेभ हडे नडी, यतनाथी शयन करे, यतनाथी आहार करे, अर्थात् ने निरवध आहार भणी जय तेमां ज सन्तुष्ट रहे अने 'चपड-चपड' अवाज कर्या विना लोअन करे, लोअनमां राग-द्वेष न करे यतनाथी

शब्दमकुर्वाणोऽभ्यवहृमाणः, यतं भाषमाणः=निबद्धमुखवस्त्रिकः सन् हितमितमृद्वादिनिरव-
द्यभाषयाऽवसरे समालपन् पापकर्म न बध्नाति=न बध्नीयात् ॥८॥

किञ्च-‘सव्वभूय०’ इत्यादि ।

मूलम्—^१सव्वभूय^३प्पभूय^२स्स, सम्मं^४ भूयाइं पासओ ।

^५पिहिआसवस्स^६ दंतस्स, पावकम्मं^७ न बंधई^८ ॥९॥

छाया—सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यग् भूतानि पश्यतः ।

पिहितास्रवस्य दान्तस्य, पापकर्म न बध्यते ॥९॥

सान्त्वयार्थः—सव्वभूयप्पभूयस्स=सर्व प्राणियोंको अपने समान समझनेवाले सम्मं
=सम्यक् प्रकार-आगमानुसार भूयाइं=जीवोंको पासओ=देखने-समझने-वाले पिहिआस-
वस्स=आस्रवको रोकनेवाले दंतस्स=जितेन्द्रिय साधुके पावकम्मं=पापकर्म न बंधई=नहीं
बंधता है ॥९॥

टीका—सर्वभूतात्मभूतस्य=सर्वाणि च तानि भूतानि सर्वभूतानि=एकेन्द्रियादार-
भ्य पठ्चेन्द्रियपर्यन्तं सर्वे जीवास्तेषु आत्मभूतः=आत्मसदृशः, जीव आत्मानं रक्षितुं यथा
प्रयतते तथा यथाविधिसकलजीवरक्षासावधान इत्यर्थः, तस्य, भूतानि सम्यक्=प्रवचन-
प्रतिपादितस्वरूपेण पश्यतः=प्रेक्षमाणस्य निखिलप्राणिगणस्वरूपं याथातथ्येन पर्यालोच-
यत इत्यर्थः । पिहितास्रवस्य=पिहिताः=आच्छादिता आस्रवाः=कर्मागमहेतवो येन स
पिहितास्रवः=प्रतिरुद्धकर्मद्वारस्तस्य; दान्तस्य=दमयति वशं नयति इन्द्रियाऽश्वानिति दान्तः
=जितेन्द्रियस्तस्य पापकर्म न बध्यते=तस्य पापलेपो न जायत इत्यर्थः ॥९॥

में राग-द्वेष करे । यतनासे भाषण करे अर्थात् हित मित मधुर और निरवद्य भाषा बोले, खुले मुंह
न बोले, तथा कर्कश कठोर शब्दोका उच्चारण न करे और निष्प्रयोजन न बोले । ऐसा करनेसे
पापकर्म नहीं बंधता है ॥८॥

और—‘सव्वभूय०’ इत्यादि ।

समस्त प्राणियोंमें आत्मतुल्य बुद्धि रखनेवाले, तथा आगमके अनुसार जीवोंका स्वरूप
समझनेवालेको, कर्मोंके आगमनके कारण (आस्रव) का निरोध करनेवालेको पापकर्मका बंध नहीं
होता है ॥९॥

भाषण करे अर्थात् हित मित मधुर अने निरवद्य भाषा बोले, खुले मुँह बोले नहि.
अने कर्वाथी पापकर्म अंधातुं नथी (८)

अने-सव्वभूय० इत्यादि

अधां प्राणीओमां आत्मतुल्य बुद्धि राभनाश, अने आगम अनुसार लोवोतुं स्वश्य
समञ्जनाराने, कर्मोना आगमननां कारणो (आस्रवो) ने निरोध करनारोओने पापकर्मनुं
अंधतुं नथी. (९)

ननु क्रियैव पापकर्मावरोधश्चेत्तर्हि तदर्थमेव यतनीयं कृतं ज्ञानेनेति चेदत्रोच्यते—
नहि ज्ञानमन्तरेण क्रिया कदाचिदपि फलाय कल्पते प्रत्युतोन्मत्तक्रियावदनर्थानुब-
न्धिनी स्यादिति ज्ञानविरहितकेवलक्रियाप्रवृत्तिलोकानां मा स्म भूदतो ज्ञानस्य क्रियापे-
क्षया प्राथम्य दर्शयति—‘पढमं नाणं’ इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ५ ७ ६ ८
मूलम्—पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।

८ ९ १० ११ १२ १४ १३
अन्नाणी किं काही; किं वा नाही छेय-पावगं ॥१०॥

छाया—प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्वसंयतः ।

अज्ञानी किं करिष्यति, किं वा ज्ञाम्यति छेक-पापकम् ॥१०॥

सान्त्वयार्थ—पढमं=पहले नाणं ज्ञान है तओ=उसके पश्चात् दया=दया अर्थात् चा-
रित्र है एवं=इसी प्रकार सव्वसंजए=सर्वसंयत साधु चिट्ठइ=आचरण करते हैं, अन्नाणी=
सम्यग्ज्ञानसे रहित पुरुष किंकाही=क्या कर सकता है—कैसे संयम पाल सकता है, अर्थात्
नहीं पाल सकता । (और) किं वा=कैसे छेयपावगं=उपादेय और हेयको नहीं=जान
सकता है ?, अर्थात् नहीं जान सकता ॥१०॥

टीका—प्रथमम्=आदौ ज्ञानं=ज्ञायन्ते—बुध्यन्ते जीवाजीवाद्यः पदार्था येन य-
स्माद् यस्मिन् वा तज्ज्ञानं=स्वपरस्वरूपपरिच्छेदलक्षणम्, अपेक्ष्यं भवतीत्याशयः, क्रिया-
मात्रस्य ज्ञानपूर्वकत्वे हि स्वामीष्टसिद्धिकत्वात्, ततः=तदनन्तरं दया=क्लेशाकुलप्राणिसं-
कष्टमोचनेच्छालक्षणाऽनुकम्पा, दयाशब्देन चात्र क्रियामात्रमुपलक्ष्यते, एवम्=अनेन प्रका-

प्रश्न — हे गुरुमहाराज ! यदि केवल क्रियासे पापकर्माका निरोध हो जाता है तो क्रिया
ही करनी चाहिए, ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर— हे शिष्य ! ज्ञानके विना क्रियाका कुछ फल नहीं होता, ज्ञानरहित क्रिया उन्मत्त
(पागल) पुरुषकी क्रियाके समान अनर्थको उत्पन्न करती है । ‘कोई जीव ज्ञानरहित क्रिया
न करे’ इस अभिप्रायसे ‘पहले ज्ञान फिर क्रिया होनी चाहिए’,—इस बातको शास्त्रकार कहते
हैं—‘पढमं नाणं’ इत्यादि ।

जिससे स्व-परका बोध होता है उसे ज्ञान कहते हैं । वह ज्ञान प्रथम है, क्योंकि जीव
आदि नव पदार्थका ज्ञान होने पर ही संयम अर्थात् षड्जीवनिकायकी दया का पालन हो सकता

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! जे केवल क्रियाथी पापकर्मेनि निरोध थई जय छे तो क्रिया
न करी जेथजे, ज्ञाननी शी आवश्यकता छे ?

उत्तर—हे शिष्य ! ज्ञान विना क्रियानुं कशुं इण डोतुं नथी ज्ञानरहित क्रिया उन्मत्त
(गाडा) पुरुषनी क्रियानी पेडे अनर्थने उत्पन्न करे छे. ‘कोई जीव ज्ञानरहित क्रिया न करे’ अथा
हेतुथी ‘प्रथम ज्ञान पछी क्रिया डोती जेथजे आ वातने सूत्रक २ कडे छे—पढमं नाणं० इत्यादि.
जे वडे स्वपरने बोध थाय छे तेने ज्ञान कडे छे अज्ञानप्रथम छे केमके एव आदि नव पदार्थनु
ज्ञान थया पछी न संयम अर्थात् षड्जीवनिकायनी दयातु पालन थई शके छे अही दया

रेण क्रियाया ज्ञानपूर्वकत्वाऽवबोधरूपेण सर्वमयतः=सर्वविरतः साधुरित्यर्थः, तिष्ठति=वर्त्तते, कथमिदमुच्यते ? इत्याशङ्कयामाह—अज्ञानी=तत्त्वातत्त्वविवेकलक्षणज्ञानविरहितः किं करिष्यति=किं विधास्यति, किं वा=कथं वा छेकं-पापकं, छेकश्च पापकं, चानयोः समाहारे छेकपापकं, तत्र छेकं—कल्याणम् उपादेयमित्यर्थः, पापकम्=अकल्याणं हेयमित्यर्थः, ज्ञास्यति वेत्स्यति जन्मनाऽन्ध वदन्न किञ्चिदपीत्यर्थः, अतो ज्ञानार्थमेव प्रथमं यतनीयम् “हेया अन्नाणिणं क्रिया” इत्युक्तेः ॥१०॥

ज्ञानमहत्त्वं प्रदर्श्य सम्प्रति तत्प्राप्त्युपायमाह—“सोच्चा जाणइ” इत्यादि ।

मूलम्—सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।

उभयंपि जाणइ सोच्चा. जं सेयं तं समायरे ॥११॥

छाया—श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम् ।

उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यच्छ्रेयस्तत्समाचरेत् ॥११॥

अब जानने का उपाय बताते हैं—

सान्वयार्थः—सोच्चा=गुरुमुखसे सुनकर कल्लाणं कल्याण—दयारूप संयमको जाणइ=जानता है, (तथा) सोच्चा=सुनकर ही पावगं=पाप हिंसारूप असंयमको जाणइ=जानता है, (और) उभयंपि=दोनोंको भी सोच्चा=सुनकर ही जाणइ = जानता है। (अतः) जं = जो सेयं = आत्माके हितकारी हो तं = उसका समायरे = आचरण करे ॥११॥

टीका—श्रुत्वा = गुरुमुखादाकर्ण्य श्रुतज्ञानविषयीकृत्येत्यर्थः, कल्याणम् = कल्यो मोक्षः कर्मवद्दसकलोपाधिव्याधिबाधाविधुरत्वात्, तम् आ = समन्तादणति—प्रापयतीति,

है। यहाँ दया शब्दसे समस्त क्रियाओका ग्रहण होता है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानपूर्वक की हुई ही क्रिया सफल होती है, इसलिए मुनि ज्ञानपूर्वक ही क्रियाएँ करते हैं, क्योंकि तत्त्व और अतत्त्वके विवेकसे रहित अज्ञानी क्या करसकता है ? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता, और जन्मान्धके समान उसे हेय—उपादेयका ज्ञान ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, अतः पहले ज्ञानके लिए प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी है—“ज्ञानके विना क्रिया निरर्थक है” ॥१०॥

ज्ञानका महत्त्व बताकर अब उसकी प्राप्तिका उपाय कहते हैं—“सोच्चा जाणइ०” इत्यादि कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली समस्त आधि—व्याधि और बाधासे रहित मोक्षकी प्राप्ति कराने

शब्दकी अधी क्रियाओंनुं ग्रहण थाय छे. अर्थात् सम्यग्ज्ञानपूर्वक करेली क्रिया न सफल थाय छे। तेथी मुनि ज्ञानपूर्वक न क्रियाओं करे छे कारण के—तत्त्व अने अतत्त्वना विवेकथी रहित अज्ञानी शुरु करी शके ? अर्थात् कशुं नथी करी शकते अने न-मांधनी चेठे अने डेय-उपा-देयुं ज्ञान केवी रीते थछे शके ? अर्थात् नथी थछे शकतु, तेथी पडेला ज्ञानने भाटेप्र यत्न करेवा जेधये कछु छे के—“ज्ञान विनानी क्रिया निरर्थक छे” (१०)

ज्ञाननु महत्त्व बतावने हवे अनी प्राप्तिने उपाय कडे छे—सोच्चा जाणइ० इत्यादि.

कल्येन = आरोग्येण आरोग्यकरणेनेत्यर्थः ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमोक्षमार्गोपदेशद्वारेति भावः, आनयति = जीवयति सांसारिकविशालविषयकाननसंलगेष्टवियोगानिष्टसंयोगदानलज्वालामालावलीढान् प्राणिन इति कल्याणं = दयाभिधानसंयमस्वरूपं, निपातनाणत्वम्, तदुपादेयभूतं जानाति, श्रुत्वा च पापकं = नरकादिकुगतिपातिनं हेयभूतसंयमं जानाति, उभयमपि = उपादेयानुपादेयभूतसंयमासंयमलक्षणं द्वयमपि श्रुत्वैव जानाति । निष्कर्षमाह—अत्र यत् श्रेयः = हितं तत् समाचरेत् = विदध्यात् ॥११॥

मूलम्—जो जीवे वि न याणेइ अजीवे वि न याणइ ।

जीवजीवे अयाणंतो, कंहं सो नाहीइ संजमं ॥१२॥

छाया—यो जीवानपि न जानाति, अजीवानपि न जानाति ।

जीवाऽजीवानजानन् कथं, स ज्ञास्यति संयमम् ॥१२॥

सान्त्वयार्थः—जो = जो जीवेवि = जीवोंकोभी न याणेइ = नहीं जानता है (और) अजीवेवि = अजीवोंकोभी न याणेइ = नहीं जानता है, जीवाजीवे = जीवों और अजीवोंको अयाणंतो = नहीं जानता हुआ सो = वह संजमं = संयमको कंहं = कैसे नाहीइ = जानेगा ? अर्थात् नहीं जान सकता ॥१२॥

टीका—जो 'जीवेवि' इत्यादि । यः जीवान् = एकेन्द्रियादीन्, जीवलक्षणं तु मत्कृतात्तत्त्वप्रदीपाद्विशेषतोऽवगन्तव्यम्, न जानाति = न वेत्ति, तथा अजीवान् = जीवविपरीतलक्ष-

वालेको, अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूपी आरोग्यसे, हितवचन अथवा उपदेशसे ससारके विषय रूपी विशाल वनमें धधकती हुई इष्टवियोग अनिष्टसंयोगरूप दावाग्निही ज्वालाओंमें जलते हुए जीवोंको शान्ति देनेवालेको कल्याण कहते हैं । इस कल्याण (संयम) का ज्ञान गुरुमुखसे सुनकर ही होता है । पाप अर्थात् नरक आदि कुगतियोंमें गिरानेवाले असंयमका ज्ञान भी सुननेसे ही होता है, तथा इन दोनों का भी ज्ञान सुननेसे ही होता है । इसलिए इनमेंसे जो श्रेष्ठ (हितकर) ही उसमें प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥११॥

'जो जीवे वि०' इत्यादि । जो पुरुष एकेन्द्रिय आदि जीवोंके स्वरूपको नहीं जानता और न

कुर्मोक्षी उत्पन्न धनानी अधी आधि-व्याधि अने आधाधी रहित मोक्षनी प्राप्ति कराने अथवा ज्ञान दर्शन चारित्ररूपी आरोग्यधी, हितवचन अथवा उपदेशधी संसारना विषयधी विशाल वनमा ललुक्ता इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगधी दावाग्निनी ज्वालाओंमां अजला एवोने शान्ति देनेरने कल्याण (संयम) तुं ज्ञान गुरुमुखधी श्रवण करवाधी न थाय छे पाप अर्थात् नरक आदि कुगतियोंमा पाडनारा असंयमनु ज्ञान पणु सालणवाधी न थाय छे; तथा ये अतिनु ज्ञान पणु सालणवाधी न थाय छे, तेथी अंमां ने श्रेष्ठ (हितकर) डाय अंमां प्रवृत्ति करवी ने अं (११)

जो जीवे वि० इत्यादि- ने पुरुष अकेन्द्रिय आदि एवोना स्वरूपने ललुक्ता नथी अने

णान् संयमपरिपन्थिनः काञ्चनरजतादीन् धर्मास्तिकायादीन् वा न जानाति, इत्थं जीवा-
जीवान्=जीवान् अजीवाँश्चोभयानपि अजानन् सन् स.संयमं=प्राणातिपातविरमणादिलक्षणं
सप्तदशविधं कथं=केन प्रकारेण ज्ञास्यति=वेत्स्यति, संयमस्य जीवाजीवोभयविषयकज्ञान-
जन्यत्वात् ॥१२॥

ननु कर्तारि संयमं विज्ञातुमर्हती ? त्याह-‘जो जीवे वि० इत्यादि ।

मूलम्-जो जीवे वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।

जीवाजीवे वियाणंतो, सा हु नाहीइ संजमं ॥१३॥

छाया—यो जीवानपि विजानाति (तथा) अजीवानपि विजानाति ।

(इत्थं) जीवाजीवानन् स खलु संयमं ज्ञास्यति ॥१३॥

सान्त्वयार्थः-जो=जो जीवे वि=जीवोंकोभी वियाणेइ=जानता है, (तथा) अजीवे
वि=अजीवोंकोभी वियाणेइ=जानता है, इस तरह जीवाजीवे=जीवों और अजीवोंको
वियाणंतो=जानता हुआ सो=वह हु=निश्चय ही संजमं=संयमको नाहीइ=जानेगा ॥१३॥
टीका—यो जीवाजीवपदार्थान् जानाति स हु=खलु-निश्चयेन संयमं ज्ञास्यतीतिभावः॥१३॥

मूलम्-जया जीवमजीवे य, दोवि एए वियाणइ ।

तया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ ॥१४॥

छाया—यदा जीवमजीवाँश्च द्वावप्येतौ विजानाति ।

तदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ॥१४॥

सान्त्वयार्थः-जया=जव जीवमजीवे य=जीव और अजीव एए=इन दोवि=दोनों-

जीवसे भिन्न पुद्गल आदि अजीवोको जानता है । इस प्रकार दोनोंको ही नहीं जानता हुआ वह
अज्ञानी प्राणातिपात आदिसे विरमणरूप सत्रह प्रकारके संयमको कैसे जानेगा ? अर्थात् नहीं जान
सकेगा, क्योंकि संयम तब ही हो सकता जब जीव और अजीवका ज्ञान हो जाय ॥१२॥

संयमका ज्ञाता कौन हो सकता है ? सो कहते हैं-‘जो जीवे वि०’ इत्यादि ।

जो जीवोको जानता है और अजीवोंको जानता है वही जीव और अजीवको जानता हुआ
मुनि संयमका ज्ञाता हो सकेगा ॥१३ ॥

अवधी भिन्न पुद्गल आदि अणुवोने ज्ञातुं नथी, ओ रीते जेउने ज्ञातुं नथी ते अज्ञानी
प्राणातिपात आदिसे विरमणरूप सत्रह प्रकारके संयमको कैसे जानेगा ? अर्थात् नहीं जान
सकेगा, कारणके संयम त्यारे जे थर्छ शके छे के ज्यारे अव अने अणुवन्नु ज्ञान थाय छे (१२)
संयमको ज्ञाता केणु थर्छ शके छे ? ते हुवे छे छे-जो जीवे वि० इत्यादि.
जे अणुवोने ज्ञातुं छे, अने अणुवोने ज्ञातुं छे ते अव अने अणुवने ज्ञातुं नथी मुनि
संयमको ज्ञाता थर्छ शकेशे. (१३)

को वियाणइ=ज्ञानता है, तथा तत्र सव्वजीवाण=सब जीवोंकी बहुविहं=अनेक प्रकारकी गइं=गतिको जाणइ=जानता है ॥१४॥

टीका—'जया जीव' इत्यादि । यदा जीवाजीवो एतौ द्वावपि पदार्थौ विजानाति तदा सर्वेषां जीवानां बहुविधां=नानाविधां देव मनुष्यतिर्यङ्गनारकरूपां गति=गम्यते-प्राप्यते स्वस्वककर्माकृष्टैर्जीवैरिति गतिः=भवाद्भवान्तरे गमनं, तां तथोक्त जानाति=अवगच्छति ॥१४॥

मूलम्—जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।

तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुखं च जाणइ ॥१५॥

छाया—यदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ।

तदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ॥१५॥

सान्प्रयार्थः—जया=जब सव्वजीवाण=सब जीवोंकी बहुविहं=अनेक प्रकारकी गइं=गतिको जाणइ=जानता है, तथा=तब पुण्णं च पावं=पुण्य और पापको च=तथा बंधं=बन्धको मुखं च=और मोक्षको जाणइ=जानता है ॥१५॥

टीका—'जया गइं' इत्यादि । यदा सर्वजीवानां बहुविधां गति जानाति तदा पुण्यम्=पुणति=शुभयत्यात्मानमिति तत् ('पुण् शुभे' इति धातोरौणादिको यत्) । यद्वा पूयते=पवित्रीक्रियते आत्माऽनेनेति, पुनात्यात्मानमिति वा पुण्यं=शुभकर्म, ('पूव् पवने'

'जया जीव०' इत्यादि । जब जीव और अजीवका ज्ञान हो जावेगा तब सब जीवों की नाना प्रकारकी देव मनुष्य तिर्यंच और नरक रूप गतियोंको भी जानेगा । एक भवसे दूसरे भव में जाने को गति कहते हैं ॥१४

'जया गइं' इत्यादि । जब सर्व जीवोंकी बहुत प्रकारकी गतियोंको जानेगा तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको भी जानेगा ।

जो आत्मा को पवित्र करता है शुभ बनाता है उसे पुण्य कहते हैं । संसार-सागरसे पार उतरनेके लिए पुण्य तरणि(नौका) के समान है । पुण्यसे ही आर्य देव तथा उत्तम कुलमें जन्म और बोधिबीज-जिन धर्मको प्राप्ति-होती है । अधिक क्या कहा जाय ? तीर्थङ्कर गोत्र भी पुण्यसे ही बंधता है ।

जया जीव० इत्यादि जयारे लुव अने अलुवतु ज्ञान थर्ध न्तय-त्यारे सर्व लुवानी नाना प्रकारनी देव मनुष्य तिर्यंच अने नारक इप गतिओतुं पणु ज्ञान थाय. ओक लवभाथी थील लवभां जवाने गति कडे छे (१४)

जया गइं इत्यादि जयारे सर्व लुवानी धणुा प्रकारनी गतिओने लणुे त्यारे पुण्य, पाप, बंध अने मोक्षने पणु लणुे.

जे आत्माने पवित्र करे छे, शुभ बनावे छे, तेने पुण्य कडे छे. संसारसागरथी पार उतरवाने भाटे पुण्य ओ तरणी (नौका) समान छे. पुण्यथी ज आर्यदेश तथा उत्तम कुल-

इत्यस्माधातोः पूजो यण्णुक्'ह्रस्वश्चे'—त्यौणादिकसूत्रेण सिद्धिः,) जानातीत्यग्रेण सम्बन्धः

पुण्यं हि संसारपारावारोत्तरणे तरणिभूतम्, अनेनैवाऽऽर्यजनपदाभिजनकुलबोधिवी-
जजिनधर्मादिप्राप्तिर्जायते, किं बहुना तीर्थकरगोत्रमपि पुण्येनैव बध्यते, यो हि पुण्य सर्वथा
हेयं मन्यमानस्तच्च्यजति असौ समुपेक्षिततरिवाऽप्राप्तपरतीरो मध्येसमुद्रं मज्जन्नवसीदति ।

ननु पुण्यपापक्षयानन्तरमेव मोक्षप्राप्तिः शास्त्रे श्रूयते इति पापवत्पुण्यमप्यनुपादेयं
मोक्षार्थिनामिति चेन्न,

द्विविधं हि पुण्यं-पुण्यानुबन्धि पापानुबन्धि च, तत्र पुण्यानुबन्धिपुण्यस्य लक्षणमुक्तम्—
“दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद्गुरुपूजनम् ।

विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ॥१॥ इति

(स्थानाङ्गे १स्था. टीका)

जो पुण्यको सर्वथा हेय मानता हुआ उसका त्याग करता है वह संसार सागर में गोते
लगाता है । जैसे मध्य समुद्रमें नौकाका त्याग कर देनेवाला पुरुष समुद्रमें डूबता हुआ दुःख
पाता है ।

शङ्का—पुण्य और पाप दोनोंका क्षय होने के बाद मोक्षको प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रोंमें
सुना जाता है, इसलिए पापकी तरह पुण्य भी मोक्षार्थियोंके लिए उपादेय नहीं है ।

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्य दो प्रकारका है—(१) पुण्यानुबन्धि,
(२) पापानुबन्धि पुण्य । पुण्यानुबन्धि पुण्यका लक्षण यह है—

प्राणियों पर दया रखना, वैराग्य—भाव होना, आगमके अनुसार गुरुओंकी भक्ति करना
शुद्ध शील का पालन करना, यह पुण्यानुबन्धि पुण्य है । (स्थानाङ्ग० १स्था० टीका)

માં જન્મ અને બોધિબીજ-જિનધર્મની પ્રાપ્તિ થાય છે વધારે શું કહેવું ? તીર્થ'કર-ગોત્ર
પણુ પુણ્યથી જ બંધાય છે

જે પુણ્યને સર્વથા હેય માનીને તેનો ત્યાગ કરે છે, તે સંસાર સાગરમાં ગોથાં ખાય
છે, જેમકે મધ્ય-સમુદ્રમાં નૌકાનો ત્યાગ કરી નાખનાર પુરૂષ સમુદ્રમાં ડુબતાં દુઃખ પામે છે

શંકા—પુણ્ય અને પાપ એ બેઉનો ક્ષય થયા પછી મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે, એવું શાસ્ત્રો
માં સાંભળવામાં આવે છે તેથી પાપની પેઠે પુણ્ય પણ મોક્ષાર્થીઓને માટે ઉપાદેય નથી

સમાધાન—એમ કહેવું તે બરાબર નથી, કારણ કે પુણ્ય બે પ્રકારના છે. (૧) પુણ્યા-
નુબંધિ પુણ્ય, (૨) પાપનુબંધિ પુણ્ય. પુણ્યાનુબંધિ પુણ્યનું લક્ષણ એવું છે કે—

પ્રાણીઓ ઉપર દયારાખવી, વૈરાગ્યભાવ થવો, આગમને અનુસાર શુદ્ધોની ભક્તિ
કરવી, શુદ્ધ શીલ પાળવું, એ પુણ્યાનુબંધિ પુણ્ય છે (સ્થાનાંગ ૦ ૧સ્થા ૦ ટીકા)

હરિભદ્રસૂરિપ્યાહ—

“ગેહાદ્ ગેહાન્તરં કશ્ચિચ્છોભનાદધિકં નરઃ ।

યાતિ યદ્વત્ સુધર્મેણ, તદ્વદેવ ભવાદ્ભવમ્ ॥૧૧॥” ઇતિ ।

एतच्च मोक्षार्थिनामप्यादरणीयमेव, पुण्यानुबन्धिपुण्यस्याऽपतनशीलमोक्षसम्पन्न-
नकत्वात्, तथा चोक्तम्—

“શુભાનુબન્ધ્યતઃ પુણ્યં, કર્ત્તવ્યં સર્વથા નરૈઃ ।

યત્પ્રભાવાદપાતિન્યો, જાયન્તે સર્વસમ્પદઃ ॥૧૧॥” ઇતિ ।

કિન્ચ—મનુષ્યજન્મનોઽપિ મોક્ષપ્રાપ્તિકારત્વેન શાસ્ત્રે પ્રતિપાદનાત્પુણ્યં મોક્ષાર્થિ-
નામુપાદેયમેવેત્યવસીયતે, પુણ્યમન્તરેણ મનુષ્યજન્મનો દુર્લભત્વાત્, તથા ચોક્તમુત્તરાધ્યન-
સૂત્રે તૃતીયાધ્યયને—

હરિભદ્રસૂરિને મી કહા હૈ—

“જસે કોઈ મનુષ્ય એક અચ્છે ગૃહસે દૂસરે વહુત હી અચ્છે ગૃહમેં જાતા હૈ વૈસેહી પુણ્યકે પ્રભાવસે જીવ અત્યન્ત શુભ ગતિકો પ્રાપ્ત હોતા હૈ ॥૧૧॥”

यह पुण्य मोक्षार्थी पुरुषोके लिए भी उपादेय है, क्योंकि इससे अविनश्वर-शाश्वत -मोक्ष-
रूपी सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती है । कहा भी है —

“મનુષ્યો કો પુણ્યાનુબન્ધિ પુણ્ય અવશ્ય કરના ચાહિએ, જિસકે પ્રભાવસે કમી નષ્ટ ન
હોનેવાલી સબ પ્રકાર કી સમ્પદાઈ પ્રાપ્ત હોતી હૈ ॥૧૧॥”

दूसरी बात यह है कि—शास्त्रोंमें मनुष्यभवकी प्राप्ति पुण्यके उदयसे कही गई है, मनुष्य-
भव मोक्ष-प्राप्तिका कारण माना गया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि पुण्य मुमुक्षुओंके लिए
उपादेय है, क्योंकि पुण्यके विना मनुष्य-पर्याय मिलना दुर्लभ है । उत्तराध्ययन सूत्रके तीसरे
अध्ययनमें कहा है—

હરિભદ્રસૂરિએ. પણ કહ્યું છે કે—

“એમ કૈઈ મનુષ્ય એક સારા ગૃહમાથી બીજા ગૃહ જ સારા ગૃહમાં જાય છે, તેમ
પુણ્યના પ્રભાવથી જીવ અત્યંત શુભ ગતિને પામે છે ”

એ પુણ્ય મોક્ષાર્થી પુરુષોને માટે પણ ઉપાદેય છે, કારણ કે તેથી અવિનશ્વર-શાશ્વત
મોક્ષરૂપી સમ્પત્તિની ઉત્પત્તિ થાય છે. કહ્યું છે કે—

મનુષ્યોએ પુણ્ય અવશ્ય કરવું જોઈએ. જેના પ્રભાવથી કદાપિ નષ્ટ ન થાય તેવી સર્વ
પ્રકારની સમ્પદાઓ પ્રાપ્ત થાય છે ”

બીજી વાત એ છે કે—શાસ્ત્રમાં મનુષ્યભવની પ્રાપ્તિ પુણ્યના ઉદયથી કહી છે અને મનુ-
ષ્યભવ મોક્ષપ્રાપ્તિનું કારણ માન્યું છે, તેથી પણ એમ સિદ્ધ થાય છે કે પુણ્ય મુમુક્ષુઓને
માટે ઉપાદેય છે, કારણ કે પુણ્ય વિના મનુષ્ય પર્યાય મળવો દુર્લભ છે. ઉત્તરાધ્યયનમાં કહ્યું
છે કે—

“चत्वारि’ परमंगाणि, दुल्लहाणि य जंतुणो ।

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥” इति ।

संसारार्णवोत्तरणाय नरशरीरस्य नौकारूपत्वेन प्रतिपादनान्मोक्षकारणत्वं गम्यते, तथा चोत्तराध्ययनसूत्रे त्रयोविंशाध्ययने—

“शरीरमाहु’ नावत्ति, जीवो उच्चइ नाविओ ।

संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥१॥” इति ।

तत्रैव दशमाध्ययने मनुष्यजन्मनो दौर्लभ्यं चोक्तम्—

“^२ दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेणवि सव्वपाणिणं” इति ।

स्थानाङ्गसूत्रेऽपि तृतीयस्थानके च—

“चार परमांग जीवके लिए दुर्लभ है—(१)मनुष्य भव, (२)शुचिता, (३) सत्य धर्ममें श्रद्धा संयममें पराक्रम ॥”

मनुष्य संसाररूपी समुद्रको पार करनेके लिए नौकाके समान है, इसलिए ज्ञात होता है कि मनुष्य-शरीर मोक्षका कारण है । उत्तराध्ययन सूत्रके तेईसवें अध्ययनमें कहा है—

“(मनुष्यका)शरीर, नौकाके समान है, जीव, नाविक (खेवटिया) के सदृश है और संसार समुद्र सरीखा है, इसे महर्षि पार करते है ।”

इसी उत्तराध्ययनके दसवें अध्ययनमें मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता बताई है—

“चिरकाल तक सब प्राणियोंके लिए मनुष्य-भव अत्यन्त दुर्लभ है ।” स्थानाङ्गसूत्रमें तीसरे स्थानकमें कहा है—

“चार परमांग लुवने माटे दुर्लल छे—(१) मनुष्यलव, (२) शुचिता, (३) सत्यधर्मा श्रद्धा, (४) संयममां पराक्रम.”

मनुष्य शरीर संसाररूपी समुद्रने पार करवाने माटे नौका-समान छे, तेथी समलय छे के मनुष्य-शरीर मोक्षनुं कारण छे. उत्तराध्ययन सूत्रना तेवीसमा अध्ययनमा कल्लुं छेके—

“(मनुष्यनुं) शरीर, नौका समान छे, लुव, नाविक (अलासी) समान छे अने संसार, समुद्र सरणो छे, तेने महर्षि पार करे छे”

अने उत्तराध्ययनना इसमा अध्ययनमां मनुष्य जन्मनी दुर्ललता अतावी छे—

“चिरकाल सुधी सर्व-प्राणीअने माटे मनुष्यलव अत्यंत दुर्लल छे.”

स्थानांग—सूत्रमां त्रीण स्थानकमां कल्लुं छे के—

“आ त्रलु ओलीनी अलिदाषा देव पलु राणे छे. (१) मनुष्यलव, (२) आर्थक्षेत्रमा

१ “चत्वारि परमाङ्गानि दुर्लभानि च जन्तोः ।

मानुषत्व शुचिः श्रद्धा, संयमे च धीर्यम् ॥१॥”

१ “शरीरमाहुः नौ इति, जीव उच्यते नाविकः

संसारः अर्णवः उक्तः, यं तरन्ति महर्षयः ॥१॥”

२ दुर्लभ. खलु माणुष्यो भवः चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम् ।

“ तथो ठाणाइं देवेवीहेज्जा तं जहा—(१) माणुसंभवं, (२) आरिण खेते जम्मं (३) सुकुलपच्चायार्तिं ।” इति ।

उत्तराध्ययनसूत्रे त्रयोदशाध्ययने पुण्यसंग्रहस्य परमावश्यकता प्रतिपादिता. तथाहि—
‘इह जीविण राय ! असासयम्मि, धणिय तु पुण्णाइं अकुव्वमाणे ।

से सोयइ मच्चुमुहोवणीण, धम्मं अकाळण परम्मि लोण ॥२१॥”

किञ्चागमे साधुप्रभृतये आहारोपकरणादिवितरणलक्षणस्य पुण्यस्य कर्तव्यत्वेनोप-
दिष्टतयाऽऽगमप्रमाणेनोपादेयत्वसिद्धिः, तथा चागमः—

“ नवविहे पुण्णे षण्णत्ते, तं जहा—(१) अन्नपुण्णे, (२) पाणपुण्णे, (३) वत्थपुण्णे, (४) लेणपुण्णे, (५) लयणपुण्णे, (६) मणपुण्णे, (७) वयपुण्णे, (८) कायपुण्णे, (९) नमो-
क्कारपुण्णे” इति ।

“इन तीन बोलोकी देव भी अभिलाषा रखते है—(१)मनुष्य-भव,(२)आर्यक्षेत्रमें जन्म (३) सुकुलकी प्राप्ति” ।

उत्तराध्ययनके तेरहवें अध्ययनमें पुण्यके संग्रह करनेकी अत्यन्त आवश्यकता प्रतिपादन की है—

“हे राजन् ! इस नश्वर जीवनमें पुण्य और धर्म न करनेवाले इहलोक पर लोकमें मृत्युके मुखमें गये हुए जोच करते है ।”

आगममें साधु आदिके लिए आहार—उपकरण आदिका दान करने रूप पुण्य कर्तव्य माना है । आगममें कहा है कि—

“पुण्य नव प्रकारका है वह इस प्रकार (१)अन्न पुण्य (२) पान-पुण्य (३) वस्त्र पुण्य जन्म, (३) सुकुलकी प्राप्ति.”

उत्तराध्ययनना तेरहा अध्ययनमा पुण्यनो संग्रह करवानी अत्यन्त आवश्यकता प्रति-
पादन करवामा आवी छे—

“ हे राजन् ! आ नश्वर जीवनमा पुण्य अने धर्म न करना इहलोक परलोकमा मृत्युना मुखमा गयेला शोच करे छे ”

आगममा साधु आदिने माटे आहार—उपकरण आदिनु दान करवाइप पुण्यने कर्तव्य मान्युं छे आगममा उल्लु छे छे—

“पुण्य नव प्रकारनुं छे ते आ प्रमाणे—(१) अन्न पुण्य, (२) पान-पुण्य, (३)

३ त्रीणी स्थानानि देवा अपीहेरन् तद्यथा—(१) माणुष्यं भवम् (२) आर्ये क्षेत्रे जन्म, (३) सुकुलप्रत्यायानिम् ।

छाया—इह जीविते राजन् ! अशाश्वते, अधिक तु पुण्यान्यकुर्वाणः ।

स शोचति मृत्यु मुखोपनीतः, धर्ममकृत्वा परस्मिन् लोके ॥१॥

छाया—नवविधं पुण्यं प्रजप्तं, तद्यथा—(१) अन्नपुण्यम्, (२) पानपुण्यम्, (३) वस्त्र-
पुण्यम् (४) लयनपुण्यम्, (५) शयनपुण्यम्, (६) मनःपुण्यम्, (७) वच पुण्यम्, (८)
कायपुण्यम्, (९) नमस्कारपुण्यम् । इति ।

“पुण्णाङ्गं खलु आउसो ? किञ्चाङ्गं, तरणिज्जाङ्गं, पायकराङ्गं, धणकराङ्गं, जसकराङ्गं” इति ।

किञ्च पुण्ये हेयत्वहेतुभूतरय मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादकपायाऽशुभयोगाऽन्यतमजनक-
त्वस्याभावात् तस्यानुपादेयत्वापादनं गगनकुम्भुमायितमेव, प्रत्युताऽशुभभावपरिपन्थितया
तस्य कर्त्तव्यत्वमेव सुतरां दृढीभवति, अशुभभावपरिपन्थिनः कर्त्तव्यकोटौ विनिविष्टत्वाद्
यथा संयमस्य ।

“दुविहं खवेज्जण य पुण्ण-पावं” (द्विविधं क्षयित्वा च पुण्य-पापम्) इति यच्छू-
यते शास्त्रे तन् पारमासाद्य तरणिपरित्यजनमिव मुक्तिप्राप्तिसमयापेक्षम् । यथा समुद्रस्य पर-
(४) लयन पुण्य (५) शयन पुण्य (६) मनः-पुण्य (७) वचनपुण्य (८) कायपुण्य (९) नमस्कार
पुण्य ।” इति । फिर भी कहा है—

“हे आयुष्मन्! पुण्य-कृत्य करने योग्य है, पुण्य ही पात्र बनाता है, पुण्य ही सम्पत्ति और
यशको बढ़ाता है” —इति ।

जिससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और अशुभ योग उत्पन्न हो या इनमेंसे
कोई एक उत्पन्न होता हो, वह त्याज्य होता है । पुण्य इनमेंसे किसीको भी उत्पन्न नहीं करता
अतः उसे अनुपादेय बतलाना आकाशके पुष्पके समान असत् है । पुण्य अशुभ भावोंको दूर
करता है इसलिए उसकी कर्त्तव्यता स्वयसिद्ध है । जो अशुभ भावोंका विरोधी होता है वह अव-
श्य कर्त्तव्य होता है, जैसे-संयम ।

शास्त्रोंमें यह कथन किया गया है कि—“पुण्य और पाप दोनोंका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ती
होती है ” सो इस प्रकार समझना चाहिए कि—जैसे समुद्र को पार करके फिर नौकाका त्याग
किया जाता है । जैसे समुद्रके दूसरे किनारे पर बने हुए घरमें जानेकी इच्छा करनेवाला पथिक

वस्त्र-पुण्य, (४) लयन-पुण्य, (५) शयन-पुण्य, (६) मनः-पुण्य, (७) वचन-पुण्य, (८)
काय-पुण्य, (९) नमस्कार-पुण्य ” इति. वणी कहु छे के—

“ हे आयुष्मन् पुण्य-कृत्य करवा योग्य छे, पुण्य न पात्र बनावे छे, पुण्य न
सम्पत्ति अने यशने वधारे छे ” इति.

जैथी मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कपाय अने अशुभ योग उत्पन्न थाय, या ओमानुं
कोष ओक उत्पन्न थाय, ते त्याज्य होय छे. पुण्य ओमाना कोषने उत्पन्न करतुं नथी.
तेथी तेने अनुपादेय गतावपु ओ आकाशना पुष्पनी समान असत् छे पुण्य अशुभ ला-
वेने दूर करे छे, तेथी तेनी कर्त्तव्यता स्वयसिद्ध छे. जे अशुभ लावेनु विरोधी होय छे
ते अवश्य कर्त्तव्य होय छे. जेभके संयम

शास्त्रोभा ओभ कहु छे के—“पुण्य अने पाप ओजिने क्षय थवाथी मोक्षनी प्राप्ति थाय
छे” ते ओ प्रकारे समजवु के—जेभ समुद्रने पार करीने पछी नौकाको त्याग करवासा आवे

ध्याया—पुण्यानि खलु आयुष्मन् ! कृत्यानि करणीयानि, तरणीयानि, पात्रकराणि,
धनकराणि, यशकराणि ।

स्मिन् पारे विद्यमानं गृहं गन्तुकामः पथिकोऽपरतीरे विभावयति—‘कथमहं तरिष्यामी’
ति, तदानीं नावं विलोक्य “नौरियं परपारप्रापिकैव न तु मदीयगृहप्रापिका, अलमस्या
आश्रयणेन” इत्यालोच्य यदि नावं नावलम्बते तदाऽसौ गृहं गन्तुं न शक्नोति । यदि
कश्चिन्नावि संस्थितः समुद्रमध्ये पूर्वोक्तभावनां कुर्वाणो नावं परित्यजेत् तदाऽपि नासौ
गृहसुपैति प्रत्युत समुद्रस्य तरलतरकल्लोलावर्तयुक्ताऽगाधजले पतितो निमज्जति म्रियते-
ऽपि च । यस्तु पुनर्विवेकी पथिको नावमाश्रयति तथाऽसौ परं पारं चलितुमक्षमां तरणिं
परित्यजति, एवं तरणितो विप्रयुक्तः पान्थः स्वालम्बनो भूत्वा सुखेन सत्वरं स्वकीयं धाम
समवाप्नोति, तथा भव्यजीवः ससारतः परस्मिन् पारे विद्यमानं मोक्ष गन्तुकामोऽपरपारे
मनुष्यशरीरे तिष्ठन् विभावयति—“कथमहं दुःखबहुलं चतुर्गतिकसंसारं तरिष्यामि?” इति,
तदानीं मुनिजनोपदेशश्रवणतो जैनागमाद्वा दयादानादिपुण्यमहिमानमवगत्य तत्र यदि विवेकी
पुण्यमाश्रयते तदा स सुखेन ससारसागरमुत्तरति ।

सोचता है कि-‘मैं समुद्रको कैसे पार कर सकूंगा?’ उसी समय नौकाको देखकर वह पथिक
यदि यह विचार करने लगे कि‘इससे तो मैं परले पार तक ही पहुँच सकूंगा घर तक नहीं पहुँचूंगा
ऐसे विचार से नौकाका अवलम्बन न करे तो कभी घर नहीं पहुँच सकता । यदि नौकामें बैठा
हुआ कोई पथिक बीच समुद्रमें उक्त विचार करके नौकाका त्याग करदे तो भी घर नहीं पहुँच
सकता, बल्कि समुद्रकी चंचल तरंगों और भवरोसे युक्त अथाह जलमें गिर पड़ेगा और मृत्युको
भी प्राप्त हो जायगा किन्तु जो विवेकी पथिक नौकाका सहारा लेता है उसे नौका परले पार पहुँचा
देती है, आगे गति करनेमें असमर्थ होनेसे पथिक उसका त्याग करके स्वावलम्बी बनकर अपने
घर पहुँच जाता है ।

इसी प्रकार भव्य जीव ससार से परले पार पर अर्थात् मोक्ष को जाना चाहता है ।
वह मनुष्यशरीररूपी इस पार पर ठहरा हुआ विचार करता है कि- ‘मैं दुःखोंसे भरे हुए चतुर्ग-

छे. जेभ समुद्रना भील किनारा पर भनेला घरमां जवानी छँछा करनारे। पथिक विचारे
छे के “हुं समुद्रने केवी रीते गतरी शकेश ?” जे वभते नौकाने जेधने जे पथिक जे
जेभ विचार करवा लागे के “आथी तो हुं पेला किनारा सुधी ज पडोची शकेश, घर
सुधी नही पडोची शकुं,” जेवा विचारथी नौकानुं अवलणन न करे तो ते कहापि घर
पडोची शकेशे नहि जे नौकामां जेठेला केअ पथिक समुद्रनी वच्ये जेवे। विचार करीने
नौकाने त्याग करी हे तो पणु.घेर पडोचतो नथी जेठके समुद्रना अचण तरंगे। अने
लभरीजोथी युक्तअथाग जलमा पडी जशे अने भरषु पणु पाजशे परन्तु जे विवेकी पथिक
नौकाने आश्रय ले छे तेने नौका पेले पाज पडोचाडी हे छे नौका आगण गति करवामां
असमर्थ होवाथी पथिक जेने त्याग करीने स्वावलंणी जनीने पोताने घेर पडोची जय छे.

जे प्रकारे लव्य लव ससारने पेवेपार अर्थात् मोक्षे जवा छँछने। होय छे ते मनुष्य
शरीररूपी आ किनारा पर ठेले रहीने विचार करे छे के ‘हुं दुःखोथी लरेलां तुर्गतिकथ’

अथवा यथाऽङ्गारदामस्तावत् काष्ठादिषु वह्निं प्रज्वलयति, अन्येन वा प्रज्वलित वह्नि-
मुपादत्ते, ततः काष्ठगतानल जलेन निर्वापयति, वह्निविनाशे च सति अङ्गारोत्पत्तिर्भवति,
एवं वह्न्युपादानं विनाऽङ्गारो लब्धुमशक्यः यथाऽङ्गारं प्रति वह्निध्वंसस्य कारणता, ध्वंसस्य
च प्रतियोगिसापेक्षत्वेन प्रतियोगि वह्निरुपादेयो भवति, तद्वत् मोक्षं प्रति पुण्यध्वंसस्य कार-
णतायां तत्प्रतियोगितया पुण्यमप्युपादेयमेव । 'पुण्यमर्जयित्वा शुभपरिणामरूप पुण्यं ध्यान'-
दिशुद्धपरिणामेन क्षपयित्वा मोक्षो लब्धुं शक्यते । इत्थं चाऽऽगमप्रामाण्येन पुण्यस्य भव्य-
कर्त्तव्यता मुस्पष्ट सिध्यति, भव्यकर्त्तव्यतयाऽऽगमे प्रतिपादितत्वात्, शुद्धभावकारणत्वा-
च्चेति ।

तिक ससार—सागरको कैस पार कर सकेंगा ?' तव मुनिजनोके उपदेशसे, अथवा शास्त्रोसे दया
दान आदि पुण्यकी महिमा जान कर पुण्यका आश्रय लेवे तो सुखपूर्वक ससार—सागरके पार
पहुँच सकता है ।

अथवा जैसे कोयले चाहनेवाले पुरुष काष्ठ आदिमें अग्नि जलाता है, अथवा दूसरेके
द्वारा जलाई हुई अग्निको ग्रहण करता है, फिर उस अग्निको बुझा देता है । अग्नि बुझ जाने
पर कोयला उत्पन्न होता है । इस प्रकार अग्निका आश्रय लिए बिना कोयला कदापि नहीं प्राप्त
हो सकता । अर्थात् जैसे कोयलेकी प्राप्तीके लिए अग्निका ध्वंस कारण होता है और ध्वंस प्रति
योगिसापेक्ष होता है इसलिए अग्निके ध्वंसका प्रतियोगी अग्नि भी उपादेय होती है । इसी
प्रकार मोक्षका कारण पुण्यका ध्वंस है, अतः ध्वंसका प्रतियोगी पुण्य भी मोक्षके लिए उपादेय
है । उसका उपादान किये बिना मोक्षकी प्राप्ती नहीं हो सकती' क्योंकि पहले शुभ परिणाम रूप
पुण्यका उपार्जन करके फिर ध्यान आदि शुद्ध परिणामोसे उनका क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया जा
सकता है ।

संसार—सागरने केवी रीते पार करी सकीश ?' त्पारे मुनिजनोना उपदेशथी, अथवा शास्त्रो
द्वारा दया दान आदि पुण्यने महिमा ज्ञानीने पुण्यने आश्रय ले तो सुखपूर्वक संसार-
सागरने पेदेपार पहुँची शके छे.

अथवा जेने कोयला लेधता होय छे ते पुरुष लाकडाने अग्नि लगाडे छे अथवा भीज
ओओ सजगावेला अग्निने ग्रहण करे छे, अने पछी ओ अग्निने होलवी नांजे छे. अग्नि
होलवार्ध जतां कोयला उत्पन्न थाय छे, ओ रीते अग्निने आश्रय लीधा बिना कोयला
कदापि प्राप्त थता नथी अर्थात् जेभ कोयलानी प्राप्ति माटे अग्निना ध्वंस कारण अने छे
अने ध्वंस प्रतियोगि-सापेक्ष होय छे, माटे अग्निने ध्वंसने प्रतियोगी अग्नि पणु उपा-
देय अने छे ओओ रीने मोक्षनु कारण पुण्यने ध्वंस छे ओठवे ध्वंसनु प्रतियोगी पुण्य
पणु मोक्षने माटे उपादेय छे ओनु' उपादान कर्या बिना मोक्षनी प्राप्ति थध शकती नथी
कारण के पड़ेलां शुभ-परिणामरूप पुण्यनु' उपार्जन करीने पछी ध्यान आदि शुद्ध परिणाम-
भाथी ओने क्षय करीने मोक्ष प्राप्त करी सकाय छे.

પાપમ્=પાતયતિ=શુભપરિણામાદ્ધ્વંસયત્યાત્માનયિતિ, યદ્વા પાતિ=૩ક્ષત્યાત્મનોઽ-
શુભપરિણામયિતિ પાપં=પુણ્યપરિષન્ધિ તત્, વિસ્તરસ્તુ શ્રમણસૂત્રીય-મન્દ્રતમુનિ-તોષિણીટી-
કાતોઽવગન્તવ્યઃ । વન્ધમ્=વન્ધયતે=પરતન્ત્રીક્રિયતેઽન્નેનાઽઽત્થેતિ વન્ધઃ=અભીષિતરથા-
નપ્રાપ્તિગતિપ્રતિરોધલક્ષણઃ, જીવકર્મણોરયોગોલકવહ્ચોરિત્ર તાદાત્મ્યોપન્નત્વં વા, સ ચ
દ્રવ્યતો નિગડાદિઃ, ભાવતો રાગદ્વેષાદિઃ, યથા દ્રવ્યવન્ધનવદ્ધો જનોઽભિમતસ્થાનલાભા-
ભાવેન કારાગારાદાવેવ વિવિધવેદનાદારુણાં દશામાસાદયન્ વિપીદતિ, તથાઽયમાત્મા જ્ઞાના-
વરણીયાદિકર્પાદ્ધ્વન્ધ-નિગડસન્દાનિતોઽનન્તાઽક્ષય્યસુખરામ્પદુલ્લસિતાઽવ્યાભાધાઽભિમતશિવ-
સ્થાનપ્રાપ્તિ વિના જન્મજરામરણાદિજન્યાનન્યસામાન્યકષ્ટસમર્ષિટ સ્પષ્ટમનુભવન્નિહૈવસંસા-
રગહ્વરે વિપીદતિ, તમ્ ।

इम प्रकार आगममें कर्तव्य रूपसे प्रतिपादन करनेसे शुद्ध भावका कारण होनेसे यह भली
भांति सिद्ध हो गया कि पुण्य अवश्य कर्तव्य है ।

જો શુભ પરિણામોસે આત્માકો દૂર રાખતા હૈ—શુભ પરિણામ નહીં હોને દેતા ઉસે પાપ
કહતે હૈ । વહ પુણ્યકા વિરોધી હૈ ।

આત્મા જિસસે વન્ધ—પરતન્ત્ર હો જાતી હૈ’ વહ અર્થાત્—અભીષ્ટ રથાનકી પ્રાપ્તિ કરાનેવાલી
ગતિકો રોકનેવાલા વન્ધ કહલાતા હૈ । અથવા જૈસે ળોહેકા ગોલા ઓર અગ્નિ એકમેકસે હો
જાતે હૈ, ડસી પ્રકાર જીવ ઓર કર્મોંમેં એકતાકા જ્ઞાન કરાનેવાલા વન્ધ હોતા હૈ । વેડી અદિ
દ્રવ્યવન્ધ હૈ ઓર રાગદ્વેષ આદિ ભાવવન્ધ હૈ જેસે દ્રવ્યવન્ધ—નિગડ આદિ—સે વંધા હુઆ મનુષ્ય
અભિમત સ્થાન પર ન પહુંચ સકનેકે કારણ કારાગાર આદિમેં વિવિધ વેદનાઓકે દ્વારા દારુણ
દગા પ્રાપ્ત કરતાહુઆ દુઃખ પાતા હૈ, વૈસે હી જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મ—સ્વરૂપ ભાવ—વન્ધરૂપી
વેડાકે કારણ અનન્ત અવિનાશી સુખરૂપી સમ્પત્તિસે શોભિત, અવ્યાભાધ ઓર અભીષ્ટ મોક્ષ—સ્થા-
નકી પ્રાપ્તીકે વિના જન્મ જરા મરણ આદિસે હોનેવાળે અપરમિત દુઃખ મોગતા હુઆડસી સસારરૂપી

એ રીતે આગમમા કર્તવ્યરૂપે પ્રતિપાદન કર્યું હોવાથી તથા શુદ્ધ ભાવતુ કારણ
હોવાથી એ સારી રીતે સિદ્ધ થઈ ગયું કે પુણ્ય અવશ્ય કર્તવ્ય છે

આત્માને શુભ પરિણામોથી દૂર રાખે છે—શુભ પરિણામ થવા દેતું નથી તેને પાપ
કહે છે. તે પુણ્યતુ વિરોધી છે

આત્મા જેથી અદ્—પરતન્ત્ર થઈ જાય છે તે અર્થાત્ અભીષ્ટ સ્થાનની પ્રાપ્તિ કરાવનારી
ગતિને રોકનાર બંધ કહેવાય છે. અથવા જેમ લોઠાને ગોળો અને અગ્નિ એક-એક બની
જાય છે, તેમ જીવ અને કર્મોંમા એકતાનુ જ્ઞાન કરાવનાર બંધ હોય છે જેડી આદિ દ્રવ્ય
બંધ છે અને રાગ દ્વેષ આદિ ભાવ-બંધ છે જેમ દ્રવ્ય બંધ હેડ કે જેડી આદિથી બંધાયેલો
મનુષ્ય ધારેલે સ્થાને ન પહોંચી શકવાને કારણે કારાગાર આદિમા જ વિવિધ વેદનાઓ દ્વારા
દારુણ દશા પ્રાપ્ત કરતા દુઃખ પામે છે તેમ જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મસ્વરૂપ ભાવ-બંધ રૂપી
જેડીને કારણે, અનન્ત અવિનાશી સુખરૂપી સંપત્તિથી શોભિત, અવ્યાભાધ અને અભીષ્ટ

नत्वात्मनोऽमूर्त्तत्वात्कर्मणां च मूर्त्तत्वान्न तयोः परस्परं सम्बन्धः संभवति, अमूर्त्त-
त्वेऽपि सम्बन्धरहीकारे आत्मधर्माधर्मास्तिकायकालः सदापि सम्बन्धप्रराज इति चेन्न,
आत्मनः कर्मणा सह सम्बन्धाभावाऽऽपादने हेतुत्वेनोपन्यस्तममूर्त्तत्वं किं सर्वथा-
रूपेण किं वा कथञ्चिदपेण रवीक्रियते ? नाद्यः, हेतुसिद्धेः, सर्वथाऽमूर्त्तभूतस्य सिद्धा-
त्मनः कर्मणसम्बन्धाभावो मयाऽपीष्यत एव । आत्मत्वान्निष्ठत्वनस्य सर्वथाऽमूर्त्तत्वं तु दुर्बलं,
संसारिर्जीवानां कथञ्चिन्मूर्त्तत्वामदात् । कथञ्चित् स्वीक्रियेत चेत्तदा यदपेक्षया मूर्त्त-
त्वं तदपेक्षया सम्बन्धोऽलन्दिग्व एव । मुक्तात्मनश्च मूर्त्तत्वाभावात्तन् सम्बन्धाभ्युपगमः ।

गड्डमं पत्रा तुजा कट उठाना हे ।

प्रश्न—आत्मा अमूर्त्त (अरूपी) है और कर्म मूर्त्त (रूपी) है । इस कारणसे उन दोनोंका परस्पर बन्ध कैसे हो सकता है ? यदि मूर्त्तका बन्ध अमूर्त्तके साथ हो सकता है तो आकाशास्तिकाय धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालके साथ भी कर्मोंका बन्ध हो जायगा, क्योंकि वे भी अमूर्त्त हैं ।

उत्तर—तुम कहते हो कि आत्मा अमूर्त्त है, सो यह बताओकि आत्मा सर्वथा अमूर्त्त है या कथञ्चित् अमूर्त्त है ? यदि कहोगे कि आत्मा सर्वथा अमूर्त्त है तो हेतु असिद्ध हो जायेगा, क्योंकि आगमसे आत्माको सर्वथा अमूर्त्त नहीं माना गया है ।

अगर 'कथञ्चित् अमूर्त्त' कहोगे तो कथञ्चित् मूर्त्त भी होगी, और जिस(ससारावस्थाकी) अपेक्षासे आत्मा मूर्त्त है उसी अपेक्षा से कर्मोंका बन्ध होता है । मुक्तात्मा मूर्त्त नहीं है इसलिए वहाँ बन्ध भी नहीं होता ।

अथवा जैसे आकाश अमूर्त्त है और घट मूर्त्त है तथापि उन दोनोंका सयोग सम्बन्ध होता है, और जैसे मूर्त्त हाथ तथा हाथसे होनेवाली अमूर्त्त क्रियाका दूसरोंसे समवाय—सम्बन्ध

भोक्षस्थाननी प्राणित विना जन्म जरा मरण आदिथी तथा अपरिभित दुःख लोगवतां एव आ संसाररूपी थाराभां पडीने कष्ट लोगवे छे

प्रश्न—आत्मा अमूर्त्त (अरूपी) छे अने कर्म मूर्त्त (रूपी) छे. ओ कारणे ओ गेठने परस्पर बंध केवी रीते थछ शके ? जे मूर्त्तने बंध अमूर्त्तनी साथे थछ शके तो आकाशा-स्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अने कालनी साथे पणु कर्मोनी बंध थछ जशे, कारणे के ते पणु अमूर्त्त छे

उत्तर—तमे कहे छे के आत्मा अमूर्त्त छे, तो बतावे के आत्मा सर्वथा अमूर्त्त छे के कथञ्चित् अमूर्त्त छे ? जे कहेछे के आत्मा सर्वथा अमूर्त्त छे तो हेतु असिद्ध थछ जशे, कारणे के आगमभां आत्माने सर्वथा अमूर्त्त मान्ये नथी

अगर 'कथञ्चित् अमूर्त्त' कहेछे तो कथञ्चित् मूर्त्त पणु थशे, अने जे (ससारा-वस्थानी) अपेक्षासे आत्मा मूर्त्त छे ते अपेक्षासे कर्मोनी बंध थाय छे मुक्तारंभा मूर्त्त नथी तेथी तेने बंध पणु थता नथी

अथवा जेम आकाश अमूर्त्त छे अने घट मूर्त्त छे, तथापि ओ गेठने संयोग—संबंध

किञ्च—यथा मूर्त्तमूर्त्तयोः घटाकाशयोः संयोगरूपः सम्बन्धः, करक्रिययोर्मूर्त्त-
मूर्त्तयोः समवायसम्बन्धः परैरङ्गीक्रियते तथाऽऽत्मकर्मणोरमूर्त्तमूर्त्तयोः सम्बन्धे न काचि-
दनुपपत्तिर्नाम । अपि च यथा शरीरमिदमात्मसम्बद्धं प्रत्यक्षमुपलभ्यते तथा प्रेत्य भवा-
न्तरगमननिमित्तं कार्मणलक्षणं शरीरान्तरमप्यात्मसम्बद्धमिति स्वीकर्त्तव्यम् ।

नन्वपूर्वापरपर्यायाऽदृष्टहेतुकमिदमेव शरीरं तत्रास्ति न कार्मणशरीरमिति चेत्, अदृ-
ष्टममूर्त्तं मूर्त्तं वा ? अमूर्त्तत्वे कथं स्थूलमूर्त्तशरीरेण तत्सम्बन्धः? भवन्मते तदसम्भवात् ।
सम्भवे चाऽऽत्मकर्मसंयोगेन किमपराद्धम् ?, अथ मूर्त्तत्वमङ्गीक्रियते तदाऽन्धसर्पविल-
प्रवेशन्यायेन मूर्त्तमूर्त्तयोः सम्बन्धः स्वीकृत एव ॥

स्वीकार किया है, उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा और मूर्त्त कर्मका बन्ध भी युक्ति—युक्त ही है ।

अथवा जैसे आत्मासे सबद्ध यह शरीर प्रत्यक्षसे सिद्ध है उसी प्रकार परलोकमें गमन करनेवाला कार्मण शरीर भी आत्मासे सम्बन्ध है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

यदि ऐसा कहो कि— ‘अपूर्व’ ‘अदृष्ट’ के कारण यही शरीर परलोकके लिए गति कराता है तो हम पूछगे कि वह अदृष्ट अमूर्त्त है या मूर्त्त ? अमूर्त्त है तो स्थूल मूर्त्त शरीरके साथ अदृष्टका संयोग कैसे हुआ ? क्योंकि तुम्हारे मतसे ऐसा होना असंभव है । बिना अदृष्टके सम्बन्धके स्थूल शरीरमें चेष्टा नहीं हो सकती । संभव मानो तो आत्मा और कर्मके संयोगने क्या अपराध किया है ? अर्थात् जब अमूर्त्त अदृष्ट और मूर्त्त शरीरका सम्बन्ध हो सकता है तो आत्मा और कर्मका भी संयोग हो सकता है ।

अगर अदृष्ट(भाग्य) को मूर्त्त मानो तो अमूर्त्त आत्माके साथ उसका सम्बन्ध स्वीकार करनेसे यह मान लिया कि अमूर्त्त और मूर्त्तका सम्बन्ध होता है । जैसे अंधा सर्प इधर उधर भटककर फिर विलमें प्रवेश करता है वैसेही तुमने कल्पनासे इधर उधर दौडकर अतमें अमूर्त्तका मूर्त्त के साथ सम्बन्ध स्वीकार करही लिया ।

थाय છે, અને જેમ મૂર્ત હાથ તથા હાથથી થનારી અમૂર્ત ક્રિયાનો બીજાઓએ સમવાય-
સંબંધ સ્વીકાર્યો છે, એ પ્રકારે અમૂર્ત આત્મા અને મૂર્ત કર્મનો બંધ પણ યુક્તિયુક્ત જ છે
અથવા જેમ આત્માથી સબદ્ધ આ શરીર પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે તેમ પરલોકમાં ગમન
કરાવનાર કાર્મણુ શરીર પણ આત્માથી સબદ્ધ છે એવો સ્વીકાર કરવો જોઈએ.

જો એમ કહો કે ‘અપૂર્વ’ યા ‘અદૃષ્ટ’ ને કારણે આ શરીર પરલોકને માટે ગતિ કરાવે
છે, તો અમે પૂછીશું કે એ અદૃષ્ટ અમૂર્ત છે કે મૂર્ત ? અમૂર્ત છે તો સ્થૂલ મૂર્ત શરીરની
સાથે અદૃષ્ટનો સંયોગ કેવી રીતે થયો ?, તમારે મતે એમ થવું અસંભવિત છે. અદૃષ્ટના
સંબંધ વિના સ્થૂલ શરીરમાં ચેષ્ટા થઈ શકતી નથી સંભવ માનો તો આત્મા અને કર્મ
ના સંયોગે શો અપરાધ કર્યો છે ? અર્થાત્ જો અમૂર્ત અદૃષ્ટ અને મૂર્ત શરીરનો સંબંધ
થઈ શકે છે તો આત્મા અને કર્મનો પણ સંયોગ થઈ શકે છે

अगर अदृष्ट (भाग्य) ने मूर्त्त मानो तो अमूर्त्त आत्मानી साथे एतेना संबंध स्वी-

ननु कर्मयोगादात्मनो मूर्त्तत्वं संपद्यते, तस्मिंश्च सति बन्धसम्बन्धो युज्यते, कर्मबन्धात्पूर्वं तु आत्मनो मूर्त्तत्वाभावात् कथमिव बन्धः संभावनासरणिप्रारोहं प्रभवेदिति चेन्न, जीवकर्मणोः खनौ सुवर्णोपलयोरिव संयोगस्याऽनादिकालिकत्वात् ।

नच 'जीवकर्मणोः सम्बन्धस्याऽनादित्वे मोक्षो नैव संभवति अनादेरन्ताभावादाकाशात्मनोरिवे'-ति वाच्यम् अनाद्यनन्तत्वयोरविनाभावान्भावत्, अनादेरपि घटादिप्रागभावस्य अन्तन्वोपलम्भात्, अनादेरपि बीजाद्गुणसन्तानस्य दाहादिकारणवशात्सन्त-तादर्शनाच्च, इत्यलमतिविस्तरेण । बन्धस्वरूपमुच्यते—

प्रश्न—कर्मका संयोग होनेपर आत्मा मूर्त्त होती है और मूर्त्त हो जाने पर बंध हो सकता है किन्तु कर्मबंध होनेसे पहले तो आत्मा मूर्त्त नहीं थी, फिर बंधकी संभावना कैसे हो सकती है ।

उत्तर—जैसे खानमं रहे हुए सुवर्ण तथा पाषाणका सम्बन्ध अनादिकालीन है, वैसेही जीव और कर्मका भी सम्बन्ध अनादिकालीन है ।

कोई—कोई ऐसा कहते हैं कि जिसकी आदी नहीं होती उसका अंत भी नहीं होता है, जैसे जीव और आकाशका सम्बन्ध कभी नष्ट नहीं होता. इस नियमके अनुसार यदि जीव—कर्म का सम्बन्ध अनादिकालिन है तो कभी उसका भी अंत न होगा, फिर किसीको मोक्ष मिल ही नहीं सकेगा ।

उनका यह कथन दूषित है, क्योंकि घट आदिका प्राग् अभाव यद्यपि अनादिकालीन है फिर भी घट उत्पन्न होते ही उसका अंत हो जाता है ।

बीज तथा वृक्षकी परम्परा भी अनादिकालीन है तथापि यदि बीज जल जाय तो उस

कारवाणी जेम मानी लीधुं के अमूर्त्त अने मूर्त्तना संबंध थाय छे, जेम आधुणी सर्प अही-तही लटकीने पछी दरमां प्रवेश करे छे, तेम तमे उत्पनाथी अही-तही होडाने छेवटे अमूर्त्तना मूर्त्तनी साथे संबंध स्वीकार करी लीधे ।

प्रश्न—कर्मना संयोग थया पछी आत्मा मूर्त्त थाय छे अने मूर्त्त थया पछी अंध थर्ष शके छे, परन्तु कर्मअंध थया पड़ेला तो आत्मा मूर्त्त न हुतो, अमूर्त्त हुतो, पछी अंधनी संभावना केवी रीते होअ शके छे ?

उत्तर—जेम आधुमां रड़ेला सुवर्ण तथा पाषाणना संबंध अनादि काणने छे तेम अण अने कर्मना पणु संबंध अनादिकाणने छे

कोई-कोई जेम कहे छे के जेनी आदि नथी तेना अंत पणु होतो नथी, जेमके अण अने आकाशना संबंध कदापि नष्ट थतो नथी. जे नियमानुसार जे अण-कर्मना संबंध अनादिकाणने छे तो कदापि तेना अंत थसे नहि, पछी केधने मोक्ष मणी शकसे नहि

जेनु जे कथन दूषित छे, कारण के घट आदिना प्राग् अभाव जे के अनादिकाणने छे; तोपणु घट उत्पन्न थता ज तेना अंत थर्ष जय छे. बीज तथा वृक्षनी परंपरा पणु अनादिकाणनी छे तथापि जे बीज अणी जय तो जे पर पराने अभाव थर्ष जय छे, तेथी

વન્ધશ્ચતુર્વિધઃ—પ્રકૃતિ-સ્થિત્ય-અનુભાગ-પ્રદેશબેદાત્, તત્ર—પ્રકૃતિ =સ્વભાવઃ આત્મ-
 શૃહીતકર્મપુદ્ગલાનાં તત્ત્વચ્છત્તિરૂપતયા પરિણમનલક્ષણઃ, યથા=નિશ્ચય તિક્ત્વમ્, ગુહ-
 સ્ય મધુરત્વમિત્યાદિ, તથા જ્ઞાનાવરણીયસ્ય જીવાદિપદાર્થાનવબોધકત્વમ્ (૧), દર્શનાવ-
 રણીયસ્ય જીવાદીનામનાલોચકત્વમ્ (૨), વેદનીયસ્યાઽવ્યાવાધકત્વમ્ (૩), મોહનીયસ્ય
 તત્ત્વારુચિત્વમત્રતિત્વં ચ (૪), આયુષો મવાધાયકત્વમ્ મોક્ષસ્ય સાદ્યન્તસ્થિત્યાચ્છાદક-
 ત્વમિત્યર્થઃ (૫), નાન્નોઽમૂર્ત્ત્વગુણનિરોધકત્વમ્ (૬), ગોત્રસ્યાગુરુલઘુગુણયાતકત્વમ્
 (૭), અન્તરાયસ્ય ચ દાનાદિપ્રતિઘાતકત્વમ્ (૮), તદ્રૂપો વન્ધઃ પ્રકૃતિવન્ધઃ ૧ ।

પરમ્પરાકા અભાવ હો જાતા હૈ, ડસલિલ્ આત્મકર્મ સયોગ અનાદિ હોનેપર ખી સાન્ત હો સકતા હૈ ।

વન્ધકા સ્વરૂપ કહતે હૈ—વન્ધ ચાર પ્રકારકા હૈ—(૧) પ્રકૃતિવન્ધ, (૨) સ્થિતિવન્ધ,
 પ્રદેશવન્ધ (૩) અનુભાગવન્ધ, ઓર (૪)

(૧) પ્રકૃતિવન્ધ—પ્રકૃતિ સ્વભાવકો કહતે હૈ । અર્થાત્ આત્માકે દ્વારા ગ્રહણ ક્રિયે હુલ્ કર્મો
 મેં અમુક અમુક પ્રકારકી શક્તિકા આજાના । જૈસે—નીમકા સ્વભાવ કટુકતા, ગુહકા સ્વભાવ
 માધુર્ય ઇત્યાદિ । ઇસી પ્રકાર જ્ઞાનાવરણ કર્મકા સ્વભાવ હૈ—આત્માકે જ્ઞાનકો આચ્છાદિત કરના ૧
 દર્શનાવરણ ના સ્વભાવ હૈ—દર્શનકો રોકના ૨ । અવ્યાવાધ ગુણકો પ્રગટ ન હોને દેના વેદનીય
 કર્મકા ૩ । જીવાદિ તત્ત્વોમેં રુચિ ન હોને દેના તથા ચારિત્રકો રોકના મોહનીય કર્મકા ૪ ।
 કિમી શરીરમેં રોક રક્તના આયુકર્મકા ૫ । અમૂર્ત્ત્વ ગુણકો પ્રગટ ન હોને દેના નામકર્મકા ૬ ।
 અગુરુલઘુત્વ ગુણકા નાશ કર દેના ગોત્રકર્મકા ૭ । તથા દાન લાભ ભોગ ઉપભોગ ઓર વીર્યમેં
 વિગ્ન ડાલના અન્તરાય કર્મકા સ્વભાવ હૈ । ૮ । ડમીકો પ્રકૃતિવન્ધ કહતે હૈ ।

આત્મ-કર્મ-સ યોગ અનાદિ ડોવા છતાં ગુણ સાન્ત થઈ શકે છે બંધનુ સ્વરૂપ કહે છે—
 બંધ ચાર પ્રકારનો છે (૧) પ્રકૃતિ-બંધ (૨) સ્થિતિ-બંધ, (૩) અનુભાગબંધ અને
 પ્રદેશ-બંધ

(૧) પ્રકૃતિ-બંધ—પ્રકૃતિ સ્વભાવને કહે છે, અર્થાત્ આત્મા વડે ગ્રહણ કરાયલાં કર્મોમાં
 અમુક-અમુક પ્રકારની શક્તિ માલિ જવી તે જેમ લી બઠાને સ્વભાવ કટુતા (કડવાશ) છે,
 ગોળને સ્વભાવ મધુરતા (મિઠાશ) છે, ઇત્યાદિ. એ રીતે જ્ઞાનાવરણીય કર્મને સ્વભાવ
 આત્માના જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરવાનો (ઠાકવાનો) છે ૧. દર્શનાવરણને સ્વભાવ દર્શનને
 રોકવાનો છે ૨. અવ્યાવાધ ગુણને પ્રગટ ન થવા દેવા એ વેદનીય-કર્મને સ્વભાવ છે ૩ જીવાદિ
 તત્ત્વોમાં રુચિ ન થવા દેવી; તથા ચારિત્રને રોકવું એ મોહનીય-કર્મને સ્વભાવ છે ૪. કોઈ
 શરીરમાં આત્માને રોકી રાખવો એ આયુ-કર્મને સ્વભાવ છે ૫ અમૂર્ત્ત્વ ગુણને પ્રગટ
 થવા ન દેવો એ નામકર્મને સ્વભાવ છે ૬ અગુરુ-લઘુત્વ ગુણને નાશ કરવો એ ગોત્રક-
 કર્મને સ્વભાવ છે ૭ તથા દાન લાભ ભોગ ઉપભોગ અને વીર્યમાં વિગ્ન નાખવું એ અન્ત-
 રાય-કર્મને સ્વભાવ છે ૮ એને પ્રકૃતિ-બંધ કહે છે.

स्थितिः=जघन्यादिभेदेन कर्मणामात्मना सहावस्थानं, तल्लक्षणो बन्धः स्थिति-
बन्धः २ ।

अनुभागो=रसः=कर्मणां फलदातृत्वशक्तितारतम्यं, तत्स्वरूपो बन्धोऽनुभागबन्धः ३ ।

प्रदेशः=कर्मदलसञ्चयस्वरूपः=अनन्तानन्तकर्मप्रदेशानामियत्तारूपेण जीवप्रदेशेषु
सम्बन्धस्तल्लक्षणो बन्धः प्रदेशबन्धः ४ । उक्तञ्च—

“स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम् ।

अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥१॥” इति ।

एतेषां स्वरूपं च मुख्यावबोधाय मोदकदृष्टान्तेन प्रदर्शयते—

यथा कस्यचिदौषधमोदकस्य प्रकृतिर्वातहारिका, कस्यचित्पित्तहारिका, कस्यचि-
त्कफहारिणी, कस्यचिद् बुद्धिनाशिनी, तथा कस्यचित्कर्मणः प्रकृतिर्ज्ञानावरणहारिणी,
कस्यचिद्वर्शनावरणविधायिनीत्येवमादिविभिन्नशक्तिमतां कर्मणां बन्धः प्रकृतिबन्धः (१) ।

(२) स्थितिबन्ध—बन्धं हुए कर्म आत्माके साथ जघन्य कितने काल तक रहेगे और उत्कृष्ट
कितने काल तक रहेगे, इस कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं ।

(३) अनुभागबन्ध—फल देनेवाली कर्मोंकी शक्तिके तरतम्यको अनुभागबन्ध कहते हैं ।

(४) प्रदेशबन्ध—कितने कर्म आत्माके साथ बन्धको प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार कर्मप्रदेशो-
की परिगणनाको प्रदेशबन्ध कहते हैं । कहा भी है—

“स्वभावको प्रकृतिबन्ध, कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध, रसको अनुभागबन्ध और कर्मपु-
द्गलोके समूहको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥१॥”

सरलतासे समझानेके लिए मोदकका दृष्टान्त देकर चारो बन्धोका स्वरूप दिखलाते हैं—

(१) जैसे किसी औषध—मोदककी प्रकृति वातको हरने वाली होती है किसी को पित्तको
हरने वाली होती है, किसी की कफको हरने वाली होती है और किसी मोदककी प्रकृति बुद्धिको

(२) स्थितिबन्ध—जघन्यादि कर्म आत्माकी साथे जघन्य केटला काणसुधी रहेशे
अने उत्कृष्ट केटला काणसुधी रहेशे अने काणनी मर्यादाने स्थितिबन्ध कहे छे.

(३) अनुभाग बन्ध—इण आपनारी कर्मोनी शक्तिना तारतम्यने अनुभाग-बन्ध-कहे छे.

(४) प्रदेशबन्ध—केटला कर्मो आत्माकी साथे बन्धने प्राप्त थया छे, अने प्रकारे कर्म
प्रदेशोनी परिगणनाने प्रदेश बन्ध कहे छे कलु छे के—

“स्वभावने प्रकृतिबन्ध, काणनी मर्यादाने स्थितिबन्ध, रसने अनुभाग-बन्ध अने कर्म
पुद्गलोना समूहने प्रदेशबन्ध कहे छे.” (१)

सरलताथी समझवाने भाटे मोदकनुं दृष्टान्त आपीने आरे बन्धोनुं स्वयं यतावे छे—

(१) जेम कोई औषध—मोदकनी प्रकृति वायुने हरवावाणी छे कोईनी शक्ति पित्तने
हरवावाणी छे, अने कोई मोदकनी प्रकृति बुद्धिने नष्ट करवावाणी होय छे. जे रीते कोई
कर्मनी प्रकृति ज्ञाननु आवरण करनारी होय छे, कोईनी दर्शननु आवरण करनारी होय छे

યથા કસ્યચિન્મોદકસ્ય સ્થિતિઃ સપ્તાહોરાત્રવ્યાપિની, કસ્યચિત્પક્ષવ્યાપિની, કસ્ય-
ચનૈકાદિકમાસં યાવત્ સ્થિતિરતથા કસ્યચિત્કર્મણત્રિશત્કોટીકોટીસાગરોપયા સ્થિતિઃ,
કસ્યચિદ્વિંશતિકોટીકોટીસાગરોપયા, કસ્યચન સપ્તતિકોટીકોટીસાગરોપયા, કસ્યચિ-
ચ્ચાન્તર્મૂર્ત્તપરિચ્છિન્ના, एवं विभिन्नकर्मणां नियतकालावस्थानं स्थितिबन्धः (૨) ।

યથા કસ્યચિન્મોદકસ્યાનુક્ષાગો(રસો) ડતિમધુરઃ સ્વલ્પમધુરો વા, કસ્યચિદતિ-
કટુકઃ સ્વલ્પકટુકો વા, કસ્યચિચ્ચ નાતિમધુરો નાપ્યતિકટુકો ભવતિ, દ્વિગુણીયરણા-
દિના ચ સ એવ મન્દ-મન્દતરત્વાદિવ્યપદેશં ચ લભતે, તથા કર્મણામપિ શુભાશુભાદિરુ-

નષ્ટ કરનેવાલી હોતી છે । ઇસી પ્રકાર કિસી કર્મકી પ્રકૃતિ જ્ઞાનકા આવરણ કરનેવાલી હોતી છે
ઔર કિસીકી ડર્શનકા આવરણ કરનેવાલી હોતી છે । ઇસ પ્રકાર ભિન્ન-ભિન્ન શક્તિવાળે કર્મોકા
બન્ધ હોના પ્રકૃતિબન્ધ છે ।

(૨) જૈસે કિસી મોદકકી સ્થિતિ એક સપ્તાહકી હોતી છે, કિસી મોદકકી સ્થિતિ એક પક્ષ
(પખવાડે) કી હોતી છે, કિસી મોદકકી સ્થિતિ એક માસકી હોતી છે, વૈસે હી કિસી કર્મકી સ્થિ-
તિ ત્રીસ કોડાકોડી સાગરોપમકી હોતી છે, કિસીકી વીસ કોડાકોડી સાગરોપમકી હોતી છે, કિસી
કી સત્તર કોડાકોડી સાગરોપમકી હોતી છે, કિસી કર્મકી અન્તર્મૂર્ત્ત માત્રકી હોતી છે, ઇસ
પ્રકાર વિભિન્ન કર્મોકા અમુક સમય તક આત્માકે સાથ સ્થિત રહના સ્થિતિબન્ધ કહલાતા છે ।

(૩) જૈસે કિસી મોદકકા સ્વાદ (રસ) વહુત મીઠા હોતા છે, કિસી મોદકકા કમ મીઠા
હોતા છે, કિસીકા સ્વાદ વહુત કડુઆ હોતા છે, કિસીકા કમ કડુઆ હોતા છે, કિસી કા
સ્વાદ ન અધિક મીઠા હોતા છે, ન અધિક કડુઆ હોતા છે, ઉસે હી દ્વિગુણ આદિ કરદેનેસે
વહી મન્દ મન્દતર આદિ કહલાને લગતા છે । વૈસે હી કર્મોકા રસ શુભ અશુભ રૂપસે તીવ્ર,
તીવ્રતર, તીવ્રતમ, મન્દ મન્દતર ઔર મન્દતમ આદિ ભેદોસે વિવિધ પ્રકારકા હોતા છે ઉસે હી

એ રીતે ભિન્ન-ભિન્ન શક્તિવાળા કર્મોને બંધ થવો એ પ્રકૃતિબંધ કહેવાય છે

(૨) જેમ કોઈ મોદકની સ્થિતિ એક સપ્તાહની હોય છે, કોઈ મોદકની સ્થિતિ એક
પક્ષ (પખવાડિયુ) ની હોય છે, કોઈ મોદકની સ્થિતિ એક માસની હોય છે, તેમજ કોઈ
કર્મની સ્થિતિ ત્રીસ કોડાકોડી સાગરોપમની હોય છે, કોઈની વીસ કોડાકોડી સાગરોપમની
હોય છે, કોઈની સત્તર કોડાકોડી સાગરોપમની હોય છે, કોઈ કર્મની સ્થિતિ માત્ર એક
મૂર્ત્તની હોય છે એ પ્રકારે વિભિન્ન કર્મોનું અમુક સમય સુધી આત્માની સાથે સ્થિત
રહેવું એ સ્થિતિબંધ કહેવાય છે,

(૩) જેમ કોઈ મોદકનો સ્વાદ (રસ) બહુ મીઠો હોય છે, કોઈ મોદકનો એછો
મીઠો હોય છે, કોઈ મોદકનો સ્વાદ બહુ કડવો હોય છે, કોઈનો એછો કડવો હોય છે,
કોઈનો સ્વાદ ન વધુ મીઠો કે ન વધુ કડવો હોય છે, તેને દ્વિગુણ (બેવડો) કરવાથી તે મન્દ-
મન્દતર આદિ કહેવાવા લાગે છે, એજ રીતે કર્મોને રસ શુભ અશુભ રૂપથી તીવ્ર, તીવ્ર-
તર, તીવ્રતમ, મન્દ, મન્દતર, મન્દતમ આદિ ભેદોએ કરીને વિવિધ પ્રકારનો થાય છે એને

पेण तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम-मन्द मन्दतर मन्दतमत्वादिभेदपिन्नो बन्धोऽनुभागबन्धो रस-
बन्धव्यपदेश्यः (३) ।

१ शुभकर्मणामनुभागो (रसो) द्वाधेक्षुक्षीरमाध्वाक्कदलिराधुरो भवति, यदनुभवेन जीवः
सान्द्रानन्दसन्दोहतुन्निरलान्तःकरणो जायते । अशुभकर्मणां रसस्तु निरवक्रिराततिक्तार्द्धवद-
तितरां तिक्तो भवति, यदनुभवेन जीवोऽनिर्वन्नीय व्याकुलतां भवति, तीव्रतीव्रतरत्वा-
दिवोधनार्थं च दृष्टान्तः प्रदुर्भवे इक्षुनिम्बयोरेव्यतरस्य चतुःशेटकपरिचितो रसः 'स्वाभा-
विकरस' इत्युच्यते, वल्लितापहारोत्कालितो यदा शेटकचतुष्टयस्थाने शेटकान्नतयमात्रोऽव-
शिष्येत तदाऽसौ 'तीव्र' इत्युच्यते, पुनरुत्कालनेन शेटकद्वितयमात्रोऽवशिष्यते तदा तीव्र-
तर' इत्यभिधीयते, पुनरप्युत्कालनेन शेटकैकमात्रोऽवशिष्ये 'तीव्रतम' इति कथ्यते ।

इक्षु निम्बयोरेव शेटकैकमात्रो रसः 'स्वाभाविकरसः' इत्युच्यते, एकशेटकजलमिलनेन
'मन्दरस' इति, द्विशेटकजलसंयोजनेन 'मन्दतर रस' इति, शेटकान्नतयपरिमितजलसम्बन्धेन
'मन्दतमो रस' इति व्यपदेश लभते ।

अनुभागबन्ध कहते हैं । शुभ कर्मोंका अनुभाग (रस) दाख, सांठा, गन्ना दूध या मधुके समान
अतिमधुर होता है, इसके उपभोगसे आत्मामें अत्यन्त आनन्द उत्पन्न होता है । अशुभ
कर्मोंका फल नीम चिरायता आदिके समान अत्यन्त तिक्त होता है, इसका अनुभव करनेसे जीव
अतिशय व्याकुलता प्राप्त करता है । तीव्र तीव्रतर आदि समझाने के लिये उदाहरण देते हैं
इक्षु या नीममें से किसका चार सेर रस 'स्वाभाविक रस' कहलाता है यदि अग्निमें उकालने पर
तीन सेर रह जाय तो वह तीव्रतम कहलाता है ।

इक्षु और निम्बका एक सेर रस स्वभाविक रस, उसमें एक सेर जल मिला दिया जाय तो
मन्द, दो सेर मिलानेसे मन्दतर, तीन सेर मिलानेसे मन्दतम रस कहलाता है ।

७ अनुभागबंध या रसबंध कहे छे.

१. शुभ कर्मोंका अनुभाग (रस) दाख, शेरडी, इध या गधना जेवो अतिमधुर होय छे

जेना उपभोगथी आत्मासां अत्यन्त आनन्द उत्पन्न थाय छे अशुभ कर्मोंका अनुभाग
लीणडो, करियातुं आदिनी चेठे अत्यन्त तिक्त होय छे जेना अनुभव इस्वाशी जेव अति-
शय व्याकुलता प्राप्त करे छे तीव्र तीव्रतर आदि समझवधाने उदाहरणु आवे छे-शेरडी या
लीणडामांथी काठेदो काठेने चार सेर रस 'स्वाभाविक रस' कहेवाय छे जे तेने अग्नि पर
उकाणवाथी त्रणु शेर रडे तो ते तीव्र कहेवाय छे, इरी उकाणवाथी जे जे- रडे तो ते तीव्र-
तर कहेवाय छे अने तेने इरीथी उकाणता भाय शेर भाडी रडे तो ते तीव्रतम कहेवाय छे

शेरडी अने लीणडाना जेठ शेर स्वाभाविक रस ते जेठ दो- पाणी मेलववाभा
आवे तो मंद जशेर पाणी मेलवता मन्दतर अने त्रणु शे- पाणी मेलववाथी मन्दतम रस
कहेवाय छे.

यथा कस्यचिन्मोदकस्य प्रदेशः=कणिक्रादिदलसञ्चयः परिमाणेन द्विकर्पयितः,, कस्यचित्कर्पत्रयमितः, एवं कस्मिंश्चित् कर्मदले परिमाणतोऽविकसंख्याकाः, कस्मिंश्चिन्न्यूनसंख्यकाः, इत्येवं न्यूनाधिक्यरूपेण कर्मवर्गणाभिरात्मनोऽभिसम्बन्धः प्रदेशबन्धः (४)।

मोक्षम्=लोक्षणं मोक्षः स च द्रव्यभावभेदाद्द्विविधः, तत्र द्रव्यतो निगडादितः, भावतो ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मपाशतः पृथग्भवनमात्मनः, प्रकृते च भावमोक्षस्य आत्मनः पुनरप्रादुर्भावशोऽकर्मक्षयादनन्तज्ञानशाश्वतावस्थिति—कृतकृत्यत्वाऽव्यावाधिसुखस्वरूपस्य ग्रहणम् ।

अत्र बौद्धा—“दीपनिर्वाणवदात्मनो निर्वाणं मोक्षः” यथोक्तम्—

“दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काश्चिद्दिशं न काश्चित्, स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥१॥

(४) जैसे किसी मोदकमें आटे आदिके प्रदेश, परिमाणमें दो तोला होता है, किमीका तीन तोला होता है। इसी प्रकार किसी कर्मदलमें अधिक सख्यावाले प्रदेश है, किसी कर्मदलमें कम सख्यावाले प्रदेश होते हैं, अतः न्यूनाधिक रूपसे कर्मवर्गणाओके साथ आत्माका सम्बन्ध होना प्रदेशबन्ध है।

छूटनेको मोक्ष कहते हैं, मोक्ष भी दो प्रकारका है—(१) द्रव्यमोक्ष और (२) भावमोक्ष वेड़ी आदिसे छूटना द्रव्यमोक्ष है और ज्ञानावरण आदि आठ कर्मरूपी पाशसे आत्माका मुक्त हो जाना भावमोक्ष है।

यहां समस्त कर्मोंके आत्यन्तिक अभावसे उत्पन्न होनेवाले अनन्त ज्ञान, शाश्वत स्थिति, कृत-कृत्यता, अव्यावाधिसुखस्वरूप भाव-मोक्षका ग्रहण किया गया है।

बौद्धमतावलम्बी मानते हैं कि—“जैसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्माका अभाव हो जाना मोक्ष है”। कहाभी है—

(४) जेम केई मोदकमा आटा आदिने प्रदेश परिमाणमां जे तोला डेय छे, केईमां त्रय तोला डेय छे, जे रीते केई कर्मदलमां अधिक सख्यावाणा प्रदेशो डेय छे, केई कर्मदलमां आधी सख्यावाणा प्रदेशो डेय छे, जेम न्यूनाधिक रूपे कर्मवर्गणाओनी साथे आत्मानो संध थयो जे प्रदेशबंध छे.

छूटवाने मोक्ष छे जे मोक्षना पण जे प्रकार छे (१) द्रव्य-मोक्ष अने (२) भावमोक्ष जेडी वगेरेथी छूटवुं जे द्रव्यमोक्ष छे अने ज्ञानावरण आदि आठ कर्मरूपी पाशथी आत्मानुं मुक्त थय जवुं ते भावमोक्ष छे.

अडी पूर्व कर्मोना आत्यन्तिक अभावथी उत्पन्न थनारां अनन्त ज्ञान, शाश्वत-स्थिति कृतकृत्यता, अव्यावाधिसुखस्वरूप भावमोक्षने ग्रहण करवामा आवेल छे

बौद्धमतावलम्बी माने छे के—“जेम दीपक बुझाई जय छे तेम आत्मानो अभाव थय जयो जे मोक्ष छे,” कहु छे के—

जीवन्तथा निवृत्तिमभ्युपेतो, नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात्कैवल्यमेति शान्तियम् ॥२॥”

इत्याहुस्तच्छाश्वतावस्थितिपदेन निराकृतम्, सतोऽत्यन्तविनाशात्, तस्मादात्मनः सरुलकर्ममलविरहिता सद्भावस्वरूपा काचिदवस्थाऽवश्यम्भाविनी ।

न च ‘दीपस्याभ्रम्य वा निरन्वयविनाशदर्शनादात्मनः स (निरन्वयविनाशः) कथं ने-’ति शङ्कनीयम् ; तयोरपि निरन्वयविनाशानभ्युपगमात्, यथा कर्पूरस्य ‘पिपरमेष्ट’ इति ख्यातपदार्थस्य वा वातेन ह्रियमाणस्य परिणमनसौक्ष्म्यादिन्द्रियगोचरत्वापायेऽपि न सर्व-

जैसं दीपककी ज्वाला जब नष्ट हो जाती है, तब न भूमिकी ओर जाती है न आकाशकी ओर जाती है, न किसी दिशामें जाती है, न किसी विदिशामें जाती है, किन्तु स्नेह (तेल) का अभाव हो जानेसे शान्त हो जाती है ॥१॥

इसी प्रकार मुक्त जीव न भूमिकी ओर जाता है, न आकाशकी ओर जाता है, न किसी दिशामें जाता है, न विदिशामें जाता है, हां, दुःखोका क्षय होजानेसे शान्त हो जाता है, अर्थात् मुक्त अवस्थामें जीवका अभाव हो जाता है ॥२॥”

ऐसा माननेवाले बौद्धोका खण्डन मौक्षके लक्षणमें आये हुए ‘शाश्वत अवस्थिति’ पदसे किया गया है, क्योंकि सत् पदार्थका कभी अभाव नहीं होता जब तत् पदार्थका आभाव नहीं हो सकता तो आत्माकी भी समस्त कर्मोंसे रहित विद्यमान अवस्था अवश्य होनी चाहिये ।

बौद्ध—जब दीपककी ज्वाला तथा मेघका निरन्तर नाश देखा जाता है तो आत्माका निरन्वय (सर्वथा) नाश क्यों नहीं हो सकता ? ।

जैन—यह कहना सत्य नहीं है कि दीपककी ज्वाला और मेघ का निरन्वय नाश होजाता है । वह सूक्ष्म रूपसे परिणमन होनेसे यद्यपि इन्द्रियगोचर नहीं होता तथापि उसका सर्वथा अभाव

“એમ દીપકની જ્વાલા જ્યારે નષ્ટ થઈ જાય છે, ત્યારે નથી તે ભૂમિની તરફ જતી, નથી વિદિશામાં જતી પરંતુ સ્નેહ (તેલ) નો અભાવ થવાથી શાન્ત થઈ જાય છે (૧)

એ રીતે મુક્ત જીવ નથી ભૂમિની તરફ જતો, નથી આકાશની તરફ જતો, નથી કોઈ દિશામાં જતો, હા, દુઃખોનો ક્ષય થઈ જવાથી શાન્ત થઈ જાય છે, અર્થાત્ મુક્ત અવસ્થામાં જીવનો અભાવ થઈ જાય છે.” (૧)

એમ માનનારા બૌદ્ધોનું ખંડન મોક્ષના લક્ષણમાં આવેલા ‘શાશ્વત અવસ્થિતિ’ શબ્દ વડે કરવામાં આવ્યું છે, કારણ કે સત્ પદાર્થનો કદાપિ અભાવ થતો નથી જો સત્ પદાર્થનો અભાવ થઈ શકતો નથી તો આત્માની પણ સર્વ કર્મોથી રહિત વિદ્યમાન અવસ્થા અવશ્ય હોવી જોઈએ.

બૌદ્ધ—જો દીપકની જ્વાલાનો તથા મેઘનો નિરન્વય નાશ જોવામાં આવે છે, તો આત્માનો નિરન્વય (સર્વથા) નાશ કેમ ન થઈ શકે ?

જૈન—એમ કહેવું સત્ય નથી કે દીપક જ્વાલાઅને મેઘનો નિરન્વય નાશ થઈ જાય

थाऽसावः किन्त्ववस्थान्तरेण परिणतिमात्रम्, तथैव प्रदीपपर्यायाऽऽपन्नाः पुद्गलास्तम-
स्त्वेन परिणयन्ति, एवमधस्यापि विशीर्यमाणस्य पुद्गलपुञ्जः परिणामसूक्ष्मत्वेन दृष्टिपथम-
प्राप्तोऽपि न पुद्गलत्वेनाऽऽद्भूतः । एवमेवाऽऽत्मापि कृत्स्नवर्गकलापविप्रसृक्तः शुद्ध-
सिद्धो बुद्धोऽनन्तगुणसमृद्धो मोक्षायस्थायागपि विद्यत एवेति ।

अत्र 'अनन्तज्ञाने'-ति विशेषणेन नैयायिकवैशेषिकाभिमतं मतं निरस्तम् । तथाच

“बुद्धि सुख-दुःखेच्छा-द्वेष प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कारस्वरूपाणां नवानामात्मविशेष-
णगुणानामत्यन्तविच्छेदो मोक्षः” इति । अत्रोच्यते-बुद्ध्यादयो गुणा आत्मनो भिन्ना अभि-
न्ना वा ?, अभिन्नाश्चेत्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशोऽवश्यमासीत् तत्स्वरूपत्वात्, औ-
ष्ण्यविनाशे वह्निविनाशवत्, तथा च तदानीं ग्रह्य मोक्षः ? । भिन्नाश्चेत्तर्हि वह्निसैत्ययो-

नहीं होजाता, वह दृमरी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होजाता है । इसी तरह पदोप अवस्था वाले
पुद्गल अन्धकाररूपमें परिणत होजाते हैं । मेघ जब छिन्न-भिन्न हो जाता है तो सूक्ष्मरूपमें परि-
णत होजाने से इन्द्रियोंद्वारा गृहीत नहीं हो सकता तथापि पुद्गल के रूपमें विद्यमान रहता ही है ।
ऐसे ही समस्त कर्मासे रहित, शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, और अनन्त गुणों से समृद्ध आत्मा मोक्ष-
अवस्थामें भी विद्यमान रहती है ।

‘अनन्तज्ञान’ विशेषण से नैयायिक-वैशेषिक मत का निराकरण किया गया है ।

उनको मान्यता है कि “बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और
संस्कार, इन आत्मा के नौ विशेष गुणोंका अत्यन्त विनाश हो जाना मोक्ष है ।”

यहाँ पूछना यह है कि-बुद्धि आदि गुण आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न
है तो गुणोंका नाश होने पर आत्माका भी नाश हो जायगा, क्योंकि आत्मा और गुण भिन्न
नहीं हैं-एक ही हैं, जैसे उष्णता का नाश होनेपर अग्निका नाश हो जाता है । जब आत्मा का

छे सूक्ष्मरूपी परिष्कृत यवाथी ने के ते इन्द्रियगोचर यतां नथी, तथापि अनेना सर्वथा
अभाव यथं नथी ते जीव सूक्ष्म अवस्थाने पाये छे अे रीते प्रदीप अवस्थावाणां
पुद्गल अंधकाररूपमा परिणु । यथं नथ छे मेघ न्यारे छिन्न-भिन्न यथं नथ छे तयारे
ते सूक्ष्मरूपमा परिष्कृत यथं नथथी इन्द्रियोंद्वारा ग्रहणु यथं शकतो नथी, तोपणु पुद्गलना
रूपमा विद्यमान तो रहे न छे, अेवी न रीते सर्वं कर्मोथी रक्षित, शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध अने
अनंत शुष्कोथी समृद्ध अत्मा मोक्ष अवस्थामापणु विद्यमान रहे छे

‘अनन्त ज्ञान विशेषणुयी नैयायिक-वैशेषिक मतनु निराकरणु करवाभां आणुं छे

तेनी मान्यता अेवी छे के “बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म अने
संस्कार, अे आत्माना नव विशेष गुणुनो अत्यंत विनाश यथं नथे अे मोक्ष छे.”

अडीं पूछवानु अे छे के-बुद्धि आदि गुणु आत्माथी भिन्न छे के अभिन्न ? ने
अभिन्न छे तो गुणुनो नाश तथा आत्मानो पणु नाश यथं नथे, कारणु के आत्मा
अने गुणु भिन्न नथी-अेगडे उष्णतानो नाश यवाथी अग्निनो पणु नाश यथं नथ छे, ने

रिव तयोर्गुणगुणिभावोऽनुपपन्नः समवायस्याऽसिद्धत्वात्, अत एव न बुद्ध्यादीनामात्म-
गुणत्वम् । अस्तु वा अयौक्तिकोऽपि गुणगुणिभावस्तथापि ज्ञानसुखाद्यभावादात्मानं को
जडीऋतुमुद्यच्छेदिच्छेदपि ? ईदृशाद्भवदभिमतान्मोक्षात्संसारावस्थैव सम्यक्तराऽस्माकम-
स्तु, यस्मिन् सत्यपि बलेने कादाचित्कं स्वल्पमपि सुखं लभ्यत एव ।

लोकेऽपि भवदभिमतमोक्षमाहात्म्यमुपहस्यते यथा—

“वरं वृन्दावने रम्ये, शृगालत्वं ब्रजाभ्यहम् ।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, प्रार्थयामि कदाचन ॥१॥” इति ।

नाश होजायगा तो मोक्ष किस का होगा ? अगर कहो कि ये गुण आत्मा से भिन्न है तो उन-
का आत्मा के साथ गुण-गुणि सम्बन्ध कैसे हुआ ? भिन्न होनेके कारण जैसे अग्नि और शीतलता
में गुण-गुणी सम्बन्ध नहीं हाता वैसे ही आत्मा और बुद्धि आदि का भी सम्बन्ध नहीं हो
सकता । यदि समवाय सम्बन्ध से गुण गुणिभाव मान लोगे तो बुद्धि आदि गुणो का नाश
नहीं हो सकता क्योंकि समवाय सम्बन्धको तुमने नित्य माना है, अतः बुद्धि आदि आत्मा
के गुण ही सिद्ध नहीं होते । यद्यपि यह सम्बन्ध युक्ति से तो सिद्ध नहीं होता फिर भी मान
लोगे तो जबकी मोक्ष में ज्ञान और सुख आदिका अभाव हो जाता है तो कौन बुद्धिमान् अपनी
आत्मा को इन गुणोसे रहित जड के समान बनाने का प्रयत्न करेगा ? तुम्हारे इम मोक्षसे तो
ससार ही भला जिसमें दुःखोके साथ-साथ कभी-कभी थोडा बहुत सुख भी मिल जाता है ।
लोकमें भी तुम्हारे माने हुए मोक्षकी हँसी उड़ाई जाती है, सुनो—

“मै मनोहर वृन्दावन में शृगाल हो जाना पसद करता हूँ, किन्तु वैशेषिकका मोक्ष नहीं
चाहता ॥१॥”

आत्मानो नाश थर्छ जशे तो यथो मोक्ष केनो थशे ? अगर जे उडो के जे शुष्ण आत्मा-
थी लिन्न छे तो आत्मानो साथे जेनो शुष्ण शुष्णीनो स'अ'ध केवी रीने थये ? लिन्न
डोवाने कारणे जेभ अग्नि अने शीतलतामां शुष्ण-शुष्णी स'अ'ध नथी डोतो तेवी रीते
आत्मा अने बुद्धि आदिनो पण स'अ'ध नथी डोछ शकतो जे समवाय स'अ'धथी शुष्ण-
शुष्णीलाव मानी देशो तो बुद्धि आदि शुष्णोना नाश नथी थर्छ शकतो, कारणे के समवाय
स'अ'धने तमे नित्य मान्यो छे जेथी बुद्धि आदि आत्मानो शुष्ण न सिद्ध थता नथी.
जे के जे स'अ'ध युक्तिथी तो सिद्ध नथी थतो, तोपण मानी देशो तो जे मोक्षमां ज्ञान
अने सुषण आदिनो अलाव थर्छ जय छे तो कथो बुद्धिमान पोताना आत्माने जे शुष्णोथा
रहित जडनी समान बनाने प्रयत्न करशे ? तभारा जेवा मोक्ष करता तो स सार न
सारे के जेमां दुःखोनी साथे साथे कोछ-कोछवार थोडु-धणुं सुषण पण मणी जय छे दोडो-
मां पण तभारा मानेला मोक्षनी हांसी उठाववामा आवे छे सालणे।—

“हु मनोहर वृन्दावनमां शृगाल (शियाण) थर्छ जवानुं पसंद कर छु, परंतु
वैशेषि-नो मोक्ष नथी पसंद करतो.” (१)

यत्तु “अनन्तसुखरूपो मोक्षः” इति तदप्यसमीचीनम्, तथाहि—तदनन्त-सुखं मुक्तात्मनो ज्ञानगोचरं भवति न वा?, आद्ये पक्षे ज्ञानाऽऽनन्त्यप्रसङ्गः, सातसंवेदनस्यैव सुखत्वात्, अत एवाऽनन्तज्ञानविरहितसुखस्वभावत्वं मोक्षस्य न सिध्यति। “प्रकृतावुपरतायां” पुरुषस्य स्वसाक्षात्संवेदानं मोक्षः” इति हि साङ्ग्याः, तद् आत्मनः” इतिपदेन प्रत्यादिष्टम्। किञ्च—तन्मते प्रकृति-पुरुषयोः संयोगोऽपि न घटते कुतो मोक्षचर्चा?, तथाहि—नित्या प्रकृतिः प्रवृत्तिस्वभावा तदितरस्वभावा वा? तयोराद्यः सावद्य पक्षः, तत्र त-

जो कहते हैं कि—“मोक्ष अनन्तसुखस्वरूप है” अर्थात् मोक्ष में सुख ही अवशिष्ट रह जाता है और कुछ नहीं रहता। उनका यह मानना समीचीन नहीं है। वह अनन्त सुख मुक्तात्मा के ज्ञान का विषय है या नहीं? पहला पक्ष स्वीकार करो तो अनन्त सुखको जाननेके लिए अनन्त ज्ञान भी चाहिए। अनन्त ज्ञानके बिना अनन्त सुखका बोध नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष अंगीकार करो तो सुखस्वभावता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि, सातारूप संवेदनको ही सुख कहते हैं। जब संवेदन ही नहीं तो सुख हो ही नहीं सकता है, इसलिए “अनन्त ज्ञानसे रहित सुखस्वभाववाला मोक्ष” नहीं मानना चाहिए।

“प्रकृति जब उपरत हो जाती है तब पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, इसी अवस्था में मोक्ष कहते हैं।”

ऐसी सांख्यमतानुयायिकोंकी मान्यता है। ‘आत्मनः’ पदसे उसका निराकरण किया गया है। सांख्यमतमें प्रकृति और पुरुषका संयोग ही सिद्ध नहीं होता तब मोक्ष की चर्चा ही क्या करना? सो ही आगे दिखलाते हैं कि—प्रकृति का स्वभाव प्रवृत्ति करनेका है या नहीं?, पहला पक्ष दृष्ट है, क्योंकि प्रकृतिका स्वभाव यदि सर्वदा प्रवृत्ति करने का है तो उस प्रवृत्तिकी निवृत्ति

नहीं हो सके। “मोक्ष अनन्त सुखस्वरूप है” अर्थात् मोक्ष में सुख ही अवशिष्ट रहता है। पहला पक्ष स्वीकार करो तो अनन्त सुखको जाननेके लिए अनन्त ज्ञान भी चाहिए। अनन्त ज्ञानके बिना अनन्त सुखका बोध नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष अंगीकार करो तो सुखस्वभावता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि, सातारूप संवेदनको ही सुख कहते हैं। जब संवेदन ही नहीं तो सुख हो ही नहीं सकता है, इसलिए “अनन्त ज्ञानसे रहित सुखस्वभाववाला मोक्ष” नहीं मानना चाहिए।

प्रकृति जब उपरत हो जाती है तब पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, इसी अवस्था में मोक्ष कहते हैं।”

ऐसी सांख्यमतानुयायिकोंकी मान्यता है। ‘आत्मनः’ पदसे उसका निराकरण किया गया है। सांख्यमतमें प्रकृति और पुरुषका संयोग ही सिद्ध नहीं होता तब मोक्ष की चर्चा ही क्या करना? सो ही आगे दिखलाते हैं कि—प्रकृति का स्वभाव प्रवृत्ति करनेका है या नहीं?, पहला पक्ष दृष्ट है, क्योंकि प्रकृतिका स्वभाव यदि सर्वदा प्रवृत्ति करने का है तो उस प्रवृत्तिकी निवृत्ति

१ उपरतायां = निवृत्तायाम् ।

प्रवृत्तेरुपरत्यभावेन मोक्षासम्भवात्, उपरत्यभ्युपगमे च प्रकृतेरनित्यत्वप्रसङ्गः । द्वितीयोऽपि पक्षो न क्षोदक्षमः प्रवृत्तेरेवाऽसम्भवतः कथमिवः भवसम्भवतः १, भवाभावे कस्य मोक्षः २ एव तन्मते मोक्षस्यैवायौक्तिकत्वात्कथं तल्लक्षणस्य समीचीनत्वं सिध्येत् १ ।

यच्चाऽऽजीवकाः (सम्प्रदायविशेषाः) मुक्तेः सकाशादात्मनः पुनरागमनमामनन्ति, तथाहि—

“ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्तारः परमं पदम् ।

गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥१॥” इति,

तत् “पुनरप्रादुर्भावतये”—ति पदेनाऽपाकृतम्, यतो मोक्षः कर्मनाशे सति सम्पद्यते, कर्म च कर्मणैव जन्यते, ततश्च मुक्तावस्थायां कर्माभावात्कृतः पुनः कर्मोत्पत्तिः १, तदभावे च कुतस्तरां संसारागमनम् ? संसारस्य कर्महेतुकत्वात्, न कारणमन्तरेण कार्योत्पत्तिरिति सर्वसंमतत्वाच्चेति ।

नहीं हो सकती और इसी कारणसे कभी मोक्ष भी नहीं होगा । दूसरा पक्ष भी विचार करनेसे बाधित हो जाता है । जब प्रकृति प्रवृत्ति ही नहीं करेगी तो संसार कैसे होगा १, और जब संसार (कर्मसहित अवस्था) ही नहीं तो मोक्ष किससे होगा १, अर्थात् किसी प्रकार मोक्ष ही नहीं बनता जब मोक्ष नहीं बनता तो उसके लक्षण की निर्दोषता भी सिद्ध नहीं हो सकती ।

आजीवक सम्प्रदाय वाले ऐसा कहते हैं कि—“आत्मा मोक्ष से वापस लौट आती है । कहा भी है—

“ धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले ज्ञानी परम पदको प्राप्त होकर जब तीर्थका अनादर होने लगता है तब मोक्षसे फिर संसारमें आ जाते हैं ॥१॥”

इनका यह मत ‘पुनरप्रादुर्भावतया’ इस विशेषण से खण्डित हो गया है । क्योंकि कर्मोंके नाश होने पर ही मोक्ष होता है, और कर्म कर्मोंसे ही उत्पन्न होते हैं । मोक्षमें कर्मोंका अभाव

छे तो जे प्रवृत्तिनी निवृत्ति थछ शकती नथी, अने ते कारणे कदापि मोक्ष पणु थशे नहि णीने पक्ष पणु विचार करवाथी बाधित थछ नय छे. जे प्रकृति प्रवृत्ति न नहि करे तो संसार केवी रीने थशे ? अने जे संसार (कर्मसहित अवस्था) न नथी तो मोक्ष शानाथी थशे ? अर्थात् केछ प्रकारे मोक्ष न नथी अनतो, जे मोक्ष नथी अनतो तो तेना लक्षणुनी निर्दोषता पणु सिद्ध थछ शके नहि.

आजीवक सम्प्रदायवाला जेम कहे छे के—“आत्मा मोक्षथी पाछे इरी आवे छे. कहुँ छे के—

“धर्मतीर्थनी स्थापना करनारा ज्ञानीजो परम पदने प्राप्त थछने ज्यारे तीर्थने अनादर थवा लागे छे त्यारे मोक्षभांथी पाछा संसारमां आवी नय छे.” (१)

जेने जे मत ‘पुनरप्रादुर्भावतया’ जे विशेषणुथी बाँडित थछ जये छे कारणे के कर्मोंने नाश थवाथी न मोक्ष थाय छे अने कर्म कर्मोंथी न उत्पन्न थाय छे. मोक्षमां कर्मोंने अभाव थछ नवाथी कर्मोंनी उत्पत्ति थती नथी, तेथी संसारमा इरी आववाने

“આત્મનઃ સતતમૂર્ધ્વગતિર્મુક્તિ” —રિતિ મળ્ડલીમતાલુયાયિનઃ, તત્ત્વ પ્રમત્તપ્રલ-
પનપ્રાયમ્, લોકાકાશાનન્તરં ધર્માસ્તિકાયસ્યાસ્તિત્વાભાવાત્ । ધર્માસ્તિકાયરય જીવપુ-
દ્ગલાનાં ગતિનિમિત્તત્વં પ્રમાણાસિદ્ધં, તથાહિ—ગમનોન્મુક્તાનાં જીવપુદ્ગલાનાં ગતિર્વાહનિ-
મિત્તસાપેક્ષા ગતિત્વાત્, વાહ્યનિમિત્તમત્ર ધર્માસ્તિકાયોઽન્યસ્યાસમ્ભવાત્, લોકાકાશા-
ઽનન્તર તદ્ભાવાન્ન તસ્માદૂર્ધ્વ ગતિસંભવઃ । અત્ એવાઽગર્હણર્હમાર્હતમતાભિમતમુક્તિસ્વ-
રૂપમવેતિ ।

નન્નુ નરામરતિર્યઙ્નારકપર્યાયસ્વરૂપ એવ સંસારસ્તેભ્યઃ પૃથગ્ભાવેન ન કસ્યચિદા-
ત્મન ઉપલબ્ધિસ્તતશ્ચ મનુષ્યાદિસ્વરૂપસંસારાભાવે તલ્લક્ષણસ્યાઽઽત્મનોઽપિ વિનાશઃ, અત્
એવ ‘અભાવલક્ષણો મોક્ષઃ’ ઇતિ ચેદત્રોચ્યતે—

નારકાદયો જીવસ્ય પર્યાયાઃ, નહિ પર્યાયનાશે પર્યાયિણોઽપિ નાશઃ પ્રત્યુત પર્યા-
યાન્તરોત્પત્તિરેવ સંજાયતે, યથા કટકાઽઽક્રુતિવિનાશેઽપિ સુવર્ણસ્ય ન વિનાશઃ કિન્તુ
કુળ્ડલાઘાકારાન્તરોત્પત્તિર્દૃશ્યતે, તથૈવ નારકાદિપર્યાયનાશે નાત્મનોઽપિ નાશઃ કિન્તુ

હો જાને સે કર્મોંકી ઉત્પત્તિ નહીં હોતી, ઇસલિએ સસારમેં આગમન સમવ નહીં હૈ । કારણકે વિના
કાર્યકી ઉત્પત્તિ નહીં હો સકતી, એસા સવ સિદ્ધાન્ત વાલે સ્વાકાર કરતે હૈ ।

મળ્ડલીમત કે માનનેવાલે કહતે હૈ કિ—“આત્મા સદા ઊપર ચલી જાતી હૈ કહીં ઠહરતી
નહીં હૈ ” યહ કથન ઉન્મત્ત પુરુષકે પ્રલાપકે સદૃગ હૈ, ક્યોકિ લોકાકાશકે વાદ ધર્માસ્તિકાયકા
સદ્ભાવ નહીં હૈ । યહ વાત પ્રમાણ સે સિદ્ધ હૈ કિ ધર્માસ્તિકાયકે વિના જીવ ઓર પુદ્ગલોકી ગતિ
વિના વાહ્ય કારણ કે નહીં હો સકતી, ક્યોકિ—‘વહ ગતિ હૈ, જો જો ગતિ હોતી હૈ વહ વાહ્ય
નિમિત્તકી અપેક્ષા રખતી હૈ’ । ગતિ મેં વાહ્ય નિમિત્ત ધર્માસ્તિકાય હો હો સકતા, ક્યોકિ અન્ય
કિસીમેં એસી ગત્તિ નહીં હૈ । યહ ધર્માસ્તિકાય લોકાકાશસે આગે નહીં હૈ, ઇસલિએ લોકાકાશસે
આત્મા ગમન મી નહીં કર સકતી’ । અત્ એવ સિદ્ધ હુઆ કિ ‘આર્હતમત્ (જિનમત) મેં માના
હુઆ મોક્ષકા લક્ષણ હી સર્વથા નિર્દોષ હૈ’ ।

સભવ નથી, કારણુ વિના કાર્યની ઉત્પત્તિ થઇ શકતી નથી, એવુ સર્વ સિદ્ધાન્તવાળાઓ
સ્વીકારે છે.

મંડલીમતના માનનારાઓ કહે છે કે “આત્મા સદા ઉપર ચાલ્યો જાય છે, કયાય થોભતો-
રહેતો નથી” આ કથન ઉન્મત્ત પુરુષના પ્રલાપ જેવું છે, કારણુ કે લોકાકાશની પછી ધર્મા-
સ્તિકાયને સદ્ભાવ જ નથી. એ વાત પ્રમાણથી સિદ્ધ થયેલી છે કે ધર્માસ્તિકાય વિના જીવ
અને પુદ્ગલોની ગતિ બાહ્ય કારણુ વિના થઇ શકતી નથી, કારણુ કે ‘એ ગતિ છે, જે જે
ગતિ હોય છે તે તે બાહ્ય નિમિત્તની અપેક્ષા રાખે છે,’ ગતિમાં બાહ્ય નિમિત્ત ધર્માસ્તિકાય
જ હોઇ શકે છે કારણુ કે અન્ય કોઈમાં એવી શક્તિ નથી એ ધર્માસ્તિકાય લોકાકાશથી
આગળ નથી, તેથી લોકાકાશથી આગળ આત્મા ગમન કરી શકતો નથી એટલે સિદ્ધ થયું
કે “આર્હતમત (જૈનમત)મા માનેલુ મોક્ષનુ લક્ષણુ જ સર્વથા નિર્દોષ છે.”

પ્રશ્ન—મનુષ્ય, દેવ, તિર્યંચ અને નારકી—પર્યાયસ્વરૂપ જ સંસાર છે. એ ચારે અવ-

सिद्धत्वपर्यायान्तरं सम्पद्यते । किञ्च नारकादयः तर्थायाः कर्मकृताः सन्त्यतो हि कर्माभावे पर्यायाभावः, कारणाभावे कार्यस्याप्यभावाद् वह्न्यभावे धूमाभावात्, जीवत्वं तु न कर्मकृतं तस्य स्वाभाविकत्वादतो न खलु कर्माभावे जीवाभावस्तन्त्वभावे घटाभाववत्, तस्मान्नाऽभावलक्षणमोक्षः किन्तु शाश्वतिकावस्थितिरूपः ।

असौ (मोक्षः) च सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपरत्नत्रयहेतुकः, अन्यतमाभावे तद-सम्भवात् काञ्चनोपलवियोगवत्, यथा हि न केवलं ज्ञानमात्रेणोपलात्भ्रुवर्णत्रियोगः सुस-

प्रश्न-मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारकी-पर्यायस्वरूप ही ससार है इन चारो अवस्थाओ से भिन्न किसी आत्माकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए ससारका अभाव होने से आत्माका भी अभाव हो जायगा, अतएव मोक्षको अभावस्वरूप मानना चाहिए ।

उत्तर-नारक आदि जीवकी पर्याये है । पर्यायोक्ता नाश होनेसे पर्यायी (आत्मद्रव्य) का नाश नहीं होता । बल्कि दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है । जैसे सोनेके कड़ेका नाश होनेसे सोनेका नाश नहीं होता किन्तु कुण्डल आदि दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही नारक आदि पर्यायोक्ता नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता किन्तु सिद्ध पर्याय उत्पन्न हो जाती है।

अथवा-नारक आदि पर्याये कर्मकृत है अतः कर्मके कभाव होनेपर उनका भी अभाव होता है, क्योंकि कारणके अभाव होनेसे कार्यका भी अभाव हो जाता है, जैसे अग्निका अभाव होनेसे धूमका अभाव होता है । आत्मा कर्मकृत नहीं है, वह स्वाभाविक है, अतएव कर्मका अभाव होनेसे आत्माका नाश समभव नहीं है । जैसे तन्तुओका नाश होनेसे घटका अभाव नहीं होता, इसलिए मोक्ष अभाव स्वरूप नहीं है किन्तु शाश्वत स्थितिवाला है ।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय मोक्षका कारण है । रत्नत्रयमेंसे

स्थायी भिन्न केअ आत्माने उपलब्धि थती नथी, तेथी स सारने अलाव छेवाथी आत्माने पणु अलाव थअ जशे तेथी मोक्षने अलावस्वरूप मानवे जेअये

उत्तर-नारक आदि जवना पर्याये छे पर्यायेने नाश थवाथी पर्यायी (आत्मद्रव्य) ने नाश नथी थतो, अदके थिजे पर्याय उत्पन्न थअ जय छे जेअके सेनाना कडाने नाश थवाथी सेनाने नाश नथी थतो, परन्तु कुण्डल आदि थिजे पर्याय उत्पन्न थाय छे तेवी रीते नारक आदि पर्यायेने नाश थता पणु आत्माने नाश नथी थतो किन्तु सिद्धपर्याय उत्पन्न थाय छे अथवा-

नारक आदि पर्याये कर्मकृत छे तेथी कर्मने अलाव थतां तेने पणु अलाव थाय छे कारणने अलाव थवाथी कार्यने पणु अलाव थअ जय छे, जेवी रीते अग्निने अलाव थवाथी धुमाडाने पणु अलाव थाय छे आत्मा कर्मकृत नथी, जे स्वाभाविक छे तेथी कर्मने अलाव थतां आत्माने नाश सभवित नथी, जेअ तंतुयेने नाश थवाथी घटने अलाव थतो नथीजेथी करीने मोक्ष जे अलावस्वरूप नथी शाश्वत स्थितिवाणे छे

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन अने सम्यक्चारित्र-स्वरूप रत्नत्रय मोक्षनु' कारण छे. रत्न-

म्पाद्यो भवितुमर्हति श्रद्धान-क्रिययोरभावात् (१), न श्रद्धानमात्रेण ज्ञान-क्रिययोरभावात् (२), नापि क्रियामात्रेण ज्ञान-श्रद्धानयोरभावात् (३), न ज्ञान-श्रद्धानमात्रेण क्रियाया अभावात् (४), न ज्ञान-क्रियामात्रेण श्रद्धानाभावात् (५), नापि श्रद्धानक्रियामात्रेण ज्ञानाऽभावात् (६) । एवमेव मोक्षोऽप्यन्यतमाभावे न संभवत्यपि तु समुदितरत्नत्रयादेवेति । तं मोक्षं च जानीयात्=विद्यादित्यर्थः ॥१५॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
मूलम्-जया पुण्णं च, पावं च वंधं मोक्खं च जाणइ ।

१० १७ १६ १९ १२ १३ १४ १५
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१६॥

कोई एक न हो तो मोक्ष नहीं हो सकता, जैसे सुवर्ण और पाषाणका वियोग । अर्थात् जैसे (१) अकेले ज्ञान द्वारा पाषाणसे सुवर्णको पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि श्रद्धान और क्रियाका अभाव है । (२) केवल श्रद्धानसे भी पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान और क्रियाका अभाव है । (३) केवल क्रियासे भी पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान और श्रद्धान नहीं है । (४) ज्ञान और श्रद्धानसे ही सुवर्ण और पाषाणको पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ क्रिया नहीं है । (५) ज्ञान और क्रियामात्रसे भी पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि श्रद्धान नहीं है । (६) श्रद्धान और क्रिया मात्रसे भी पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञानका अभाव है । इसी प्रकार मोक्ष भी समुदित तीनोंसे प्राप्त होता है, किसी एकके अभावमें नहीं हो सकता ।

जिस प्रकार वन में आग लगने पर, वहाँ रहे हुए अन्धा नेत्रोंके अभावसे, पङ्गु चरणों के अभावसे और अश्रद्धालु अग्निकी दाहकता-शक्ति के प्रति श्रद्धा के अभावसे उस वन से नहीं निकल सकते हैं उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रों से रहित होनेके कारण अन्ध जीव, सम्यक्चारित्र्य से रहित होने के कारण पंगु जीव और सम्यग्दर्शन के अभाव से अश्रद्धालु जीव भी जन्म-जरा-मरण रूपी भीषण दुस्वोकी प्रचण्ड अग्नि से जलते हुए इस ससार रूपी वन से नहीं निकल

त्रयमाथी केअ न डोय तो मोक्ष थअ शकतो नथी जेम के सुवर्णुं अने पाषाणुनो वियोग, अर्थात् जेम-(१) अकेला ज्ञानद्वारा पाषाणुथी सुवर्णुं अलग करी शकतुं नथी, कारणु के श्रद्धान तथा क्रियानो अभाव छे (२) केवल श्रद्धानथी पणु अलग करी शकतुं नथी, कारणु के ज्ञान अने क्रियानो अभाव छे (३) केवल क्रियाथी पणु अलग करी शकतुं नथी कारणु के ज्ञान अने श्रद्धान नथी (४) ज्ञान अने श्रद्धानथी पणु सुवर्णुं अने पाषाणु अलग करी शकता नथी कारणु के त्या क्रिया नथी (५) ज्ञान अने क्रिया मात्रथी पणु अलग करी शकता नथी कारणु के श्रद्धान नथी (६) श्रद्धान अने क्रियाथी पणु अलग करी शकतां नथी कारणु के ज्ञाननो अभाव छे अे रीते मोक्ष पणु समुदित त्रणुथी प्राप्त थाय छे, केअ अकेनो अभाव डोय तो मोक्ष प्राप्त थतो नथी.

जेम वनमां आग लागवाथी, त्या रडेले आंधणो नेत्रो न होवाथी, ल गडो पणो न होवाथी, अने अश्रद्धाणु अग्निनी दाहकता-शक्ति प्रत्ये श्रद्धा न होवाथी ते वनमाथी नीकणी शकता नथी तेम सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रो न होवाथी आंधणो एव, सम्यक् चारित्र्य न

छाया—यदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ।

तदा निर्विन्दते भोगान्, ये दिव्या ये च मानुषाः ॥१६॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब पुण्यं च पापं च=पुण्य और पापको, च=तथा बंधं मुख=बंध और मोक्षको जानइ=जानता है, तथा=तब जे दिव्ये=जो देव सम्बन्धी य= और जे मानुसे=जो मनुष्यसम्बन्धी (भोग हैं, उन) भोगे=भागोंको निर्विन्दए=तत्त्वसे विचारता है, अर्थात् निस्सार समझने लगता है ॥१६॥

टीका—‘जया पुण्य’-मित्यादि । यदा पूर्वप्रतिपादितलक्षणलक्षितं पुण्यादिकं जानाति तदा ये दिव्याः=दिवि=स्वर्गे भवाः देवसम्बन्धिनः, च=तथा ये मानुषाः=मनुष्य-

सकते है । जैसे—बन्ध, पाप, और अश्रद्धालु वनाग्नि में जल मरते है उसी प्रकार ये भी ससाराग्नि में जल मरते है । परन्तु जिनके नेत्र और दोनो चरण अक्षत है, और अग्नि की दाहकता—शक्ति के प्रति भी श्रद्धा है वे जिस प्रकार दावाग्नि—प्रज्वलित वनको पार कर जाते है उसी प्रकार जो जीव सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यग्दर्शनसे युक्त है वे भी जन्म-जरा-मरणरूप भीषण दुखो के प्रचण्ड-अग्नि से जलते हुए इस ससाररूपी वनको पार कर जाते है ।

इससे सिद्ध है कि रत्नत्रयमेंसे किसी एककी भी कमी होनेसे सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती । उभय प्रकारके मोक्षको जाने ॥१५॥

‘जया पुण्यं’ इत्यादि । जब पूर्वोक्तस्वरूपवाले पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको जानता है तब देवों तथा मनुष्योंके सम्बन्धी भोगोका वास्तविक विचार करता है । इन्द्रिय और मनकी अनुकूलतारूपसे जिनका उपयोग किया जाता है उन्हें भोग कहते है । भोगोके विषयमें साधु ऐसा विचार करते है कि—‘ये भोग भुजगके समान भयकर है, अशुचि है, अशुचि पदार्थोंसे उत्पन्न होते है, सड़ जाते है, गल जाते है, नष्ट हो जाते है, नित्य नहीं रहते । कौन विवेकी ऐसे भोगो को

होवाथी दग्धो भव, अने सम्यक् दर्शन न होवाथी अश्रद्धालु भव पणु जन्म-जरा-मरणरूपी भीषण दुःखोना प्रचण्ड अग्निथी प्रज्वलित आसंसाररूपी वनमांथी नीकणी शकतो नथी. जेभ आधणो, दग्धो अने अश्रद्धालु वनाग्निमा भणी मरे छे तेम आलुवो पणु संसारअग्निमां भणी मरे छे परन्तु जेना नेत्रो अने जेठ चरणो साधूत छे, अने अग्निनी दाहकता-शक्ति प्रत्ये पणु श्रद्धा छे ते जेभ दावाग्नि थी प्रज्वलित वनने पार करी नय छे तेज प्रकारे जे भवो सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अने सम्यग्दर्शनथी युक्त छे ते भवो पणु जन्म-जरा-मरणरूप भीषण दुःखोना प्रचण्ड अग्निथी प्रज्वलित आ संसाररूपी वनने पार करी नय छे

अथी सिद्ध थाय छे के जे रत्नत्रयमाथी केअच्छेक पणु जे आछु होय तो सिद्धि प्राप्त थई शकती नथी, जे प्रकारना मोक्षने न्णु (१५)

जया पुण्यं० इत्यादि जयारे पूर्वोक्त-स्वरूपवाणा पुण्य पाप अथ अने मोक्षने न्णु छे तयारे देवो तथा मनुष्यो सम्बन्धी भोगोना वास्तविक विचार करे छे इन्द्रिय अने मननी अनुकूलतारूपे जेना उपयोग करवाभा आवे छे अने भोग कडे छे. भोगोना विषयमा साधु

सम्बन्धिनः (भोगाः सन्ति तान् सर्वानपि) भोगान्=भुज्यन्ते=निर्विश्यन्ते=तत्तदिन्द्रियनोऽन्द्रियानुकूलतयोपयुज्यन्त इति भोगाः=शब्दादिविषयास्तान् निर्विन्ते=तत्त्वतो विचारयति—‘भोगि भोगोपमा खल्विमे भोगा अशुचयोऽशुचिसम्भवाः शटन-पतन-विध्वंस-नस्वभावा अज्ञाश्चताश्च, को नाम विवेकी एवंविधानिमान् भोगानुपभोक्तुमभिलषेदिति ? कस्य वा विवेकिनो वान्तःशनेच्छा, अतिपूतिगन्धिपूयरुधिरप्रवाहेऽवगाहनाऽऽकाङ्क्षा, शाद्वलसदननिवासाभिलाषः, कलकलायमाने सीसककटाहादौ पतनस्पृहा, समन्ततो दन्द-ह्यमान भवनान्तरालपरिभ्रमणसाहसम् अजगर विपथरमुपधानीकृत्य शयनेच्छा वा जायेत ? । “खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा” इत्यादि पर्यालोचयन् निर्वेदं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१६॥

१ ८ ७ २ ३ ४ ५ ६
 मूलम्—जया निर्विण भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ।
 ८ १२ ११ १०

तया त्रयङ्ग संजोगं, सन्निभतर-बाहिरियं ॥१७॥

छाया-यदा निर्विन्ते भोगान्, ये दिव्या ये च मानुषाः ।

तदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तर-बाह्यम् ॥१७॥

भोगनेकी अभिलाषा करेगा ?, किस विवेकशील व्यक्तिको वमन भक्षण करनेकी इच्छा होगी ?, अहा ! कौन चाहेगा कि—‘मैं अत्यन्त दुर्गन्धवाले पीप और रुधिरके प्रवाहमें अवगाहन (स्नान) करूँ ?, क्या कोई सिंहकी माद (गुफा) में निवास करनेकी इच्छा करता है ?, उकलते हुए शीशे की कडाहमें कौन बुद्धिमान् कृदनेकी कामना करता है ? कोई नहीं करता है । अथवा चारो ओर से धधकते हुए घरमें घुसनेका कौन साहस कर सकता है ?, और अजगर सर्पको उपधान (उसीसा-सिरहाना) बनाकर कौन शयन करना चाहेगा ? । ये विषय-भोग क्षणमात्र सुख देनेवाले हैं और बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं ॥” ऐसा विचार कर मुनि जन निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त करते हैं ॥१६॥

એવો વિચાર કરે છે કે “એ ભોગો ભુજંગ (સર્પ)ના જેવા ભયંકર છે, અશુચિ છે, અશુચિ પદાર્થોથી ઉત્પન્ન થાય છે સડી બાય છે, ગળી બાય છે, નષ્ટ થઈ બાય છે, નિત્ય રહેતા નથી. કયો વિવેકી મનુષ્ય એવા ભોગો ભોગવવાની અભિલાષા કરશે ? કઈ વિવેકશીલ વ્યક્તિને વમન કરેલાનું ભક્ષણ કરવાની ઇચ્છા થશે ? અહા ! કોણ ઇચ્છશે કે-હું અત્યંત દુર્ગંધવાળા પર અને રુધિરના પ્રવાહમાં અવગાહન (સ્નાન) કરીશ ? શું કોઈ સિંહની ગુફામાં નિવાસ કરવાની ઇચ્છા કરે છે ? ભિક્ષુતા સીસાંની કડાઈમાં કયો બુદ્ધિમાન મનુષ્ય ફટી પડવાની કામના કરે ? કોઈ કરે નહિ અથવા ચારે બાજુએથી અગ્નિથી ધગી રહેલા ઘરના પેસવાનું સાહસ કોણ કરી શકે ? અને અજગર સર્પનું ઉપધાન (ઓશીકું) બનાવીને સૂતાની કોણ ઇચ્છા કરશે ? એ વિષય-ભોગ ક્ષણમાત્ર સુખ દેવાવાળા છે અને ઘણા કાળ સુધી દુઃખ દેવાવાળા છે.” એવો વિચાર કરીને મુનિજન નિર્વેદ (વૈરાગ્ય) ને પ્રાપ્ત કરે છે. (૧૬)

सान्वयार्थः—जया=जब जे दिव्वे=जो देवसंबंधी और जे य=जो माणुसे=मनुष्य-सम्बन्धी भोए=भोगोंको निर्विदए=तत्त्वसे विचारता है, तथा=तब सविभतरबाहिरियं=आभ्यन्तर और बाह्य संजोगं=संयोगको चयइ=त्याग देता है ॥१७॥

टीका—‘जया निर्विदए’ इत्यादि । यदा दिव्य-मानुष-भोगोपभोगेषु निर्वेदो जायते तदा साऽऽभ्यन्तरबाह्यम्=वहिर्भवो बाह्यः=सुवर्णमणिमाणिक्यादिः, अभ्यन्तरे=अन्तःकरणे भव आभ्यन्तरः=क्रोधादिः, आभ्यन्तरेण सहितः साऽऽभ्यन्तरः स चासौ बाह्यश्चेति साभ्यन्तरबाह्यस्तम्, संयोगं=संयुज्यते=सम्बध्यतेऽनेनाऽऽत्मेति संयोगः=ममत्वकृतसम्बन्धस्तम् त्यजति=परिहरति ॥१७॥

मूलम्—जया चयइ संयोगं, सविभतर—बाहिरियं ।

तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥१८॥

छाया—यदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तर-बाह्यम् ।

तदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारिताम् ॥१८॥

सान्वयार्थः—जया=जब सविभरबाहिरियं=आभ्यन्तर और बाह्य संजोगं=संयोगको चयइ=त्याग देता है, तथा=तब मुंडे=द्रव्यभावसे मुण्डित भवित्ता=होकर अणगारियं=साधुपनेको पव्वइए=प्राप्त होता है ॥१८॥

टीका—‘जया चयइ’ इत्यादि । यदा बाह्याऽऽभ्यन्तरसंयोगविरहितो भवति तदा मुण्डः=मुण्डनं मुण्डः (‘मुडि खण्डने इत्यस्माद्भावे घञ्) स च द्वेषा-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मस्तककेशापनयनम्, भावतो रागद्वेषापनयनम्, मुण्डनधर्मयोगाद्धर्म्यपि

‘जया निर्विदए०’ इत्यादि । जब देवसम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंको जान लेता है, तब सुवर्ण-मणि-माणिक्य आदि बाह्य परिग्रहका तथा क्रोधादि आन्तरिक परिग्रहका अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर देता है ॥१७॥

‘जया चयइ’ इत्यादि । जब बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका परित्याग करता है तब मुण्डित हो जाता है । मुण्डन दो प्रकारका होता है—

(१) द्रव्य मुण्डन, (२) भावमुण्डन । मस्तकके केशोंका लुञ्चन करना द्रव्यमुण्डन कहलाता है । राग द्वेष आदिको दूर करना भावमुण्डन है । दोनों प्रकारोंसे मुण्डित होकर सर्वविरतिरूप

जया निर्विदए० इत्यादि. जयारे देवसंबंधी अने मनुष्य संबंधी भोगोंके ज्ञान ले त्यारे मुनि सुवर्ण-मणि-माणिक्यादि बाह्य परिग्रहने तथा क्रोधादि आन्तरिक परिग्रहने अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रहने त्यज्जे दे छे (१७)

जया चयइ० इत्यादि जयारे बाह्याभ्यन्तर परिग्रहनेको मुनि परित्याग करे छे त्यारे मुण्डित अर्थ ज्ञाय छे. मुण्डन दो प्रकारका होय छे—(१) द्रव्य-मुण्डन अने (२) भाव मुण्डन. मस्तकका केशतुं लुञ्चन करवुं अने द्रव्यमुण्डन कडेवाय छे. राग-द्वेष आदिने दूर करवा अने

मुण्डः=मुण्डित इत्यर्थः, भूत्वा अनगारिताम्=अनगारिणो भावोऽनगारिता=साधुत्वं सर्व-
विरतिलक्षण सामायिकादिकमित्यर्थः, ताम् प्रव्रजति=प्राप्नोति-प्रव्रजितो भवतीत्यर्थः ॥१८॥

१ २ ३ ५ ४
मूलम्—जया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइ अणगारियं ।

६ ९ ७ १० ११ ८
तया संवरमुक्कट्टं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१९॥

छाया—यदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारिताम् ।

तदा संवरमुक्कट्टं, धम्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥१९॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब मुंडे=द्रव्यभावसे मुण्डित भवित्ता=होकर अणगारियं=साधु-
पने जो पव्वइ=प्राप्त होता है, तया=तब उक्कट्टं=अत्यन्त प्रशस्त अणुत्तरं=सर्वश्रेष्ठ संव-
रं=संवर धम्मं=धर्मको फासे=स्पर्श करता है-प्राप्त होता है ॥

टीका—‘जया मुंडे’ इत्यादि । यदा मुण्डो भूत्वाऽनगारितां प्रव्रजति=प्राप्नोति, तदा
उक्कट्टम्=अतिप्रशस्तम्, अनुत्तरं=निरतिचारतया सर्वश्रेष्ठम् । यद्वा स्थिरं=निश्चलम् ।
अथवा जिनागमसिद्धत्वात् प्रतिजल्पविवर्जितम्, यद्वा ‘अनुत्तर’ मित्येतत् क्रियाविशेषणम्
अनुत्तरम्=उक्तार्थकं यथा रयात्तथा स्पृशतीति सम्बन्धः । संवरं=संत्रियते=निरुध्यते
आस्रवत्कर्म येन सः, यद्वा संवरणं संवरः=स्थगनम् । स द्रव्य-भावभेदाभ्यां द्विविधः ।
तत्र द्रव्यतस्तथाविधद्रव्येण (मसृणमृत्तिकादिना) सलिलोपरि तरत्तरण्यादेरनारतप्रविशन्नी-

सामायिक आदि चारित्रको प्राप्त होता है ॥१८॥

‘जया मुंडे’ इत्यादि । जब मुण्डित होकर सर्वनिरतिको प्राप्त होता है तब अत्यन्त प्रशस्त निरति-
चार होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ निश्चल आचरणीय संवर धर्मको स्पर्श करता है । आते हुए कर्म जिस
आत्मपरिणामसे रुक जाते हैं उसे संवर कहते हैं । संवर, द्रव्य-भावके भेदसे दो प्रकारका है । जल
पर चलती हुई नौकाके छेदोसे उसमें प्रवेश करनेवाले जलको चिकनी मिट्टी बल आदिसे बन्द
कर देना द्रव्य-संवर है । आत्मारूपी नौकामें आस्रवरूपी छिद्रो द्वारा आनेवाले कर्मरूपी जलको
रोक देना भाव-संवर है । यहा भाव-संवर अर्थात् चारित्रका अविकार है । अर्थात् सर्वविरत मुनि

लाव मुंडेन छे जेठ प्रकारे मुंडित थपने सर्वविरतिइय सामायिक आदि चारित्रने प्राप्त
थाय छे (१८)

जया मुंडे इत्यादि जयारे मुंडित थपने सर्वविरतिने प्राप्त थाय छे अत्यन्त प्रशस्त
निरतिथर थपने कारणे सर्वश्रेष्ठ निश्चल आचरणीय संवरधर्मेने स्पर्श करे छे आवतां
कर्म जे आत्मपरिणामथी रोकथे जय छे तेने संवर उडे छे संवर द्रव्य-भावना भेदे करीने
जे प्रकारने छे जणपर चलती नौकाना छिद्रवाटे नौकारां प्रवेश करनारा जणने यीकषी
भाटी, बल आदिथी बध करी हेवु ते द्रव्यसंवर छे आत्मारूपी नौकारां आस्रवरूपी
छिद्रोद्वारा आपनारा कर्मरूपी जणने रोकथे हेवु जे लाव-संवर छे, अही लावसंवर जेठे

अनुत्तरम् श्रेष्ठं, प्रतिजल्पविवर्जितम्, स्थिरमिति शब्दकल्पद्रुमः ।

राणां विवराणां पिधानम् , भावतः समिति-गुप्तिप्रभृतिभिरात्मतरण्यां धरत्कर्मसलिलानां स्थगनम् । अत्र च सावसंवरश्चारित्रलक्षणो गृह्यते, तं तल्लक्षणं धर्मं स्पृशति=प्राप्नोति, अन्तःकरणत आत्मना सम्बन्धयतीत्यर्थः ॥१९॥

मूलम्—जया^१ संवरमुक्किदं^४ धम्मं^२ फासे^५ अणुत्तरं^६ ।

तया^७ धुणइ^{१०} कम्मरयं^९ अबोहिकलुसंकडं^८ ॥२०॥

छाया—यदा संवरमुत्कृष्टं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।

तदा धुनाति कर्मरजो-ऽबोधिकलुपकृतम् ॥२०॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब उत्कृष्टं=अत्यन्त प्रगस्त अणुत्तरं=सर्वश्रेष्ठ संवरं=संवर धम्मं=धर्मको फासे=स्पर्श करता है, तया=तब अबोहिकलुसंकडं=आत्माके मिथ्यात्व परिणाम द्वारा उपार्जित किये हुए कम्मरयं=कर्मरूपी रजको धुणइ=हटा देता है ॥२०॥

टीका—‘जया संवरं०’ इत्यादि । यदा उत्कृष्टम् अनुत्तरं धर्मं स्पृशति तदा अबोधिकलुपकृतम्=बोधनं बोधिः=आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामः, तद्विपरीतोऽबोधिः=मिथ्यात्वाध्यवसायः स एव कलुपं=पापं तेन कृतं=जनितम् अबोधिकलुपकृतम्, तत्, ‘कलुप’ मित्यत्रानुस्वर आर्षः । कर्मरजः=क्रियते=मिथ्यात्वादिपरिणामैः सम्पाद्यते यत्तत् कर्म, तद्विधा-द्रव्य-भावभेदात्, तत्र द्रव्यतः कूपिकासभृतकज्जलवत् सकललोकसभृता आत्मना

भाव-सवर रूपी धर्मको प्राप्त करते है अथवा अनुत्तर रूपसे स्पर्श करते है, क्योंकि ‘अनुत्तर’ यह क्रियाविशेषण भी हो सकता है ॥१९॥

‘जया संवरं०’ इत्यादि । जब साधु उत्कृष्ट अनुत्तर संवरधर्मको स्पर्श करते है तब आत्मा के मिथ्यात्वपरिणामरूपी पापसे उत्पन्न हुए कर्मरूपी रजको धो डालते है ।

कर्मरज दो प्रकार है (१) द्रव्यकर्मरज, और (२) भावकर्मरज । कुप्पीमें भरे हुए कज्जल की तरह समस्त लोकाकाशमें व्याप्त तथा आत्माके साथ बंधे हुए या बंधनेवाले और बधते हुए विशेष प्रकारके (कर्मण जातिके) पुद्गलपरमाणुओको द्रव्यकर्म कहते है । आत्माके राग-द्वेष आदि त्रिभाव-परिणामोको भावकर्म कहते है । वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है और बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता

२ रित्रने। अधिकार छे अर्थात् सर्वविरता मुनि लावसवररूपी धर्मने प्राप्त करे छे, अथवा अनुत्तर-इये स्पर्श करे छे, कारणेउ ‘अनुत्तर’ ये क्रियाविशेषण पशु छे। छे। (१८)

जया संवरं० इत्यादि जयारे साधु उत्कृष्ट अनुत्तर संवरधर्मने स्पर्श करे छे तयारे आत्माना मिथ्यात्व-परिणामरूपी पापथी उत्पन्न थयेले कर्मरूप रजने धोई नांथे छे।

कर्मरज ये प्रकारनी छे :- (१) द्रव्यकर्मरज, अने (२) लावकर्मरज कुप्पीमां लरेला कज्जलनी पेठे भरत ले। काकाशमा व्याप्त तथा आत्माना साथे बंधायला तथा बंधानारा अने बंधाता विशेष प्रकारना (कार्मण जातिना) पुद्गलपरमाणुओने द्रव्य कर्म कहे छे। आत्माना राग-द्वेष आदि विलाव-परिणामेने लावकर्म कहे छे वृक्षथी धीरे उत्पन्न थाय

સહ વદ્ધા વધ્યમાના વન્ધાર્હાશ્ચ તથાવિધ પુદ્ગલપરમાણવઃ । ભાવતસ્તુ આત્મનો રાગદ્વેષાદિ પરિણામઃ અનયોશ્ચ વીજવૃક્ષયોરનાદિકાલિકકાર્યકારણભાવત્ પારસ્પરિકાર્યકારણભાવઃ, તથા ચ-દ્રવ્યકર્મભાવકર્મણઃ કારણ કાર્યં ચ । ભાવકર્મ ચ દ્રવ્ય-કર્મણઃ કારણં કાર્યં ચ ।
ઉક્તશ્ચ—

“જીવસ્યાશુદ્ધરાગાદિભાવાનાં કર્મ કારણમ્ ।

કર્મણસ્તસ્ય રાગાદિભાવઃ પ્રત્યુપકારિવત્ ॥ ૧ ॥” ઇતિ ।

સંસારી સ્વલ્વાત્માનાદિકાલતઃ કર્મ વધ્નાતિ તદુદયાદાત્મનિ રાગદ્વેષાદ્યુત્પત્તિઃ તદનુ યથા વહ્નિસંતપ્તાયઃપિન્ડઃ સમન્તાત્ સ્વસંસૃષ્ટજલમાકર્ષતિ તથાસ્સ્ત્મૈકક્ષેત્રાવગાહિકર્મપુદ્ગલાનાદત્તે, તૈશ્ચ રાગાદિકં ભાવકર્મોત્પાદ્યતે, તચ્ચ પુનરપિ દ્રવ્યકર્મોત્પાદ્યતિ, તદેવ રજ ઇવ રજો જીવસ્ય માલિન્યહેતુત્વાત્ ઘાતિકર્મચતુષ્ટયમિત્યર્થઃ તદ્ ધુનાતિ=વ્યપનયતિ=દૂરીકરોતીત્યર્થઃ ।

હૈ । દોનો મે કાર્ય-કારણભાવ અનાદિકાલીન હૈ । ઇસી પ્રકાર દ્રવ્યકર્મ ઓર ભાવકર્મમેં કાર્ય-કારણ ભાવ હૈ, અતઃ દ્રવ્યકર્મ, ભાવકર્મકા કારણ મી હૈ ઓર કાર્ય મી હૈ । કહા મી હૈ—

“જીવકે રાગ આદિ અશુદ્ધ ભાવોકા કારણ દ્રવ્યકર્મ હૈ ઓર રાગાદિ અશુદ્ધ ભાવ દ્રવ્ય-કર્મકે કારણ હૈ । જૈસે કોઈ પુરુષ કિસીકા ઉપકાર કર દેતા હૈ તો વહ ઉપકૃત પુરુષ ઉસ ઉપ-કારીકા પીછા ઉપકાર કરતા હૈ ॥૧૧॥”

સસારી જીવ અનાદિકાલસે કર્મોકા બન્ધ કર રહા હૈ । ઊન બંધે હુએ કર્મોકે ઉદય હોને પર આત્મામેં રાગદ્વેષ આદિકી ઉત્પત્તિ હોતી હૈ । રાગાદિકે ઉદય હોનેપર જૈસે તપા હુઆ લોહે કા ગોલા આમ પાસકે જલકો આકર્ષિત કર લેતા હૈ વૈસે હી આત્મા એક ક્ષેત્રાવગાહી અર્થાત્ જિસ આકાશકે પ્રદેશમેં આત્મા સ્થિત હૈ ઊસી આકાશ પ્રદેશમેં સ્થિત કર્મકે પુદ્ગલોકો પ્રહણ કરતી હૈ, ઊન રાગાદિ-ભાવોસે ફિર દ્રવ્યકર્મ વધતે હૈ । ઇસ પ્રકાર દ્રવ્યકર્મ ઓર ભાવકર્મ એક

છે અને બીજી વૃક્ષ ઉત્પન્ન થાય છે એક કાર્ય--કારણભાવ અનાદિકાળનો છે. એ પ્રકારે દ્રવ્યકર્મ અને ભાવકર્મમાં કાર્ય-કારણભાવ રહેલો છે તેથી દ્રવ્યકર્મ, ભાવકર્મનું કારણ છે અને કાર્યપણુ છે, તેમજ ભાવકર્મ દ્રવ્યકર્મનું કારણ છે અને કાર્યપણુ છે. કહ્યું છે કે—

“જીવના રાગાદિ અશુદ્ધ ભાવોનું કારણ દ્રવ્યકર્મ છે, અને રાગાદિ અશુદ્ધ ભાવ દ્રવ્ય-કર્મનું કારણ છે, જેમ કોઈ પુરુષ કોઈનો ઉપકાર કરે છે તો એ ઉપકૃત પુરુષ એનો પાછો ઉપકાર કરે છે (૧)”

સંસારી જીવ અનાદિ કાળથી કર્મોનો બંધ કરી રહ્યો છે. એ બંધાયેલા કર્મોનો ઉદય થતા આત્મામાં રાગદ્વેષ આદિની ઉત્પત્તિ થાય છે. રાગાદિનો ઉદય થતાં જેમ તપાવેલો લોખંડનો ગોળો આસપાસના જળને આકર્ષિત કરી લે છે તેમ આત્મા એક ક્ષેત્રાવગાહી અર્થાત્ જે આકાશના પ્રદેશમાં આત્મા સ્થિત છે એ આકાશપ્રદેશમાં રહેલાં કર્મોના પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે, એ રાગાદિ-ભાવોથી ફરી દ્રવ્યકર્મ અને ભાવકર્મ એક બીજાના ઉત્પાદક

कर्मरजोधुननं च यद्यपि धर्मध्यानेनापि जायते तथापि आत्यन्तिकतद्विधुननं शुक्ल-
ध्यानेनैव भवति, यथा मलापगमेन शुचिताधर्माभिसम्बन्धात् पटः शुक्ल इत्युच्यते तथा
रागद्वेषमलापनयनाच्छुचिधर्मसम्बन्धाद् ध्यानमपि शुक्लमित्युच्यते, तच्चतुर्विधम्—(१) पृथ-
क्त्ववितर्कसविचारम्, (२) एकत्ववितर्काविचारम्, (३) सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति, (४) समुच्छि-
न्नक्रियाऽप्रतिपाति, इति ।

तत्र पूर्वगतश्रुतज्ञानानुसारेण ध्येयविशेषगतोत्पादादिनानापर्यायाणां द्रव्यार्थिक-
पर्यायार्थिकादिनानानयैरर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिसहितानुचिन्तनं पृथक्त्ववितर्कसविचारम् ।
तत्रार्थसंक्रान्तिस्तावत्—ध्येयस्यैकपर्यायपरित्यागेन पर्यायान्तरे, व्यञ्जने, योगे वा

दूसरेके उत्पादक है । इन्हीं कर्मोंको रज कहते हैं, क्योंकि ये आत्मामें मलिनता उत्पन्न कर देते
हैं । सवरधर्मको ग्रहण करनेसे यह चार-घातिकर्मरूपी रज दूर हो जाती है ।

कर्मरजका दूर होना यद्यपि धर्म ध्यानसे होता है तथापि आत्यन्तिक रूपसे तो शुक्ल-ध्यान
से ही होता है । जैसे मैलको दूर करनेसे शुचिताधर्म आ जाता है, इसलिए वस्त्रको शुक्ल (सफेद)
वस्त्र कहते हैं, इसी प्रकार राग द्वेषरूपी मैलके हट जानेपर शुचिताधर्मके सम्बन्धसे ध्यान भी शुक्ल
ध्यान कहलाता है ।

शुक्लध्यान चार प्रकारका है—(१) पृथक्त्ववितर्क-सविचार, (२) एकत्ववितर्क-अविचार;
(३) सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्त्ति, (४) समुच्छिन्नक्रियअप्रतिपाति ।

पृथक्त्ववितर्क-पूर्वगत श्रुतज्ञानके अनुसार किसी ध्येय पदार्थकी उत्पाद आदि पर्यायोका
द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक आदि विविध नयोसे, अर्थ व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति सहित चिन्तन
करना पृथक्त्ववितर्क शुक्ल ध्यान है । ध्येय वस्तुको एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायका
ध्यान करना या व्यञ्जन अथवा योगमें संक्रान्त होजाना अर्थसंक्रान्ति है । यहाँ चौदह पूर्वरूप

छे, जेकर कर्मोंने रज कडे छे, कारण के ते आत्मामां मलिनता उत्पन्न करे छे सवरधर्म
ने ग्रहण करवाथी जे चार घातिकर्मरूपी रज दूर थर्ष जाय छे,

जे के कर्मरज धर्मध्यानथी दूर थाय छे तोपणु आत्यन्तिक रूपथी तो शुक्ल ध्यान-
धीन थाय छे. जेम मैल दूर करवाथी शुचिता-धर्म आवी जाय छे तेथी वस्त्रने शुक्ल
(सफेद) वस्त्र कडे छे, तेम रागद्वेषरूपी मैल हठी जता शुचिताधर्मना संग धथी ध्यान पणु
शुक्लध्यान कडेवाय छे

शुक्ल ध्यानना चार प्रकार छे. (१) पृथक्त्ववितर्क-सविचार, (२) एकत्ववितर्क-अवि-
चार, (३) सूक्ष्मक्रिय अनिवर्त्ति, (४) समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाति.

(१) पृथक्त्ववितर्क-पूर्वगत श्रुतज्ञान अनुसार कोर्ष ध्येय पदार्थना उत्पाद आदि
नाना प्रकारना पर्यायानुं द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक आदि नयोथी, अर्थ व्यञ्जन अने
योगनी संक्रान्तिसहित चिन्तन करवुं जे पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान छे, ध्येयवस्तुना एक
पर्यायने छोडीने भीज पर्यायानुं ध्यान करवुं या व्यञ्जन अथवा योगमा संक्रान्त थर्ष जवुं

સંક્રમઃ । વ્યજ્જનં ચાત્ર ચતુર્દગપૂર્વાત્પ્રકશ્રુતસગ્વન્ધિશબ્દાઃ, તત્રત્ત્વં કિશ્ચિદેકં વ્યજ્જન-
 છુપાદાય ધ્યાનમારભ્ય વ્યજ્જનનાન્તરેઽર્થે યોગેવા સંક્રમણં વ્યજ્જનસક્રાન્તિઃ । યોગસંક્રા-
 ન્તિશ્ચ પુનઃ કાયયોગતો મનોયોગે, મનોયોગતો વાગ્યોગે, इत्येवमेकस्माद् યોગાદન્યતર-
 સ્મિન્ યોગે સક્રમણઃ । ત્રિવિધમેતસંક્રમણં ચ ધ્યાતુરનિચ્છાયામપિ તાદૃશ—(અસંક્રાન્તં)
 —ધ્યાનસંપાદનસામર્થ્યાભાવાજ્જાયતે ।

इदमत्र तात्पर्यम् —

અત્ર પૂર્વગતાઃ શબ્દાસ્તદર્થો વા ધ્યેયા સ્થવન્તિ, પરન્તુ ધ્યાતુસ્તાદૃશં સામર્થ્યં ન મ-
 વતિ યેન સ કઞ્ચિદેકં શબ્દં વાઽર્થ વા ધ્યાયેન્, અત એવ કશ્ચિદેકમર્થં તત્પર્યાયં વા
 પરિત્યજ્યેતરમર્થમિતરપર્યાયં વા ધ્યાયતિ । इदमेव च परिवर्तनं संक्रमणशब्देनोच्यते ।
 उक्तञ्च—

अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः ।

योगाद् योगान्तरे यत्र, सविचारं नदुच्यते ॥

શ્રીતકે શબ્દોંકો વ્યજ્જન કહા હૈ । ઁન શબ્દોંમેંસે કિસી ઁક શબ્દકા ધ્યાન આરમ્મ કરંકે ફિર
 કિસી ઢૂસરે વ્યજ્જનકા ઁયાન કરને લગના, અથવા અર્થ ઁયા યોગમેં સક્રાન્ત હોજાના વ્યજ્જનસ-
 ક્રાન્તિ હૈ । કાયયોગસે મનોયોગમેં, મનોયોગસે વચનયોગમેં, ઁસ પ્રકાર ઁક યોગસે ઢૂસરે યોગમેં
 સક્રાન્ત હોજાના યોગસક્રાન્તિ હૈ । યહ તોનો તરહકા સક્રમણ ધ્યાતાકો ઁચ્છા ન હોનેપર ઁી
 ઁતની અધિક સામર્થ્ય ન હોનેકે કારણ હોતા હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—ઁસ ઁયાનમેં પૂર્વગત શબ્દ ઁા ઁસકે અર્થકા ધ્યાન કિયા જાતા હૈ,
 કિન્તુ ઁતની સામર્થ્ય નહીં હોતી કિ ઁક હી શબ્દ ઁા ઁક હી અર્થકા ધ્યાન કરતે રહે, અત
 ઁવ ઁક પદાર્થ ઁા ઁસકી પર્યાયકો છોડ કર ઢૂસરી પર્યાયકા ધ્યાન કરતે હૈ । ઁસી પ્રકરકે
 પરિવર્તન ઁા વદલનેકો સક્રમણ કરતે હૈ । કહા ઁી હૈ—

ઁ એ અર્થસંક્રાન્તિ છે. ઁહી ઁીદ પૂર્વરૂપ શ્રુતના શબ્દોને વ્યજ્જન કહેલ છે, એ શબ્દોમાંથી
 કોઈએક શબ્દનું ધ્યાનઆરભીને પછી કોઈ બીજા વ્યજ્જનનું ધ્યાન લગાવવું અથવા અર્થ
 ઁા યોગમાં સંક્રાન્ત થઈ જવું એ વ્યજ્જનસંક્રાન્તિ છે. કાયયોગથી મનોયોગમાં, મનોયોગથી
 વચનયોગમાં, એ પ્રકારે એક યોગથી બીજા યોગમાં સંક્રાન્ત થઈ જવું એ યોગસંક્રાન્તિ
 છે. એ ત્રણે બંધનનું સંક્રમણ, ધ્યાતાની ઇચ્છા ન હોવા છતાં પણ એટલું અધિક સામર્થ્ય
 ન હોવાને કારણે થાય છે.

તાત્પર્ય એ છે કે—ઁા ધ્યાનમાં પૂર્વગત શબ્દ ઁા તેના અર્થનું ધ્યાન કરવામાં આવે
 છે, કિન્તુ એટલું સામર્થ્ય હોવું નથી કે એકજ શબ્દ ઁા એકજ અર્થનું ધ્યાન કરતો રહે
 તેથી કરીને એક પદાર્થ ઁા ઁના પર્યાયને છોડીને બીજા પર્યાયનું ધ્યાન કરે છે. ઁા
 પ્રકારના પરિવર્તનને ઁા બદલાવાને સંક્રમણ કહે છે કહ્યું છે કે—

“એક અર્થથી બીજા અર્થમાં, એક શબ્દથી બીજા શબ્દમાં તથા એક યોગથી બીજા

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति गुणाद् याति गुणान्तरम् ।

पर्यायादन्यपर्यायं सपृथक्त्वं शक्यतः ॥” इति,

नन्वर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु संक्रान्तस्य मनसः रथैर्यासम्भवाद् ध्यानत्वमनुपपन्नमिति चेन्न, एकमेव ध्येयं लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्तस्य ध्यानस्यार्थादौ संक्रमणेऽपि ध्येयैकमात्रोद्देश्यक-तया मनःस्थिरीकरणरूपाया ध्यानक्रियायास्तत्रापि सद्भावात् ।

इदं च ध्यान भङ्गिःश्रुतपाठकानां योगत्रयवतां वा मुनिपुङ्गवानां भवति । अनेन ध्यानेन क्षपकश्रेण्यां समारूढो मुनिरष्टमगुणस्थानादारभ्य क्रमशो दशमगुणस्थानचरमसमये बलवदपि मोहनीयकर्म क्षपयित्वा द्वितीयध्यानमाश्रित्य द्वादशं गुण-स्थानमधिरोहति ।

उपशमश्रेण्यां समारूढस्तु तदानीं मोहनीयकर्म क्षपयित्वा एकादशमुपशान्तमोहगुण-

“एक अर्थसे दूसरे अर्थमें, एक शब्दसे दूसरे शब्दमें, तथा एक योगसे दूसरे योगमें सक्र-मण होता है, अतः उसे सविचार (सक्रान्ति) कहते हैं ॥१॥

अर्थ व्यञ्जन और योगकी सक्रान्ति रूप होते हुए निज शुद्ध आत्मद्रव्यको एक गुणसे दूसरे गुणको, एक पर्यायसे दूसरी पर्यायको प्राप्त होता है, अतः उसे सपृथक्त्व कहते हैं ॥२॥

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! इस ध्यानमें अर्थ, व्यञ्जन और योगोंमें मन सक्रान्त होता रहता है, इस कारण स्थिरता नहीं रह सकती, फिर इसे ध्यान कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—हे शिष्य ! परिवर्तन तो होता रहता है, परन्तु ध्येय एक ही रहता है । ध्येयको एक-ताके कारण यह ध्यान कहलाता है ।

यह ध्यान पूर्वधारी तीन योगवाले श्रेष्ठ मुनियोंको ही होता है । इस ध्यान से दशवे गुणस्थानके अन्त समयमें क्षपकश्रेणीमें आरूढ मुनि बलवान् मोहनीय कर्मका क्षय करके बारहवे गुणस्थानमें पहुँच जाते हैं, और यदि उपशमश्रेणीमें आरूढ हो तो ग्यारहवें उपशान्तमोह गुण-स्थानमें जाते हैं । यह प्रथम ध्यान उपशमश्रेणीकी अपेक्षासे आठवे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवे

योगमा संक्रामन्नु थाय छे, तेथी तेने अविचार (संक्रान्ति) कडे छे (१)

अर्थ व्यञ्जन अने योगनी संक्रान्तिइय थता निज शुद्ध आत्म-द्रव्यने, ओक गुणुथी णीळ गुणुने, ओक पर्यायधी णीळ पर्यायने प्राप्त थाय छे, तेथी तेने सपृथक्त्व कडे छे ” (२)

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! आ ध्यानमां अर्थ व्यञ्जन अने योगमां मन सक्रान्त थया करे छे ते कारणुथी स्थिरता रही शकती नथी, तो पछी तेने ध्यान केम कडी शकय ?

उत्तर—हे शिष्य ! परिवर्तन तो थया करे छे, परन्तु ध्येय ओकज रडे छे. ध्येयनी ओकताने कारणे ओ ध्यान कडेवाय छे

ओ ध्यान पूर्वधारी त्रणु योगवाणा श्रेष्ठ मुनिओने ज थाय छे. आ ध्यानथी दसमा गुणुस्थानना अत समये क्षपकश्रेणीमां आरूढ मुनि गणवान् मोहनीय-कर्मने क्षय करीने ग्यारमा गुणुस्थानमां पहुँची जाय छे, अने ओ उपशम-श्रेणीमा आरूढ होय तो अग्यारमा उपशान्तमोह गुणुस्थानमां जाय छे. ओ प्रथम ध्यान, उपशम-श्रेणीनी अपेक्षाओ करीने

स्थानमारोहति । इदं च प्रथमं ध्यानमष्टमगुणस्थानादारभ्य क्षपकश्रेण्यपेक्षया दशमगुणस्थानं यावद्भवतीति विवेकः ।

(२) ततश्चैकत्ववितर्काऽविचारमारभते, यथा सिद्धगारुडिकादिमन्त्रः सकलशरीरस्यापि विषमं विषं मन्त्रसामर्थ्येन सर्वावयवभ्यः समाकृष्य दशस्थाने समानीय संस्तम्भयति, तथा पूर्वगतश्रुतानुसारतोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिराहित्येनाशेषविषयेभ्यः संहृत्यैकस्मिन्नेव पर्याये योगस्य निर्वातस्थाने दीपशिखावत्स्थिरीकरणम्-एकत्ववितर्काऽविचारम् ।

अयमाशयः—प्रथमं ध्यानं सपृथक्त्वं भवति इदं तु पृथक्त्वरहितम् । अत्रैकमर्थं विहायाऽर्थान्तरे, तथैकं शब्दं विहाय शब्दान्तरे, तथा योगाद् योगान्तरे संक्रमणं न

गुणस्थान तक होता है । क्षपकश्रेणीकी अपेक्षासे तो अष्टमसे लेकर दशम गुणस्थान तक होता है, ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्तमोह होने से क्षपकश्रेणीमें आरूढ मुनि उसका स्पर्श न करते हुए दूसरे ध्यानका आरम्भ करके बारहवे गुणस्थान में जाते हैं ।

(२) एकत्ववितर्क-अविचार—जैसे मन्त्र जाननेवाला पुरुष समस्त शरीरमें व्याप्त विषको मंत्रकी शक्तिद्वारा अन्य-अन्य अवयवोंसे खींचकर दशस्थान (जहां विषैला जन्तुने काटा है उस जगह) पर स्तम्भित कर देता है, वैसे ही पूर्वगत श्रुतके अनुसार अर्थ, व्यञ्जन और योगोंके परिवर्तनसे रहित होकर समस्त विषयोसे विमुक्त होकर एक ही पर्यायके ध्यानमें वायुरहित स्थानमें रखे हुए दीपककी शिखा के समान स्थिर होजाना 'एकत्ववितर्क' ध्यान कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि पहला ध्यान पृथक्त्व (अनेकप्रकारता) सहित होता है किन्तु दूसरे भेदमें पृथक्त्व नहीं रहता । इसमें एक अर्थसे दूसरे अर्थमें संक्रमण नहीं होता, इसलिए इसे एकत्ववितर्क-ध्यान कहते हैं ।

आठमा गुणस्थानथी लधने अग्यारमा गुणस्थान सुधी थाय छे. क्षपक-श्रेणीनी अपेक्षाये करीने आठमाथी लधने दसमा गुणस्थान सुधी थाय छे; अग्यारमुं गुणस्थान उपशान्तमोह होवाथी क्षपक श्रेणीमां आरूढ मुनि जेना स्पर्श न करतां भील ध्यानने। आरंभ करीने बारमा गुणस्थानमां लय छे.

(२) एकत्ववितर्क-अविचार-जेम मंत्र लणुवावाणे। पुरुष आभा शरीरमां व्यापेला विषने मंत्रनी शक्तिद्वारा अन्य-अन्य अवयवोमांथी जेची लधने दशस्थान (ज्यां जेरी जंतु करडयो होय ते स्थान) पर स्तम्भित करी दे छे, तेम पूर्वगत श्रुत अनुसार अर्थ व्यञ्जन अने योगना परिवर्तनथी रहित घडने अथा विषयोथी विमुक्त अर्थ एकज पर्यायना ध्यानमां गपेला दीपकनी शिखानी चेठे स्थिर अर्थ जवुं जे 'एकत्ववितर्क' कडेवाय छे.

तात्पर्य जे छे जे पडेछु ध्यान पृथक्त्व (अनेक-प्रकारता) सहित होय छे किन्तु भील लेदमां पृथक्त्व रहेतु नथी. जेमां जेक अर्थमाथी भील अर्थमां, जेक शब्दमांथी भील शब्दमा अने जेक योगमाथी भील योगमां संक्रमण थतुं नथी, तेथी जेने एकत्ववितर्क ध्यान कडे छे.

भवति तस्मादिदमेकत्ववितर्काभिधानं ध्यानमिति । इदं च ध्यानं मनोवाक्काययोगान्य-
तमवतामेव महामुनीनां जायते, अत्र योगानां संक्रमणाभावात् ।

तथ चोक्तम्—“निजात्मद्रव्यमेकं वा, पर्यायमथवा गुणम् ।

निश्चलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥१॥

यद्व्यञ्जनार्थयोगेषु, परावर्तविवर्जितम् ।

चिन्तनं तदविचारं, स्मृतं सद्ब्रह्मचानकोविदैः ॥२॥” इति ॥

इदं ध्यानं क्षीणमोहनीयगुणस्थाने एव भवति, एतद्ब्रह्मचानचरमसमये क्षपकश्रेण्यारू-
ढो मुनिर्ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयमन्तरायाख्यं च, त्रीणि कर्माणि युगपत् क्षपयति, अस्य
ध्यानस्य फलं च केवलज्ञानकेवलदर्शनाऽनन्तवीर्यप्राप्तिरेव, प्रकृतध्यानद्वयमन्तरेण केवलज्ञा-
नं लब्धुमशक्यम् । एतच्चोभयं ध्यानं छद्मस्थानां जायते, तृतीयचतुर्थे तु केवललिनामेव
भवत इति बोद्धव्यम् ॥२०॥

यह ध्यान मन वचन काय योगोमेंसे किसी एक योगवाले मुनिराजको ही होता है,
अर्थात् इस ध्यानके समय एक ही योगमें स्थिर रहते हैं, क्योंकि इसमें योगोका सक्रमण नहीं
होता । कहा भी है—

“जिस ध्यानमें केवल निज आत्मा का अथवा उसकी एक पर्यायका या एक गुणका
ध्यान किया जाता है उसे ‘एकत्व’ कहते हैं ॥१॥ जो व्यञ्जन अर्थ और यागोके परिवर्तनसे
रहित चिन्तन किया जाता है उसे ‘अविचार’ कहते हैं ॥२॥”

यह ध्यान क्षीणमोहनीय गुणस्थानमें ही होता है । इस ध्यानके अन्तमें ज्ञानावरणीय, दर्श-
नावरणीय और अन्तराय नामक तीन धातिकर्माका एक साथ ही क्षय हो जाता है । इस
ध्यानका फल केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तवीर्यकी प्राप्ति है । इन दोनो ध्यानोके विना केव-
लज्ञान नहीं प्राप्त होसकता । ये दोनो ध्यान छद्मस्थोको होते हैं, तथा तीसरा और चौथा ध्यान
केवलियो को होता है ॥२०॥

ये ध्यान मन वचन कायाना योगोभांनो केई अेक योगवाणो मुनिराजनेज् थाय छे,
अर्थात् ये ध्यानने समये अेकज् योगभां स्थिर रहे छे, कारण् के अेमा योगोनु संक्रमण
थतुं नथी. कहु छे के—

“जे ध्यानमा केवण निज् आत्मानुं अथवा अेना अेक पर्यायनुं या अेक गुणनुं ध्यान
करवामां आवे छे, तेने ‘अेकत्व’ कहे छे (१) व्यञ्जन अर्थ अने योगोना परिवर्तनथी
रहित चितन करवामां आवे छे तेने ‘अविचार’ कहे छे (२)”

ये ध्यान क्षीणमोहनीय गुणस्थानमा ज् थाय छे. अे ध्यानना अ तमां ज्ञानावरणीय
अने अन्तराय नामनां त्रणु धाति-कर्मानो अेकीसाथे ज् क्षय थर्छ् जय छे. अे ध्याननुं
इल केवणज्ञान, केवणदर्शन अने अनन्त वीर्यनी प्राप्ति छे. अे जेठ ध्यान विना केवण
ज्ञान प्राप्त थर्छ् शकतु अे जेठ ध्यान छद्मस्थाने थाय छे, तथा त्रीणुं अने चोथुं ध्यान
केवणीअेने थाय छे. (२०)

घातिकर्मक्षयजनितफलं प्रदर्शयितुमुक्रमते—‘जया धुणइ’ इत्यादि ।

मूलम्—जया^१ धुणइ^४ कम्मरयं^३ अबोहिकलुसंकडं^२ ।

तया^५ सव्वत्तगं^६ नाणं^७ दंसणं^८ चाभिगच्छइ^९ ॥२१॥

छाया—यदा धुनाति कर्मरजोऽबोधिकलुपकृतम् ।

तदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति ॥२१॥

सान्वयार्थः—जया=जब अबोहिकलुसंकडं=आत्माके मिथ्यात्वपरिणामद्वारा उपार्जित किये हुए कम्मरयं=कर्मरूपी रजको धुणइ=घटा देता है, तया=तब सव्वत्तगं=सब जगह जानेवाले-सब पदार्थोंको जाननेवाले नाणं=ज्ञानको च=और दंसणं=दर्शनको अभिगच्छइ=प्राप्त करता है ॥२१॥

टीका—यदाऽबोधिकलुपकृतं कर्मरजो धुनाति तदा सर्वत्रगं=सर्वत्र गच्छति=व्याप्नोतीति सर्वत्रगं=सकललोकव्यापि तत्, ज्ञानं=ज्ञायन्ते=परिच्छिद्यन्ते द्रव्य-गुण-पर्यायादयोऽनेनेति ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थस्तत्, दर्शनं=दृश्यन्ते=साक्षात्क्रियन्ते द्रव्यादयो येनेति दर्शनम्=केवलदर्शनमित्यर्थस्तत् । “सामान्यार्थावबोधो दर्शनं, विशेषार्थावबोधो ज्ञान” —मित्युभयोर्भेदः, तथाहि—

“ज सामण्णग्रहणं दंसणमेयं नाणं” इति, चः समुच्चये, अभिगच्छति=कर्मजनित-सकलाऽऽवरणाभावादतिशयेन सम्प्राप्नोति सयोगिकेवलिगुणस्थानमारोहतीत्यर्थः ॥२१॥

घातिकर्मोंके क्षय होनेसे उत्पन्न होनेवाला फल बतलाते है—‘जया धुणइ’ इत्यादि ।

जब साधु मिथ्यात्वरूपी पापसे उत्पन्न हुए कर्मरजको नष्ट कर देते है तब समस्त लोकाकाश और अलोकाकाशमें व्यापी द्रव्य पर्यायोको जाननेवाला केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त होता है । पदार्थों का सामान्य ज्ञान होना दर्शन है और विशेष ज्ञान होना ज्ञान है, यही दोनोंमें भेद है, कहांभी है—

“सामान्यका ग्रहण होना दर्शन है और विशेष का ग्रहण होना ज्ञान है ।”

कर्मोंसे उत्पन्न हुए समस्त आवरणोंके अभावसे इन दोनों (ज्ञानदर्शन) को प्राप्त करते है ॥२१॥

घातीकर्मिणा क्षय भवती उत्पन्न भवति इण भतावे छे-जया धुणइ इत्यादि.

न्याये साधु मिथ्यात्वरूपी पापथी उत्पन्न भवती कर्मरजने नष्ट करी नाणे छे, तयादे समस्त लोकाकाश अने अलोकाकाशमा व्यापेता द्रव्य पर्यायिने जलुवावणुं केवाणज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त थाय छे पदार्थितु सामान्य ज्ञान थयु अे दर्शन छे अने विशेष ज्ञान थयु ते ज्ञान छे अे जेउमा लेह छे. कलु छे के-

“सामान्यतु ग्रहण थयुं दर्शन छे अने विशेषतु ग्रहण थयुं अे ज्ञान छे.”

कर्मिणी उत्पन्न भवती सर्व आवरणाना अलापथी अे जेउ (ज्ञान-दर्शन) ने प्राप्त करे छे. (२१)

केवलज्ञान-केवलदर्शनयोः फलमाह-‘जया सव्वत्तगं’ इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ५

मूलम्-जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।

६ ९ १० ११ ७ १२ ८

तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥२२॥

छाया--यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाभिगच्छति ।

तदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली ॥२२॥

सान्त्वयार्थः--जया=जब सव्वत्तगं=सब जगह जानेवाले-सब पदार्थोंको जाननेवाले नाणं=ज्ञानको च=और दंसणं=दर्शनको अभिगच्छइ=प्राप्त करता है, तया=तब जिणो=वीतराग केवली=केवलज्ञानी होते-हुए लोगमलोगं च=लोक और अलोकको जाणइ=जानते हैं ॥२२॥

टीका--यदा केवलज्ञानं केवलदर्शनं च प्राप्नोति तदा जिनः=घातिकर्मविजेता, केवली=केवलज्ञानी सन् लोकं=लोकयत इति लोकस्तं जानाति=रुतलामलकवज्ज्ञानविषयीकरोति ।

आह-ननु कोऽयं लोकपदार्थः ? यदि केनचिदेको ग्रामोऽवलोकितस्तर्हि किं तावानेव लोकः ? न, अपरेण ततोऽप्यधिकग्रामदर्शनात् । तर्हि यावद् ग्रामादिकमस्माभिरवलोक्यते तावानेव लोकः ? नहि अनन्तज्ञानसम्पन्नेन सर्वज्ञेन यो लोकयते स लोक इति ।

केवलज्ञान और केवलदर्शन का फल कहते हैं-‘जया सव्वत्तगं’ इत्यादि ।

जब सर्वव्यापी ज्ञान तथा दर्शनको प्राप्त करते हैं तब केवली, होकर लोक और अलोकको जानते हैं ।

जो देखा जाता है उसे लोक कहते हैं ।

प्रश्न-यदि किसीने एक ग्राम देखा हो तो लोक क्या उतना ही होगा ?

उत्तर-उतना ही नहीं होगा, क्योंकि दूसरे उससे अधिक ग्राम देखते हैं ?

प्रश्न-तो हमलोग जितने ग्रामोंको देखते हैं उतना ही लोक है ?

उत्तर-उतना ही नहीं है । अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ भगवान् द्वारा जितना देखा जाता है उतना

केवलज्ञान अने केवलदर्शननु इण कडे छे-जया सव्वत्तगं इत्यादि

ज्यारे सर्वव्यापी ज्ञान तथा दर्शनने प्राप्त करे छे त्यारे केवली, यधने लोक अने अलोकने जाने छे.

जे जेध शक्य तेने लोक कडे छे.

प्रश्न-जे कडेछे अेक ग्राम जेयु छाय तो लोक शुं अेटलो ज होय ?

उत्तर-अेटलो ज नहि होय, कारण के भीलओ जेथी वधारे ग्रामो जुओ छे.

प्रश्न-तो आपणे जेटला ग्रामोने जेधओ धीओ अेटलो ज लोक छे ?

उत्तर-अेटलो ज नहि. अन तज्ञानी सर्वज्ञ भगवान्द्वारा जेटलो जेवाय छे अेटलो लोक छे,

नन्वेतेनाऽलोकस्यापि लोकत्वप्रसङ्गस्तस्यापि सर्वज्ञेनावलोकितत्वात् , तथाचाऽल्लोकोऽपि किं लोकः ? न, यतो लोक्यते धर्मास्तिकायाद्याधारभूत आकाशविशेषो यः स लोक इत्यवधार्यम् । स च कटितटोभयपार्श्वतो निहितहस्तद्रयो विस्फारितपादयुगलोऽवस्थितः पुरुष इव नृत्यद्भैरवोपासकाकृतिको वा ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यग्भेदभिन्नश्चतुर्दशरज्जुपरिमितोऽसंख्यातप्रदेशात्मक आकाशविशेषस्तम् । तद्विपरीतोऽलोकः ।

अस्तु लोको जीवपुद्गलादीनामनाधारतयाऽवस्थानासम्भवात् , अलोकस्तु कथम् ? तस्याऽमूर्त्तत्वेनेन्द्रियागोचरतयाऽस्तित्वसाधकप्रमाणाभावात् , इन्द्रियागोचरे चार्थे मनः-

लोक है ।

प्रश्न—केवली भगवान् अलोकको भी देखते हैं तो उनके देखनेसे अलोक भी लोक हो जायगा ?

उत्तर—नहीं होगा । भगवान्ने धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो का आधारभूत जो आकाश देखा है उसे लोक कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

वह लोक कमरपर दोनो हाथ रखकर, पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुष के आकारका, अथवा नाचते हुए भैरवीपासक (भोपा) की आकृतिका है । इसके तीन भेद है—(१) उर्ध्वलोक, (२) मध्यलोक, (३) अधोलोक । यह चौदह राजू जितना ऊंचा और असंख्यात—प्रदेशमय है । अलोकाकाश इससे विपरीत है ।

प्रश्न—जीव और पुद्गल आदि विना आधारके नहीं ठहर सकते, अतः लोकाकाश मानना तो ठीक है, परन्तु लोकाकाशके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है ? कारण यह कि इन्द्रियोंका यह विषय नहीं है, क्योंकि अमूर्त्त है । जिस विषयमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं होती उसमें मन भी प्रवृत्त नहीं हो सकता । अत एव न इन्द्रियोसे अलोकाकाशको जान सकते हैं और न मनसे ।

प्रश्न—केवली भगवान् तो अलोकने पण्णुं लुञ्जे छे तो अमेना जेवाथी अलोक पण्णुं लोक थर्धं न्शे ?

उत्तर—नहिं थाय. भगवाने धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योनुं आधारभूत जे आकाश जेथुं छे अने लोक कडे छे, अमे समञ्जसुं जेधजे

जे लोक कमर पर जेठ हाथ राखीने, पैर फैलावीने जेलेला पुद्गल आकारना, अथवा नाचता भैरवीपासक (भोपा) नी आकृतिना छे. तेना पण्णुं लेह छे. (१) उर्ध्वलोक, (२) मध्यलोक, (३) अने अधोलोक जे चौदह राजू जेवडा उंथे अने असंख्यात प्रदेशमय छे. अलोकाकाश जेथी विपरीत छे.

प्रश्न—लुव अने पुद्गल आदि आधार विना रही शकता नथी, तेथी लोकाकाश मानवुं जे तो पराभर छे, परन्तु अलोकाकाशना अस्तित्वनुं थुं प्रमाण छे ? कारण जे छे के इन्द्रियोना जे विषय नथी केमके अमूर्त्त छे जे विषयमा इन्द्रियोनी प्रवृत्ति थती नथी तेमा मन पण्णुं प्रवृत्त थर्धं शकतुं नथी. जेथी करीने इन्द्रियोथी अलोकाकाशने लण्णी शकतुं नथी तेमज मनथी पण्णुं लण्णी शकतुं नथी.

प्रवृत्तेः कदाऽप्यसम्भवादिति न शङ्कनीयम्, इन्द्रियनोऽन्द्रियविषयत्वाभावमात्रदर्शनेन तदस्तित्वनिराकरणस्याऽशक्यत्वात्. अन्यथा हि प्रपितामहादीनामपि तत एवाभावः प्राप्नुयात् । यतः 'आसन् प्रपितामहादयोऽस्मादादिशरीरस्याऽन्यथाऽनुपपन्नत्वात्' इत्यनुमानेन तेषामस्तित्वं साध्यते चेदलोकस्याप्यनुमानेन सिद्धिरनवद्यैव, तथाहि—

लोकः सप्रतिपक्षः, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयत्वात्, यो हि व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयः स सप्रतिपक्ष एव भवति, यथा घटः । यश्च लोकप्रतिपक्षः स एव सद्भूतोऽलोकः, अस्तित्ववत् एव प्रतिपक्षित्वसम्भवात् ।

ननु 'न लोकोऽलोकः' इति व्युत्पत्त्या घटादिष्वन्यतम एवालोकः सिध्यति किं

उत्तर—यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और मनका विषय न होनेसे उसके अस्तित्वका खण्डन नहीं हो सकता, अन्यथा दादे परदादे आदि पूर्वजोका भी अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मनके विषय नहीं होते । यदि कोई इस अनुमानसे पूर्वजोका अस्तित्व सिद्ध करे कि—पितामह (दादा) आदि पूर्वजोका किसी समयमें अस्तित्व था, क्योंकि उनके विना हमारा शरीर नहीं बन सकता तो अनुमानसे ही अलोककी भी सिद्धि मान लेनी चाहिए । अनुमान यह है—

लोक अपने प्रतिपक्ष (विरोधी-अलोक) की अपेक्षा रखता है, क्योंकि वह व्युत्पत्तिवाले समासरहित पदका वाच्य (अर्थ) है । जो जो व्युत्पत्तिवाले समासरहित पदका वाच्य होता है वह प्रतिपक्षसहित ही होता है, जैसे घट । घट व्युत्पत्तिवाला है और समासरहित है, अर्थात् दो पद मिल कर नहीं बना हुआ है, अत एव घटके प्रतिपक्ष-अघट-पट, मुकुट शकट, कट आदि भी अवश्य होते हैं । लोकका जो प्रतिपक्ष है वह अस्तित्ववान् अलोक है, क्योंकि अस्तित्ववान् पदार्थ किसीका प्रतिपक्ष हो सकता है । गधेका सींग आदि नास्तित्ववान् पदार्थ किसीके प्रतिपक्ष नहीं होते ॥

उत्तर—ये प्रश्न ग़राग़र नहीं केमके ईन्द्रिय अने मनना विषय न होवाथी तेना अस्तित्वनु अंउन थई शकतुं नहीं. येम तो दादा परदादा आदि पूर्वज्जेनुं पणु अस्तित्व सिद्ध नहि थाय, केमके ते पणु ईन्द्रिय अने मनना विषय नहीं होता जे कोछ अनुमानथी पूर्वज्जेनु अस्तित्व सिद्ध करे के पितामह (दादा) आदि पूर्वज्जेनुं कोछ समये अस्तित्व छतु, कारण के येना विना आपणु शरीर जनी शके नहि, तो अनुमानथी जे अलोकनी पणु सिद्धि मानी लेवी जेछये, अनुमान ये छे के—

लोक पितामहा प्रतिपक्ष (विरोधी-अलोक) नी अपेक्षा राखे छे, कारण के ये व्युत्पत्तिवाणा समासरहित शब्दना वाच्य (अर्थ) छे. जे जे व्युत्पत्तिवाणा समासरहित शब्दना वाच्य होय छे ते प्रतिपक्षसहित जे होय छे. जेम घट, घट-व्युत्पत्तिवाणा छे अने समासरहित छे, अर्थात् जे शब्दो मणवाथी जनेदो नहीं, तेथी घटना प्रतिपक्ष-अघट-पट, मुकुट, शकट, कट आदि पणु अवश्य होय छे लोकना जे प्रतिपक्ष छे ते अस्तित्ववान् अलोक छे, कारण के अस्तित्ववान् पदार्थ जे कोछना प्रतिपक्ष थई शके छे. गधेडानु शी गडुं वगेरे नास्तित्ववान् पदार्थ कोछना प्रतिपक्ष थतो नहीं

પદાર્થાન્તરકલ્પનયા ? इति चेदुच्यते-‘न लोकः’ इत्यत्र नञः पर्युदासार्थकत्वात्, ‘पर्यु-
दासः सदृशग्राही’-ति नियमान्निषेध्यसदृशेनैव भाव्यम्, निषेध्यश्चात्र जीवाऽजीवाऽऽदि-
द्रव्याधारभूत आकाशविशेषात्मको लोकः, अतोऽलोकोऽप्याकाशविशेषरूप एव भवितुं योग्यः
यथा ‘अधनोऽयम्’ इत्युक्ते धनरहितो मनुष्य एव गृह्यते न तु घटपटादिः, तथेहाऽप्य-
लोको लोकानुरूप एव बोद्धव्य इति ॥२२॥

પ્રશ્ન-‘જો લોક નહીં વહ અલોક હૈ’ એસા માનનેસે લોકસે ભિન્ન જિતને ઘટ પટ આદિ પદાર્થ હૈ વે સવ અલોક હોગે, કયોકિ વે લોક નહીં હૈ-લોકસે ભિન્ન હૈ । ફિર ઘટ આદિ પદાર્થોસે ભિન્ન એક અલગ અલોક કયો માનતે હો ?

ઉત્તર-જો લોક નહીં વહ અલોક હૈ । યહાં નજ્સમાસ હૈ । નજર્થ દો પ્રકારકા હોતા હૈ । એક નજર્થ એમા હોતા હૈ કિ વહ જિસકા નિષેધ ક્રિયા જાતા હૈ ઉસ નિષેધ્યકે સમાનકા હો ગ્રહણ કરનેવાલા હોતા હૈ ઉસે પર્યુદાસ કહતે હૈ । કહા મી હૈ કિ-“પર્યુદાસ સદૃશકા વોધક હોતા હૈ ।” અત એવ લોકકા નિષેધ રૂપ અલોક મી લોકહીકે સમાન હોના ચાહિએ । નિષેધ્ય યહાં જીવ અજીવ આદિ દ્રવ્યોકા આધારમૂત આકાશવિશેષ હૈ, અતઃ અલોક મી આકાશવિશેષ (જીવ અજીવ આદિ દ્રવ્યોકે આધારસે ભિન્ન) હોના ચાહિએ । જૈસે કિસીને કાહાકિ યહ ‘અધન’ હૈ । ઇમ વાક્યમે ‘અધન’ શબ્દસે યહ નહીં સમજ્ઞા જાતા હૈ કિ યહ ઘડા હૈ યા કપડા હૈ, કિન્તુ ધનરહિત મનુષ્ય અર્થ હી સમજ્ઞા જાતા હૈ । ઇસો પ્રકાર યહાં ‘અલોક’ શબ્દસે ઘડા નહીં સમજ્ઞાના ચાહિએ કિન્તુ આકાશવિશેષ હી સમજ્ઞાના ચાહિએ । કેવલી ભગવાન્ ઇન લોક અલોક દોનોકો જાનતે હૈ ॥૨૨॥

પ્રશ્ન-‘જે લોક નથી તે અલોક છે’ એમ માનવાથી લોકથી ભિન્ન જેટલા ઘટ પટ આદિ-પદાર્થો છે તે બધા અલોક થશે, કારણ કે તે લોક નથી-લોકથી ભિન્ન છે. પણ ઘટ આદિ પદાર્થોથી ભિન્ન એક જૂદો અલોક કેમ માનો? છે ?

ઉત્તર-જે લોક નથી તે અલોક છે. એમાં નજ્ સમાસ છે નજર્થ બે પ્રકારના હોય છે એક નજર્થ એવો હોય છે કે તે જેનો નિષેધ કરવામાં આવે છે એ નિષેધ્યની સમાનને જ અહણ કરનાર હોય છે, તેને પર્યુદાસ કહે છે, કહ્યું છે કે- “પર્યુદાસ સદૃશનો વોધક હોય છે” તેથી કરીને લોકના નિષેધરૂપ અલોક પણ લોકની જ સમાન હોવો જોઈએ અહીં નિષેધ્ય જીવ-અજીવ આદિ દ્રવ્યોનો આધારમૂત આકાશ-વિશેષ છે, તેથી અલોક પણ આકાશ વિશેષ (જીવ અજીવ આદિ દ્રવ્યોના આધારથી ભિન્ન) હોવો જોઈએ, જેમકે કોઈએ કહ્યું કે એ ‘અધન’ છે, એ વાક્યમાં ‘અધન’ શબ્દથી એમ નથી સમજાતું કે એ ઘડો છે યા કપડું છે, કિન્તુ ‘ધનરહિત મનુષ્ય’ એવો અર્થ જ સમજાય છે. એ રીતે અહીં ‘અલોક’ શબ્દથી ઘડો યા કપડું નસમજવું જોઈએ, કિન્તુ આકાશવિશેષ જ સમજવું જોઈએ. કેવળી ભગવાન્ એ લોક અને અલોક બેઉને જાણે છે. (૨૨)

१ ४ ५ ६ २ ७ ३
मूलम्-जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।

८ ९ १० ११ १२
तया जोगे निरुंभित्ता. सेलेसिं पडिवज्जइ ॥२३॥

छाया—यदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ।

तदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥२३॥

सान्न्वयार्थः—जया=जब जिणो=वीतराग केवली=केवलज्ञानी होये हुए: लोगम-लोगं च=लोक और अलोकको जाणइ=जानते हैं, तया=तब जोगे=मनवचन-कायके योगों का निरुंभित्ता=निरोध करके सेलेसिं=शैलेशीकरणको पडिवज्जइ=प्राप्त करते हैं ॥२४॥

टीका—‘जया लोग’-मित्यादि । यदा जिनः केवली लोकालोकं जानाति तदा योगान्=मनोवाक्कायलक्षणान् निरुध्य, तथाहि—मुक्तिपदेऽन्तर्मुहूर्त्तमाविनि आयुष्यन्तर्मुहूर्त्तमात्राविशेषे सति यद्यघातिकर्मचतुष्टयं स्वभावतः समस्थितिकं स्यात्तदा निष्कलङ्कः परमकल्याणाऽऽस्पदीभूतःकेवली सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्याख्यं ध्यानमारभते । उत्कृष्ट आयुषः षण्मासावशेषे समुत्पन्नकेवलस्य भगवतस्तु तदायुषोऽल्पत्वाद् वेदनीयनामगोत्रकर्मणां च स्थितिबाहुल्याच्च नियतसमुद्घातत्वात्, तत्कृत्वा वेदनीयादिषु चतुषु, समस्थितिकेषु सत्सु तदारम्भः ।

“जया लोग०” इत्यादि । जब घातीकर्मोंको जीतनेवाले केवली भगवान् लोक और अलोकको जान लेते है तब योगोंका निरोध करके शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करते है ।

(३) अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयु शेष रहने पर यदि बाकी रहे हुए चारो अघातिया कर्मोंकी स्थिति स्वभावसे ही बराबर हो तो निष्कलङ्क परम कल्याणके आश्रयभूत केवली प्रभु सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्ल ध्यानके तीसरे पायेका ध्यान प्रारम्भ करते है, किन्तु जिन्हें उत्कृष्ट आयुकर्म छह मास अवशेष रहने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है उन्हे नियमसे केवलिसमुद्घात करना पड़ता है, क्योंकि उनका आयुर्कर्म अल्प होता है और उनके वेदनीय नाम गोत्र कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है, इसलिए वे पहले समुद्घातके द्वारा चारो कर्मोंकी स्थिति बराबर करके फिर तीसरे पायेका ध्यान आरम्भ करते है ।

जया लोगं० इत्यादि. जयारे घाती कर्मोंने जितवावाणा केवली भगवान् लोक अने अलोक ने जाली दे छे तयारे योगोंने निरोध करीने शैलेशी अवस्थाने प्राप्त करे छे.

(३) अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयु शेष रहतेनां बाकी रहैला जयारे अघाती कर्मोंने स्थिति स्वभावथी बराबर होय तो निष्कलङ्क परम कल्याणना आश्रयभूत केवली प्रभु सूक्ष्मक्रिय नामना शुक्ल ध्यानना तीसरा पायानुं ध्यान प्रारंभे छे. किन्तु जेभने उत्कृष्ट आयुर्कर्म छे भास अवशेष रहतेनां केवलज्ञान उत्पन्न थाय छे, तेभने नियमथी केवली समुद्घात करवे पडे छे, कारणे के जेभनुं आयुर्कर्म अल्प होय छे अने जेभनां वेदनीय नाम गोत्र कर्मोंने स्थिति वधारे होय छे. तेथी करीने ते पडेलां समुद्घातनी द्वारा जयारे कर्मोंने स्थिति

यदा जघन्ययोगवतः सञ्ज्ञिपर्याप्तस्य मनोद्रव्याणि समये२ निरुन्धन् असंख्यात-
समयैः सम्पूर्ण मनोयोगं, तत्पश्चात्पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य वाग्योगपर्यायतोऽसंख्यातगुणन्यूनवाग्यो-
गपर्यायान् प्रतिसमयं निरुन्धन् असंख्यातसमयैः सम्पूर्णवाग्योगं, ततश्च प्रथमसमयसमुत्पन्न-
निगोदजीवस्य जघन्यकाययोगपर्यायतोऽसंख्यातगुणहीनकाययोगं प्रतिसमयं निरुन्धन्
असंख्यातसमयैर्बादरकाययोगं च सर्वथा निरुणाद्धि तदेदं सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्तिध्यान-
मुपक्रमते । तत्र श्वासोच्छ्वासस्वरूपं सूक्ष्ममपि काययोग निरुध्य=अयोगित्वं प्राप्ये-
त्यर्थः, शैलीशीम्=शैलाः=पर्वतास्तेपामीशः शैलेशः=सुमेरुस्तद्वत् स्थैर्यं यस्यामवस्थायां

जब जघन्य योगवाले सञ्ज्ञी पर्याप्तके मनोद्रव्य और मनोद्रव्य के व्यापारोसे असख्यात
गुणहीन मनोद्रव्योका प्रतिसमयमें निरोध करते हुए असख्यात समयमें सम्पूर्ण मनोयोगका
निरोध कर देते हैं । तब मनोयोगका निरोध करके पर्याप्त द्वीन्द्रियके वचनयोगकी पर्यायोसे
असख्यात गुणहीन वचनयोगकी पर्यायोका प्रतिसमय निरोध कहते हुए समस्त वचनयोगका
निरोध करते हैं । वचन योगका सपूर्ण निरोध करके प्रथम समयमें उत्पन्न निगोदिया जीवके
जघन्य काययोग की पर्यायो से असख्यातगुणहीन काययोगका प्रतिसमय निरोध करते हुए
असख्यात समयमें बादर काययोगका भी सर्वथा निरोध कर देते हैं । अर्थात् समस्त मनोयोग
और वचनयोगका तथा बादर काययोगका निरोध होने पर सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति नामक तीसरे
ध्यानको आरम्भ करते हैं । तीसरे ध्यानके समय श्वासोच्छ्वासरूप काययोगकी सूक्ष्मक्रिया ही
रहती है । इस ध्यानसे उस सूक्ष्मक्रियाका भी निरोध करके अयोगी हो जाते हैं । अयोगी होकर
अर्थात् तेरहवे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचकर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ।
जिसमें शैलो (पर्वतो) के ईश (स्वामी) सुमेरु पर्वतके समान स्थिरता रहती है उसे शैलेशी अवस्था
कहते हैं । अथवा—शैल (यथाख्यातचारित्र) के ईश (स्वामी) को शैलेश कहते हैं, उनकी

भराभर करीने पछी त्रीण पायानुं ध्यान आरंभे छे.

ज्यादे जघन्य योगवाला सञ्ज्ञी पर्याप्तके मनोद्रव्य अने मनोद्रव्यना व्यापारोथी
असख्यातगुणहीन मनोद्रव्योको प्रति समये निरोध करतां असंख्यात समयोमां संपूर्ण
मनोयोगको निरोध करीने पर्याप्त द्वीन्द्रियना वचनयोगना पर्यायोथी असंख्यातगुणहीन
वचनयोगना पर्यायोको प्रतिसमय निरोध करतां समस्त वचनयोगको निरोध करे छे.
वचनयोगको संपूर्ण निरोध करीने प्रथम समयमा उत्पन्न निगोदिया जीवना जघन्य काय-
योगना पर्यायोथी असंख्यातगुणहीन काययोगको प्रतिसमय निरोध करतां असंख्यात समयो-
मां बादर काययोगको पणु सर्वथा निरोध करी नाणे छे. अर्थात् समस्त मनोयोग अने
वचनयोगना तथा बादर-काययोगको निरोध यतां सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति नामना त्रीण ध्यानको
आरम्भ करे छे त्रीण ध्यानने समये श्वासोच्छ्वासरूप काययोगनी सूक्ष्म-क्रिया न रहे छे,
अध्यानथी ते सूक्ष्म क्रियानो पणु निरोध करीने अयोगी थछ जाय छे अयोगी थछने
अर्थात् तेरहमे गुण स्थान थी चौदहमां गुणस्थानमा पहुँचीने शैलेशी अवस्थाने प्राप्त
जाय छे जेमां शैलो (पर्वतो)ना ईश (स्वामी) सुमेरु पर्वतनी पठे स्थिरता रहे छे तेने

सा, यद्वा शीलं=यथाख्यातचारित्रं तस्येशः=स्वामी शीलेशस्तस्येयमवस्था शैलेशी तां प्रतिपद्यते मध्यमकालेन 'अ-इ-उ-ऋ-लृ' इत्येवंरूपपञ्चलध्वक्षरोच्चारणसमकालस्थितिकं समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिध्यानमनुभवतीत्यर्थः,

ननु सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्याख्यस्य शुक्लध्यानस्य कथं ध्यानपदप्रतिपाद्यता ?, ध्यानं हि नाम मनःस्थैर्यम् , केवलिनश्च तदानीं मनसोऽसत्त्वादिति चेन्न,

स्थैर्यावस्थापन्नत्वमेव ध्यानत्वम् , तच्च यथा स्थिरीभावमापन्नस्य छद्मस्थीयमनसस्तथैव केवलिकाययोगस्यापि सुस्थिरतया सुवचम् ।

नन्वेवमपि समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपात्याख्यस्य शुक्लध्यानस्य कथं ध्यानत्वम् ? तत्र काययोगस्याप्यभावात् , इति चेदुच्यते-यथा कुम्भकारचक्रं तद्भ्रामकदण्डादिसम्बन्धा-

वस्थाको शैलेशी कहते है । इस शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होकर न धीमे न जल्दी अर्थात् मध्यम काल से 'अ-इ-उ-ऋ-लृ' इन पांच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारणमें जितना समय लगता है उतने समय तक चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थानमें रहकर समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान ध्याते है ॥

प्रश्न-हे गुरुमहाराज ! मनकी स्थिरताको ध्यान कहते है । केवली भगवान के उस समय मन नहीं रहता, अतः सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति शुक्लध्यान को ध्यान कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर-स्थिरता को ही ध्यान कहते है । वह स्थिरता जैसे छद्मस्थके मनोयोगकी होती है वैसे ही केवलीके काययोगकी स्थिरता होती है इसीलिए उसे ध्यान कहते है ।

प्रश्न-तो समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति-शुक्ल-ध्यानको ध्यान कैसे कह सकते है ? क्योंकि वहां काययोगका भी अभाव है ?

उत्तर-जैसे कुंभारका चाक, घुमानेवाले दण्ड आदिके संयोग न होनेपर भी पूर्वकालके शैलेशी अवस्था कहे छे, अथवा शील (यथाख्यात-चारित्र) ना धिश (स्वामी) ने शीलेश कहे छे, ऐनी अवस्थाने शैलेशी कहे छे ऐ शैलेशी अवस्थाने प्राप्त थछने, नही धीमे के नहि जल्दी अर्थात् मध्यम कालथी अ-इ-उ-ऋ-लृ ऐ पांच ह्रस्व अक्षराना उच्चारणमां जेटेला समय लागे जेटेला समय सुधी चौदमे अयोगिकेवली गुणस्थानमां रहिने समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान ध्यावे छे

प्रश्न-हे गुरु महाराज ! मनकी स्थिरताने ध्यान कहे छे केवली भगवानने जे समये मन रहेतुं नथी, जेटेले सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति शुक्लध्यानने ध्यान केवी रीते कही शक्य ?

उत्तर-स्थिरताने ज ध्यान कहे छे. जे स्थिरता जेवी छद्मस्थना मनोयोगनी होय छे तेवीज केवलीना काययोगनी स्थिरता होय छे, तेथो तेने ध्यान कहे छे.

प्रश्न-तो समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाति-शुक्ल-ध्यानने ध्यान केवी रीते कही शक्य ? कारण के त्यां काययोगना पणु अभाव छे

उत्तर-जेम कुंभारने। याकडो, तेने इरवनार द उ आदिने। संयोग न थवा छतां पणु पूर्वकालना वेगथी घुम्या करे छे, तेमज मन वचन कायने। निरोध थछ गया पछी

भावेऽपि प्राक्कालीनवेगतो भ्रमति तथा मनोवाक्काययोगनिरोधेऽप्ययोगिनः प्राक्कृतध्या-
नधारावेगतो ध्यानं सम्पद्यते ।

किञ्च—तत्र द्रव्ययोगाभावेऽपि भावयोगस्य सत्त्वाद् ध्यानमुपपद्यते, जीवोपयोग-
रूपस्य भावमनसस्तत्रापि सद्भावात् । अथ च—यथा पुत्रभिन्नोऽपि पुत्रकार्यकरणेन पुत्र
उच्यते तथा भवोपग्राहिकर्मनिर्जरणरूपस्य ध्यानकार्यस्य करणेन ध्यानत्वोपाचाराद् ध्या-
नशब्दाभिधेयत्वं सिद्धम् ।

अथ च—यथैकस्य नानार्थकशब्दस्य बहवोऽर्था भवन्ति, तथा धातूनामनेकार्थत्वाद्
धैधातुनिष्पादितस्य ध्यानशब्दस्यापि समुच्छिन्नक्रियाख्यं शुक्लध्यानमप्यर्थः । अपरं च—
उक्तशुक्लध्यानस्य ध्यानत्वेन जिनागमप्रतिपाद्यतया ध्यानत्वं निर्वाधमित्यलम् ॥२३॥

मूलम्—जया^१ जोगे^२ निरुंभित्ता^३ सेलेसिं^४ पडिवज्जइ^५ ।

तया^६ कम्मं^७ खवित्ताणं^८, सिद्धिं^{९०} गच्छइ^{९१} नीरओ^९ ॥२४॥

वेगसे घुमता रहता है जैसे ही मन वचन कायका निरोध होजाने परभी पूर्व ध्यानकी धारा के
वेगसे अयोगी केवलीके ध्यान होता है ।

अथवा—द्रव्ययोगका अभाव होने पर भाव योगके सद्भावसे ध्यान होता है, क्योंकि
जीवका उपयोगरूप भावमन उस अवस्थामें भी रहता है । अथवा जैसे पुत्र न होकर भी यदि
कोई पुत्रका कार्य करता है तो वह पुत्र कहलाता है । जैसे ही भवोपग्राही कर्मोंकी निर्जरारूप
ध्यान का कार्य करनेसे उपचार से वह ध्यान कहलाता है । अथवा—जैसे नानार्थक शब्दके बहुत
से अर्थ होते हैं जैसे ही धातुओंके भी अनेक अर्थ होते है इसलिए यहाँ 'धै' धातुसे बने हुए
ध्यान शब्द का अर्थ समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपात्ति—शुक्ल—ध्यान अर्थात् अयोगी गुणस्थानवालो की
क्रिया भी समझ लेना चाहिए । अथवा जिनागममें इमको ध्यान कहा है अतः इसमें ध्यानत्व
निर्वाध है ॥२३॥

पणु पूर्व ध्याननी धाराना वेगथी अयोगी केवलीने ध्यान डोय छे

अथवा द्रव्ययोगने अभाव थया छता पणु लावयोगना सद्भावथी ध्यान थाय छे.
कामणु के छवना उपयोगइप लावमन ये अवस्थामा पणु रहे छे अथवा नेम पुत्र न
डोवा छता ने केई पुत्रतुं कार्य करे छे तो ते पुत्र कडेवाय छे, तेमज्ज लवोपग्राही कर्मोनी
निर्जरइप ध्यानतुं कार्य करवाथी उपचारे करीने ते ध्यान कडेवाय छे अथवा नेम विवि
धार्थक शब्दना प्रणाय अर्थो थाय छे तेम धातुओंना पणु अनेक अर्थो थय छे, अही
धै धातुथी अनेका ध्यान गण्डूने अर्थ समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपात्ति—शुक्ल—ध्यान अर्थात्
अयोगी गुणस्थान वाणाओंनी क्रिया पणु समणु लेवी अथवा जिनागममां येने ध्यान
कडुं छे तेथी येमा ध्यानत्व निर्वाध छे (२३)

छाया—यदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ।

तदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥२४॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब जोगे=योगोंका निरुंभित्ता=निरोध करके सेलेसिं=शैले-
शीकरणको पडिवज्जइ=प्राप्त करते हैं, तथा=तब कम्मं=कर्ममात्रको खवित्ता=खपा करके
नीरओ=कर्मरजरहित=सब कर्मों से मुक्त=होकर सिद्धिं=मोक्षको गच्छइ=जाते हैं ॥२४॥

टीका—‘जया जोगे०’ इत्यादि । यदा योगनिरोधं कृत्वा शैलेशीं प्राप्नोति तदा
कर्म=वेदनीयाऽऽयुर्नामगोत्राख्यमघातिकर्मचतुष्टयलक्षणं क्षपयित्वा=क्षयं नीत्वा सर्वथा
विनाश्येत्यर्थः ‘ण’-मिति वाक्चालङ्कारे, नीरजाः=निर्गतं रजः=सकलकर्ममलं यस्मादिति,
रजसः=उक्तलक्षणान्निष्क्रान्तो वा नीरजाः=सकलर्मोपाधिरहितः साधितात्मा प्रभुः सिद्धिं=
सिध्यन्ति=निष्ठितार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिं=मुक्तिलक्षणा तां गच्छति=प्राप्नोति; गत्य-
र्थधातुनां प्राप्त्यर्थत्वात् ॥२४॥

१ २ ३ ५ ६ ४
मूलम्—जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।

७ ८ १० ११ ९
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥२५॥

छाया—यदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।

तदा लोकमस्तकस्थः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥२५॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब कम्मं=कर्ममात्रको खवित्ता=खपा करके नीरओ=कर्मर-
जरहित होकर सिद्धिं=मोक्षको गच्छइ=जाते हैं, तथा=तब लोगमत्थयत्थो=लोगके अग्र-
भाग पर स्थित सासओ=शाश्वत=नित्य सिद्धो=सिद्ध हवइ=हो जाते हैं ॥२५॥

टीका—‘जया कम्मं’ इत्यादि । यदा सर्वकर्मक्षयं कृत्वा नीरजाः सिद्धिं गच्छति
तदा लोकमस्तकस्थः=सर्वलोकोपरिस्थितः, शाश्वतः=दग्धकर्मबीजत्वात्पुनः संसारसंसरण-
रहितो नित्यः, सिद्धः=कृतकृत्यो भवतीति ।

‘जया जोगे’ इत्यादि । जब योगोंका निरोध करके शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते है तब
वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघाति कर्मोंका क्षय करके सर्व कर्मोंसे मुक्त होकर
भगवान मोक्षको प्राप्त होते है ॥२४॥

‘जया कम्मं’ इत्यादि । जब सब कर्मोंका क्षय करके निष्कर्म होकर मोक्षगमन करते है
तब लोकके अग्रभाग पर स्थित, सब कर्मोंसे रहित होनेके कारण सभी संसार में न आनेसे

ज या जोगे इत्यादि ज्यारे योगेनो निरोध करीने शैलेशी अवस्थाने प्राप्त थाय छे,
त्यारे वेदनीय, आयु, नाम अने गोत्र अने चार अघाती कर्मोंको क्षय करीने सर्व कर्मोंको
मुक्त थयने भगवान् मोक्षने प्राप्त थाय छे. (२४)

जया कम्मं इत्यादि ज्यारे सर्व कर्मोंको क्षय करीने निष्कर्म थयने मोक्षगमन करे
छे, त्यारे लोकना अग्रभाग पर स्थित, सर्व कर्मोंको रहित होवाने करणु कदापि संसारमां

ननु सिद्धानां सर्वकर्मक्षयात् त्रसनामकर्मणोऽप्यविद्यमानत्वेन कथं गतिसम्भवः ? इति चेदुच्यते--

यथा धनुर्मुक्तस्य वाणस्य तद्विरहेऽपि पूर्वप्रयोगसामर्थ्याद्गतिर्भवति तथा संसारावस्थायामपवर्गप्राप्तये कृतानेकविधप्रणिधानेवलान्मुक्तात्मनोऽपीति ।

ननु भवतु गतिः किन्तु सा तिर्यग्धस्ताद्वा न भूत्वोर्ध्वमेव भवतीति कथमवसीयते ? इति चेच्छ्रूयताम्--तेषां गुरुत्वगुणाभावान्नाधस्तात्, कायादियोगपरप्रेरणयोरभावाच्च न तिर्यग्गतिर्भवति,

यथा-नीरन्ध्रामतिशुष्कामनुपहतां चाऽलावू कुशादितृणैः परितः संवेष्ट्य तदुपरि

शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं ।

प्रश्न-हे गुरुमहाराज ! सिद्धोके समस्त कर्मोंका नाश होजाता है अत एव त्रस नाम कर्म भी नहीं रहता, फिर सिद्ध भगवान लोकके अग्र भाग तक किम प्रकार गमन कर सकते है ।

उत्तर-हे शिष्य जैसे धनुपसे छूटा हुआ वाण धनुषका सम्बन्ध न होने पर भी गति करता है, क्योंकि उसमें पहलेका व्यापार का सामर्थ्य रहता है । वैसे ही संसार अवस्थामें मोक्ष प्राप्त करनेके लिए किये हुए अनेक प्रकारके अनुष्ठानके वेगसे मुक्तात्मा भी गमन करते है ।

प्रश्न-हे गुरुमहाराज ! गति तो होती है पर ऊर्ध्व गति ही क्यों होती है ? नीचेकी ओर अथवा तिरछी गति क्यों नहीं होती ?

उत्तर-हे शिष्य ? नीचे की ओर उसीकि गति होती है, जिसमें गुरुत्व गुण (भारी पन) पाया जाता है । सिद्धोमें गुरुत्व गुण नहीं है अत एव उनकी गति नीचेकी ओर नहीं होती काय आदि योग और दूसरेकी प्रेरणा न होनेसे तिरछी गति भी नहीं होती ।

न आववाथी शाश्वत सिद्ध थछ जय छे

प्रश्न-हे गुरु महाराज ! सिद्धोना अधा कर्मोना नाश थछ जय छे, अटले त्रसनाम-
कर्मोना नाश होवेतुं नथी, तो पछी सिद्ध लगवान् लोकना अग्रभाग सुधी केवा प्रकारे गमन
करी शकते छे ?

उत्तर-हे शिष्य ! जेवी रीते धनुष्यथी छूटेतुं वाणु धनुष्यनो स अध न डोवा छतां
गति करे छे, कारण के तेभा पडेलाना व्यापारतु सामर्थ्य रहैतुं छे, तेवी रीते संसार
अवस्थामें मोक्ष प्राप्त करवनि भाटे करेलां अनेक प्रकारना अनुष्ठानोना वेगथी मुक्तात्मा
परिभ्रमन करे छे ।

छे अत्र-अडे गुरु-महाराज ! गति तो होय छे पण उर्ध्व गति न केम थाय छे ?
नीचेनी आनुअथवा तिरछी गति केम नथी थती ?

उत्तर-हे शिष्य ! नीचेनी आनुअथे तेनी गति थाय छे के जेमां गुरुत्वगुण (भारी-
पणु) डोय छे, सिद्धोमां गुरुत्व गुणु नथी, तेथी-तेमनी गति नीचेनी आनुअथे नथी थती
अथ-आदि योग अने जीवामी प्रेरणा मि। होवथी तिरछी गति पणु थती नथी

स्निग्धमृत्तिकया सान्द्रं विलिप्याऽऽतपे सशोपयेत् , इत्थमष्टवारानुक्तप्रक्रियया यथाक्रम
तृणवेष्टन-मृदलेपन-संशोपणादीनि विधायाऽगाधसलिले प्रक्षिप्त्वा साऽऽञ्ज्वरपृष्ठकृत्वोदत्तमृ-
दलेपजनितगौरवेणोर्ध्वसलिलतलमतिक्रम्य तदधस्ताद् भूतलसंलग्ना भवति, तदनु मन्दम-
न्दमनुक्रमतस्तेष्वष्टवारविनिहितमृदलेपेषु सार्द्रतामुपगम्य विशीर्णेषु सत्सु मृत्तिकालेपजन्य-
भारराहित्येन लघुतामुपगता साऽऽञ्ज्वरधोभूतलमतिक्रम्य जलोपरिप्रतिष्ठाना भवति तथा-
ऽष्टविधकर्मलेपसंभारभराक्रान्त आत्मा जगज्जलधौ निमज्जति, तद्विरहितश्चोर्ध्वगतिधर्म-
त्वाद्ूर्ध्वमेव गच्छति ।

तथा चोक्तं भगवता—

“ जह मिदलेवालितं, गरुयं तुवं अहो वयइ एव ।

आसवकयकम्मगुरू, जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१॥

तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं ।

जह तह करमविमुक्का, लोयग्गपइट्टिया होंति ॥२॥” इति ।

जैसे—छिद्ररहित विलकुल सूखी हुई, विना टूटी फूटी तुम्बीको चारों ओर तृणपुञ्जसे बांध
करके धूपमें सुखा ले, आठ वार ऐसा करके अगाध जलमें तुम्बी को डाल दे तो आठवार के लेप
के भारीपनसे जलके तलमें पहुँचकर वह पृथ्वी से लग जाती है । उसके पश्चात् गीलेपनसे जब
धीरे धीरे वह मिट्टीका लेप छूटने लगता तो क्रमशः मिट्टीके भारसे रहित होकर लघुता(हलकापन)
पाकर वह तुम्बी नीचेसे उठकर जलके ऊपर आजाती है । इमी प्रकार आठ कर्मरूपी लेपके भारसे
भारी आत्मा ससाररूपी समुद्रमें डूबी रहती है । जब कर्मरूपी लेपसे रहित हो जाती है तब ऊर्ध्व
गमनका स्वभाव होनेसे ऊर्ध्वगमन करती है । भगवान ने कहा भी है—

“जैसे मिट्टीके लेपसे लिप्त तुम्बी भारी होनेसे नीचेकी ओर जाती है वैसेही आत्मसे
उत्पन्न कर्मोंसे आत्मा अधोगतिकी प्राप्त होती है ॥१॥ जैसे तुम्बी लेपसे मुक्त होनेपर लघु

नेम छिद्ररहित, णिलकुल सुकायली, तट्टया डूटया विनानी तुंणडीने त्तारे णान्नुञ्जे
घास-तरण्णथी णांधीने तेनी उपर त्तीक्ष्णी भाटीने सारी पेठे लेप करीने तउकाभां सूकवी
नांणे, आठ वार ज्जेम करीने अगाध ञ्णभा ज्जे तुंणडीने नाणी हे तो आठ वारना लेपना
त्तारे पण्णथी ञ्णने तणीये पडोत्तीने ते पृथ्वीने अडीने रडे छे. पछी न्त्यारे लीलापण्णथी
धीरे धीरे ज्जे भाटीने लेप छूटवा लागे छे त्तारे कुमशः भाटीना लारथी रडित थधने
लघुता (हलकापण्णु) पाभीने ज्जे तुणडी नीचेथी उठीने ञ्णनी उपर आवी न्तय छे ज्जे
प्रकारे आठ कर्मरूपी लेपना लारथी लारे ज्जेवो आत्मा स माग्गपी समुद्रभां डुणी रडे छे.
न्त्यारे कर्मरूपी लेपथी रडित थध न्तय छे त्तारे उर्ध्वगमनने स्वभाव होवाथी उर्ध्व गमन
करे छे लगवाने कण्णु पण्णु छे के—

‘नेम भाटीना लेपथी लिप्त तुणडी लारे होवाथी नीचेनी णान्नुञ्जे न्तय छे, तेमज्ज
आसवथी उत्पन्न थजेलां कर्मोथी आत्मा अधोगतिने प्राप्त थाय छे. (१) नेम तुंणडी

छाया—“ यथामृल्लेपाऽऽलिप्तं, गुरुकं तुम्बमधो व्रजत्येवम् ।

आश्रवकृतकर्मगुरवो, जीवा व्रजन्ति अधरगतिम् ॥१॥

तदेव (तुम्बं) तद्विमुक्त (मृल्लेपविमुक्तं), जलोपरि तिष्ठति जातलघुभावम् ।

यथा तथा कर्मविमुक्ता (सिद्धाः) लोकाग्रप्रतिष्ठिता भवन्ति ॥२॥

अथवा—यथा वातादिरूपवायक विरहादूर्ध्वगतिस्वभावायाः प्रदीपकलिकायाः, बीज-
बन्धविच्छेदाद्भोजकोशगतैरण्डबीजस्थ चोर्ध्वगतिः संजायते तथाऽऽत्मनोऽपि तादृशगति-
स्वभावस्य विरोधिकर्मबन्धविच्छेदादूर्ध्वगतिरेवेति ।

यथैरण्डबीजमूर्ध्वं गत्वा पुनःपतति तथा तु न मुक्तात्मनः पातसम्भवः, अधःपतन-
हेतुभूतगुरुत्वगुणाभावादिति प्रागुक्तमेव ।

ननु शरीराभावात्तेषामात्मप्रदेशाः पारदद्रव्यवत् कथं न विकीर्णा भवन्तीति चेन्न,
तद्विसर्पकनामकर्माभावात्प्रदेशवत्त्वगुणसद्भावाच्च ।

होकर जलके ऊपर आजाती है उसी प्रकार कर्मसे मुक्त होकर आत्मा लोकके अग्रभाग पर
विराजमान हो जाती है ॥२॥”

अथवा—जैसे हवा आदि किसी बाधकके न होनेसे दीपककी लौ ऊपरको जाती है, बीज-
कोषके बन्धके टूटनेपर एरण्डका बीज ऊपरको जाता है, उसी प्रकार आत्माके ऊर्ध्वगमन
के विरोधी कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाने से आत्मा ऊर्ध्वगति करती है

जैसे एरण्डका बीज पहले ऊपरको जाकर फिर नीचे गिर पड़ता है वैसे आत्मा नहीं गिर
सकती, क्योंकि नीचे गिरानेका कारण गुरुत्वगुण आत्मामें नहीं है, यह पहले ही कह चुके हैं ।

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! शरीरका अभाव होनेसे सिद्धोके आत्माके प्रदेश पारेके समान
फैल क्यों नहीं जाते ?

उत्तर—हे शिष्य ! आत्मप्रदेशोको फैलानेवाले नामकर्मका अभाव होनेसे तथा प्रदेशवत्त्व
गुणके सद्भावसे सिद्धोके आत्मप्रदेश नहीं फैलते हैं ।

लेपथी मुक्त यथा लघु यद्यने जलनी उपर आवी नय छे, तेम कर्मथी मुक्त यद्यने आत्मा
लोकना अग्रभाग पर विराजमान थय नय छे. (२)”

अथवा, जेम हवा आदि कैय बाधक न होवाथी दीपनी ज्येत् उपर न नय छे,
भीजकोषने अथ तूटवाथी एरण्डानुं भीज उपर न नय छे, तेम आत्माना ऊर्ध्वगमनना
विरोधी कर्मबधने सर्वथा अभाव थय नवाथी आत्मा ऊर्ध्वगति न करे छे

जेम एरण्डानुं भीज पड़ेला उपर नयने पछी नीचे पडी नय छे, तेम आत्मा पडी
शकते नथी कारण के नीचे पाडवानुं कारण शकते शुक आत्मानां नथी जे पड़ेलां कड़ेवाभा
आवेतुं न छे

प्रश्न—हे शुक महाराज ! शरीरने अभाव होवाथी सिद्धोना आत्माना प्रदेशो पारानी
पेठे कड़ेलां केम नयता नथी ?

उक्तस्वरूपाः सिद्धाश्चरमशरीरतस्तृतीयभागन्यूना उत्कृष्टतो द्वात्रिंशद्भुलसमधिक-
त्रयस्त्रिंशदुत्तरशतत्रयधनुः परिमिताः, जघन्यतोऽष्टाङ्गुलाधिकरत्निप्रमाणाः ।

यच्च मरुदेवीदेहप्रमाणस्य सपादपञ्चशतधनुष्यात्तृतीयभागे पातिते तस्याः सार्द्धत्रि-
शतधनुः परिमिताऽवगाहना भवति तेनात्र न विरोधः, गजाधिरूढत्वेन वृद्धत्वेन वा शरी-
रसङ्कोचसम्भवात् ।

यत्तु जघन्यतः सप्तहस्तोच्छ्रितानां सिद्धिः शास्त्रेषु श्रयते तत्तीर्थकरापेक्षया, अन्ये
तु द्विहस्तोच्छ्रिता अपि सिध्यन्ति, तदपेक्षया हि प्रोक्तस्वरूपा जघन्याऽवगाहनाऽवसेया ।

एवमुक्तस्वरूपो जन्म-जरा-मरणा-ऽऽधिव्याधिवाधापटलीकलङ्कलो भावगर्भनिवासत्रास-

सिद्धोके चरम शरीरसे त्रिभाग कम, उत्कृष्ट तीनसौ तेतीस (३३३) धनुष और बत्तीस
(३२) अंगुलकी, तथा जघन्य एकरत्नि (एकहाथ) और आठ अंगुलकी अवगाहना होती है ।

मरुदेवीके शरीरकी अवगाहना सवा पाँचसौ (५२५) धनुषकी थी, उसमेंसे तीसरा
हिस्सा कम करनेसे साढे तीनसौ (३५०) धनुषकी अवगाहना होती है, किन्तु यहाँ पर उत्कृष्ट
अवगाहना तीनसौ तेतीस धनुष और बत्तीस अंगुलकी बताई गई है, इससे यहाँ विरोध नहीं
समझना चाहिये, क्योंकि मरुदेवी हाथी पर आरुढ थी, इसलिए या वृद्धावस्थाके कारण
शरीरका (संकुचित होना) संभव है ।

यह जो आगममें सुना जाता है कि जघन्य सात हाथ ऊँचे शरीरवालोको मोक्ष प्राप्त
होता है सो यह नियम तीर्थकरोंकी अपेक्षासे समझना चाहिए । तीर्थकरोंके सिवाय अन्य भव्य
जीव दो हाथ ऊँचे शरीरवाले होनेपर भी मुक्त हो जाते हैं । उनकी अपेक्षासे ही सिद्धोकी जघन्य-
अवगाहना एकरत्नि (एकहाथ) और आठ अंगुलकी कही गई है ।

उत्तर—हे शिष्य ! अत्मप्रदेशोने इलावनारा नामकर्मने अलाव डेवाथी तथा प्रदेश-
वत्त्व गुणुने सद्भाव डेवाथी सिद्धोना आत्मप्रदेश इलाता नथी.

सिद्धोना चरम शरीरथी त्रिभाग ओछी, ओकहाथत्रणुसे तेतीस (३३३) धनुष अने पत्तीस
(३२) आंगणनी तथा जघन्य ओक रत्नि अने उत्कृष्ट आठ आंगणनी अवगाहना डेवाय छे.

मरुदेवीना शरीरनी अवगाहना सवा पाचसौ (५२५) धनुष्यनी हुती, तेमांथी त्रीओ
भाग ओछे करवाथी साडा त्रणुसे (३५०) धनुष्यनी अवगाहना थाय छे. किन्तु अडीं
उत्कृष्ट अवगाहना त्रणुसेने तेतीस धनुष अने पत्तीस आंगणनी पतावी छे, तेथी विरोध
समज्ये नडीं, कारण के मरुदेवी हाथी पर आरुढ हुती. तेने लीधे या वृद्धावस्थाने कारणे
शरीरनु संकुचित थवु ओ संभवित छे.

आगममा जे संलणाय छे के—जघन्य सात हाथ उया शरीरवाणोने ज मोक्ष
प्राप्त थाय छे ते नियम तीर्थकरोंनी अपेक्षाओ समज्ये लोधओ तीर्थकरों सिवायना पील
लव्य लुवे जे हाथ उया शरीरवाणा डेवा छतां पणु मुक्त थध लय छे. ओमनी अपे-
क्षाओ ज सिद्धोनी जघन्य अवगाहना ओक रत्नि अने आठ आंगणनी कडेवामां आवी छे.

सन्ततिविनिष्क्रान्तः शाश्वतः सिद्धो भवतीत्यर्थः । 'शाश्वत' पदेन चात्र "सम्प्राप्तसिद्धि-
पदो ह्यात्मा न पुनः संसारित्वमवाप्नोति हेतोरभावात् , न च कारणमन्तरेण कार्योत्पत्ति-
र्जायते" इति बोधितम् ॥२५॥

उक्तं सुगतिरूपं धर्मफल, सम्प्रति तत् कस्य दुर्लभं भवती ?—तिदर्शति—'सुहसाय-
गस्स०' इत्यादि ।

१ ६ २ ३
मूलम्—सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।

४ ८ ७ ५
उच्छोलणापहोयरस, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥२६॥

छाया—सुखास्वादकस्य श्रमणस्य, शाताकुलस्य निकामशायिनः ।

उत्क्षालनाप्रधौतस्य दुर्लभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥२५॥

सुगति की दुर्लभता बतलाते हैं—

सान्त्वयार्थः—सुहसायगस्स=सुखकी आसक्ति रखनेवाले सायाउलगस्स=सुख के
लिए व्याकुल रहनेवाले निगामसाइस्स=मर्यादासे अधिक सोनेवाले उच्छोलणापहोय-
स्स=शरीरकी विभूषा करनेवाले तारिसगस्स=ऐसे समणस्स=साधुको सुगई=सुगति दु-
ल्लहा=दुर्लभ है ॥२६॥

टीका—सुखास्वादकस्य=सुखस्य=प्राप्तमनोरमशब्दाद्युपभोगस्य आस्वादकः=आस-
त्तया ग्राहकस्तस्य, शाताकुलकस्य=गातार्थम् आकुलकः=व्यग्रः उद्विग्नो वा तस्य, निकाम-

ऐसे सिद्ध जन्म-जरा-मरण, आवि, व्याधि, बाधा, कलङ्कलीभाव(ससारपरिभ्रमण), गर्भ
वासके दुःखोसे रहित शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं । यहाँ 'शाश्वत' पदसे यह बोधित किया जाता
है कि सिद्धि पदको प्राप्त आत्मा फिर ससार अवस्थाको प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि ससारमें
आनेके कारणभूत कर्मोंका अभाव है । कारणके बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती ॥२५॥

यहाँ तक धर्मका सुगतिरूप फल कहा यह फल किसे दुर्लभ होता है सो दिखाते हैं—
'सुहसायगस्स' इत्यादि ।

प्राप्त हुए मनोज शब्दादि उपभोगोको आसक्तिपूर्वक ग्रहण करनेवाले, सुखप्राप्ति के लिए

ओवा सिद्धो जन्मजरा-मरण, आवि-व्याधि बाधा, कलङ्कलीभाव (ससार-परिभ्र-
मण), गर्भवासना दुःखोशी रहित शाश्वत सिद्ध तथैत्ये अडी 'शाश्वत' शब्दथी ओम
बोधित करवाभा आव्यु छे के सिद्धिपदने प्राप्त थयेदो आत्मा इरी ससारी अवस्थाने
प्राप्त थतो नथी, कारण के ससारभा आवधाना कारणभूत कर्मोने अभाव छे. कारण विना
कार्यनी उत्पत्ति थती नथी (२५)

अडी सुधी धर्मनु सुगतिइय इण कहु, ये इण केने दुर्लभ थाय छे ते इशावि
छे—सुहसायगस्स इत्यादि

प्राप्त थयेदो मनोज शब्दादि उपभोगोने आसक्तिपूर्वक ग्रहण करनारा, सुखप्राप्तिने

शायिनः=निकामम्=अतिशयितं मध्यवर्तियामद्वयादधिकं रात्रौ, निष्कारणं दिवसे वा शेते
=स्वपिति तच्छीलो निकामशायी=सूत्रार्थमननादिसमयमुल्लङ्घ्य शयानस्तस्य, उत्क्षालना-
प्रधौतस्य=उत्क्षालनया=प्रक्षालनया प्र=प्रकर्षार्थं=विभूषार्थं धौतानि=उज्ज्वलीकृतानि नयन
-वदन-कर-चरण-वस्त्रादीनि येन स तस्य शरीरादिविभूषाकारिण इत्यर्थः । तादृशकस्य=तीर्थ-
कराऽऽज्ञाऽनाराधकस्य, श्रमणस्य=श्रमणब्रुवस्य वेशमात्रेण साधोः सुगतिः=सिद्धिलक्षणा
गतिः दुर्लभा=दुष्प्रापा 'भवती'-ति शेषः ।

'सुखास्वादकस्ये'-त्यनेन सम्प्राप्तमनोज्ञशब्दादिविषयकाऽऽसक्तिर्निराकृता । 'शा-
ताकुलकस्ये' त्यनेनाऽप्राप्तसुखव्याप्तिर्निरस्ता । 'निकामशायिनः' इत्यनेन च प्रमाद-
निवृत्तिः सूचिता । 'उत्क्षालनाप्रधौतस्ये'-त्यनेन च ब्रह्मचर्यरक्षार्थं विभूषाऽपाकृता ॥२६॥

एवं तर्हि कस्य मुक्तिः सुलभा ! इति जिज्ञासायामाह--'तवोगुण०' इत्यादि ।

मूलम्-तवोगुणपहाणस्य, उज्जुमइ स्वतिसंजमस्यस्स ।

परीसहे जिणंतस्य, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २७॥

छाया—तवोगुणप्रधानस्य, ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य ।

परीपहान् जयतः, सुलभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥२७॥

व्याकुल रहनेवाले, दो मध्य प्रहरोसे अधिक रात्रिमें, या कारणविशेष विना दिनमें अर्थात् सूत्रार्थके
मनन करनेके समयका उल्लंघन होने तक सोनेवाले, तथा विभूषा के लिए आंख, मुख, नख
हाथ-पैर वस्त्र आदि को धोनेवाले अर्थात् शरीर को विभूषित करनेवाले, अतः तीर्थकरकी
आज्ञाके विराधक, ऐसे श्रमणको सिद्धिगतिकी प्राप्ति दुर्लभ है ।

'सुहसायगस्स' पदसे यह सूचित किया है कि साधुको प्राप्त, शब्दादि विषयोंमें आसक्ति
नहीं रखनी चाहिए । 'सायाउलगस्स' पदसे अप्राप्त विषयसुखोंके लिए आकुल नहीं होना चाहिए,
ऐसा सूचित किया है । 'निगामसाइस्स' पदसे प्रमादका परित्याग करना प्रदर्शित किया है ।
'उच्छोलणापहोयस्स' पदसे ब्रह्मचर्यके संरक्षणके लिए शरीरको विभूषित करनेका निषेध किया
गया है ॥२६॥

भाटे व्याकुण रडेनारा, जे मध्य प्रहरोथी वधु रात्रिमा या कारण-विशेष विना दिवसमां
अर्थात् सूत्रार्थनुं मनन करवाना समयनुं उल्लंघन थाय त्या सुधी सूनारा तथा विभूषा
(शोभा) ने भाटे आंख, मुख, नख हाथ-पग वस्त्र आदिने धोनाया अर्थात् शरीरने विभूषित
करनारा अटवे के तीर्थकरनी आज्ञाना विराधक, जेवा श्रमणने सिद्धगतिनी प्राप्ति दुर्लभ छे
सुहसायगस्स शब्दथी जेम सूचित करवामा आंखुं छे के साधुजे प्राप्त शब्दादि
विषयोमां आसक्ति राखनी न जेधजे, सायाउलगस्स शब्दथी अप्राप्त विषयसुखोने भाटे
आकुण न थपुं जेधजे जेवुं सूचित क्युं छे निगामसाइस्स शब्दथी प्रमादने परित्याग
करवाना प्रदर्शित क्युं छे उच्छोलणापहोयस्स शब्दथी ब्रह्मचर्यना रक्षणने भाटे शरीरने
विभूषित करवामा निषेध करवामा आंखे छे (२६)

सान्वयार्थः—तवोगुणपहाणस्स=तपरूपी गुणोंको मुख्य समझनेवाले उज्जुमइ=सरल बुद्धिवाले खंतिसंजमरयस्स=क्षान्ति और संयममें लीन परीसहे=परीपहोंको जिणंतस्स=जीतनेवाले तारिसगस्स=ऐसे (श्रमणोंको) सुगई=सुगति सुलहा सुलभ है ॥२७॥

टीका— तपोगुणप्रधानस्य तपति=अन्तर्भावितण्यर्थतया तापयति दहत्यष्टविधं कर्मेति तपः=षष्ठभक्तादि तदेव गुणस्तपोगुणः स प्रधानं=मुख्यो यस्य स तस्य, ऋजुमतेः=ऋज्वी=सरला मति=बुद्धिर्यस्य स तस्य, क्षान्तिसंयमरतस्य=क्षान्तिः=कपायनिग्रहः सयमः सावद्यव्यपारोपरतिस्तयोः रतः=तत्परस्तस्य, परीपहान्=अनूकूललक्षणान् जयतः=अभिभवतः, तादृशकस्य=रत्नत्रयाराधकस्य 'श्रमणस्ये' -त्यनुपज्यते; सुगतिः सुलभा ।

'तपोगुणप्रधानस्ये'-त्यनेनैन्द्रिय-नोइन्द्रियजेतृत्वं सूचितम् । 'ऋजुमते'-रित्यनेन मोक्षार्थिना कपटकदाग्रहरहितेन भवितव्यमिति बोधितम् । 'क्षान्तिसंयमरतस्ये'-त्यनेन क्षमायुक्त एव संयमः फलदः' इति द्योतितम् । 'परीपहान् जयतः' इत्यनेन च मनस्थैर्यं शरीरममत्त्वपरित्यागश्चेति ध्वनितम् ॥२७॥

यदि ऐसा है तो सुगति किसके लिए सुलभ होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—'तवोगुणपहाणस्स' इत्यादि ।

जो आठ कर्मोंको भस्म करनेवाले षष्ठ अष्टम आदि तप-गुणसे प्रधान है, सरल-बुद्धी है । तथा क्रोधादि कपाय के निग्रह और सावद्य व्यापारके त्याग स्वरूप सयममें लीन है, अनुकूल-प्रतिकूल-परीपहोंको जीतनेवाले हैं, उन मोक्षके मार्ग—रत्नत्रय-के आराधक मुनियोंको सिद्धिस्वरूप सुगतिकी प्राप्ति सुलभ है ।

'तवोगुणपहाणस्स' इस पदसे इन्द्रियो तथा मनका जीतना सूचित किया है । 'उज्जुमइ' पदसे यह सूचित किया गया है कि मोक्षार्थीको कपट और कदाग्रहसे रहित होना चाहिए । 'खतिसंजमरयस्स' पदसे सूचित होता है कि वही सयम फलदाता होता है जो क्षमासे युक्त हो । 'परीसहे जिणंतस्स' पदसे मनकी स्थिरता शरीरकी ममताका त्याग बतलाया है ॥२७॥

जे એમ છે તો સુગતિ કેને માટે સુલભ હોય છે? એવી જિજ્ઞાસા થતા. કહે છે—તવોગુણપહાણસ્સ ઇત્યાદિ

જે આઠ કર્મોને ભસ્મ કરનારા છટ્ટ અઠ્ઠમ આદિ તપગુણથી પ્રધાન છે, સરલ-બુદ્ધિ છે, તથા ક્રોધાદિક્ષયાના નિગ્રહ અને સાવધ વ્યાપારના ત્યાગસ્વરૂપ સયમમાં લીન છે, અનુકૂળ-પ્રતિકૂળ-પરીપહોને જીતવાવાળા, એવા મોક્ષના માર્ગ-રત્નત્રયના આરાધક મુનિઓને સિદ્ધિસ્વરૂપ સુગતિની પ્રાપ્તિ સુલભ છે

તવોગુણપહાણસ્સ એ શબ્દથી ઇન્દ્રિયો તથા મનને જીતવાનું સૂચિત કરેલું છે ઉજ્જુમઇ શબ્દથી મૂયંયું છે કે મોક્ષાર્થીએ કપટ અને કદાગ્રહથી રહિત થવું જોઇએ સ્વતિસંજમરયસ્સ એ પદથી સૂચિત થાય છે કે તેજ સયમ ફળદાતા થાય છે કે જે ક્ષમાથી યુક્ત હોય પરીસહે જિણંતસ્સ પદથી મનની સ્થિરતા તથા શરીરની મમતાનો ત્યાગ બતાવેલો છે (૨૭)

चारित्रस्य महत्त्वमाह—‘पच्छावि ते’ इत्यादि ।

११ १० १२ १३ १५ १४
मूलम्—पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं ।

१ २ ४ ३ ६ ५ ८ ७
जेसि पिओ तवो संजमो य खंती य वंभचेरं च ॥२८॥

छाया—पश्चादपि ते प्रयाताः, क्षिप्रं गच्छन्त्यमरभवनात् ।

येषां प्रियं तपः संयमश्च, क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥२८॥

चारित्र का महत्त्व वतलाते हैं—

सान्त्वयार्थ—जेसि=जिनको तवो=तपस्या संजमो=सयम य=और खंती=क्षमा य= तथा वंभचेरं=ब्रह्मचर्य पिओ=प्रिय है, ते = वे पच्छावि = पश्चात्भी अर्थात् एकवार चा- रित्र खण्डित हो जानेपर वापस, अथवा वृद्धावस्थामें भी पयाया = आये हुए अर्थात् चढ- ते परिणामोंसे संयम स्वीकार कियेहुए खिप्पं = शीघ्र अमरभवणाइं = स्वर्ग अथवा अप- वर्ग-मोक्ष-कोभी गच्छन्ति = प्राप्त हो जाते हैं ॥२८॥

टीका—येषां (श्रमणानां) तपः = अनशनदि द्वादशविधम्, संयमः = सावधव्या- पारविरतिलक्षणः सप्तदशविधः, क्षान्तिः = अमर्षोत्पादकाऽऽक्षेपवचनादिसहन स्वरूपा, ब्रह्म- चर्यं = विषयसेवनपरिहारलक्षणम्, चकाराः समुच्चायार्थाः, प्रियम् = अभीष्टं रुचिरमित्यर्थः ते (श्रमणाः) पश्चादपि = चारित्रखण्डनानन्तरमपि वृद्धत्वेऽपि वा प्रयाताः = प्रवृद्धभावेन गृहीतसंयमाः सन्त आर्द्रकुमार-पुण्डरीकादिवत्, क्षिप्रं = शीघ्रम् अमरभवनम् = न म्रि- यन्त इत्यमराः = सिद्धा आयुषोऽभावात्, तेषां भवनम् = आलयः सत्ता वा तत् सिद्धक्षेत्रं

चारित्रको महत्त्व दिखाते है—‘पच्छावि ते—इत्यादि ।

जिनश्रमणोंको अनशन आदि बारह प्रकारका तप, सावध व्यापारका त्यागरूप सत्रह प्रका- रका सयम, क्रोधजनक आक्षेपपूर्ण वचनोका सहन करनारूप क्षान्ति, सर्वथा मैथुनका परित्याग, ये प्रिय होते है, वे कदाचित् मोहकर्मके उदयसे खण्डित-चारित्र होकर भी, अथवा वृद्ध होनेपर भी चढते परिणामोंसे आर्द्रकुमार, पुण्डरीक आदिके समान फिर सयमको ग्रहण करके शीघ्रही अमर भवन—(सिद्धिस्थान अथवा स्वर्गलोक) को प्राप्त होते है ।

‘अमरभवन’ के दो अर्थ होते है—(१) जहा मृत्यु नहीं होती ऐसा स्थान मोक्ष है, क्यो-

चारित्रनु महत्त्व गतावे छे—पच्छावि ते० इत्यादि

जे श्रमणोंने अनशन आदि बार प्रकारना तप, सावध व्यापारना त्यागरूप सत्तर प्रकारना सयम, क्रोधजनक आक्षेपपूर्ण वचनोने सहन करवाइए क्षान्ति अर्था मैथुनना परि- त्याग, ये प्रिय होय छे, तेओ कदाचित् मोहकर्मना उदयथी ण डितचारित्र थधने पणु अथवा वृद्ध होवा छता पणु यडता परिणामोथी आर्द्रकुमार, पुण्डरीक आदिनी चेठे इरी संय- मने ग्रहण करीने शीघ्र अमरभवन (सिद्धस्थान अथवा स्वर्गलोड) ने प्राप्त थाय छे ‘अमरभवन’ ना जे अर्थ थाय छे (१) ज्यां मृत्यु डेतु नथी जेवु स्थान मोक्ष

सिद्धस्वरूपं वेत्यर्थः । अथवा न म्रियन्ते अकालमृत्युना इत्यमराः = देवास्तेषां भवनं तत् स्वर्गलोकमित्यर्थः । बहुवचनं चोभयार्थद्योत नार्थम्, गच्छन्ति = यान्ति ॥२८॥
अथवा न म्रियन्ते अकालमृत्युना इत्यमराः = देवास्तेषां भवनं तत् स्व

उपसंहारमाह—‘इच्छेयं’ इत्यादि ।

मूलम्—इच्छेयं^७ छज्जीवणियं^८, सम्मदिष्टी^९ सया^३ जए^२ ।

दुल्लहं^४ लहित्तु^६ सामन्नं^५, कम्मणा^९ न विराहिज्जासि^{१०}—त्तिवमि^{११} २९।^{१२}

छाया—इत्येतं पड्जीवनिकायं, सम्यग्दृष्टिः सदा यतः ।

दुर्लभं लब्ध्वा श्रमण्यं, कर्मणा न विराधयेत् ॥२९॥ इति ब्रवीमि ।

उपसंहार करते हैं—

सान्वयार्थः—सम्मदिष्टी=सम्यक्त्वी मनुष्य सया=सदैव जए=यतनावान् होकर दुल्लहं =दुर्लभ ऐसे सामन्नं=साधुपनेको लहित्तु=प्राप्त करके इच्छेयं=इस पूर्वोक्त स्वरूपवाले छज्जीवणियं=पड्जीवनिकाय—छह प्रकारके जीवरामूह—की कम्मणा=मन वचन कायके व्यापारसे न विराहिज्जासि=विराधना न करे त्तिवमि=श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि मैंने भगवान् महावीर स्वामीसे जैसा सुना है वैसा ही तुमसे कहता हूँ ॥२९॥

॥इति चतुर्थीध्यनस्य शब्दार्थः ॥४॥

टीका—सम्यग्दृष्टिः=सम्यक्-यथाऽवस्थितत्वेनाऽविपर्यस्ता दृष्टिः=तत्त्वरुचिरभिप्रायो वा यस्य स तथोक्तः, सम्यग्दर्शनवानित्यर्थः, सदा=नित्यं यतः=यतनावान् दुर्लभं=दुष्प्रापं, श्रमण्यं=श्रमणभावं लब्ध्वा=सम्प्राप्य इत्येतम्=उक्तलक्षणम्, पड्जीवनिकायं कर्मणा=

कि वहां आयुर्कर्मका सर्वथा अभाव है, और (२) अमरभवन स्वर्गलोकको भी कहते हैं, क्योंकि स्वर्गलोकमें अकाल मृत्यु नहीं होती ॥२८॥

उपसंहार करते हैं—‘इच्छेयं’ इत्यादि ।

तत्त्वोके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव दुर्लभ श्रमणताको प्राप्त करके सदैव पहले कहे हुए स्वरूपवाले पड्जीवनिकायकी मन वचन कायसे एकदेशसे या सर्व देशसे

छे, कारण के त्या आयुर्कर्मने सर्वथा अभाव होय छे. अने (२) अमरभवन स्वर्गलोकने पण्डु के छे, कारण के स्वर्गलोकमा अकालमृत्यु थतु नथी (२८)

उपसंहार करे छे—इच्छेयं० इत्यादि

तत्त्वोना यथार्थ स्वरूपतुं श्रद्धान करवावाणे। सम्यग्दृष्टि एव दुर्लभ श्रमणताने प्राप्त करीने सदैव पहले कहेवाले पड्जीवनिकायकी मन वचन कायार्थी अकेदशे या सर्वदेशे करीने कदापि विराधना न करे पीडाने उपजवे. श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीने कहे

मनोवाक्कायव्यापारेण न विराधयेत्=देशतः सर्वतो वा न प्रमर्दयेत् न पीडयेदित्यर्थः ।
'इति ब्रवीमी'-ति प्राग्वत् ॥२९॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्गल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित—
कलापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध गद्य-पद्य-नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक—
शाहछत्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-जैनशास्त्राचार्य-पद-भूपित-
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरिचितायां श्रोदशवैकाङ्किकसूत्र-
स्याऽऽचारमणिमञ्जूपाख्यायां व्याख्यायां चतुर्थ
'पङ्जीवनिकाया'-ऽऽख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥४॥

*

कभी विराधना न करे 'पीड़ा न पहुँचावे ॥ श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूवामीसे कहते हैं—हे जम्बू ! अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् श्री महावीरस्वामीसे जैसे मैंने सुना है वैसा ही तुझे कहा है—इत्यादि परले के समान समझ लेना ॥२९॥

इति "पङ्जीवनिकाया"—नामक चौथा

अध्ययनका हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ॥४॥

—*—

छे-डे जंभू ! अन्तिम तीर्थंकर श्री भगवान् महावीर स्वामी पासेथी जेवु मे सालज्युं छे तेवुं ज तने कछु छेन्धत्यादि पडेलांनी पेठे समज्जे जेवुं (२९)

इति "पङ्जीवनिकाया" नामक चौथा अध्ययनना

गुजरातीभाषानुवाद समाप्त (४)

અથ પञ્ચમાધ્યયનમ્ ।

ગતં ચતુર્થાધ્યયનમ્, તત્ર ચ પદ્મજીવનિકાયરક્ષણલક્ષણો ભિક્ષોરાચારઃ પ્રતિપાદિતઃ, સ હિ શરીરસ્થિત્યધીનપાલનક્રમઃ, શરીરં ચાક્ષ્મ્નક્ષોણમન્તરેણ શકટમિવ ઇજ્જાલં વિના વાષ્પ-યન્ત્રમિવ જઠરાનલતાપવ્યાધિવધોપશ્મનોપધીભૂતસાહારમન્તરેણ વર્તિતુમક્ષમમતોઽસ્મિન્ પञ્ચમાધ્યયને 'સંયમિના કદા, કસ્માત્, કેન વિધિના, કીદ્દગાદારો ગ્રહીતવ્યઃ !' इति सविस्तरं प्रतिपादयितुमुपपन्नमते—

यद्वा—चतुर्थाध्ययने मूलगुणाः सन्दर्शिताः, इह तु मूलगुणोपकोत्तरगुणान्तर्गता पिण्डैषणाऽभिधीयते । पिण्डैषणा च पिण्डस्य-समयभाषया प्रसिद्धस्यान्नपानस्यैषणारूपा, तत्र पिण्डन पिण्डः=एकत्र स मुदितवहुपदार्थसमुदायः, स द्विविधः—द्रव्यपिण्डो भावपिण्ड-

पांचवां अध्ययन ।

चौथे अध्ययनमें पद्मजीवनिकायकी रक्षा—रूप भिक्षुका आचार प्रतिपादित किया गया है । इस आचारका पालन शरीरकी स्थिति पर निर्भर है । जैसे विना औ गन (वागण) के गाडी नहीं चल सकती, विना कोयलेके रेलगाडी नहीं चल सकता, उसी प्रकार जठराग्निके सताप रूप व्याधिकी बाधाको शान्त करनेके लिए औषधिके समान आहारको ग्रहण किये विना शरीरकी स्थिति नहीं रह सकती । इसलिए पाचवे अध्ययनमें विस्तारसे यह प्रतिपादन करते है कि 'संयमीको कव, किससे किस विधिसे, और किस प्रकारका आहार ग्रहण करना चाहिये ' ।

अथवा—चौथे अध्ययनमें मूल गुणोका वर्णन किया गया है, इस अध्ययनमें मूलगुणोको पुष्ट करनेवाले उत्तर गुणोमेंसे पिण्डैषणाका कथन करते हैं । 'पिण्ड' शास्त्रीय भाषामें अन्न—पान नामसे प्रसिद्ध है, उसकी एषणा करना 'पिण्डैषणा' है । एक स्थानपर बहुत पदार्थोंका समुदाय होना पिण्ड कहलाता है । पिण्ड दो प्रकारका है—(१) द्रव्यपिण्ड और (२) भावपिण्ड अशन

पांचसुं अध्ययन.

ચોથા અધ્યયનમાં પદ્મજીવનિકાયની રક્ષારૂપ ભિક્ષુને આચાર પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યો છે આ આચારનું પાલન શરીરની સ્થિતિ પર નિર્ભર છે જેમ ઉજ્જ્વળ વિના ગાડુ ચાલી શકતું નથી અને કોયલા વિના રેલગાડી ચાલી શકતી નથી તેમ જઠરાગ્નિના સંતાપ રૂપ વ્યાધીની બાધાને શાન્ત કર્યા વિના શરીરની સ્થિતિ રહી શકતી નથી. તે માટે પાચમા અધ્યયનમાં વિસ્તારથી એ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે કે 'સંયમીએ ક્યારે, કેવી પાણી, કેવી વિધિથી અને કેવા પ્રકારના આહાર ગ્રહણ કરવો જોઈએ ?

અથવા—ચોથા અધ્યયનમાં મૂળ ગુણોનું વર્ણન કરવામાં આવ્યું છે, આ અધ્યયનમાં મૂળ ગુણોને પુષ્ટ કરનારા ઉત્તર ગુણોમાંથી પિંડૈષણાનું કથન કરવામાં આવે છે 'પિંડ' શબ્દ શાસ્ત્રીય-ભાષામાં અન્નપાનના નામે ઓળખાય છે, તેની ઓષણા કરવી એ પિંડૈષણા કહેવાય છે. એક સ્થાન પર ઘણા પદાર્થોનો સમુદાય હોવો એ 'પિંડ' કહેવાય છે, પિંડ એ પ્રકારના હોય છે, (૧) દ્રવ્ય-પિંડ અને (૨) ભાવપિંડ અશન આદિને દ્રવ્યપિંડ કહે છે

श्च, तत्र क्षुधाविघातकत्वेनाशनादिरूपो द्रव्यपिण्डः, कर्मविघातकत्वेन ज्ञानादिलक्षणः प्रशस्तभावपिण्डः, अप्रशस्तभावपिण्डस्त्वसंयमादिरूपः प्रकृतानुपयोगित्वादुपेक्षितः । द्रव्यपिण्डो हि प्रशस्तभावापिण्डपरिपोषकस्तं विना तस्यासम्पाद्यत्वात्, तथाहि—ज्ञानाद्यात्मकप्रशस्तभावपिण्डस्याराधना शरीरस्थित्यधीना, शरीरपरिस्थितिश्चाहारं विना न यथावत्साधनायालम्, आहारादिकश्च द्रव्यपिण्ड एवेति सिद्धं द्रव्यपिण्डस्य प्रशस्तभावपिण्डपरिपोषकत्वम् तस्य च सावद्यनिरवद्यभेदाभ्यां द्वैविध्येऽपि सयमिभिर्निरवद्यपिण्ड एव ग्राह्य इति तदेपणाधिकारः—‘संपत्ते’ इत्यादि ।

मूलस्य-संपत्ते भिक्षुखकालम्भि, असंभंतो अमुच्छिओ ।

इमेग कयजोगेण, भक्तपाणं गवेसए ॥१॥

छाया—सम्प्राप्ते भिक्षाकालेऽसम्भ्रान्तोऽमुच्छितः ।

अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेपयेत् ॥१॥

॥अथ पञ्चमाध्ययनम् ॥

सान्त्वयार्थः—मुक्तिको आहारपानी लेनेकी विधि कहते है—भिक्षुखकालम्भि=गोचरीका समय संपत्ते=होनेपर असंभंतो=उद्वेगरहित (और) अमुच्छिओ=आसक्तिरहित हो-

आदिको द्रव्यपिण्ड कहते हैं, क्योंकि उससे क्षुधाका नाश होता है । ज्ञानादि प्रशस्त-भावपिण्ड है, क्योंकि वह कर्मोंका नाश करनेवाला है, अप्रशस्त-भावपिण्ड असंयमादिरूप है, उसका यहाँ अधिकार नहीं है ।

द्रव्यपिण्ड, प्रशस्त-भावपिण्डका पोषक है, क्योंकि उसके विना प्रशस्त-भावपिण्डकी प्राप्ति नहीं होसकती, अर्थात् ज्ञानादिरूप प्रशस्त-भावपिण्डकी आराधना शरीरकी स्थितिके अधीन है, और शरीरकी स्थिति आहारके विना नहीं हो सकती । आहार आदि द्रव्यपिण्ड ही है । इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यपिण्ड प्रशस्त भावपिण्डका पोषक है । द्रव्यपिण्ड, सावद्य भी होता है और निरवद्य भी होता है । सयमीको निरवद्य पिण्ड ही ग्रहण करना चाहिए; इसलिए द्रव्यपिण्डकी एपणाका अधिकार आरम्भ किया जाता है ‘संपत्ते’ इत्यादि ।

कारणु के तेथी क्षुधानो नाश थाय छे ज्ञानादि अये प्रशस्त-भावपि उ छे, कारणु के ते कर्मोना नाश करवावाणु छे. अप्रशस्त-भावपि उ असंयमादिरूप छे, अनेना अही अधिकार नथी

द्रव्यपिं उ अये प्रशस्त-भावपि उने पोषक छे कारणु केतेना विना प्रशस्त-भावपि उनी प्राप्ति थय शकती नथी. अर्थात् ज्ञानादि-रूप प्रशस्त-भावपि उनी आराधना शरीरनी स्थितिने अधीन छे, अने शरीरनी स्थिति आहार विना होय शकती नथी आहारादि द्रव्यपि उ छे तेथी अये सिद्ध थयु के द्रव्यपि उ प्रशस्त भावपिं उने पोषक छे द्रव्यपिं उ सावद्य पणु होय छे अने निरवद्य पणु होय छे. सयमीअये तो निरवद्यपिं उ न अडणु करवे अने अये अटका भाटे द्रव्यपिं उनी अेषणुना अधिकार आरंभवाभा अवे छे—संपत्ते भिक्षुखकालम्भि इत्यादि.

कर इमेण कमजोगेण=इस आगे बताई जानेवाली विधिसे भक्तपानं=भात-पानीकी गवे-
सए=गवेषणा करे ॥

टीका--भिक्षाकाले=गोचरीसमये, सम्प्राप्ते=स्वाध्यायाद्यनन्तरं द्रव्यक्षेत्रकालभा-
वानुकूलतया समायाते.'मुनि'-रिति शेषः, असम्भ्रान्तः=यत्किञ्चिन्निमित्तजनितचित्तव्या-
क्षेपजन्यत्वरारहितः-अनाक्षिप्तचित्त इत्यर्थः, इर्योपयोगवानिति भावः, 'कदा कुत्र वाऽशना-
दिप्राप्तिर्भविष्यती' त्यादिचिन्ताऽऽहितचाञ्चल्यरहित इति यावत्, अमूर्च्छितः=आहारादौ
मनोरमशब्दादिविषयेषु वा नासक्तः सन् अनेन=वक्ष्यमाणेनैतद्ध्ययनव्यावर्णितस्वरूपेण
क्रमयोगेन=प्रकारेण भक्तपानं=भक्तं च पानं चेत्यनयोः समाहारे भक्तपानम्, =भक्तम्, =
ओदनादिकम्, पानं=द्राक्षादिजलं मुनियोग्यं गवेषयेत्=अन्वेषयेत् (अन्विच्छेत्) । संपत्ते'
इत्यनेन मुनिना यथासमयं कार्यं सम्पादनीय' मित्याविष्कृतम् । 'असंभतो' इत्यतो मनः
स्थैर्यं विधेयमित्युपदिष्टम् । 'अमुच्छिओ' इत्यनेन विषयगृह्णुत्वमपाकृतम् ॥१॥

गवेषणाविधिमाह-'से गामे वा' इत्यादि ।

मूलम्—^१से ^३गामे ^४वा ^५नयरे ^६वा, ^७गोयरग्गओ ^२मुणी ।

^{१२}चरे ^{११}मंदमणुव्विग्गो, ^५अव्वक्खित्तेण ^९चेयसा ॥२॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावके अनुसार स्वाध्याय आदि क्रियाओके पश्चात् जब गोचरीका समय
हो तब मुनि किसी कारणवश उत्पन्न हुए चित्तविक्षेपजन्य भ्रान्तिरहित होकर, अर्थात् ईर्या (ग-
मन में उपयोग रखकर, अथवा 'कब और कहाँ अशन आदिकी प्राप्ति होगी ?' इस प्रकारकी चिन्ता-
जन्य चंचलतासे रहित होकर आहार तथा मनोज्ञ शब्दादि विषयोमें आसक्त न होता हुआ, जैसा
इस अव्ययनमें वर्णन किया गया है उस विधिसे, मुनिके योग्य ओदन आदि भक्त तथा दास
आदिका धोवनरूप पानकी गवेषणा करे ।

गाथामे 'संपत्ते' पदसे यह सूचित किया है कि मुनिको समय पर ही कार्य करना चाहि-
ए । असंभतो' पदसे यह प्रगट किया है कि साधुको मनकी स्थिरता रखनी चाहिए । 'अमुच्छि-

द्रव्य-क्षेत्र-क्षण-भावने अनुसार स्वाध्यायादि क्रियाओनी पछी ज्यारे गोचरीने
समय थाय त्यारे मुनि केअ कारणवश उत्पन्न थयेला चित्तविक्षेपथी जन्मेली भ्रान्तिथी
रहित थयेने अर्थात् ईर्या (गमन) मां उपयोग राणीने, अथवा क्यारे अने कथां अशन
आदिनी प्राप्ति थये ? ये प्रकारनी चित्तजन्य चंचलताथी रहित थयेने आहार तथा
मनोज्ञ-शब्दादि विषयोमा आसक्त न थता. आ अध्ययनमां वञ्च्यो प्रमाणेनी विधिथी,
मुनिने योग्य ओदन आदि भक्त तथा द्राक्ष आदिना धोवणरूप पाननी गवेषणा करे.

गाथामां संपत्ते शब्दथी अेम सूचित करवामां आण्युं छे के मुनिअे समय पर न
कार्यं कण्वुं लेअे असंभतो शब्दथी अेम प्रकट क्युं छे के साधुअे मननी स्थिरता राअवी
लेअे अमुच्छिओ शब्दथी विषयोमा आसकिततु निराकरण करवामां आण्युं छे (१)

छाया—स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः ।

चरेन्मन्दमनुद्विग्नोऽव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥२॥

सान्वयार्थः—से=वह मुणी=साधु गामे=गाँव वा=अथवा नगरे=नगरमें वा=निश्चयसे गोचरग्रगतो=निर्दोष भिक्षाके लिए गया हुआ अणुविवर्गो=उद्वेगरहित होता हुआ अव्यविखत्तेण=शान्त-स्थिर चेतसा=चित्तसे मंद=इर्यासमिति सोधता हुआ चरे=जावे ॥२॥

टीका—से=अथ = पिण्डगवेषणासमये, यद्वा 'से' इति तच्छब्दस्य प्रथमैकवचनरूपं तेन सः=प्रक्रान्तः मुनिः=मुणति=प्रतिजानीते सर्वसावद्यव्यापारोपरतिमिति, मन्यते=जानाति जिनाज्ञयाऽनेकान्तात्मकजीवाऽजीवादिपदार्थसार्थमिति वा 'मुनिः=अनगारः, स च द्विविधः-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः-मुनिकर्तव्यक्रियाकलापविकलो लिङ्गमात्रोपजीवी, भावतस्तु-मोहनीयकर्मक्षय-क्षयोपशमसमुद्भूतज्ञानादिरत्नत्रयप्रकटीभूतात्मस्वरूपः, प्रकृते च भावमुनिः प्रसङ्गम्यः ।

१ आद्ये 'मुण प्रतिज्ञाने' अस्मादौणादिक इन् , पृषोरदादित्वाणस्य नः । द्वितीये- 'मन ज्ञाने' इति धातोः 'मनेरुच्चे'-स्यौणादिकसूत्रेण इन्प्रत्ययः स च कित् अकारस्योकारादेशश्च । यद्वा 'मुणी' इति प्राकृतसमः संस्कृत एव, शब्दसिद्धिरप्युक्तैव, तदा छायायां मुणिः', इत्यपि समावेशमर्हति ।

ओ' पदसे विषयोमें आसक्तिका निराकरण किया गया है ॥१॥

अब गवेषणाकी विधि बताते हैं—'से गामे वा' इत्यादि ।

'मुनि' शब्दके अनेक अर्थ हैं—(१) जो समस्त सावद्य व्यापारके त्यागकी प्रतिज्ञा करते हैं उन्हें मुनि कहते हैं । (२) जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञाके अनुसार जीव अजीव आदि पदार्थों को अनेकान्तस्वरूप जानने वाले मुनि कहलाते हैं । मुनि दो प्रकारके होते हैं—(१) द्रव्यमुनि और (२) भावमुनि । मुनियोके आचार का पालन न करनेवाला मुनिवेषधारी द्रव्यमुनि कहलाता है । मोहनीय कर्मके क्षय और क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके द्वारा जिनकी आत्माका स्वरूप प्रकट हो गया है उन्हें भावमुनि कहते हैं । यहां भावमुनिका अधिकार समझना चाहिए ।

इसे गवेषणाकी विधि बताते हैं—से गामे वा० इत्यादि

मुनि शब्दना अनेक अर्थों हैं (१) जो सर्व सावद्य व्यापारना त्यागनी प्रतिज्ञा करे हैं—तेने मुनि कहे हैं (२) जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा अनुसार जीव अजीव आदि पदार्थों ने अनेकान्तस्वरूप जाननेवाला मुनि कहेवाय हैं मुनि दो प्रकारना होय हैं (१) द्रव्यमुनि अने (२) भावमुनि मुनियोना आचारनु पालन न करनारा मुनिवेषधारी द्रव्य मुनि कहेवाय हैं, मोहनीय कर्मना क्षय अने क्षयोपशमयी उत्पन्न थयेला सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन अने सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयना द्वारा जेना आत्मानु स्वरूप प्रकट थय गयुं हैं. तेने भावमुनि कहे हैं अही भावमुनिने अधिकार समझवे जेथये,

ग्रामे वा = अथवा नगरे, द्वितीय-‘वा’-शब्दात् खेटकर्षटादौ, गोचराग्रगतः गोरिव चरणं = यथायोग्यं स्वल्पस्वल्पग्रहणं गोचरः, अग्रः = आधाकर्मादिदोपरहिततया श्रेष्ठः, स चासौ गोचरश्चेति गोचराग्रः, आर्षत्वाद्विशेषणपूर्वनिपाताभावः, अग्रगोचर इत्यर्थः, तत्र गतः = वर्तमानः गोचराग्रगतः अव्याक्षिप्तेन = स्थिरेण भिक्षागतसकलदोषोपयोगवत्तेत्यर्थः, चेतसा = चित्तेन अनुद्विग्नः = अलाभादिपरीषहजनितक्षोभरहितः, मन्दं = शनैर्यथास्यात्तथा ईर्यापथं शोधयन्नित्यर्थः, चरेत् = गच्छेत् ।

‘गोयरग्गओ’ इत्यनेन नवकोटिविशुद्धाहारो ग्रहीतव्य इति सूचितम् । ‘अव्वक्खित्तेण चेतसा’ इत्यनेन चित्तस्थैर्यणैव भिक्षादिशुद्धिर्भवतीति ध्वनितम् । ‘अणुव्विगो’ इत्यतः परीषहसहनसामर्थ्यं बोधितम् ॥२

गोचरीगमनप्रकारानाह-‘पुरओ’ इत्यादि ।

मूलम्-^३पुरओ^१ जुगमायाए^४, पेहमाणो^२ महिं^{१०} चरे ।

वज्जंतो^८ बीयहरियाइं^५, पाणे^६ य दगमदटियं^७ ॥३॥

छाया—पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् ।

वर्जयन् वीजहरितानि, प्राणांश्च दकमृत्तिकाम् ॥३॥

गोचरी में चलने की विधि कहते हैं—

सान्वयार्थः—पुरओ = सामने जुगमायाए = धूसर प्रमाण दृष्टिसे महिं = पृथिवी-

वह भावमुनि पिण्ड-गवेपणका समय होने पर ग्राम, नगर खेडा, कर्वट आदिमें यथायोग्य थोडा-थोडा निर्दाप आहार ग्रहण करता हुआ भिक्षाके समस्त दोषोका उपयोग रखनेवाले अर्थात् अव्याक्षिप्त चित्तसे अलाभ आदि परीषह जनित क्षोभसे रहित होकर ईर्यापथ जोधते हुए मन्दगति से चले ।

‘गोयरग्गओ’ पदसे यह सूचित हुआ है कि साधुको नवकोटिविशुद्ध आहार लेना चाहिए । ‘अव्वक्खित्तेण चेतसा’ इससे यह बोधित होता है कि चित्तको स्थिरतासे ही भिक्षाकी शुद्धि निभ सकती है । ‘अणुव्विगो’ पदसे परीषह सहनेका सामर्थ्य प्रगट किया है ॥२॥

ओ भाव मुनि पिण्डगवेपणानो समय यथा ग्राम, नगर, गामडु, कर्षट आदिमां यथायोग्य थोडा थोडा निर्दाप आहार ग्रहण करता करता, भिक्षाना अधा दोषानो उपयोग राभवा पाणा अर्थात् अव्याक्षिप्त-चित्तथी अलाभ आदि परीषहथी उत्पन्न यथा क्षोभथी रहित यधने धर्यापथ शोधता मंद गतिसे चले.

गोयरग्गओ शब्दथी ओम सूचित थयुं छे उ साधुसे नवकोटिसे विशुद्ध आहार देवे नेधसे अव्वक्खित्तेण चेतसा अथी ओम प्रकट थाय छे उ चित्तनी स्थिरताथी न भिक्षानी शुद्धि नली शके छे, अणुव्विगो शब्दथी परीषह सहवानुं सामर्थ्यं प्रकट क्युं छे. (२)

को पेहमाणो=देखता हुआ वीजहरियाइं=बीज, हरी, पाणे = द्वीन्द्रियादिक प्राणी य = और दग्मद्वियं = सचित्त जल तथा सचित्त मिट्टीको वज्जंतो = वर्जता हुआ चरे = चले ॥३॥

टीका—युगमात्रया=जूसरप्रमाणया तत्प्रमाणप्रसृतयेत्यर्थः 'दृष्ट्ये'ति शेषः । वस्तु-
तस्तु 'क्वचिद्द्वितीयादेः' इति नियमादत्र द्वितीयार्थे पठ्ठी, तेन 'जुगमायाए' इत्यस्य 'युग-
मात्रा' मितिच्छाया, तथाच-युगमात्रां= प्रोक्तार्थां स्वशरीरप्रमितामिति भावः, महीं=
भूमि मार्गभूमिमिति भावः, पुरतः=स्वाग्रतः प्रेक्षमाणः=सम्यगवलोकयन् बीजहरितानि=
प्रसिद्धानि, प्राणान्=द्वीन्द्रियादिप्राणिनः, दकमृत्तिकां=सचित्तं जलं मृत्तिकां च वर्जयन्=
परिहरन् चरेत्=गच्छेत् ॥३॥

मूलम्—ओवायं^३ विसमं^४ खाणुं^५, विजलं^६ परिवज्जए^७ ।

संक्रमेण न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥

छाया—अवपातं विपमं स्थाणु, विजलं परिवर्जयेत् ।

संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पगक्रमे ॥४॥

सान्वयार्थः—परक्कमे=दूसरे मार्गके विज्जमाणे=होनेपर (साधु) ओवाय=जिस
मार्गमे गिर पडनेकी शंका हो विसमं=खड्डे आदिके कारण विकट हो खाणुं=काटे हुए
धान्यके डठलोसे युक्त (और) विजलं=कीचड़वाला हो उस मार्गको परिवज्जए=छोड़े, तथा
संक्रमेण=कीचड़ आदिके कारण जिस मार्गमे ईट काठ आदि लांघनेके लिए रखे हों उससे
भी न गच्छेज्जा=नहीं जावे ॥४॥

टीका—'ओवायं०' इत्यादि । 'परक्कमे' इति आक्रमणमाक्रमः=अवलम्बनं पर-
श्वासावाक्रमश्च पराक्रमः परस्याऽऽक्रमो वा पराक्रमस्तस्मिन्, यद्वा 'पराक्रमे' इतिच्छाया,
ततश्च परश्वासौ क्रमश्च परक्रमस्तस्मिन् 'सर्वथा गत्यन्तरे' इत्यर्थस्तथा च-पराक्रमे अथवा

गोचरीके लिए गमनविधि बताते है—'पुरओ' इत्यादि ।

अपने शरीर प्रमाण रास्ता सामने भली भाँति अवलोकन करता हुआ, बीज, वनस्पतिकाय,
द्वीन्द्रिय आदि प्राणी सचित्तजल और सचित्त मृत्तिकाको बचाता हुआ गमन करे ॥३॥

'ओवायं०' इत्यादि । पर अवलम्बको यहाँ पर परक्रम अथवा पराक्रमसे कहा गया है अत
एव अर्थ यह है कि दूसरे मार्गके रहते हुए, जिसमें चलनेसे गिर पडनेकी संभावना हो, दुर्गम

गोचरीने भाटे गमनविधि बतावे छे—पुरओ इत्यादि

पानाना शरीर प्रमाण रास्ता सामे सारी रीते अवलोकन करता, बीज, वनस्पतिकाय,
द्वीन्द्रियादि प्राणी, सचित्त जल अने सचित्त माटीने अथावी वेतां गमन करे (३)

ओवायं० इत्यादि पर अवलम्बन अही पराक्रम अथवा पराक्रमथी छोडवाभा आवेद
छे, अथी अवे अर्थ थाय छे के भीले मार्ग डेवा छतां, जेभां आदवाथी पडी ज्वानी

परक्रमे उपाये विद्यमानै-वर्तमानै सति अवपातः^१=स्खलनस्थानं सत्यप्यालोके येन सञ्चरणे स्खलनमवश्यसम्भाव्यं तस्मिन्, विषमं^२=दुर्गमत्वाद्विकृतं मार्गं स्थाणुं=लूनसस्यादिस्थुडं तद्बहुलं क्षेत्रादिमार्गमित्यर्थः, विजलं=विगतं जलं यस्मात्तत् तथोक्तं पङ्किलस्थलं परिवर्जयेत्=परित्यजेत्, संक्रमेण=संक्रम्यते=समुल्लङ्घ्यते जलरुर्दमादिवहुलविषमस्थानं येन स संक्रमः=इष्टका-काष्ठ-पाषाणादिनिर्मितमार्गविशेषस्तेन न गच्छेत्=न सञ्चरेत् । 'विज्जमाणे परक्रमे' इत्यनेनोपायान्तराभावे नायं प्रतिषेध इत्यपवादः सूचितः ॥४॥

तत्र गच्छतो हानिमाह-‘पवडते’ इत्यादि ।

मूलम्-^२पवडंते^३ व^६ से^१ तत्थ^४ पक्खलंते^५ व^७ संजए ।

^{१२}हिंसेज्ज^{११} पाणभूयाइं^८ तसे^{१०} अदुव^९ थावरे ॥५॥

छाया—प्रपतंश्च स तत्र प्रस्खलंश्च संयत ।

हिंस्यात्प्राणभूतानि, त्रसान् अथवा स्थावरान् ॥५॥

होनेके कारण विकृत हो, जिसमें काटे हुए ज्वार आदिके डठल हो, और जो कोचड़वाला हो, जल-क्रीचड़ आदिकी अधिकता होनेसे लाघनेके लिए ईंट, काष्ठ, पत्थर आदि रखे हुए हों, उस विषम मार्गसे गमन न करे ।

‘विज्जमाणे परक्रमे’ इस पद से यह सूचित किया है कि दूसरा मार्ग न हो तो यह निषेध नहीं है—अर्थात् अन्य मार्गके अभावमें ऐसे मार्गसे भी जा सकते हैं ॥४॥

ऐसे मार्गमें चलनेसे होनेवाली हानी बताते हैं—‘पवडंते०’ इत्यादि ।

यदि अवपात आदि पूर्वोक्त मार्गोंमें गमन करनेसे गिर पड़े या रपट जावे तो द्वीन्द्रिय आदि त्रस या पृथिवीकायिक आदि स्थावर जीवोंकी अथवा दोनों प्रकारके जीवोंकी हिंसा होती है तथा गिरने आदिसे आत्मविराधना भी अवश्य होती है ॥५॥

संभावना डोय, दुर्गम डोवाने कीधे विकृत डोय, जेभा कापेदी लुवार आदिनां दुंठा डोय, अने जे डीयडवाणे डोय, चाणी-डीयड वगेरे वधु डोवाना कारणे ओणगवा भाटे धट, लाडडु के पत्थर आदि राणेदा डोय. जेवा विषम मार्गथी गमन न करे

विज्जमाणे परक्रमे जे शब्दोथी जेम सूच्यु छे के भीजे मार्ग न डोय तो जेना निषेध नथी—अर्थात् अन्य मार्गने अभावे जेवा मार्गथी पणु जेथ शक्य छे. (४)

जेवा मार्गभा आलवाथी थनारी लोति जतावे छे पवडंते० इत्यादि.

जे अवपात आदि पूर्वोक्त मार्गभा गमन करवाथी पडी जय या लपसी जय तो द्वीन्द्रियादि त्रस या पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जेवानी अथवा जेउ प्रकारना जेवानी हिंसा थाय छे, तथा पडवाथी आत्मविराधना पणु अवश्य थाय छे (५)

१ गर्तमयतया संभावितस्खलनकम् ।

२ उन्नताऽवनतत्वाद्दुर्गमम् ।

पूर्वोक्त मार्गसे जाने मे दोष बताते हैं--

सान्वयार्थः—से=उस मार्गसे जानेवाला वह संजए=साधु व=यदि तत्थ=वहां पव-
 ङंते=गिर जाय व=अथवा पक्खलंते=रपट पड़े तो तसे=त्रस-द्वीन्द्रियादि अदुव=अथवा
 थोवरे=स्थावर-पृथिव्यादि पाणभूयाइं=प्राणी भूतोंकी हिसेज्जा=हिंसा करे । अर्थात् ऐसे
 मार्गमें जानेसे साधुको आत्म और संयम दोनोंकी विराधनाका संभव है ॥५॥

टीका—तत्र=तस्मिन् अवपातादौ प्रपतन् प्रखलंश्च स संयतः=साधुः त्रसान्=द्वी-
 न्द्रियादिलक्षणान्, स्थावरान्=पृथिव्याद्येकेन्द्रियान्, अथवा प्राणभूतानि=त्रसस्थावरोभय-
 विधान् प्राणिनो हिस्यात्=मर्दयेत् पीडयेदिति यावत् । पतनादिना चाऽऽत्मविराधनाद्यपि
 नियतं भवतीति भावः ॥५॥

१ ७ ८ ९ ३ २
 मूलम्—तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए ।

६ ४ ५ १० ११
 सइ अन्नेण भग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥

छाया—तस्मात् तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः ।

सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रामेत् ॥६॥

सान्वयार्थः—तम्हा=इसलिए सइ अन्नेण भग्गेण=दूसरे मार्गके होते हुए सुसमाहि-
 ए=भगवान्की आज्ञाका आराधक संजए=साधु तेण=उस मार्गसे न गच्छिज्जा=नहीं जावे,
 (अगर दूसरा मार्ग न हो तो साधु उसी मार्गसे) जयमेव=जीवोंकी यतना करता हुआ
 परक्कमे=गमन करे ॥ ६ ॥

टीका—‘तम्हा, इत्यादि । तस्मात्=त्रसस्थावरादिहिंसाभयाद्धेतोः सुसमाहितः=
 सकलप्राणिगणसरक्षणप्रवणान्तःकरणः संयतः अन्यस्मिन् मार्गे सति=विद्यमाने तेन=
 गर्त्तादिमार्गेण न गच्छेत् । अन्यमार्गाभावे तु तेनापि गर्त्तादिमार्गेणापि यतमेव=सयत्नमेव
 यतनयैवे त्यर्थः, पराक्रामेत्=गच्छेत् । ‘संजए’ इत्यनेनाऽनगारस्य यत्नवत्त्वम्, ‘सुसमा-
 हिए’ इत्यनेन चोपयोगवत्त्वं प्रतिपादितम् । अत्रेदमवधेयम्—चतुर्थगाथया प्रतिज्ञातेऽर्थे

‘तम्हा’ इत्यादि । त्रस स्थावरकी विराधनाके भयसे समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेकी इच्छा-
 वाले मुनि अन्य मार्ग होनेपर उस खड़े आदिवाले मार्गसे गमन न करे । दूसरा मार्ग न हो तो
 उसी मार्गसे यतनापूर्वक गमन करे । ‘संजए’ पदसे साधुकी यतनापरायणता और ‘सुसमाहिए’
 पदसे उपयोगवत्ता प्रगट की है ।

तम्हा इत्यादि. त्रस स्थावरनी विराधनाना लयथी अथा प्राणीयेनी रक्षा करवानी
 छंछावाणा मुनि भीजे मार्ग छोवा छता ये आडा आदिवाणा मार्गथो गमन करे नहि
 भीजे मार्ग न छोय तो ये मार्गे यतनापूर्वक गमन करे संजए शब्दथी साधुनी यतना
 परायणता अने सुसमाहिए शब्दथी उपयोगवत्ता प्रगट करवानी आवी छे अर्थात् ये वात
 समझवानी छे के, योथी पायथी अने छठी ये त्रसु गाथाओधी प्रकार दर्शाववामा आव्ये।

पञ्चमगाथया हेतुमुपन्यस्यानया पष्ठगाथयोपसंहारः कृत इति परार्थानुमानप्रकारो दर्शितो
गाथाभिराभिस्तिसृभिरिति ६।

पृथिवीकाययतनामाह—‘इंगालं’ इत्यादि ।

५ ६ ८ ९ १० ७
मूलम् इंगालं छारियं राशिं, तुसराशिं च गोमयं ।

२ ३ १ ४ ११
ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं नइक्कमे ॥७॥

छाया—आङ्गारं क्षारिकं राशिं, तुपराशिं च गोमयम् ।

सरजस्काभ्यां पादाभ्यां, संयतस्तं नातिक्रामेत् ॥७॥

पृथिवीकाय की यतना कहते हैं—

मान्वयायः—सजओ=साधु ससरक्खेहिं=सचित्त रजसे भरे हुए पाएहिं=पैरोंसे तं=
उस इंगालं=कोयलेके तथा छारियं=राखके राशिं=पुञ्ज-ढेर-को तुसराशिं=भूसेके पुंजको
च=और गोमय=गोबरके पुञ्जको नइक्कमे=आक्रमण न करे अर्थात् इन पर पैर रखकर
न जावे ॥७॥

टीका—सयतः सरजस्काभ्यां=सचित्तधूलिधूसरिताभ्यां पादाभ्याम्=चरणाभ्याम्
तं=परिहार्यतया प्रसिद्धम् अङ्गारम्=अङ्गारसम्बन्धिनम्, क्षारिकं=भस्मसम्बन्धिनम् गोमयं=
गोमय-(गोपुरीष)-सम्बन्धिनम् राशिं=पुञ्जम् तुपराशिं=ग्रान्यत्वक्पुञ्जं च नातिक्रामेत्=
तदुपरि सचित्तरजोऽवगुण्ठितचरणावारोप्य न चरेदित्यर्थः, पृथिवीकायविराधनासंभवात् ।
उपलक्षणतश्च यत्र पृथिवीकायोपमर्दनं संभवति तत्सर्वमतिक्रम्य न क्रामेदिति ॥७॥

यहाँ पर यह बात समझनेको है कि चौथी, पाचवीं और छठी, इन तीनों गाथाओसे
परमार्थानुमानका प्रकार दर्शाया गया है, अर्थात् चौथी गाथासे प्रतिज्ञा पाँचवीं गाथासे हेतु और
छठी गाथासे उपसंहार किया गया है ॥६॥

अब पृथिवीकायकी यतना कहते हैं—‘इंगालं’ इत्यादि ।

साधु सचित्तधूलियुक्त पैरोसे अंगार, भस्म (राख) और गोबर आदि की राशिको न लाँघे
तथा तुष राशिका भा उल्लघन करके न जावे । क्योंकि इससे पृथ्वीकायको हिंसा होती है । उप-
लक्षणसे यह भा समझना चाहिए कि जिससे पृथ्वीकायकीविराधना हो उसको लाघकर गमन न करे ॥

छे अर्थात् ये ती गाथाथी प्रतिज्ञा, पांचमी गाथाथी हेतु अने छठी गाथाथी उपसंहार
करवाभा आव्ये छे (६)

इवे पृथिवीकायनी यतना छे छे—इंगालं इत्यादि

स धु सचित्त-धुणयुक्त पगे अंगार लस्म (राख) अने छाणु आदिना ढगलाने न
अणगे तथा तुष (भूसु) ना ढगलानु पणु उद्वलघन करीने न जाय, कारणु के अथी पृथ्वी-
कायनी हिंसा थाय छे. उपलक्षणे करीने अेभ पणु समज्जु के अथी पृथिवीकायनी विराधना
थाय अने उद्वलघीने गमन न करे (७)

अपकायादियतनामाह—'न चरेज्ज' इत्यादि ।

मूलम्—^{१०}न ^१चरेज्ज ^{११}वासे ^२वासंते, ^३मिहियाए ^४पडंतिए ।

^५महावाए ^६व ^७वायंते, ^८तिरिच्छसंपाइमैसु ^९वा ॥८॥

छाया—न चरेद् वर्षे वर्षति, मिहिकायां पतन्त्याम् ।

महावाते वा वाति, तिर्यक्संपातेषु वा ॥८॥

अपकाय आदिकी यतना कहते हैं—

सान्वयार्थः—वासे वासंते=वर्षा वरसते हुवे मिहियाए पडंतिए=धूँअर-कुहरागिरते हुए व=तथा महावाए वायंते=महावायु-आंधी-के चलते हुए वा=और तिरिच्छसंपाइमैसु=तीड-पतंगादिकोके उडते हुए (साधु) न चरेज्ज=गोचरी न जावे ॥८॥

टीका—वर्षे वर्षति=वृष्टौ सत्याम्, मिहिकायां=धूमिकायां पतन्त्यां सत्यां महावाते=प्रचण्डपवने वाति=बहति सति, तिर्यक्संपाते=तिर्यक्पतनशीलेषु शलभादिषु सत्सु न चरेत् । 'वासे वासंते' इत्यनेन शीकरपातसमयेऽपि गमननिषेधः तस्यापि वृष्टावन्तर्भावात् अपकायविराधनासाधनत्वाच्च ॥८॥

उक्ता प्रथममहाव्रतविराधनाऽधुना चतुर्थमहाव्रतविराधनाया इतरमहाव्रतविराधना हेतुभूततया तामाह—'न चरेज्ज वेस०' इत्यादि ।

मूलम्—^३न ^४चरेज्ज ^५वेससामंते, ^६बंभचेरवसाणुए ।

^७बंभयारिस्स ^८दंतस्स, ^९हुज्जा ^{१०}तत्थ ^{११}विसुत्तिया ॥९॥

छाया—न चरेद् वेशसामन्ते, ब्रह्मचर्यवशानुगः ।

ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेत्तत्र विस्रोतसिका ॥९॥

अपकायादिकी यतना कहते है—'न चरेज्ज वासे०' इत्यादि ।

जब वर्षा वरस रही हो, कुहरा (धूँअर) पड रहाहो, आधी चल रही हो, टिड्डी आदि उड रहे हो, तब साधु गमन न करे । 'वासे वासंते' इस पद से यह भी ग्रहण कर लेना चाहिए कि जब फुहारे पड रहे हो तब भी गमन न करे. क्योंकि वह भी वर्षाहीमें अन्तर्गत है और उस समय जाने से अपकाय की विराधना होती है ॥ ८ ॥

प्रथम महाव्रतकी विराधना बतानेके बाद अब अन्य महाव्रतकी विराधना के कारण होने

अपकायादिनी यतना कडे छे—न चरेज्ज वासे० इत्यादि न्यारे वरसाद वरसी रह्यो, डोय, धुमस (आकण) पडी रह्यो डोय आधी आली रडी डोय, टीउ उडी रद्यां डोय, त्तारे साधु गमन न करे वासे वासंते ये शब्दथी येम पणु अहुणु करी देवुं जेधये के न्यारे वरसादनी इरकर पडी रडी डोय त्तारे पणु गमन न करे, कारणु के ते पणु वरसादमा न आवी जाय छे, अने ते समये नवाथी अपकायनी विराधना थाय छे (८)

ब्रह्मचर्य ही सब व्रतों का कारण है, अतः चतुर्थव्रत की यतना कहते हैं—

सान्वयार्थः—वंभचेरवसाणुए=ब्रह्मचर्यकी रक्षा चाहनेवाला साधु वेससामंते=वेश्या पाकेड़े-मुहल्ले-में न चरेज्ज=गोचरी नहीं जावे, (क्योंकि) तत्थ=वहाँ (गोचरी जानेसे) दंतस्स=इन्द्रिय और मनको काबूमें रखनेवाले वंभयारिस्स=ब्रह्मचारी साधुके भी विसु-त्तिया=मानसिक विकार हुज्जा=पैदा हो जाता है, साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या ? उसके मानसिक विकार जरूर उत्पन्न हो जाता है ॥९॥

टीका—ब्रह्मचर्यवशानुगः=ब्रह्मचर्य=कामवासनापरित्यागलक्षणव्रतं, वगं=स्वायत्त-ताम् अनुगमयति=प्रापयतीति स तथोक्तः ब्रह्मचारीत्यर्थः । यद्वा 'ब्रह्मचर्यावसानके' इति 'ब्रह्मचर्यवशाऽऽनये' इति वा सस्कृतं, तस्य 'वेशसमन्ते' इत्यनेन विशेषणतया सम्बन्ध-स्तथा च—ब्रह्मचर्यस्यावसानम्=अन्तो यस्मात्स तस्मिन्—ब्रह्मचर्यविनाशके इति प्रथमस्यार्थः । ब्रह्मचर्यं वशमानयति = दर्शनादिना स्वाधीनं करोतीति ब्रह्मचर्यवशानयस्तस्मिन् ब्रह्मचर्यभ्रंशके इति द्वितीयस्यार्थः । वेशसामन्ते = वेशः—वेश्यागृहम् 'वेशो वेश्यागृहे गृहे' इति कोशात्, तस्य सामन्ते = समीपे वेश्यापाटके वा न चरेत् = न गच्छेत् । का हानि ? रित्याह—'ब्रह्मे'-ति, तत्र = वेशसामन्ते गमनेनेति प्रसङ्गलभ्यम्, दान्तस्य = जि-तेन्द्रियस्यापि ब्रह्मचारिणः = साधोर्विस्रोतसिका, तद्रूपलावण्यावलोकनचिन्तनादि'कच-वरेण चेतो नलिकासमागच्छद्भावनासलिलप्रवाहनिरोधे श्रद्धाभूमिसमुत्पन्नब्रह्मचर्यमूलकाऽ-से चतुर्थ महाव्रत की विराधनाका कथन करते हैं—'न चरेज्ज वेस०' इत्यादि ।

ब्रह्मचारी साधु गोचरी के लिए ब्रह्मचर्यका नाश करने वाला वेश्याघरके समीप में या वेश्याके पाडे (मुहल्ले) में न जावे । वहाँ जाने से क्या हानि है ? सो बताते हैं—वेश्याके पाडे में गमन करने से जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी साधुके भी मनमें विकार उत्पन्न हो सकता है । अर्थात् वेश्या के रूप लावण्य का अवलोकन करने और विचार करनेरूप कचरे से नित्तरूपी नलद्वारा आत्मामें आता हुआ विशुद्ध भावनारूप जलका प्रवाह रुक जाता है । भावना जलका प्रवाह रुक जानेसे वह सयमी रूपी तरु सुख जाता है, जो तरु श्रद्धारूपी भूमी में उत्पन्न होता है, ब्रह्म

प्रथम महाव्रतनी विराधना षताव्या पष्ठी हुवे षीलं' महाव्रतानी विराधनाना कारण्यु षोवाने दीधे चतुर्थ महाव्रतनी विराधनातु' कथन करे छे न चरेज्ज वेस० इत्यादि.

प्रह्मचारी साधु गोचरीने भाटे, प्रह्मचर्यने नाश करवावाणा वेश्यागृहनी समीपे या वेश्यायेना मडोदलाभा न नय, त्यां ज्वाभां शी हानी छे ते श कानु निवारण्यु करतां कडे छे के वेश्याना मडोदलाभा गमन करवाथी जितेन्द्रिय प्रह्मचारी साधुना मनमा पण्यु विकार उत्पन्न थर्ष शके छे अर्थात् वेश्या-न रूप-लावण्यतु अवलोकन, विचार, इत्यादिइय कथरा-थी चित्तइपी नणद्वारा आत्मामा आवता विशुद्ध भावनाजणनेा प्रवाह रोकार्थ ज्वाथी ये सथम इपी तइ सुकार्थ नय छे, छे ने तइ श्रद्धाइपी भूमिमां उत्पन्न थाय छे, प्रह्मचर्य

हिंसासत्याऽस्तेयाऽपरिग्रहरूपाऽऽलवालसंबद्धित--ज्ञान-क्रियास्कन्धसुदृढ--समितिगुप्त्या-
दिशारवप्रशाखावितता-ऽष्टदशसहस्रशीलाङ्गपत्र-ध्यान-कुसुमाऽपवर्ग-फलसम्पत्समृद्धसंयमद्रु-
मशोषिणी चित्तविकृतिर्भवेदिति सूत्रार्थः ॥९॥

सकृद्गमनदोषं प्रतिपाद्येदानीमसकृद्गमनदोषान् प्रदर्शयति-‘अणाययणे’ इत्यादि ।

मूलम्—अणाययणे चरंतस्स, संसर्गीए अभिक्खणं ।

हुज्ज वयाणं पीला सामन्नम्मि य संसओ ॥१०॥

छाया—अनायतने चरतः संसर्गेणाऽभीक्षणम् ।

भवेद्ब्रतानां पीडा, श्रामण्ये च संशयः ॥१०॥

वेश्या के पाड़े में एकवार जाने का दोष कह कर अब अनेक बार जानेका दोष कहते हैं—

सान्वयार्थः—अणाययणे = वेश्याके पाड़ेमे अथवा इस प्रकारके दूसरे अयोग्य स्था-
नोंमें चरंतस्स = गोचरी जानेवाले साधु—अभिक्खण = वारंवार संसर्गीए = संसर्ग होने
के कारण वयाणं = महाव्रतोंको पीला = पीडा हुज्ज = होती है अर्थात् वे दूषित हो
जाते हैं । (इतना ही नहीं किन्तु उस साधुके) सामन्नम्मि य = चारित्रसाधुपने-में भी
संसओ = सन्देह हो जाता है ॥१०॥

टीका—अनायतने = अयोग्यस्थाने वेश्यागृहसमीपादौ अभीक्षणं = वारंवारम्
चरतः = पर्यटतः साधोः संसर्गेण=प्रेक्षणादिसंपर्केण (मूले प्राकृतत्वात्स्त्रीत्वम्) ब्रतानां=

चर्य जिसकी जड़े हैं, अहिंसा-सत्य-अस्तेय-अपरिग्रह-रूपी क्यारी है, जो ज्ञान और क्रिया रूपी
स्कन्धसे दृढ है, समिति गुप्ति आदि शाखा प्रशाखाएँ जिसकी फैली हुई है । अठारह हजार शी-
लाङ्ग जिसके पत्तेहै, ध्यान ही जिसके पुष्प है, और मुक्ति-सम्पत्तिही जिस वृक्ष के फल है ॥९॥

एकवार गमन करनेके दोष बताकर वारंवार गमन करनेके दोष कहते हैं — ‘अणाययणे०
इत्यादि ।

वेश्या-घरके समीप या ऐसेही अन्य अयोग्य स्थानोंमें बार बार गमन करनेवाले साधुके
वेश्याको देखने आदि संसर्गसे ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंमें पीडा हो जाती है, अर्थात् व्रत दूषित हो

नेना भूण छे, अहिंसा सत्यअस्तेय-अपरिग्रहरूपी क्यारी छे, जे ज्ञान अने क्रियारूपी थड
वडे दृढ छे, समिति-गुप्ति आदि शाखा-प्रशाखा जेनी झेलाई रह्यी छे, अठार डण्डर शीलांग
जेनां पांढडां छे, ध्यान जे जेना पुष्प छे अने मुक्तिसंपत्तिज ते तरेनां फल छे (९)

एकवार गमन करवाना होय अतावीने वारंवार गमन करवाना होय अतावे छे—अणा-
ययणे० इत्यादि

वेश्यागृहनी समीपे या जेवाज अन्य अयोग्य स्थानोमां वारंवार जेवावडे वेश्याने

१ कूडा-करकट’ ‘कचरा’ इति भाषा ।

ब्रह्मचर्यादीनां पीडा = विराधना, चकारोऽप्यर्थे, नैतावत्येव हानिः किन्त्वन्याऽपीत्याह-
श्रामण्ये = चारित्र्येऽपि संशयः = पालनीयतासन्देहो भवेत् तथाहि—

“दुश्चरब्रह्मचर्यादेर्भविष्यति फलं न वा ? ।

चेन्न जाने कियत् कीदृक् , कदा वा तद्भविष्यति ॥१॥

तथाऽप्राप्तसुखप्राप्ति-मुद्दिश्य विहितो मया ।

उपस्थितसुखत्याग उचितः किं न वोचितः ॥२॥” इत्यादि ।

यद्वा—‘चकारादत्र’ काङ्क्षा-विचिकित्सा-भेदो-न्माद-दीर्घकालिकरोग-केवलि-प्रज्ञप्तध-
र्मभ्रंशादयो दोषाः संगृह्यन्ते ॥१०॥

उपसंहरति—‘तम्हा एयं’ इत्यादि ।

मूलम्—तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्डणं ।

वज्जए वेससामंतं मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥

छाया—तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम् ।

वर्जयेद्वेशसामन्तं, मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥११॥

सान्त्वयार्थः—तम्हा=इसलिए दुग्गइवड्डणं = दुर्गतिको बढानेवाले एयं = इस
दोसं = दोषको वियाणित्ता=जानकर एगंतमस्सिए = मोक्षाभिलाषी मुणी=मुनि वेससा-

जाते हैं । यही एक हानी नहीं है किन्तु उसके श्रामण्य (चारित्र) में भी सदेह हो जाता है कि—

“इस दुश्चरब्रह्मचर्य का फल मिलेगा या नहीं ? यदि मिलेगा भी तो न जाने कितना
मिलेगा, कैसा मिलेगा, और कब मिलेगा ? ॥ १ ॥

मैंने अप्राप्त सुखकी प्राप्तिके लिए प्राप्त सुखका त्याग कर दिया है सो यह—उचित किया
है या अनुचित ? ॥ २ ॥” इत्यादि ।

अथवा गाथामें आये हुए ‘च’ शब्दसे विषयसेवनकी आकांक्षा, समयसे घृणा, भेद
उन्माद दीर्घकालिक रोग और केवलीप्ररूपित धर्मसे भ्रष्टता आदि अनेक दोष समझ लेना चाहिये
अर्थात् ऐसे अयोग्य स्थानोंमें गमन करने से पूर्वोक्त दोष होते हैं ॥ १० ॥

लेवा आदि ससर्गथी साधुना ब्रह्मचर्य आदि व्रतोभां पीडा थर्ध जय छे, अर्थात् व्रत
दृष्टित थर्ध जय छे आ अेक व हानि नथी परन्तु अेनाथी श्रामण्य (चारित्र) भां पण
संदेह उत्पन्न थाय छे के—“ आ दुश्चर ब्रह्मचर्यनु इण भणशे के नहि ? , जे भणशे तो
पण शी अप्पर डेट्ठु भणशे, केम भणशे अने क्यारे भणशे ? (१). मे अप्राप्त सुखनी
प्राप्तिने भाटे प्राप्त सुखने त्याग करी नांण्यो छे तो अे उचित क्युं छे के अनुचित ?
(२) ” इत्यादि,

अथवा गाथाभा आवेला च शब्दथी विषय-सेवननी आकांक्षा, समयथी घृणा, भेद.
उन्माद, दीर्घकालिक रोग अने केवली-प्ररूपित धर्मभांथी भ्रष्टता आदि अनेक दोषो समञ्ज
लेवा अर्थात् अेवा अयोग्य स्थानोभा गमन करवाथी अे प्रकारना होय थाय छे. (१०)

मते = वेण्याके पाडे-मोहल्ले-को वज्जए = वर्जे अर्थात् भिक्षाके लिए वहां नहीं जावे ।
भावार्थ—इस प्रकारके संसर्गसे साधुका मन उद्विग्न हो जानेसे मनमें अनेक कुतर्कणाएं होने लग जाती हैं, तब उसका मन ज्ञान-ध्यान-आदि शुभ कार्यों में नहीं लगकर आर्त्त-रौद्र-ध्यान करने लगता है । इसलिए साधु ऐसे संसर्गको ही टाळे ॥

टीका— तस्माद्धेतोः एत = पूर्वोक्तं दुर्गतिवर्द्धनं = दुर्गतिप्रापकं दोषं = व्रतविरा-
धनादि लक्षणं विज्ञाय = अवबुध्य एकान्तम् = एकः = अद्वितीयः अन्तो = निश्चयो व्रत-
रक्षणविषयको मोक्षप्राप्तिविषयको वा एकान्तस्तम् आश्रितः = आस्थितो मुनिः वेशसा-
मन्तं = वेण्यापाटकगमनं वर्जयेत् = परित्यजेत् ।

‘वियाणित्ता’ इत्यनेन सम्यगवबोधमन्तरेण दोषपरित्यागो याथातथ्येन न संभव-
तीति, ‘एगंतमस्सिए’ इत्यनेन च मुनिना सतत मोक्षैकलक्ष्येण भवितव्यमिति सूचितम् ।
मार्गयतनामेव विशिष्याऽऽह—‘साणं’ इत्यादि ।

२ ३ ४ १ ५ ६ ७
मूलम्—साणं सूइयं गाविं दित्तं गोणं हयं गयं ।

८ ९ १० ११ १२
संडिब्भं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ॥१२॥

छाया— श्वानं सूतां गां दृप्तं गोणं हयं गजम् ।

संडिब्भं कलहं युद्धं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥१२॥

साधु जहाँ भिक्षा के लिये न जावे उन स्थानों को विशेष रूपसे कहते हैं—

सान्त्वयार्थः—साणं = जहाँ काटनेवाला कुत्ता ही सूइय=थोड़े कालकी व्याई हुई
गाविं = गाय हो दित्तं = मदमस्त गोणं = गोधा साण्ड अथवा बैल (और) हयं = घोड़ा

उपसहार करते है ‘तम्हा एय’ इत्यादि ।

इसलिए इस-दुर्गतिको बढानेवाले व्रतोकी विराधनारूप-दोषको जानकर व्रतोकी रक्षा और मोक्ष की प्राप्ति के निश्चयमें स्थित मुनि वेश्या के पाडे (चकले) में भिक्षा आदिके लिए न जावे ।

‘वियाणित्ता’ पदसे यह सूचित किया है कि मली भौंति जाने बिना दोषका अच्छी तरह परित्याग नहीं हो सकना । ‘एगंतमस्सिए’ पद से यह प्रगट किया है । कि मुनि को सदा मोक्ष प्राप्तिका लक्ष्य रखना चाहिये ॥ ११ ॥

उपसहार करे छे—तम्हा एयं इत्यादि

ओटला भाटे. ओ दुर्गतिये वधास्वावाणा, व्रतोनी विराधनारूप दोषने नष्णीने व्रतोनी रक्षा अने मोक्षनी प्राप्तिना निश्चयमां स्थित मुनिओ, वेश्याना भडोद्वामा भिक्षा आदिने भाटे अबु नदि.

वियाणित्ता शब्दथी ओम सूचित क्युं छे के—सारी रीते नष्ण्या बिना दोषाने सारी पेठे परित्याग थर्ध शकने नथी एगंतमस्सिए शब्दथी ओम प्रकट क्युं छे के मुनिओ सदा मोक्षप्राप्तियु लक्ष्य राखवुं लेधओ (११)

(अथवा) गयं = हाथी हो (तथा) संडिब्भं = जहां बच्चे खेल रहे हो कलहं = परस्पर वाग्युद्ध गाली-गलोच होरहा हो जुद्धं = शस्त्र आदिसे युद्ध होता हो (ऐसे स्थानको साधु) दूरओ = दूरसे ही परिवज्जए = वर्जे, अर्थात् ऐसी जगह साधु कदापि गोचरी नहीं जावे । भावार्थ—ऐसे स्थानमें गोचरी जाने से कुत्ते आदिके काटखाने आदिके कारण तथा पात्रे फूटजाने आहार गिरजाने आदि अनेक प्रकारसे समय और आत्मा दोनोंकी विराधना होती है ॥१२॥

टीका—श्वानं कुक्कुरं, 'दृप्त'-मितीहाऽपकृष्य सम्बध्यते, तथाच—दृप्तम् = उद्ध-
तं दंशनस्वभावम् उन्मादिनं वेत्यर्थः, नवप्रसूतशून्या अप्युपलक्षणमेतत् । सूतां = नवप्रसू-
तां गां = सौरभेयीं, नवप्रसूतमहिष्या अप्युपलक्षणाद् ग्रहणम्, दृप्तं = चण्डस्वभावं गोणं =
वृषभं, हय = घोटकं, गज = हस्तिनं च, संडिब्भं = शिशुक्रीडनस्थान, कलहं = वाग्युद्धं,
युद्धम् = दण्डादण्डि-शस्त्राशस्त्रि-प्रभृतिकम् दूरतः परिवर्जयेत्, आत्मसंयमोभयविराधना-
हेतुत्वात् ॥१२॥

गमनप्रकारमाह—'अणुन्नए' इत्यादि ।

मूलम्—अणुन्नए नावणए अप्पाह्हे अणाउले ।

इंदियाइ जहाभागं दमइत्ता मुणी चरे ॥१३॥

छाया—अनुन्नतो नावनतोऽप्रहृष्टोऽनाकुलः ।

इन्द्रियाणि यथाभागं, दमयित्वा मुनिश्चरेत् ॥१३॥

गोचरी में घूमते हुए साधु को किस प्रकार की चेष्टा रखनी चाहिये सो बताते

मार्ग की यतना को विशेषरूप से बताते है—'साणं' इत्यादि ।

जहाँ उन्मत्त (पागल—हड़क्या) या काटनेवाला कुत्ता, नयी बियाई हुई (प्रसूता) कुतिया, नवप्रसूता गाय या नव प्रसूता भैस आदि, मदोन्मत्त बैल, घोडा हाथी हो उस स्थानको, तथा बच्चोंके खेलनेके, कलह (मुँहकी लड़ाई) के और युद्ध (गलबकी लड़ाई) के स्थान को साधु दूरसे त्यागे । अर्थात् जहाँ ये सब हो वहाँ न जावे—दूर ही रहे, क्योंकि इससे आत्मविराधना होती है ॥ १२ ॥

भागनी यतनाने विशेषरूपे बतावे छे साणं० इत्यादि.

ज्यां उन्मत्त (गांडो—हड़काये) अथवा कुरडनारे कुरतरे, नवी वीयायली (प्रसूता) कुरतरी, नवप्रसूता गाय या नवप्रसूता भैस आदि, मदोन्मत्त भणह घोडा हाथी इत्यादि होय ते स्थानने, तथा भाणकेअे रभवाना, कलह (भडोनी लडाई) ना अने युद्ध (शस्त्र-नी लडाई) ना स्थानने साधु दूरथी न त्यागे, अर्थात् ज्या अे जधां होय त्यां न नय—दूर न रहे, कारण के तेथी आत्मविराधना, समयविराधना अने उलयविराधना थाय छे (१२)

सान्वयार्थः—मुणी=गोचरीमे' घूमता हुआ साधु अणुन्नए=द्रव्यसे ऊंचा नहीं देखनेवाला, भावसे जात्यादिगर्वरहित नावणए=द्रव्यसे शरीरको अत्यन्त नहीं नमानेवाला, भावसे दीनतारहित अप्पहिट्टे=मिलनेवाले आहार आदिके विचारसे रहित अणाउले=इष्ट अनिष्ट आहार आदिकी प्राप्ति होना न होना आदि व्याकुलतासे रहित (साधु, इंद्रियाइं=श्रोत्र आदि इन्द्रियोका जहाभागं=यथाक्रम अर्थात् जिस समय जिस इन्द्रियका विषय उपस्थित हो उस समय उस इन्द्रियका दमडत्ता=दमन-निग्रह करके-चरे=विचरे ॥१३॥

टीका—अनुन्नतः—अनुच्छितः, स च द्रव्यत ऊर्ध्वानवलोकयिता, भावतो जात्यादिगर्वरहितः, नावनतः=नातिग्रहः, स द्रव्यतो नातीवनताङ्गः भावतो दैन्यरहितः । अप्रहृष्टः=अप्रमुदितः उपलस्यमानाहारवस्त्रपात्रादिभावनाजन्यप्रमोदरहित इत्यर्थः, अनाकुलः=अक्षुब्ध इष्टऽलाभाऽनभीष्टलाभभावनाजनित मनःक्षोभवर्जित इत्यर्थः, मुनिः इन्द्रियाणि=श्रोत्रादीनी यथाभागं=भज्यते-सेव्यते इति भागो=विषयः, भागमनतिक्रम्य यथाभागं=यथाविषयं-यस्येन्द्रियस्य यो विषयः सम्प्राप्तस्तमनुमृत्येत्यर्थः, दमयित्वा=निग्रह मनोज्ञा-ऽमनोज्ञशब्दादिविषयेषु रागापरागपरित्याग कृत्वेत्यर्थः, चरेत् ।

‘अणुन्नए’ ‘नावणए’ इत्येताभ्यामीर्यायतनाऽहङ्कारवर्जनदैन्यराहित्यानि सूचितानि । ‘अप्पहिट्टे’ इत्यनेन माध्यस्थ्यं बोधितम् । ‘अणाउले’ इतिपदेन साधो रसलोलुप-

चलनेका प्रकार कहते है—‘अणुन्नए०’ इत्यादि ।

मार्ग म चलते समय साधु अनुन्नत अर्थात् द्रव्य से ऊपरकी ओर न देखता हुआ, और भाव से जाति कुठ आदिके अभिमान से रहित नावनत अर्थात् द्रव्य से अत्यन्त न झुका हुआ तथा भाव से दीनतारहित अपहृष्ट अर्थात् मिलनेवाले आहार आदिके विचार से प्रमोद रहित अनाकुल अर्थात् इष्टकी अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति के विचारसे उत्पन्न होनेवाली व्याकुलता से रहित मुनि जहाँ जिस इन्द्रिय का विषय उपस्थित हो वहाँ उस इन्द्रिय का दमन करके अर्थात् मनोविषयमें राग और अमनोज्ञ विषयमें द्वेषका परित्याग करता हुआ भिक्षा आदिके लिए विचरे ।

‘अणुन्नए’ और ‘नावणए’ इन दो पदोंसे ईर्याकी यतना, अहङ्कारका परिहार और दीनता का त्याग सूचित किया है । ‘अप्पहिट्टे’ पद से मध्यस्थता प्रगट की है । ‘अणाउले’ पद से

यालवानो प्रकार कहे छे—अणुन्नए० इत्यादि

मार्गमां यालती वणते साधु अनुन्नत अर्थात् द्रव्यथी उपरनी णाणुञ्जे न ज्जेतां अने लावथी ज्जतिकुणता अलिमानथी रहित, नावनत अर्थात् द्रव्यथी अत्यन्त न नम्या विना तथा लावथी दीनता-रहित, अप्रहृष्ट अर्थात् मणत्रावाणा आहारादिना विचारथी प्रमोदरहित, अनाकुल अर्थात् इष्टनि अप्राप्ति तथा अनिष्टनी प्राप्तिना विचारथी उत्पन्न थनारी व्याकुलताथी रहित ज्ज्यां जे इन्द्रियेणो विषय उपस्थित होय त्या ते इन्द्रियेणो दमन करीने अर्थात् मनोज्ञ-विषयमां राग अने अमनोज्ञ-विषयमां द्वेषेणो परित्याग करतां, भिक्षा आदिने माटे विचरे.

अणुन्नए अने नावणए जे जे शब्देथी धर्यानी यतना अहङ्कारेणो परिहार अने दीन-

त्वं निराकृतम् । 'जहाभागं' इत्यनेन च यत्र यस्येन्द्रियस्य विषयप्राप्तिस्तत्र तस्यैव दमनं वास्तविकमिन्द्रियदमनं, न तु दर्शनविषये कर्णपिधानमित्यादि बोध्यम् ॥१३॥

मूलम्—द्वद्वस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे ।

हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥१४॥

छाया—द्रुतद्रुतस्य न गच्छेत्, भापमाणश्च गोचरे ।

हसन् नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा ॥१४॥

सान्त्वयार्थः—गोयरे=भिक्षाचरीमे (साधु) द्वद्वस्स=अति शीघ्रतासे दडवडर दौडता हुआ य=तथा भासमाणो=बोलता हुआ न गच्छेज्जा=नहीं जावे, (तथा) उच्चावयं=उच्च-द्रव्यसे सप्तभूमिक महलोंवाले, भावसे-धन-धान्यादिरहित समृद्ध, नीच-द्रव्य से घास फूसकी झोपडी वाले, भावसे धन-धान्यादिरहित कुल=कुलमें सया=हमेशा जावे । (२ श्रु. १अ. २उ.) आचाराङ्गसूत्रमें बताया हुआ सब कुलोंमें भिक्षाके लिए जावे अर्थात् जिस समय जिस देश में जो कुल दुर्गुणित न हों उन सब कुलोंमें गोचरी जावे, साधुको चाहिए कि ईर्यासमिति शोधता हुआ रागद्वेषरहित होकर भिक्षाके लिए विचरे ॥

टीका—गोचरे=भिक्षायां भिक्षार्थमित्यर्थः, द्रुतद्रुतस्य=शीघ्र-शीघ्रम् 'द्वद्वे' त्यस्याव्ययत्वेऽप्यार्षत्वात्सविभक्तिकत्वम्, यद्वा क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयान्तत्वाच्चित्येऽप्यार्षत्वात्पृथ्यन्तत्वम्, न गच्छेत्=न यायात् । भापमाणः=संलपन च=तथा हसन्=हास्यं कुर्वन् नाभिगच्छेत् । उच्चावचम्=उदक् च अत्राक् च इत्युच्चावचम्— ('मयूरव्य-

साधु की रसलोलुपताका निराकरण क्रिया है । 'जहाभाग' पदसे यह प्रदर्शित किया है कि जहाँ जिस इन्द्रियका विषय उपस्थित हो वहाँ उसका दमन करना ही वास्तवमें इन्द्रियदमन कहलाता है, किन्तु चक्षुइन्द्रियका विषय उपस्थित होनेपर यदि कान मूँद लिए जायँ तो इन्द्रिय दमन नहीं कहला सकता, इत्यादि ॥ १३ ॥

'द्वद्वस्स०' इत्यादि । साधु गोचरीके लिए जल्दी २(दडवडर) न चले । बातचीत करता हुआ, तथा हमता हुआ भी गमन न करे । उच्चनीच अर्थात् धनवान् और निर्धन आदि

ताने त्याग सृष्टि कथीं छे अण्पहिङ्के शब्दथी मध्यस्थता प्रकट करी छे अणाउले शब्दथी साधुनी २पक्षोऽनुपतानुं निराकरण कथुं छे जहाभाग शब्दथी अेम प्रदर्शित कथुं छे के न्या ने इन्द्रियने विषय उपस्थित होय त्या तेनुं दमन करवु अेज वस्तुत इन्द्रियदमन कडेवाय छे, किन्तु अक्षु इन्द्रियने विषय उपस्थित थतां ने कान संकेयवाभा आवे तो ते इन्द्रियदमन कडेवानु नथी इत्यादि (१३)

द्वद्वस्स० इत्यादि. साधु गोचरीने भाटे उतावणे उतावणे न आवे वात-चीत करने के इंसने-इंसते मधु न आवे उच्य-नीच अर्थात् धनवान्-निर्धन आदिना कुणोभा

१ घातृपात्तभावनां प्रति फलांशस्य कर्मभूततया फलसामानाधिकरण्ये द्वितोया ।

सकादयश्च' (२।१।७२) इति निपातनात्समासः सिद्धिश्च) उच्चनीचात्मकमनेकविधमित्यर्थः । 'उच्चावचं नैकभेद'-मित्यमरः । कुलं=गृहम् । तत्र द्रव्यत उच्चगृहं-सप्तभूमिकप्रासादादिकम् , शारदशशाङ्क-घनसार-हार-नीहार-कुन्दा-वदातमुधोज्ज्वलहर्म्यादिक प्रोत्तुङ्गतोरणादिक च । भावत उच्चगृहं-धनधान्यादि सम्पदा समृद्धम् । द्रव्यतो नीचगृह-धनधान्यादिरहितं दरिद्रगृहम् , सदा=सर्वदा अभिगच्छेत्=चरेत् ।

अथवा उच्चावचशब्देन उग्रकुलादीनि गृह्यन्ते, तथाहि—

'उग्रकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राङ्गकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसिद्य कुलाणिकावा कोट्यागकुलाणि वा गामरक्खकुलाणि वा बुक्कासकुलाणि वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुंछिएसु अग्रहिएसु असण वा४ फासुयं जाव पडिगाहिज्जा (सू. ११आचाराङ्ग. २ श्रु० १ अ २ उ.) ।

के कुलो में सदा भिक्षा के लिए जावे ।

उच्च कुल दो प्रकार का है—(१) द्रव्य से उच्च और (२) भाव से उच्च । सतमंजिला आदि, शरद ऋतु के चन्द्रमा, कपूर, हार, वर्फ, या कुन्द पुष्प के समान स्वच्छ, कलई (चूना) पोतने से जगमगाता हुआ और जिसका फाटक खूब ऊँचा हो ऐसे महल आदि द्रव्य-उच्च कहलाते हैं ।

(२) धन-धान्यरूपी सम्पत्ति से समृद्ध कुल भाव से उच्च कहलाता है । नीचा कुल भी दो प्रकारका है—

(१) द्रव्य से नीचा और (२) भाव से नीचा ।

१. वांस, लकड़ी, घास फूस से बने हुए झोपड़े को द्रव्यसे नीचा कहते हैं । (२) धन-धान्य आदि सम्पत्तिसे रहित निर्धन के कुल को भावसे नीचा कहते हैं । इन सब प्रकारके घरोंमें साधु भिक्षा के लिए जावे ।

अथवा 'उच्चावच' शब्द से उग्रकुलादि समझ लेना चाहिए । वे बारह प्रकारके कुल आ

सहा भिक्षाने माटे जाय.

उच्चकुल जे प्रकारना छे (१) द्रव्यथी उच्च अने (२) भावथी उच्च. (१) सात-मज्जा डोय शरदऋतुतो चन्द्रमा कपूर, (मोतीने) हार, गरुड या कुन्दपुष्पनी पेठे स्वच्छ (श्वेत) डोय, चूना घाणवाथी अगमगतो डोय अने जेतुं शटक भूय उच्च डोय जेवा भुंखे आदि द्रव्य-उच्च कहेवाय छे (२) धन-धान्यरूपी सम्पत्तिथी समृद्ध कुल भावथी उच्च कहेवाय छे.

नीचकुल पणु जे प्रकारना डोय छे :—

(१) द्रव्यथी नीच अने (२) भावथी नीच. (१) वास, लाकडा, घास-पाहडाथी अनेलां जुपडाने द्रव्यथी नीचुं कहे छे (२) धन-धान्यादि सम्पत्तिथी रहित निर्धनना कुलने भावथी नीचुं कहे छे जे प्रकारना अधाज घरोंमां साधु भिक्षाने माटे जाय

१ 'कुलं जनपदे गोत्रे, सजातीयगणेऽपि च भवने च तनौ क्लीव-मिति मेदिनी ॥

अत्र 'अदुगुंछिएसु' 'अगरहिएसु' इति पदाभ्यां यस्मिन् समये यत्कुलमजुगुप्सि-
तमगर्हितं भवेत्तदा तस्मिन्नेव कुले गन्तव्यमिति बोध्यते ।

अत्र 'दवदवस्से'-त्यादिना षट्कायरक्षणविचक्षणता समाख्याता । 'भासमाणो' प-
देनैकस्मिन् समये कार्यद्वयं सोपयोगं निष्पत्तुं न संभवतीति, 'हसतो' इत्यनेन गाम्भी-
र्यम्, 'उच्चावचं०' इत्यादिना प्रतिबन्धराहित्यं च द्योतितम् ॥१४॥

२ ३ ४ ५ ६ ७
मूलम्—आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दग्भवणाणि यं ।

१ ८ ९ १० ११
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्टाणं विवज्जए ॥१५॥

छाया—आलोकं थिग्गलं द्वारं, सन्धिं दग्भवनानि च ।

चरन् न विनिर्ध्यायेत्, शङ्कास्थानं विवर्जयेत् ॥१५॥

सान्वयार्थः—चरंतो=भिक्षाके लिए घूमता हुआ साथ आलयं=जाली-झरोखेकी
तरफ थिग्गलं=ईंट आदिसे भरे हुए भीतके छिद्रकी तरफ दारं=दरवाजेकी तरफ संधि-
=भीतकी सांधकी तरफ अथवा चोरोंद्वारा किये हुए भीतके छेदकी तरफ य=तथा दग्-
भवणाणि=पलेण्डा आदिकी तरफ न विणिज्झाए=टक-टकी लगाकर नहीं देखे, (क्योंकि
ये सब) संकट्टाणं=शङ्काके स्थान हैं, (इसलिए इन्हें) विवज्जए=विशेषरूपसे त्यागे ।
भावार्थ=ऐसे स्थानोंको देखनेसे गृहस्थको साथके प्रति चोर लम्पट आदिका संन्देह
उत्पन्न हो जाता है, तथा एपणाकी यथोचित शुद्धि भी नहीं होती ॥१५॥

चरांग सूत्रमें (२श्रु० १अ० २उ० सू. ११ में) भगवानने कहा है । आचारांग सूत्रमें आये हुए
'अदुगुंछिए' ओर 'अगरहिए' पदसे यह सूचित किया है कि जिस देश और जिस समयमें जो
कुल अनन्दित और अगर्हित हो उसमें मुनि, भिक्षाके लिए जावे ।

यहाँ 'दवदवस्स' इत्यादि पद से षट्कायकी रक्षा में सावधानी प्रगट की है ।

'भासमाणो' पदसे यह प्रगट किया है कि एक ही साथ दो कार्य उपयोगपूर्वक नहीं हो
सकते । हसतो पदसे गंभीरता द्योतित की है और उच्चावयं० इत्यादि पदसे प्रतिबन्ध(नेसराय)
रहितता और समतासे सहितता प्रगट की है ॥१४॥

अथवा उच्चावच शब्दधी उत्रकुणादि समल देवा जेधजे जे आर प्रकारनां कुणे।
आचारांग सूत्रमां (२श्रु० १अ २उ०सू० ११ मा) भगवाने कहा छे. आचारांग सूत्रमां
आवेला अदुगुंछिए अने अगरहिए शब्दधी जेम सूचित क्युं छे के जे देश अने जे
समयमां जे कुण अनिदित अने अगर्हित होय तेमा मुनि भिक्षाने माटे जय

अही दवदवस्स धत्यादि शब्दधी षट्कायनी रक्षामा सावधानी प्रकट करी छे भास-
माणो शब्दधी जेम प्रकट क्युं छे के जेकीसाथे जे कार्ये उपयोगपूर्वक थध शकतां नथी.
हसंतो शब्दधी गभीरता प्रकट करी छे अने उच्चावयं धत्यादि शब्दधी प्रतिबंध (नेस-
राय) रहितता अने समता सहितता प्रकट करी छे. (१४)

टीका—‘आलोचं०’ इत्यादि । चरन्=भिक्षितुं गच्छन् मुनिः आलोकं=वातायन-जालिकाप्रभृति, धिगगलं=देशीयभाषया प्रसिद्धं भित्त्यामिष्टकादिरचितम्, द्वार=विवरम्, सन्धि=तस्करादिस्वानभित्तिमार्गं दकभवनानि=जलस्थानानि, ‘चे’ति समुच्चये; न=नैव धिनिर्ध्यायेत्=सन्निवेशं विलोकयेत् । यत एतानि (आलोकादीनि) शङ्कास्थानानि=साधो-राचारविषयकमन्देहोत्पादकस्थानानि, सूत्रे जातावेकवचनम्, अतस्तानि विवर्जयेत्=विशेषेण परित्यजेत् ॥१५॥

मूलम्—^१रन्नो ^२गिहवर्द्धणं च, ^४रहस्सारविख्याण ^३य ।

^५संकिलेसकरं ^६टाणं, ^७दूरओ ^८परिवज्जए ॥१६॥

छाया—राज्ञो गृहपतीनां च, रहस्यमारक्षकाणां च ।

संकलेशकरं स्थानं, दूरतः चरिवर्जयेत् ॥१६॥

साम्बन्धार्थः—रन्नो=चक्रवर्ती आदि राजा महाराजाओंके च=तथा गिहवर्द्धणं=सेठ आदि सद्गृहस्थोंके च=और आरविख्याण=नगरके रक्षक-कोतवाल आदिके रहस्स=सलाह करनेके एकान्त स्थानको (साधु) दूरओ=दूरहीसे परिवज्जए=त्यागे; (क्योंकि ऐसे) टाणं=स्थान संकिलेसकरं=असमाधिको पैदा करनेवाले होते हैं । भावार्थ=राजा आदिकोंके एकान्त स्थानकी तर्फ देखनेसे अथवा वहां जानेसे उनको साधुके प्रति क्रोध अश्रद्धा होना आदि अनेक दोषोंकी संभावना है ॥१६॥

टीकाः—‘रन्नो०’ इत्यादि । राज्ञः=चक्रवर्द्धचक्रिप्रभृतेः, गृहीपतीनां=गृहस्वामिनां श्रेष्ठ्यादीनाम् आरक्षकाणां=नगररक्षिणां च रहस्य=रहसि=एकान्ते भवं रहस्यं=मन्त्र-

‘आलोचं०’ इत्यादि । भिक्षा लेनेके निमित्त गमन करता हुआ मुनी झरोखा, जाली, भीत, दरवाजा, सेध, (चोरो द्वारा दीवार में किया हुआ छेद—सन्धि) और उदक भवन अर्थात् परेडा आदि की तरफ दृष्टि न डाले, क्योंकि ये शंकास्थान हैं, इनकी ओर देखने से लोगो को साधुके चरित्रमें सदेह उत्पन्न होता है, अतएव इन शंकास्थानो का विशेष रूपसे परित्याग करना चाहिए ॥ १५ ॥

‘रन्नो०’ इत्यादि । जिस एकान्त भवनमें चक्रवर्ती, अर्द्धचक्री, माण्डलिक आदि राजा, श्रेष्ठी (सेठ) आदि गृहस्थ और नगरकी रक्षा करनेवाले (कोटवाल) आदि सलाह करते हो उस भवन

आलोचं इत्यादि लिखाने भाटे गमन करते मुनि अज्ञेय, लक्ष्मी, लीत, दरवाने, चोरे पाउलेणुं भाडु (आतरीयाधी पाउलेणुं भाडेणुं) अने उदकभवन अर्थात् पाणीआरानी तरफ दृष्टि न नाणे, कारणु के अे यथा शंकास्थानो छे तेनी तरफ लेवाथी लोकेने साधुना चरित्रमा स देह उत्पन्न गाय छे तेथी अे शंकास्थानोना विशेषरूपे परित्याग करवे (१५) रन्नो० इत्यादि, अे अेकान्त भवनमा अकवर्ती, अर्धचक्री, मांडलिक आदि राजा, श्रेष्ठी (सेठ) आदि गृहस्थ अने नगरनी रक्षा करनारा (कोटवाल) वगैरे सलाह (मंत्रणा) करता

गृहम्, संक्लेशकरम्=असमाधिजनकं स्थानं हेतुगर्भमिदं विज्ञेयं तथा च संक्लेशकरत्वा-
दित्यर्थः, दूरतः परिवर्जयेत्=सर्वथा संत्यजेत् ॥१६॥

१ २ ३ ४ ५ ६
मूलम्-पडिकुट्टं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए ।

७ ८ ९ १० ११ १३ १७
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥१७॥

छाया--प्रतिक्रुष्टं कुलं न प्रविशेत्, मामकं परिवर्जयेत् ।

अचियत्तं कुलं न प्रविशेत्, चियत्तं प्रविशेत्कुलम् ॥१७॥

सान्प्रयार्थः--पडिकुट्टं=शास्त्रनिषिद्ध कुलं = कुल घर में न पविसे=प्रवेश नहीं करे
मामगं = कृपणके घरको परिवज्जए = वरजे-नहीं जावे, अचियत्तं = प्रतीतिरहित अथवा
प्रीतिरहित कुल = कुल-घरमें न पविसे = प्रवेश न करे, (किन्तु) चियत्तं = प्रतीति और
प्रीतिवाले कुल = घरमें पविसे = प्रवेश करे ॥१७॥

टीका--'पडिकुट्टं०' इत्यादि । प्रतिक्रुष्टं = निषिद्ध, कुलं = गृहं न प्रविशेत्,
मामकं = 'मा मदीयं गृहं श्रमणाः प्रविशन्तु'-इति प्रतिषेधकारिणो गृहं तथा सामयिक-
व्याख्यादर्शनात्, परिवर्जयेत् । अचियत्तं=देशीयशब्दोऽयम्-अपीतिमत्, यत्र साधुप्रवेशेन
गृहिणामप्रीतिर्भवेत् तत्, अप्रतीतिमद्वा अविश्वस्तमित्यर्थः, यत्र गमनेन परेषां साधुविप-
येऽप्यविश्वासो भवेत्, तादृशं कुलं न प्रविशेत्, गृहस्थानां संक्लेशसंभवात् । नन्वेवं तर्हि
कुत्र प्रविशेत्तदाह-चियत्तं = प्रीतिमत् प्रतीतिमद्वा कुलं प्रविशेत् ॥१७॥

को दूरहीसे त्यागे, क्योकि ऐसे स्थान असमाधि को उत्पन्न करने वाले होते है ॥ १६ ॥

'पडिकुट्ट' इत्यादि । शास्त्रोंमें निषेध किये हुए घर में साधु प्रवेश न करे । जिसने अपने
घर में आने का निषेध कर दिया हो कि 'श्रमण निर्प्रन्थ हमारे घर पर न आवे' उन घरवालों
साधु त्याग करे । साधु के प्रवेश करने से जिस घरवालों को अप्रीति उत्पन्न हो, या जिस
कुलमें विश्वास न हो ऐसे कुलमें भी प्रवेश न करे, क्योकि इससे दूसरोंका साधुपरसे भी विश्वास
हट जाता है । साधु उस घरमें प्रवेश करे जिसमें प्रवेश करने से गृहस्थको प्रीति और विश्वास
हो ॥ १७ ॥

छाया, ओ लवनने मुनि इरथी न त्यागे, कारण के अवा स्थाने असमाधिने उत्पन्न कर
वावाणा छाय छे (१६)

पडिकुट्ट इत्यादि. शास्त्रोंमें निषेध करनेवाले गृहोंमें साधु प्रवेश न करे जेव्हे पोताना
घरोंमें आनेवाले निषेध किये छाय के 'श्रमण निर्प्रन्थे अमारा घरमा आववु' नहि' अवा
घरेने पण साधु त्याग करे साधुने प्रवेश करवथी जे घरवालांने अप्रीति उत्पन्न थाय,
या जे कुलमा विश्वास न छाय अवा कुलमा पण साधु प्रवेश न करे, कारण के अथी साधु
परथी प्रीतिअने पण विश्वास छठी नथ छे साधु अे घरमा प्रवेश करे के जेमा प्रवेश
करवथी गृहस्थने प्रीति अने विश्वास उपजे (१७)

मूलम्-साणीपावारपिहियं, अप्पणा नवपंगुरे ।

कवाडं नोपणुल्लिज्जा. उग्गहं सिं अजाइया ॥१८॥

छाया—शाणी-प्रावारपिहितम् आत्मना नाऽपवृणुयात् ।

कपाटं नो प्रणुदेत्, अवग्रहं तस्याऽयाचित्वा ॥१८॥

सान्प्रयार्थः—सि (से) = उस गृहस्वामी को उग्गहं = आज्ञा अजाइया = लिये विना साणीपावारपिहियं = सन आदिके बने हुए परदेसे ढके हुए घरको अप्पणा = साधु खुद नावपंगुरे = नहीं खोले, (तथा) कवाडं = किवाडको भी नोपणुल्लिज्ज = नहीं उघाडे, तात्पर्य यह है कि गृहस्वामीको पूछकर ही उघाडना चाहिए ॥१८॥

टीका—‘साणीपावार०’ इत्यादि । तस्य = गृहस्वामिनः अवग्रहं = निदेशम्, अयाचित्वा = अगृहीत्वा आज्ञामन्तरेणेत्यर्थः, शाणीप्रावामपिहितं = शाणी=शणवलकलनिर्मित-जवनिका, प्रावारः = ऊर्णादिरचितकम्बलादिस्ताभ्यां पिहितम् = आवृतम्, यद्वा शाणीप्रावारेण = शणरचितपदया स्थगितं ‘द्वार’-मितिशेषः, आत्मना = स्वयम् न अपवृणुयात् = नापसारयेत् । तथा कपाटम् = अररम् ‘किवाडे’-ति भाषाप्रसिद्ध नो प्रणुदेद् = न प्रेरयेत् नोद्धाटयेदित्यर्थः, तद्दुद्धाटनस्य स्नानभोजनादिसमासक्तानां स्त्र्यादीनामप्रतीतिकारणत्वात्, तादृशव्यवहारानौचित्याच्च, तस्मादावश्यकताया तत्स्वामिनं पृष्ट्वोद्धाटयेदिति भावः ॥१८॥

मूलम्-गोयरग्गपविट्ठो य, वच्च-मुत्तं न धारण ।

ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे ॥१९॥

छाया—गोचराग्रप्रवापृथ्व, वर्चो-मूत्रं न धारयेत् ।

अत्रकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्यत्सृजेत् ॥१९॥

सात्वयार्थः—गोयरग्गपविट्ठो=गोचरीमें गया हुआ मुनि वच्च-मुत्तं=मल और मूत्रको न धारण=नहीं रोके अर्थात् मल-मूत्र-को बाधा उपरिथत होनेपर उनके वेगका अवरोध न

‘साणीपावार’ इत्यादि । गृहस्वामीकी आज्ञा लिये विना टडर या कम्बल आदि किसी वस्तुसे ढके हुए या सनके परदासे बंद द्वारको तथा किवाडको स्वयं न खोले, क्योंकि ऐसा करना स्नानादि करती हुई स्त्री आदिको अप्रतीतिका कारण है, तथा लोकव्यवहारसे भी अनुचित है, अतः आवश्यकता होने पर उसके स्वामीको पूछ करके ही किवाड परदा आदि खोलना चाहिए ॥ १८ ॥

साणीपावार० इत्यादि गृहस्वामीनी आज्ञा लीधा विना टाट या कम्बली आदि डोई वस्तुथी ढाकेलु या सधुना पडहाथी षध करेलु अेषु द्वार तथा कमाड, साधु पोते न ओढे, मारणु के ओम करणु ओ रानादि करती स्त्री आदिने अप्रतीतिनु कारणु भने छे, तथा लोकव्यवहार नी पाणु अनुचित छे तेथी नइर पडतां तेना स्वामीने पूछी लधने न कमाड पडहे आदि ओढवां नोछंओ. (१८)

१ परदा-परान् परपुरुषान् दर्शनादानेन द्यति=खण्डयतीति परदा ।

करे, (किन्तु) फासुयं=प्राशुक-जीवरहित ओगासं=स्थण्डिलभूपिको नच्चा=जान कर अणु-
न्नविय=गृहस्थकी आज्ञा लेकर वोसिरे =मल-मूत्रका त्याग करे ॥१९॥

टीका—‘गोयरग०’ इत्यादि । पूर्वं निवृत्तवाधोऽपि गोचराग्रप्रविष्टो मुनिः पुनस्त-
द्वाधायामुपस्थितायां वर्चो-मूत्रं=मलं प्रस्रवं च न-धारयेत्=नावरुन्ध्यात् । यत् उक्तम्—

‘जथो मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवति, वच्चनिरोहे जीविओवघाओ असोहण य
आयविराहणा, इत्यादि ।

नन्वेवं तर्हि किं कुर्यात् ? इत्याह—प्रामुक्कं=निर्जन्तुकं निरवद्यमित्यर्थः, अवकाशं=
स्थण्डिलं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य=गृहरथं ससूच्य तदाज्ञान्मादायेत्यर्थः, व्युत्सृजेत्=परित्यजेत् ।

मूलम्—^१णीयद्वारं ^२तमसं ^३कुट्टगं ^४परिवज्जए ।

^५अचक्खुविसओ ^६जत्थ, ^७पाणा ^८दुप्पडिलेहगा ^९॥२०॥

छाया—नीचद्वारं तमसं, कोष्ठकं परिवर्जयेत् ।

अचक्षुर्विषयो यत्र, प्राणाः दुष्प्रतिलेखकाः ॥२०॥

सान्त्वयार्थः—णीयद्वारं=नीचे द्वारवाले तमसं=प्रकाशरहित कुट्टगं=कोठेको परि-
वज्जए=वरजे अर्थात् वहां आहार पानी नहीं लेवे, क्योंकि जत्थ=जहां अचक्खुविसओ=
आँखका प्रसार नहीं होता (वहां) पाणा=द्वीन्द्रिय आदि प्राणियोंका दुप्पडिलेहगा=प्रति-
लेखन नहीं हो सकता ॥२०॥

टीका—‘णीयद्वारं०’ इत्यादि । नीचद्वारं=नीचं = निम्नं द्वारं प्रवेश-निर्गममार्गो

‘गोयरग०’ इत्यादि । गोचरी जाने के पहले लघुनीत और बडीनीतकी शंकाको निवृत्त
कर लेने पर भी यदि गोचरी के लिए चले जाने पर पुन लघुशंका हो जाय तो मल-मूत्र को
रोके नहीं, क्योंकि कहा है—

“मूत्रके निरोध करने से नेत्रो को हानि होती है और मलका निरोध करने से जीवन को
हानि पहुचती है, तथा बुरी तरह आत्मविराधना होती है ।”

तो क्या करे सो बताते है—जीवरहित (निरवद्य) स्थान देखकर गृहरथ की आज्ञा लेकर
उस स्थानमें मल-मूत्र का त्याग करे ॥ १९ ॥

गोयरग० इत्यादि गोचरीये जाता पडेला लघुनीति अने बडीनीतनी शकाने
निवृत्त करवा छता पणु जे गोचरी भाटे नीकणी गया पछी इरी लघुशंका आदिनी शका
थई जय तो मण-मूत्रने रोकेवा नडि, कारणु के कहु छे के—

मूत्रने निरोध करवाधी नेत्रेने हानी थाय छे अने मणने निरोध करवाधी लवनने
हानि पडेथे छे, अने भगण रीते आत्म-विराधना थाय छे,

तो शुं कणु, ते हवे गतावे छे-लवरहित (निरवद्य) स्थान जेधने गृहस्थनी आज्ञा
लधने ये स्थानमां मण-मूत्रने त्याग करे (१९)

यस्य स तं तथोक्तम् , तादृशप्रदेशे प्रवेश-निर्गमाभ्यामात्मसयमविराधनायाः संभवात् , तामसम्=तमोयुक्तमप्रकाशमित्यर्थः, कोष्ठकं=गृहाभ्यन्तरमपवरकादिकं परिवर्जयेत् न तत्राऽऽहारादिकं गृह्णीयादित्यर्थः । किं सायान्येनायं निषेधः ? नेत्याह-यत्र=यस्मिन् कोष्ठकादौ, अचक्षुर्विषयः=अत्र 'अ' 'चक्षुर्विषयः' इति पृथक् पदद्वयं, तत्र 'अ' इति निपातो नञर्थकः 'अभावे नञ्-उ-नो-नाऽपि'-त्यमरात् , तथाच-चक्षुर्विषयः=चक्षुरिन्द्रियजन्य-व्यारप्रसरः अ=न भवेदिति शेषः, ततः किमित्याह=प्राणाः=द्वीन्द्रियादयः दुष्प्रतिलेखकाः =दुर्निरीक्ष्या 'भवन्ती' ति शेषः, तत्र भिक्षां गृह्यतः साधोरीयै-षणयोः शुद्धिर्न जायते ॥२०॥

मूलम्-जत्थ पुष्पाइं बीजाइं, विष्पईन्नाइं कुट्टए ।

अहुणोवलित्तं उल्लं, ददृष्टणं परिवज्जए ॥२१॥

छाया—यत्र पुष्पाणि बीजानि, विप्रकीर्णानि कोष्ठके ।

अधुनोपलिप्तमार्द्रं, दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥२१॥

सान्त्वयार्थः—जत्थ=जिस कुट्टए=कोठेमें पुष्पाइं=फूल (और) बीयाइं=बीज विष्प-इन्नाइं=विखरे हुए हों उस कोठेको, तथा अहुणोवलित्तं=तुरन्तके लिपे हुए उल्लं=गीले कोठेको ददृष्टणं=देखकर परिवज्जए=वरजे ॥२१॥

टीका—'जत्थ' इत्यादि । यत्र कोष्ठके गृहे वा सचित्तानि पुष्पाणि बीजानि वा विप्रकीर्णानि=इतस्ततः प्रसृतानि भवेयुः, यद्वा तत्काललिप्तमत एवार्द्रं कोष्ठकादि तत् साधुः परिवर्जयेत्=तत्र न गच्छेदित्यर्थः ॥२१॥

'णीयदुवारं' इत्यादि । नीचे द्वारवाल कोठेमें भिक्षाके लिए नहीं जाना चाहिये, क्योंकि उसमें जाने आने से आत्मा और सयमकी विराधनाका संभव है । तथा अन्वकारयुक्त कोठेमें भी आहार आदि ग्रहण न करे । तात्पर्य यह है कि जिस कोठे में अन्वकार के कारण नेत्राँकी प्रवृत्ति न होती हो, और इसीलिए द्वीन्द्रिय प्राणा सरलता से दिखाई न देते हो उममें भिक्षा लेने से ईर्ष्या और एषणा की शुद्धि नहीं होती है ॥ २० ॥

'जत्थ पुष्पाइं' इत्यादि । जिस कोठे आदिमें सचित्त पुष्प सचित्त बीज विखरे हुए हो, तथा तत्काललिपने से जो गीला हो उस कोठे या अन्य गृह आदि में प्रवेश न करे ॥२१॥

णीयदुवारं इत्यादि नीचे द्वारवाला औरडामा भिक्षा न मागे न लपु, डारवु डे तमा लवा आपवाथी आत्मा अने सयमनी विराधनाको संभव छे तथा अधकारयुक्त औरडामा पणु आहार आदि ग्रहण न करवा, तात्पर्य ओ छे डे ले औरडामा अधकारने कारणे नेत्रो काम न करी शकता ताय अने तेथी डीने द्वीन्द्रियादि प्राणी सहेवाडगी न लेध शकतां होय तेसां भिक्षा लेवाथी साधुनी छे । तम अन्वकारनी शुद्धि नपवाती नथी (२०)

जत्थ पुष्पाइं इत्यादि ले औरडा =दिना नञन्त पुष्प सचित्त थीन वेरापला होय तथा तत्काललीपनामा आण्यो होवापो तीयो होय त औरडामा अथवा गृहादिना प्रवेश न करयो (२१)

मूलम्—एलंगं^२ दारंगं^३ सांगं^४, वच्छंगं^५ वावि^६ कोट्टए^{१०} ।

उल्लंघिया^७ न पविसे^{११}, विउहत्ताण^{१२} व संजए^८ ॥२२॥

छाया—एडकं दारकं श्वानं, वत्सकं वाऽपि कोष्ठके ।

उल्लङ्घय न प्रविशेत्, व्यूह्य वा संयतः ॥२२॥

सान्प्रयार्थः—एलंगं=भेड दारकं=वालक सांगं=कुत्त वच्छंगं=वच्छडे अपिवा=इस प्रकार दूसरे अर्थात् बकरा-बकरी पाडा-पाडी आदिको उल्लंघिया=लाघ-करके, वा=अथवा विउहत्ताण=हाथ आदिसे हटाकर संजए=साधु कोट्टए=कोठ-घर-में न पविसे=प्रवेश नहीं कर ॥२२॥

टीका—‘एलंगं’ इत्यादि । संयतः=भिक्षुः, एडकं=गडकं, दारकम्=अर्भकम्=श्वानं=कुक्कुरं, वत्सकं=गोशिशुं वा, अपिशब्दादजामहिष्यादिशिशुग्रहणम्, उल्लङ्घय=अतिक्रम्य व्यूह्य=अपोह्य हस्तादिनाऽपसार्येत्यर्थः, कोष्ठके न प्रविशेत् ॥२२॥

मूलम्—असंसत्तं^१ पलोइज्जा^२, नाइदूरावलोयए^३ ।

उप्फुल्लं^६ न विणिज्जाए^७ निचट्टिज्ज^८ अयंपिरो^{१०} ॥२३॥

छाया—असंसक्त प्रलोकेत, नातिदूरमवलोकेत ।

उत्फुल्लं न विनिर्ध्यायेत् निवर्त्तताऽजल्पन् ॥२३॥

सान्प्रयार्थः—असंसक्त=आसक्तिरहित होकर पलोइज्जा=देखे अर्थात् रागादिपूर्वक किसीको न देखे, नाइदूरावलोयए=अत्यन्त दूर दृष्टि डालकर-लम्बी दृष्टिसे न देखे तथा उप्फुल्लं=आंखे फाड-फाडकर अथवा मुसकराता हुआ टकटकी लगाकर न विणिज्जाए=न-

‘एलंगं०’ इत्यादि । भेड तथा बकरा, वालक, कुत्ता, वच्छडा, तथा पाडा-पाडी आदिका उल्लघन करके, अथवा उनको हाथ आदि से हटाकर साधु कोठे आदि में प्रवेश न करे ॥२२॥

‘असंसक्तं०’ इत्यादि । आसक्त होकर रागादिपूर्वक किसीका अवलोकन न करे । दाता जिस स्थान से आता हो उस स्थान से ज्यादा दूर न देखे, क्योंकि दूर तक देखने से किसीको ऐसी शंका हो जाय कि ‘यह चोर है’ इत्यादि । किसी पदार्थ की ओर आंखे फाड २ कर न देख । यदि भिक्षा की प्राप्ति न हो तो दीन वचन न बोले न बडबडावे, किन्तु मौन सहित पोछा फिर जावे ।

पल्लंगं० इत्यादि. वेदु तथा षड्, आणक, कृतड्, वाछडो तथा पाडा पाडी आदिने ओणं० गीने अथवा तेने हाथ आदिधी उडावीने साधु ओरडामा प्रवेश न करे (२२)

असंसक्तं० इत्यादि आशुक्त शब्दने रागादिपूर्वक कोर्धनु अवलोकन न करवु दाता जे स्थानभाथी आवता उद्ये ओ स्थानगी वधादे हर न लेवु, डारणु डे हर सुधी नेवाथी कोर्धने ओवी शंका आवी नथ डे ‘आ ओर छे’ इत्यादि ने भिक्षानी प्राप्ति न थाय नी दीन वचन न बोडवा, डे न षडणडवु, परन्तु मौनसहित पोछा करवु

हो देखे, (भिक्षाकी प्राप्ति न हो तो) अयंपिरो=कुछ भी नहीं बोलता हुआ अर्थात् व-
डबड़ाहट नहीं करता हुआ वहां से नियद्विज्ज=वापस लौट जाने ॥२३॥

टीका—‘असंसत्तं०’ इत्यादि । असंसत्तम्=आसक्तिरहितं यथास्यात्तथा प्रलोकेत=
पश्येत्, अन्यथा रागादिसम्भवात् । अतिदूरं=आतुरागमनप्रदेशात्परं नावलोकितं, साधो
तस्करतादिगङ्गासंभवात् । उत्फुल्लं=स्मेरं यथा स्यात्तथा नेत्रे विस्फार्येत्यर्थः न विनि-
र्ध्यायेत्=न पश्येत् । कदाचिद्भिक्षाया अलाभे अजल्पन्=दैन्योपालम्भवचनानि अब्रुवन् नि-
वर्त्तेत = प्रत्यावर्त्तेत ।

‘असंसत्तं’ इति पदेन दृष्ट्यनुरागोऽपाकृतः । ‘नाइदूरा०’ इत्यादिना साधो चौ-
रत्वाद्यागङ्गा निराकृता । ‘उत्फुल्लं०’ इत्यादिना, वराकेणानेन साधुना नावलोकितो ना-
प्यनुभूत एतादृशो विभवोऽतोऽयं दीन’ इत्याद्यागङ्गा व्युदस्ता ॥ २३ ॥

मूलम्—अइभूमि न गच्छिज्जा गोयरग्गओ मुणी ।

कुलस्स भूमिं जाणित्ता मियं भूमिं परक्कमे ॥२४॥

छाया—अतिभूमिं न गच्छेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ।

कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितं भूमिं पराक्रमेत् ॥२४॥

सान्वयार्थः—गोयरग्गओ = गोचरीमे गया हुआ मुणी=साधु अइभूमिं=गृहस्थकी
मर्यादित भूमिसे अगाडी उसकी आज्ञाके विना न गच्छिज्जा = नहीं जावे, (किन्तु) कु-
लस्स=गृहस्थके घरकी भूमिं = मर्यादित भूमिको जाणित्ता=जानकर मियं भूमिं=जिस
घर मे जहांतक जानेकी मर्यादा हो वहांतक ही परक्कमे = जावे ॥२४॥

टीका—‘अइभूमि०’ इत्यादि । गोचराग्रगतो मुनिः अतिभूमिं=परप्रवेशाय गृह-

‘असंसत्तं’ पद से नेत्रविषयक अनुराग का त्याग प्रगट किया है । ‘नाइदूरा०’ इत्यादि
पद से यह सूचित किया है कि साधुको ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे किसी को चोर
आदि होने का सदेह न हो । ‘उत्फुल्लं०’ इत्यादि पद से इस सदेह को दूर किया है कि कोई
यह न समझे कि—‘अरे ! इस बेचारे साधुने ऐसी विभूती न कभी देखी है और न कभी भोगी
है इसलिए यह बडा दीन है ॥ २३ ॥

‘अइभूमि०’ इत्यादि । जिस घर में भूमि की जितनी मर्यादा हो उसे उल्लंघन करके

असंसत्तं० शब्दही नेत्रविषयक अनुरागने। त्याग प्रकट कर्था छे नाइदूरा० इत्यादिही
अभे सूचित करवाभा आण्यु छे के साधुअे अेवुं आग्ररुणु करुणु नेधअे के नेथी केअने
चोर आदि होवाने। सदेह न पडे उत्फुल्लं० इत्यादि शब्दही अे सदेह दूर कर्था छे के
केअे अभे न समजे के ‘अरे ! आ गियारा साधुअे अेवी विभूति नथी केअेवार नेध
अने नथी केअेवार लेगवी तेथी अे अहु न दीन छे (२३)

अइभूमि० इत्यादि ने घरमां भूमिनी नेटवी मर्यादा होय अेने उल्लंघने मुनि

स्थाननुमतां भूमिमतिक्रम्य = उल्लङ्घ्य न गच्छेत् । तर्हि किं कुर्यात् ? इत्याह—कुलस्य भूमिं = मर्यादां स्थित्यवधिं ज्ञात्वा मितां = परिच्छिन्नां स्वावस्थानयोग्यां भूमिं = स्थानं पराक्रामेत् = गत्वा तिष्ठेत्, विपरीताचरणे हि गृहस्थरोपादिसम्भवः ॥२४॥

मूलम्-तत्थेव^२ पडिलेहिज्जा^४ भूमिभागं^३ वियक्खणो^१

सिणाणस्स^५ य वच्चस्स^७ संलोगं^६ पस्विज्जए^९ ॥२५॥

छाया—तत्रैव प्रतिलिखेत्, भूमिभागं विचक्षणः ।

स्नानम्य च वर्चसः संलोकं परिवर्जयेत् ॥२५॥

सान्त्वयार्थः—तत्थेव = जिस मर्यादित भूमि पर खड़ा है उसी भूमिभागे = भूमि-भागको वियक्खणो = विचक्षण साधु पडिलेहिज्जा = प्रतिलेखन करे, अर्थात् वहाँकी भूमि को पूंजकर खड़ा रहे और सिणाणस्स = स्नानघरकी तर्फ य = तथा वच्चस्स = टट्टी-पेशाव घरकी तर्फ संलोकं = दृष्टि परिवर्जयेत् = न डाले ॥२५॥

टीका—‘तत्थेव०’ इत्यादि । विचक्षणः = निपुणः तत्रैव = स्वाधिष्ठातस्थान एव भूमि-भागं प्रतिलिखेत् = संपश्येत्, स्नानस्य = स्नानगृहस्य वर्चसः = वर्चोगृहस्य च मलपरित्यागगृहस्येत्यर्थः, संलोकं = प्रेक्षणं परिवर्जयेत् । ‘वियक्खणो’ इत्यनेनाऽगीतार्थस्य स्वतन्त्रतया गोचरीगमन निषिद्धम् । ‘सिणाणस्स’ इत्यादिना च नग्नस्यादिदर्शनाद्रागादिसम्भव इति सूचितम् ॥२५॥

मुनि गृहस्थकी आज्ञा बिना आगे नहीं जावे, किन्तु उस कुलकी मर्यादा को जानकर गमन करने योग्य परिमित स्थान तक ही जाकर खड़ा हो जाय—अर्थात् किसीकी मर्यादा का उल्लंघन न करे । इसके विपरीत आचरण करने से गृहस्थ को क्रोध आने आदि की सम्भावना रहती है ॥

‘तत्थेव०’ इत्यादि । विचक्षण भिक्षु जिस मर्यादित भूमि पर खड़ा है वहाँके भूमिभागका प्रतिलेखन करे, स्नान घर तथा उच्चार आदिके स्थान की ओर दृष्टि न डाले । ‘वियक्खणो’ पद से अगीतार्थ साधु को स्वतन्त्र गोचरी करने का निषेध किया गया है । ‘सिणाणस्स’ इत्यादि पदों से नग्नस्त्री आदि दिख जाने के कारण रागादि भाव उत्पन्न होना सम्भव है यह सूचित किया गया है ॥ २५ ॥

गृहस्थनी आज्ञा बिना आगमन न जाय, परन्तु ओ कुलनी मर्यादाने जाणीने गमन करवा योग्य परिमित स्थान सुधी न नर्धने जामे रहे, अर्थात्—डोछनी मर्यादानु उल्लंघन न करे, ओथी विपरीत आचरणे करवाथी गृहस्थने क्रोध आदि उत्पन्न थवानी सम्भावना रहे छे (२४)

तत्थेव० इत्यादि विचक्षण भिक्षु ने मर्यादित भूमि पर जामे होय त्याना भूमिभागतुं प्रतिलेखन करे, स्नान-घर तथा उच्चार आदिना स्थान (जगु) नी तरङ्ग दृष्टि न करे वियक्खणो शब्दथी अगीतार्थ साधुने स्वतन्त्र गोचरी करवाने निषेध करवाभां आये छे सिणाणस्स इत्यादि पदोथी ‘नग्न स्त्री आदि देखाधे जाने कारणे रागादि भाव उत्पन्न थवानी सम्भव छे’—ओम सूचित करवाभा आवुं छे. (२५)

मूलम्—^१दगमद्विय^२आयाणे, ^३बीयाणि ^४हरियाणि य ।

परिव^५ज्जंतो चिद्वि^६ज्जा, सर्विन्द्रियसमाहि^७ए ॥२६॥

छाया—दकमृत्तिकाऽऽदानं, बीजानि हरितानि च ॥२६॥

परिवर्जयंस्तिष्ठेत्, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥२६॥

सान्वयार्थः—(और वहांभी) दगमद्वियआयाणे = सचित्त जल और मिट्टीयुक्त मार्ग-
को बीयाणि=शाली आदि बीजोंको य =और हरियाणि=हरित कायको परिवज्जंतो =
वरजता हुआ अर्थात् उससे हटकर सर्विन्द्रियसमाहि^७ए=सब इन्द्रियोंको गोपता हुआ
चिद्विज्जा = खड़ा रहे ॥२६॥

टीका 'दगमद्विय०' इत्यादि । 'दकमृत्तिकाऽऽदानं=दकं च मृत्तिका चेति दक-
मृत्तिके, आदीयते=आनीयतेऽनेनेत्यादानं=मार्गः, दकमृत्तिकयोरादानं दकमृत्तिकाऽऽदानं-
=जलमृत्तिकाऽऽनयनमार्गस्तत् । बीजानि = सचित्तानि शाल्यादीनि, हरितानि=वनस्प-
तिमात्राणि, चकारादन्यान्यप्यकल्प्यवस्तुजातानि परिवर्जयन् = परित्यजन् सर्वेन्द्रियसमा-
हितः = तत्तदिन्द्रियविषयव्यासङ्गरहितस्तिष्ठेत्=अवस्थिति कुर्यात् ॥२६॥

मूलम्—^१तत्थ ^३स चिद्वि^२माणस्स, ^५आहारे ^४पाणभोयणं ।

अक^६ल्पियं न गेण्हि^७ज्जा, पडिगाहि^८ज्ज क^९ल्पियं ॥२७॥

छाया—तत्र तस्मै तिष्ठते, आहरेत्पान-भोजनम् ।

अकल्पिकं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकम् ॥२७॥

सान्वयार्थः—तत्थ = वहां चिद्विमाणस्स=खड़े हुए तस्स = उस साधुके लिए (गृह-
स्थ) पाणभोयणं = आहार-पानी आहारे = लाकर देवे तो (साधु उसमें) अकल्पियं =
अकल्पनीय आहार आदि न गेण्हिज्जा = नहीं लेवे, (किन्तु) कल्पियं = कल्पनीय
होवे तो पडिगाहिज्ज = लेवे ॥२७॥

टीका—'तत्थ से०' इत्यादि । तत्र = गृहस्थगृहे तिष्ठते तस्मै^३ भिक्षवे गृहि-

'दगमद्विय०' इत्यादि । सचित्त जल और मृत्तिका लाने का मार्गका, और शाली आदि
सचित्त बीज, वनस्पतिकाय तथा अन्य अकल्प्य पदार्थोंका वर्जन करता हुआ - उनसे दूर हट
कर सब इन्द्रियोंका सयम करता हुआ खड़ा होवे ॥ २६ ॥

दगमद्विय० इत्यादि. सचित्त जल अने माटीनुं अने शालि (डागर) आदि सचित्त
बीज, वनस्पतिकाय तथा अन्य अकल्प्य पदार्थोंनुं वर्जन करता-तेनाथी दूर उडीने सयं
इन्द्रियोना सयम करता थका उला रहे (२६)

१ दकशब्दो जलपर्यायवचन - 'प्रोक्तं प्राज्ञैर्भुवनमतं जीवनीयं दकं च । इति हाल-
युधकोशात् । २ सूत्रे प्राकृतत्वाच्चतुर्थ्याः षष्ठी ।

ण्यादिः पानभोजनं = पानं-पेयं तिलतण्डुलादिधावनजलम् भोजनं = भोज्यमन्नादिकम्
आहरेत् = उपनयेत्-दद्यादित्यर्थः । तत्रायं विशेषः = उपनतेषु पानभोजनादिषु अक-
ल्पिकं = कल्पितमयोग्यमनेपणीयमित्यर्थः न गृह्णीयात् = नाददीत, कल्पिकं = कल्प्यं
निरवद्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥२७॥

१ २ ३ ४ ५
मूलम्-आहरंती सिया तत्थ, परिसाडिज्ज भोयणं ।

६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२८॥

छाया--आहरन्ती स्यात्तत्र, भोजनं परिशाटयेत् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥२८॥

सान्त्वयार्थः-और-आहरती = आहार-पानी देती हुई वह-दात्री सिया = कदाचित्
अगर तत्थ = वहां भोयणं = भोजन-पान परिसाडिज्ज = नीचे गिरावे तो दितियं =
देती-हुई उस वार्डसे (साधु) पडियाइक्खे = कहे कि तारिस = इस प्रकारका आहार-पानी
मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥२८॥

टीका-'आहरंती०' इत्यादि । आहरन्ती = भिक्षामानीय ददती गृहिणी स्यात् =
कदाचित् तत्र स्थाने भोजनम् = आहारं परिशाटयेत् = इतस्तो विकिरेत् जानुप्रमाणोच्चप्र-
देशात् कणादिमात्रमपि, तदधःप्रदेशाच्च निरन्तर पातयेदिति वृद्धः, तदा ददतीं प्रति
भिक्षुः आचक्षीत-ब्रवीत्, तादृशम् = उक्तप्रकारकमन्नादिकं मे = मम न-कल्पते = न-
युज्यते न ग्राह्यमिति भावः ।

पाकादिगृहकार्याणां प्रायः स्वयधीनत्वेन तत्रोपरिथितिप्राधान्यात्तद्ग्रहणम् ॥२८॥

'तत्थ से' इत्यादि । गृहस्थके घरमें खड़े हुए साधुको गृहिणी (स्त्री) आदि तिल तण्डुल
आदिका धोवन तथा अन्नादिक देवे तो उनमें से अकल्पनीय (अनेषणीय) पदार्थों का ग्रहण न
करे, कल्पनीयका ग्रहण करे ॥ २७ ॥

'आहरती' इत्यादि । अगनादि देते समय दाता के हाथसे घुटनेसे ऊपरके प्रदेशसे यदि
एक भी कण गिर जाय, अथवा घुटने से नीचेके प्रदेश से निरन्तर गिर रहा हो तो भिक्षु दाता
से कहे कि ऐसा अन्नादिक मेरे लिए ग्राह्य नहीं है ।

तत्थ से इत्यादि गृहस्थना घरमा ठिसेला साधुने गृहिणी (स्त्री) आदि तिल तण्डुल
(आभा) आदिनु धोवन तथा अन्नादिक आपे तो ऐमाशी अकल्पनीय (अनेषणीय) पदा
र्थोने अक्षु न करे, कल्पनीयने अक्षु करे (२७)

आहरंती० इत्यादि. अगनादि देते वणते दाताना हाथमाथी घुंठणी उपरना प्रदेश
थी ने ऐः पक्षु कक्षु पडी नय, अथवा घुंठणी नीचेना प्रदेशथी निरंतर पडी रह्यु
हाथ तो भिक्षु दाताने कहे के ऐवा अगनादि मेरे ग्राह्य नहीं

रसोऽधुं क्षम प्रायः श्रीश्रीने अधीन रहे छे अने रसोऽधुं मुज्यते श्री डाव

मूलम्—संमदमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।

असंजमकरिं नच्चा, तारिसं परिवज्जए ॥२९॥

छाया—संमर्दयन्ती प्राणान्, बीजानि हरितानि च ।

असंजमकरिं ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत् ॥२९॥

सान्त्वयार्थः—तथा-पाणाणि=वेडन्द्रियादिक प्राणियोंको बीयाणि=शालि आदि बीजोंको य=और हरियाणि=हरि वनस्पतिकार्यको संमदमाणी=पैरोंसे कुचलती हुई (आहार-पानी देवे तो) उसे असंजमकरिं=साधुके लिये अयतना करनेवाली नच्चा=जानकर (साधु) तारिसं=सदोप आहार देने वाली उसे परिवज्जए=बरजे अर्थात् उसके हाथसे आहार-पानी नहीं लेवे ॥२९॥

टीका—‘संमदमाणी०’ इत्यादि । प्राणान् बीजानि हरितानि च संमर्दयन्ती=पादसंघटनादिना पीडयन्ती अगनादिकं दद्यादिति शेषः, तदा असंजमकरिं=साधुनिमित्तमयतनाकारिणीम् ज्ञात्वा तादृशीम्=उक्तस्वरूपां सदोपमाहारादिकं ददतीं तां परिवर्जयेत् प्रत्यादिशेत्, तद्वस्ततो नान्नादिकं गृह्णीयादित्यर्थः । इयं भिक्षादानार्थमागच्छन्ती प्राणादीनि मर्दयतीति तद्विराधना मय्यप्यापद्येतेति भावयन् भिक्षां न गृह्णीयादिति भावः ॥

मूलम्—साहदट्टु निक्खवित्ताणं, सच्चित्तं घट्टियाणि य ।

तद्देव समणद्धाए. उदगं संपणुल्लिया ॥३०॥

रसोई का काम प्रायः स्त्रीयो के अधीन रहता है और रसोईमें मुख्यतया स्त्री मौजूद रहती है, अत एव गाथा में स्त्रीका ग्रहण किया है ॥ २८ ॥

‘समदमाणी०’ इत्यादि । प्राण बीज वनस्पति आदि सच्चित्त को कुचलती-रौ दती हुई अन्नादि देवे तो साधुके लिए अयतना करनेवाली समझकर उसे त्याग देवे, अर्थात् उसके हाथसे अन्नादि ग्रहण न करे । तात्पर्य यह है कि—‘यह भिक्षा देनेके लिए जो अयतना कर रही है ऐसी अवस्थामें आहार लेनेसे मुझे भी इस हिंसाका भागी बनना पड़ेगा’ ऐसा विचार करके मुनि उससे आहार न ले ॥ २९ ॥

रहे छे, तेथी गाथाभा स्त्रीने अडुणु करवाभा आनी छे. (२८)

संमदमाणी० इत्यादि प्राणु बीज वनस्पति आदि सच्चित्तने कुचलती-दोणती (स्त्री) अन्नादि आपे तो साधुने माटे अयतना करनारी समझने तेने त्यज्ज हे. अर्थात् अने हाथथी अन्नादि अडुणु न करे तात्पर्य अरे छे के—‘आ भिक्षा आपवाने ने अयतना करी रही छे, जेवी अवस्थामा आहार देवाधी माटे पणु मे डिमाना लागी जनपुं पडशे’ जेवो विचार करीने मुनि तेना हाथथी आहार दे नडि

९ १० १२ ११
ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहरं पाणभोयणं ।

१३ १४ १७ १५ १८ १६
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३१॥

छाया—संहृत्य निक्षिप्य, सचित्तं घट्टयित्वा ।

तथैव श्रमणार्थम्, उदकं संप्रणुद्य ॥३०॥

अवगाह्य चालयित्वाऽऽहरेत्पानभोजनम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥३१॥

सान्त्वयार्थः—समणद्वारण=साधुके लिए साहट्टु=संहरण करके अर्थात् एक वर्तनसे दूसरे वर्तनमें डालकरके, निक्खवित्ताणं=सचित्त वस्तु पर आहारादिको रखकर अथवा आहारादिके ऊपर सचित्त वस्तुको रखकर, सचित्तं=सचित्त वस्तुका घट्टियाणिय=संघटा-स्पर्श-करके, तथैव=उसीप्रकार उदकं=सचित्त अणुकायको सपणुल्लिया=इधर-उधर रखकर, ओगाहइत्ता=वर्षासे आँगनमें भरे हुए पानीमें अवगाहन-प्रवेश-करके, चलइत्ता=रुके हुए जलको नालीद्वारा या हाथसे बाहर निकालकर यदि पाणभोयण=आहार-पानी आहरे=देवे तो दितियं=देती हुई उस बाईसे (साधु) पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=इस प्रकारका आहारपानी मे =मुझे न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥३०-३१॥

टीका—‘साहट्टु०’ इत्यादि, ‘ओगाहइत्ता’ इत्यादि च । यदि श्रमणार्थं=भिक्षु-निमित्तं संहृत्य=भाजनाद्भाजनान्तरे संहरण कृत्वा,

संहरणस्य चतुर्भङ्गी यथा—

(१) सचित्ते सचित्तस्य, (२) सचित्तेऽचित्तस्य, (३) अचित्ते सचित्तस्य, (४)

‘साहट्टु०’ इत्यादि, और ‘ओगाहइत्ता०’ इत्यादि । यदि श्रमणके लिए एक वर्तन से दूसरे वर्तनमें संहरण करके (निकालकर), निक्षेपण करके (एक ऊपर दूसरेको रखकर), सचित्तके साथ संघटा करके (जलको हिलाकर), तथा अवगाहन करके—वर्षा ऋतुमें घरके आँगनमें रुके (भरे) हुए वारिसके जलमें प्रवेश करके या उसे नालीद्वारा निकालकर पान-भोजन देवे तो देनेवालीसे श्रमणकहे कि ‘ऐसा अन्न-पान आदि मुझे ग्राह्य नहीं है ।

पहले संहरणका वर्णन करते हैं—संहरणकी चौभङ्गी इस प्रकार होती है—

साहट्टु० इत्यादि, अने ओगाहइत्ता० इत्यादि ने श्रमणने भाटे अेक वासणुभाथी णील वासणुभा संहरणु करीने (ठाढीने), निक्षेपणु करीने (अेकनी उपर णीलने राणीने), सचित्तनी साथे संघटा करीने, ञणतु उपसर्द्धन करीने (ञणने हलावीने) तथा अवगाहन करीने, वर्षा ऋतुभा घरना आंगणुभां लरेला परसादना पाणुभां प्रवेश करीने या अेने नाणी (आण) वडे डाढी नाणीने लोअन-पान आये तो अे आपनारीने श्रमणु कडे के “अेवां अन्न-पान भारे ग्राह्य नथी.”

पहलां संहरणुतु वधुंन करे छे संहरणुनी चौभङ्गी आ प्रकारे थाय छे—

अचित्तेऽचित्तस्य संहरणम् । एषु चतुर्थो भङ्गो ग्राह्यः । अस्यापि चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा—

(१) शुष्के शुष्कस्य, (२) शुष्के आर्द्रस्य, (३) आर्दे शुष्कस्य, (४) आर्दे आर्द्रस्य संहरणम् ।

एतेऽपि पुनः प्रत्येकं स्वगतालपत्वबहुत्वाभ्यां भिन्नाश्चतुर्भङ्गान् भजन्ते । तत्र [१] 'शुष्के शुष्कस्ये'—त्येतदाख्यप्रथमभङ्गस्य चतुर्भङ्गी यथा—

(१) अल्पशुष्के अल्पशुष्कस्य, (२) अल्पशुष्के बहुशुष्कस्य, (३) बहुशुष्केऽल्पशुष्कस्य, (४) बहुशुष्के बहुशुष्कस्य संहरणम् ।

[२] 'शुष्के आर्द्रस्ये'—त्येतद्द्वितीयभङ्गस्य चतुर्भङ्गी यथा—

(१) अल्पशुष्केऽल्पार्द्रस्य, (२) अल्पशुष्के बह्वार्द्रस्य, (३) बहुशुष्केऽल्पार्द्रस्य, (४)

(१) सचित्तमें सचित्तका, (२) सचित्तमें अचित्तका (३) अचित्तमें सचित्तका, (४) अचित्तमें अचित्तका ।

इन चार भगोमेंसे चौथा भंग साधुको कल्पनीय है । इसके भी चार भग होते हैं—

(१) सूखेमें सूखेका (२) सूखेमें गीलेका ।

(३) गीलेमें सूखेका, (४) गीलेमें गीलेका ।

ये चारो भग भी अल्पता और बहुलताके भेदसे चार चार प्रकारके होते हैं—

[१] 'सूखेमें सूखेका' इस प्रथम भंगकी चौभंगी इस तरह है—

(१) थोड़े सूखेमें थोड़े सूखेका, (२) थोड़े सूखेमें बहुत सूखेका । (३) बहुत सूखेमें थोड़े सूखेका, (४) बहुत सूखेमें बहुत सूखेका ।

[२] 'सूखेमें गीलेका' इस दूसरे भंगकी चौभंगी—

(१) थोड़े सूखेमें थोड़े गीलेका, (२) थोड़े सूखेमें बहुत गीलेका, (३) बहुत सूखेमें

(१) सञ्चित्तमां सञ्चित्तनुं, (२) सञ्चित्तमा अञ्चित्तनुं, (३) अञ्चित्तमां सञ्चित्तनुं, (४) अञ्चित्तमां अञ्चित्तनुं

अथ चार लांगामाथी योथो लांगो साधुने माटे कल्पनीय छे जेना पणु या० लागा थाय छे—

[१] सूकांमां सूकानुं, (२) सूकांमा लीलानुं, (३) लीलांमा सूकानुं अने (४) लीलांमा लीलानुं

अथ चार लांगो पणु अल्पता अने बहुलताना लेद करीने चार चार प्रकारना थाय छे—

[१] 'सूकांमां सूकानुं' अथ प्रथमनी योलांगी या प्रमाणे छे—

(१) थोडा सूकांमा थोडा सूकानुं, (२) थोडा सूकांमा बहु सूकानुं (३) बहु सूकांमा थोडा सूकानुं, (४) बहु सूकांमा बहु सूकानुं

[२] 'सूकांमा लीलानुं' अथ लीलांमा लांगानी योलांगी—

વહુશુષ્કે વહાર્દ્રસ્ય સંહરણમ્ ।

[૩] 'આર્દ્રે શુષ્કસ્યે'-તિ તૃતીયમજ્ઞસ્ય ચતુર્મજ્ઞી યથા -

(૧) અલપાર્દ્રેડલપશુષ્કસ્ય (૨) અલપાર્દ્રેવહુશુષ્કસ્ય, (૩) વહાર્દ્રેડલપશુષ્કસ્ય, (૪)

વહાર્દ્રે વહુશુષ્કસ્ય સંહરણમ્ ।

[૪] 'આર્દ્રે આર્દ્રેસ્યે'-તિ ચતુર્થમજ્ઞસ્ય ચતુર્મજ્ઞી યથા -

(૧) અલપાર્દ્રેડલપાર્દ્રસ્ય, (૨) અલપાર્દ્રે-વહાર્દ્રસ્ય, (૩) વહાર્દ્રેડલપાર્દ્રસ્ય, (૪) વહાર્દ્રે

વહાર્દ્રસ્ય સંહરણમ્ ।

આમુ પૂર્વોક્તમજ્ઞીષુ પ્રત્યેકચતુર્મજ્ઞચાઃ 'અલપશુષ્કેડલપશુષ્કસ્ય' વહુશુષ્કેડલપશુષ્ક-
સ્યે-ત્યાદિરૂપો પ્રથમ-તૃતીયમજ્ઞૌ કલ્પ્યૌ શેષાવકલ્પ્યૌ, તથાગ્રહણે યાત્રોત્થાપનાદિના
દાતુઃ કષ્ટ-પાત્રસ્ફુટન-તદ્રતવસ્તુવિકરણાડપ્રીત્યાદિસમ્ભવાત્

થોડે ગોઝેકા, (૪) વહુન સૂલેમે વહુન ગીઝેકા ।

[૩] 'ગીલેમેં સૂલેકા' ઇમ તોસર મંગળી ચૌમગી-

(૧) થોડે ગીલેમેં થોડે સૂલેકા, (૨) થોડે ગીલેમેં વહુત સૂલેકા, (૩) વહુત ગાલેમેં થોડે
સૂલેકા (૪) વહુન ગાલેમે વહુત સૂલેકા ।

[૪] 'ગાલેમેં ગીલેકા' ઇસ ચૌથે મંગળી ચૌમગી-

(૧) થોડે ગીલેમેં થોડે ગીઝેકા (૨) થોડે ગીલેમે વહુત ગીલેકા । (૩) વહુત ગીલેમેં
થોડે ગીલેકા, (૪) વહુત ગીલેમે વહુત ગીલેકા ।

ઇન ત્રણે ચૌમંગિયોમેંસે 'થોડા સૂલેમેં થોડા સૂલ્યા મિલાના' ઓર વહુત સૂલેમેં થોડા
સૂલ્યા મિલાના' યે પહેલે ઓર તોસરે મંગળા હૈ । દૂસરે ઓર ચૌથે મંગળા નહીં હૈ । ઇસ
પ્રકારકે ગ્રહણ કરને સે વર્તન ઉઠાનેકે કારણ દાતા કો કષ્ટ, વર્તનકા ફૂટજાના, ઓર વસ્તુકા

(૧) થોડા સૂકામા થોડા લીલાનુ, (૨) થોડા સૂકામા બહુ લીલાનુ (૩) બહુ સૂકામા
થોડા લીલાનુ, (૪) બહુ સૂકામા બહુ લીલાનુ.

[૩] 'લીલામાં સૂકાનુ' એ ત્રીજા ભાંગાની ચૌલગી-

(૧) થોડા લીલામા થોડા સૂકાનુ, (૨) થોડા લીલામા બહુ સૂકાનુ, (૩) બહુ લીલામાં
થોડા સૂકાનુ, (૪) બહુ લીલામા બહુ સૂકાનુ.

[૪] લીલામા લીલાનુ' એ ચોથી ચૌલગી-

(૧) થોડા લીલામા થોડા લીલાનુ, (૨) થોડા લીલામા બહુ લીલાનુ (૩) બહુ
લીલામા થોડા લીલાનુ, (૪) બહુ લીલામા બહુ લીલાનુ.

આ ત્રણ ચૌલગીઓમાથી 'થોડા સૂકામા થોડુ સૂકુ મેળવવુ' અને 'બહુ સૂકામા
થોડુ સૂકુ મેળવવુ' એ પહેલો અને ત્રીજો એ બે ભાગા ગ્રાહ્ય છે બીજા અને ચોથા ભાગા
ગ્રાહ્ય નથી એ પ્રમાણે ગ્રહણ કરવાથી વાસણ ઉપાડવાને કારણે દાતાને કષ્ટ, વાસણ ફૂટી
જવુ અને વસ્તુ વેરાઈ-ઢાંગાઈ જવી, અને અપ્રીતિ થવી આદિ ફલણ થાય છે, જેમકે કોઈ

निक्षिप्य=एकस्योपर्यन्यस्य निक्षेपण कृत्वा । निक्षेपणं च त्रिधा-सचित्तमचित्त-
मिश्रं चेति, एतानाश्रित्य तिस्रश्चतुर्भङ्गयो भवन्ति । तत्र-

[१] सचित्ता-ऽचित्तयोश्चतुर्भङ्गी यथा—

(१) सचित्ते सचित्तस्य, (२) सचित्तेऽचित्तस्य, (३) अचित्ते सचित्तस्य, (४) अ-
चित्तेऽचित्तस्य निक्षेपणम् ।१।

[२] सचित्तमिश्रयोश्चतुर्भङ्गी यथा--

(१) सचित्त सचित्तस्य, (२) सचित्ते मिश्रस्य, (३) मिश्रे सचित्तस्य, (४) मिश्रे
मिश्रस्य निक्षेपणम् ।२।

[३] अचित्त-मिश्रयोश्चतुर्भङ्गी यथा—

(१) अचित्तेऽचित्तस्य, (२) अचित्ते मिश्रस्य, (३) मिश्रेऽचित्तस्य, (४) मिश्रे मिश्र-
स्य निक्षेपणमिति ।३।

विखरजाना और अप्रीति होना आदि दूषण होते हैं । जैसे किसी दाताने बहुत गीलेका या बहुत
सूखेका सहरण करनेके लिए बड़ा भारी वर्तन उठाया तो उसे कष्ट होगा ।

निक्षेपण दोष तीन प्रकारका है—(१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) मिश्र । इन तीनोंको
आश्रित करके तीन चौभंगियाँ होती हैं ।

[१] सचित्त-अचित्तकी चौभंगी—

(१) सचित्तपर सचित्तका, (२) सचित्त पर अचित्तका, (३) अचित्त पर सचित्तका,
(४) अचित्त पर अचित्तका ॥१॥

[२] सचित्त-मिश्रकी चौभंगी—

(१) सचित्त पर सचित्तका, (२) सचित्त पर मिश्रका, (३) मिश्रपर सचित्तका, (४) मिश्र
पर मिश्रका निक्षेप करना ॥२॥

[३] अचित्त-मिश्रकी चौभंगी

दाताએ બહુ લીલાનુ યા બહુ સૂકાનુ સહરણ કરવાને માટે બહુ ભારે વાસણ ઉપાડયું
હોય તેને કષ્ટ થાય

નિક્ષેપણ દોષ ત્રણ પ્રકારનો છે. (૧) સચિત્ત, (૨) અચિત્ત, (૩) મિશ્ર એ ત્રણને
આશ્રિત કરવાથી ત્રણ ચૌભંગીઓ થાય છે

[૧] સચિત્ત અચિત્તની ચૌભંગી.

(૧) સચિત્ત પર સચિત્તનું, (૨) સચિત્તપર અચિત્તનું, (૩) અચિત્ત પર સચિત્તનું
(૪) સચિત્ત પર અચિત્તનું ૧૧। (૨) સચિત્ત મિશ્રની ચૌભંગી—

(૧) સચિત્તપર સચિત્તનું (૨) સચિત્તપર મિશ્રનું (૩) મિશ્રપર સચિત્તનું ૪))

મિશ્ર પર મિશ્રનું, નિક્ષેપણ કરવું ૧૨।

[૩] અચિત્ત-મિશ્રની ચૌભંગી—

પુનરપિ પૃથિવ્યાદિકાયષટ્કોપરિ પૃથિવ્યાદીનાં નિક્ષેપણેન પ્રથમચતુર્ભંગીસ્થિત-
પ્રથમમહ્ગસ્ય 'સચિત્તે સચિત્તસ્યે'-ત્યેવંરૂપસ્ય ષટ્ત્રિંશદ્ભેદા ભવન્તિ, તદ્યથા --

(૧) પૃથિવ્યાં પૃથિવ્યાઃ, (૨) અપામ્, (૩) તેજસઃ (૪) વાયોઃ, (૫) વનસ્પતેઃ,
(૬) ત્રસસ્ય નિક્ષેપણમિતિ ષટ્ (૬) ।

એવમપ્કાયાદાવપિ પ્રત્યેકકાયસ્ય નિક્ષેપણેન ષટ્ત્રિંશદ્ ભેદા જાયન્તે । એવં શેષમ-
હ્નત્રયસ્યાપિ પ્રત્યેકં ષટ્ત્રિંશદ્ ભેદા ભવન્તિ । સંકલનયા પ્રથમચતુર્ભંગ્યાશ્ચતુશ્ચત્વારિંશદુ-
ત્તરમેકશતં મહ્ના ભવન્તિ । ઉક્તપ્રકારેણ શેષચતુર્ભંગીદ્વિકસ્યાપિ મહ્નસમ્પાદને સંકલનયા
સર્વે ભેદા દ્વાત્રિંશદધિકાનિ ચતુઃ શતાનિ (૪૩૨)સમ્પદ્યન્તે ।

(૧) અચિત્ત પર અચિત્તકા, (૨) અચિત્ત પર મિશ્રણકા । (૩) મિશ્રપર અચિત્તકા, (૪)
મિશ્રપર મિશ્રકા નક્ષેપ કરના ॥૩॥

ફિર મી પૃથિવી આદિ ષટ્કાય પર પૃથિવીકાયકા નિક્ષેપણ કરનેસે પ્રથમ ચતુર્ભંગીકે 'સચિ-
ત્ત પર સચિત્તકા' હસ પ્રથમ મંગકે છત્તીસ મંગ હોતે હે । વે હસ પ્રકાર હૈ--

(૧) પૃથિવી પર પૃથિવીકા, (૨) અપ્કા, (૩) તેજકા, (૪) વાયુકા, (૫) વનસ્પતિકા
ઔર (૬) ત્રસકા નિક્ષેપણ કરના ।

હસી પ્રકાર અપ્કાય આદિ પર પૃથિવીકાય આદિ છહ કાયોકા નિક્ષેપણ કરનેસે છત્તીસ
મંગ હોતે હૈ, અર્થાત્ છહ કાય પર છહ કાયકા નિક્ષેપણ હોતા હૈ અતઃ છહસે છહકા ગુણન કરને
સે પ્રથમ મંગકે છત્તીસ મેદોકી સઘ્યા નિકલતી હૈ । એસે 'સચિત્ત પર સચિત્તકા' 'સચિત્ત પર
મિશ્રકા' મિશ્ર પર સચિત્તકા, ઔર મિશ્ર પર મિશ્રકા' હન સવ (૪) મંગોકો છત્તીસ છત્તીસ સઘ્યા
જોડ્ઢ દેનેસે (૩૬+૩૬+૩૬+૩૬)—એકસૌ ચૈવાલીસ (૧૪૪) મંગ હો જાતે હૈ । દૂસરી દો
ચૌમંગિયોકે મી હતને હી મંગ હોતે હૈ, હનકો જોડ્ઢનેસે ચારસૌ ચત્તીસ (૪૩૨) મંગ હોતે હૈ ।

(૧) અચિત્ત પર અચિત્તનુ', (૨) અચિત્ત પર મિશ્રનુ (૩) મિશ્ર પર અચિત્તનુ,
(૪) મિશ્ર પર મિશ્રનુ (નિક્ષેપણુ કરવુ. ૧૩)।

વળી પણુ પૃથિવી આદિ ષટ્કાય પર પૃથિવીકાયનુ નિક્ષેપણુ કરવાથી પ્રથમ ચૌભંગીના
'સચિત્ત પર સચિત્તનુ' એ પ્રથમ ભાગાના છત્તીસ ભાગા થાય છે. તે આ પ્રમાણુ છે--

(૧) પૃથિવી પર પૃથિવીનુ', (૨) અપૂ (અળ) નુ (૩) તેજનુ (૪) વાયુનુ', (૫) વન-
સ્પતિનુ, (૬) ત્રસનુ નિક્ષેપણુ કરવુ

એ રીતે અપ્કાય આદિ પર પૃથિવીકાય આદિ છ કાયેનુ નિક્ષેપણુ કરવાથી છત્તીસ
ભાગા થાય છે, અર્થાત્ છ કાય પર છકાયનુ નિક્ષેપણુ થાય છે એટલે હને છએ
ગુણુવાથી પ્રથમ ભંગના છત્તીસ ભેદોની સઘ્યા નીકળે છે એમ 'સચિત્ત પર સચિત્તનુ'
'સચિત્ત પર મિશ્રનુ' 'મિશ્ર પર સચિત્તનુ' અને 'મિશ્ર પર મિશ્રનુ' એ બધા (૪)
ભાગાની છત્તીસ-છત્તીસ સઘ્યા જોડી દેવાથી (૩૬+૩૬+૩૬+૩૬) એકસૌ ચુવાળીસ (૧૪૪)
ભાગા થાય છે. બીજુ એ ચૌભંગીઓના પણુ એટલાજ ભેદ થાય છે, એને જોડવાથી ચાર-

इमे एककायस्योपर्येकस्यैव कायस्य निक्षेपणभेदाः प्रदर्शिताः, किन्तु 'एककाये काय-द्वयस्य चैकस्ये' -त्यादिनिक्षेपणेन चाऽन्येषामपि संभवः, यथा—

'पृथिव्यां पृथिव्यप्काययोरित्यादिपृथिव्यप्काययोर्वनस्पते'-रित्यादि च स्वय-मवसेयमिति विस्तरभयाद्विरम्यते ।

पूर्वोक्तेषु भङ्गसमुदयेषु 'अचित्तेऽचित्तनिक्षेपण'-लक्षणभङ्गस्य कल्प्यत्वम्, शेषा आन-न्तर्यस्वरूपाः पारम्पर्यस्वरूपा वा निखिला अकल्प्या एवेति बोद्धव्यम् ।

सचित्तं=सचित्तपृथिव्यादिकं घट्टयित्वा=संसृश्य संचाल्य वा, संस्पर्शनं सचित्ताऽ-चित्त-मिश्रभेदात्त्रिविधं, तदपि पृथिव्यादिकायपट्केन भिद्यमानमष्टादशविधं, पुनर्दात्-देय-भेदाभ्यां द्विविधतया संकलनया पट्त्रिंशद् भेदा जायन्ते, एतेषामपि पुनः—आनन्तर्य-पारम्पर्यभेदाद् द्वासप्ततिर्भेदा भवन्ति । एवं कायद्वयकायत्रिकादिसंस्पर्शनेनोत्तरोत्तरभूरिभे-

ये चारसौ वत्तीस (४३२) भंग एक काय पर एक कायका निक्षेपण करनेसे होते हैं, किन्तु एक काय पर दो कायका, जैसे—

पृथिवीकाय पर पृथिवीकायका और अप्कायका निक्षेपण करनेसे, तथा दो कायों पर एक काय का, जैसे पूर्वोक्त दो कायो पर वनस्पति आदि किसी एक कायका निक्षेपण करनेसे और भी बहुतेरे भंग होते हैं । सयोगसे बननेवाले इन उत्तर भंगोको स्वयं समझ लेना चाहिए, विस्तार भयसे यहाँ नहीं बताते ।

पूर्वोक्त भंगोमेंसे अचित्त पर अचित्तका निक्षेपण करनेरूप एक भंग कल्पनीय है, अवशेष साक्षात् या पारम्परिक निक्षेपणरूप सब भंग अकल्प्य हैं ।

सस्पर्शन तीन प्रकारका है— (१) सचित्त संस्पर्शन, (२) अचित्त संस्पर्शन, और (३) मिश्र संस्पर्शन । इन तीनोंके पृथिवी आदि षट्कायके भेदसे अठारह भेद होते हैं । और अनन्तर

सेने अत्रीस (४३२) भांगा थाय छे.

अये ४३२ भांगा अयेक काय पर अयेक कायनुं निक्षेपणु करवाथी थाय छे परन्तु अयेक काय पर अयेक कायनुं, जेभडे—

पृथिवी काय पर पृथिवी कायनुं अने अप्कायनुं निक्षेपणु करवाथी, तथा अये काये पर अयेक कायनुं जेभे पूर्वोक्त अये काये पर वनस्पति आदि कोअ अयेक कायनुं निक्षेपणु करवाथी। भीन पणु धणु भांगा थाय छे. अये संयोगथी यता उत्तर भांगा पोतानी भेजे समणु देवा; अहुं विस्तार थवाने कारणे अहीं आप्या नथी

पूर्वोक्त भागाभांथी अचित्त पर अचित्तनुं निक्षेपणु करवाइय अयेक भांगा कल्पनीय अये, आहीना साक्षात् अथवा पारंपरिक निक्षेपणुइय अथा भांगा अकल्पनीय छे.

सस्पर्शन त्रणु प्रकारनां छे—(१) सचित्त संस्पर्शन, (२) अचित्त संस्पर्शन, अने (३) मिश्र संस्पर्शन अये त्रणुना पृथिवी आदि षट्कायना लेहे करीने अठार लेह थाय छे। आता अने देय (वस्तु) ना लेहे करीने अत्रीस लेह थाय छे. अने यही तेवी ज परंपराना

दाः स्वयमूहनीयाः प्रेक्षावद्भिरिति ।

ननु पारम्परिकसंघट्टनेन दीयमानाऽऽहारादिवर्जने पृथ्वीसंघट्टनमनिवार्यमितितत्संघट्टनेऽपि वर्जनप्रसक्तौ भिक्षणां सर्वदाऽऽहारप्रतिषेधप्रसङ्ग इति चेन्न, पृथिव्या अचलतया तत्सञ्चलनाद्यभावेन तत्संघट्टने जीववाधाया असम्भवात्, तत्संघट्टिताऽऽहाराऽऽदानं भिक्षूणामप्रतिषेध्यमिति भावः उक्तपरम्परिकसंघट्टिताऽऽहाराऽऽदानविषये प्रतिषेधश्चलाऽऽधारविषयः, तत्र प्राणिपीडासंभवात् व्यवहारदोषाच्चेति भावः ।

एतेषु मध्ये गाथोक्तं सचित्तम्, अन्तर्गर्भितत्वान्मिश्रं च संस्पृश्य सञ्चाल्य वा तथैव= पुनरपि उदकम्= अण्कायं 'सचित्त' - मित्यनुवर्तते सम्प्रणुद्य=संप्रेर्य इतस्ततः कृत्वेत्यर्थः ॥३०॥ तथा—अवगाह्य=वर्षाकाणे गृहाङ्गणप्रतिरुद्धजलान्तः प्रविश्य, चालयित्वा= प्रणालिकादिना निस्सार्य च पानभोजनमाहरेत् तदा ददतीमित्यादि पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

तथा परम्पराके भेदसे बहत्तर (७२) भेद होजाते है । इनके सिवाय दो कायका या तीन कायका स्पर्श करनेसे और भी भेद होजाते है, वे भेदबुद्धिमानोंको स्वयं विचार लेने चाहिए ।

प्रश्न— हे गुरुमहाराज । यदि पारम्परिक संघट्टनसे दिये हुए आहार आदिका भी त्याग किया जायगा तो साधु कभी आहार नहीं ले सकेगे क्योंकि पृथ्वीका संघट्टन अनिवार्य है —आहार आदि पृथिवीपर रहते है और सचित्त जल भी पृथ्वी पर रहता है, अतः सचित्त जलका पृथिवीका संघटा है और पृथिवीका आहारादिके साथ संघटा है, इसलिए आहारादि तथा सचित्त जलका पारम्परिक संघटा होता ही है ।

उत्तर—हे शिष्य ! पृथिवी अचल है, उसका संचलन नहीं होना, अत एव ऐसे संघट्टसे जीवोंको बाधा नहीं होती, इसलिए पृथिवीसे संघट्टित आहारका ग्रहण करना साधुओंके लिए निषिद्ध नहीं है । पहले पारम्परिक संघट्टित आहारका जो त्याग बनाया गया है उसे चल आधार विषयक ही समझना चाहिये, क्योंकि उस संघट्टनसे प्राणियोंको पीडा होती है तथा व्यवहारदोष

लेहे करीने ओतेर (७२) लेह थाय छे ते उपरात जे कायने या त्रणु कायने स्पर्श करवाथी भीअ पणु लेह थाय छे ते लेहे बुद्धिमानोअये स्वय विचारी लेवा

प्रश्न—हे गुरु महाराज ? जे पारम्परिक संघट्टनथी आपेला आहारादिने पणु त्याग करवाभां आवथे तो साधु कदापि आहार लभ शकथे नछि, कारणु जे पृथिवीनु संघट्टन अनिवार्य छे—आहारादि पृथिवी पर रहे छे अने सचित्त जल पणु पृथिवी पर न रहे छे. ओटवे सचित्त जलनु पृथिवी साथे संघट्टन छे अने पृथिवीनु आहारादि साथे संघट्टन छे, तेथी करीने आहारादिनु तथा सचित्त जलनु पारम्परिक संघट्टन थतु न होय छे.

उत्तर—हे शिष्य ? पृथिवी अचल छे, तेनु संचलन थतुं नथी, तेथी जेवा संघट्टनथी जेवने बाधा थती नथी जेथी करीने पृथिवीथी संघट्टित आहारनु अडणु करवुं जे साधुओने माटे निषिद्ध नथी पूवे पारम्परिक संघट्टित आहारने जे त्याग भताववाभां आवथे छे, तेने चल-आधार विषयक न समजवे जेथजे, कारणु जे जे संघट्टनथी प्राणीओने

, गृहाङ्गने'ति तु सम्यक् तद्वर्गपञ्चमान्तरस्याङ्गनस्यैवाकारग्रन्थेषु निर्णतत्वादिति श्रीरुचिपट्युपाध्यायाः ।

पुरःकर्मदोषमाह—‘पुरेकम्मणेण’ इत्यादि ।

मूलम्—पुरे^१कम्मणेण^२ हत्थेण^३, दव्वीए^४ भायणेण^५ वा ।

दितियं^६ पडिआइक्खे^७, न मे^{१०} कप्पइ^८ तारिसं^९ ॥३२॥

छाया—पुरःकर्मणा हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, तादृशं मे न कल्पते ॥ ३२ ॥

पुरःकर्म दोष कहते हैं—

सान्वयार्थः—पुरेकम्मणेण=साधु के आनेके पहले या सामने साधुके लिए सचित जलसे किया हुआ हस्तादिधावन पुरःकर्म कहलाता है, उस पुरःकर्मवाले हत्थेण=हाथसे दव्वीए=उस प्रकारकी कुडली अथवा चमचासे वा=अथवा भायणेण=दूसरे वर्तनसे (आहारादि) दितियं=देती हुईको पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहार मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥ ३२ ॥

टीका—पुरःकर्मणा = पुरः = पूर्वम् अग्रतो वा कर्म = क्रिया पुरःकर्म, तेन पुरः कर्मणा, लक्षणया पुरःकर्मयुक्तेनेत्यर्थः अस्य च हस्तादिभिस्त्रिभिः सम्बन्धः हस्तेन = करेण, दर्व्या = खजाकया भाजनेन = अमत्रेण वा ददती प्रत्याचक्षीतेत्यादि पूर्ववत् ।

नन्वेवं गृहस्थानां पचन पाचनादिक्रियासन्तरेणाऽऽहाराद्यसंभव इति साध्वागमनात्प्राक् पचनादिक्रियाऽवश्यं कर्त्तव्या, तथा सति पुरःकर्मदोषदूषितत्वेन साधूनामाहारग्रह-

भी लगता है ॥३०॥३१॥

अब पुरःकर्मदोष कहते हैं—‘पुरेकम्मणेण०’ इत्यादि

साधुके आनेसे पहले या सामने की जानेवाली क्रिया को पुरः कर्म कहते हैं । पुरःयुक्त हाथसे, कुडली (चमचा) से, अथवा वर्तनसे देनेवालीके प्रति साधु कहे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है ।

प्रश्न— हे गुरुमहाराज ! गृहस्थ जबतक पचन पाचन आदि क्रिया न करे तब तक आहार बन नहीं सकता है’ अत एव मुनिके आगमनके पहले पचन पाचन आदि सावध क्रिया अवश्य करनी पडती है । ऐसा करनेसे वह आहार पुरः कर्म से दूषित होगा तो भिक्षु कभी भिक्षा ग्रहण

पीडा थाय छे तथा व्यवहारदोष पणु लागे छे (३०-३१)

इवे पुरःकर्मदोष कडे छे—पुरेकम्मणेण० इत्यादि.

साधु आवतानी पडेला या साधुनी सामे करवामा आवती क्रियाने पुरःकर्म कडे छे, पुरःकर्मयुक्त कुडलीथी के वासणुथी देनारीनी प्रत्ये साधु कडे के जेवा आहार मने कल्पतो नथी

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! गृहस्थ ज्यथासुधी पचन-पाचन आदि क्रिया करतो नथी, त्यासुधी आहार गनी शकतो नथी जेटवे मुनिना आगमन पडेलां पचन-पाचनादि क्रिया नकर करवी पडे छे जेभ करवाथी जे आहार पुरःकर्मथी दूषित थाय तो भिक्षु कदापि

णाप्रसक्तिः साधुसमक्षं क्रियमाणानां क्रियाणां पुरःकर्मत्वे गृहस्थकृताऽभ्युत्थानाक्रियाणा-
मपि पुरःकर्मत्वापत्तौ तद्गृहस्थप्रदत्तभिक्षाया अपि पुरःकर्मदोषयुक्तत्वेन ग्रहणाभावप्रसङ्गः
? इति चेत्, अत्रोच्यते—

व्युत्पत्त्याऽभ्युत्थानगमनपचनपाचनादीनामपि पुरःकर्मत्वसंभवेऽपि समयपरिभा-
पावलात् केवलं भिक्षादानतः प्राक् साधुमुद्दिश्य सचित्तोदकेन हस्तभाजनादिप्रक्षालनस्यैव
पुरःकर्मत्वेन सिद्धान्तितत्वम्, न तु पचन-पाचनाभ्युत्थानादेरपीति ।

अत्र दातृ-द्रव्य-गृहाण्याश्रित्याष्टौ भङ्गा भवन्ति यथा—

(१) स दाता (पुरःकर्मकर्त्ता), अन्यद्, द्रव्यम्, अन्यद्गृहम् ।

(२) स दाता, अन्यद्द्रव्यम् तद्गृहम् (यत्र पुरःकर्म कृतम्) ।

(३) स दाता, तद्द्रव्यम् (यद्द्रव्यमुद्दिश्य पुरःकर्मः कृतम्), अन्यद्गृहम् ।

नहीं कर सकते, साधुके सामने की जानेवाली क्रियाको भी पुरः कर्म माना जाय तो गृहस्थकी
अभ्युत्थान - वन्दन आदि क्रियाएँ भी पुरः कर्म कहलायेंगी, इसलिए उसके द्वारा दिया हुआ
पुरः कर्मसे दूषित आहार साधु कैसे ग्रहण करेंगे ?

उत्तर— हे शिष्य ! व्युत्पत्तिसे पचन पाचन आदि क्रियाएँ भले ही पुरःकर्म कहलावें,
किन्तु समय- (शास्त्र)- की परिभाषासे भिक्षादान से पहले साधुके उद्देश्य करके सचित्त जलसे
हाथ या वर्तन आदिका प्रक्षालन करना ही पुरःकर्म कहलाता है, पचन पाचन आदि क्रियाओ
को अथवा खड़े होने आदिको पुरः कर्म नहीं कहते ।

इस पुरःकर्मके, दाता, द्रव्य और गृहकी विवक्षासे आठ भंग होते हैं, वे यहाँ बताते हैं—

१— वही (पुर. कर्म करनेवाला) दाता, अन्य द्रव्य, अन्य गृह ।

२— वही दाता, अन्य द्रव्य, वही गृह ।

३— वही दाता, वही द्रव्य, अन्य गृह ।

भिक्षा ग्रहण करी शकें नहि, साधुनी सामे करवामां आवनारी क्रियाने यण्णे पुरःकर्म
मानवामां आवे तो गृहस्थनी अभ्युत्थानवदन-आदि क्रियाओ पण्णे पुरःकर्म कडेवासे, तो
पछी तेने हाथे आपवामां आवेवो पुरःकर्मथी दूषित आहार साधु केवी रीते ग्रहण करसे ?

उत्तर— हे शिष्य व्युत्पत्तिथी पचन-पाचन-आदि क्रियाओ लले पुरःकर्म कडेवाय,
परन्तु समय (शास्त्र)-नि परिभाषा प्रमाणे भिक्षादाननी पडेलां साधुने उद्देश्य करीने सचित्त
जलथी हाथ या वासणु आदि घेवां ओ न पुरःकर्म कडेवाय छे पचन-पाचन-आदि क्रिया
ओ अथवा लिला थवा आदिनी क्रिया ओ पुरःकर्म कडेवातां नथी,

आ पुर कर्मना, दाता द्रव्य अने गृहनी विवक्षाओ करीने आठ लाग्ग थाय छे, ते
अहाँ बतावे छे—

१ ओण (पुरःकर्म करनार) दाता,

अन्य द्रव्य,

अन्य गृह

२ ओण दाता,

अन्य द्रव्य

ओण गृह

३ ओण दाता,

ओण द्रव्य,

अन्य गृह

- (४) स दाता, तद्द्रव्यं, तद्गृहम् ।
 (५) अन्यो दाता, तद्द्रव्यम्, तद्गृहम् ।
 (६) अन्यो दाता, तद्द्रव्यम्, अन्यद्गृहम् ।
 (७) अन्यो दाता, अन्यद्द्रव्यं, तद्गृहम् ।
 (८) अन्यो दाता, अन्यद्द्रव्यम्, अन्यद्गृहम् ।

एष्वष्टसु भङ्गेषु प्रथमाऽष्टमौ भङ्गौ साधुनां कल्प्या, तदितरे भङ्गा अकल्प्याः ।
 साधुनुद्दिश्य करद्वर्यादिप्रक्षालने पुरःकर्मनिमित्तको दोषो भवत्येवेति न तद्दिने
 तत्राशनादिकं ग्राह्यम् ।

ननु कस्मिंश्चिद्भवने येन पुरःकर्माचरितं तदितरस्य करतो भिक्षोपादाने कथं
 दोषः ? इति चेदुच्यते—

४— वही दाता,	वही द्रव्य,	वही गृह ।
५— अन्य दाता,	वही द्रव्य'	वही गृह ।
६— अन्य दाता,	वही द्रव्य,	अन्य गृह ।
७— अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	वही गृह ।
८— अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	अन्य गृह ।

इन आठ भंगोमेंसे पहला भंग और आठवां भंग साधुके लिये कल्प्य है और अन्य सब अ
 कल्प्य है ।

यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यदि साधुके निमित्त हाथ या कुड्डी आदिको धोया
 हो तो पुरःकर्म दोष लगता ही है, इसलिये उस घरमें साधु, भिक्षा नहीं लेवे ।

प्रश्न— हे गुरुमहाराज ! किसी मकानमें एकने पुरःकर्म किया तो उससे आहार आदि
 न लेकर, दूसरे वर्तन या दूसरे व्यक्तिके हाथसे लिया जाय तो क्या दोष लगता है ?

४	अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	अन्य गृह
५	अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	अन्य गृह
६	अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	अन्य गृह
७	अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	अन्य गृह
८	अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	अन्य गृह

आ आठ लांगामांधी पडेलो लागो अने आठमो लागो साधुने माटे कल्पनीय छे
 अन भील अघा अकल्पनीय छे

अे वात सदा याद राखवी छे जे साधुने निमित्त दास या कुड्डी आदिने दास देस्य
 तो पुर कर्मा दोष लागे छे न, तेथी अे त्विने अे उभा साधु निमित्त ले नही ।

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! कौन मकानमा अेके पुर कर्म करी देस्य तो नर तेनाथी
 आहारादि न लेता, भील वासनाथी या भील व्यक्तिता दासही देस्य नर ते न देस्य
 लागे ?

यथा येन विपाक्तमन्नं सम्पाद्यते तदितरस्य हस्तादप्युपादीयमानं तदेवान्नं महते-
ऽनर्थाय कल्पते, तथा पुरःकर्मदूषितमपि । अत्रायं विशेषः—यत्र गृहे पुरःकर्म समाचरितं
तत्र तस्मिन् दिवसे सर्वं द्रव्यमकल्प्यमेव ॥३२॥

मूलम्—एवं उदउल्ले ससिणिद्धे ससरक्खे मट्टिया ऊसे ।

हरियाले हिङ्गुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥३३॥

गेरुय वन्निय—सेडिय,—सोरट्टिज—पिट्ट—कुक्कुसकए य ।

उक्किट्ट-संसट्टे, संसट्टेचैव बोद्धव्वे ॥३४॥

छाया—एवम् उदकाद्रिः सस्निग्धः, सरजस्को मृत्तिका ऊपः ।

हरितालं हिङ्गुलकं, मनःशिलाऽञ्जनं लवणम् ॥३३॥

गैरिक-वर्णिक-सेटिका, सौराष्ट्रिका-पिष्ट-कुक्कुमाः कृतश्च ।

उत्कृष्टसंसृष्टः, संसृष्ट एव बोद्धव्यः ॥३४॥

सान्वयार्थः—एवं=उसी प्रकार उदउल्ले = टपकते हुए जलसहित ससिणिद्धे=गीले
रेखाओंसे सहित या ससरक्खे = सचित्त रजसे गुण्ठित सहित हाथ आदि हो, (तथा)
मट्टिया = सचित्त मिट्टी ऊसे = साजीखार हरियाले = हरताल हिङ्गुलए=हिङ्गलू मणो-
सिला = मनसिल अंजणे = सौवीराञ्जन लोणे = सचित्त नमक ॥ गेरुय = गेरु वन्नि
= पीली मिट्टी सेडिय = श्वेत मिट्टी-खड़ी सोरट्टिज = सोरठी मिट्टी-गोपीचन्दन पिट्ट =
तत्कालका पीसा हुआ आटा (तथा) कुक्कुस = तत्कालके खांडेहुए धान्यके तुप-भूसे-से
भरे हुए य = और उक्किट्टं = चाकूसे वनाये हुए कोले, तूवे, ककडी आदिके कोमल
कोमल टुकड़े, इन पूर्वोक्त किसी वस्तुसे भी असंसट्टे = खरडे-लिपे-हुए हाथ आदिको
साधुके लिए किसी प्रकारसे अलिप्त बनाया हो, धोकर या पूंछकर साफ किया हो,

उत्तर—हे शिष्य ! जैसे—किसीने विष-मिश्रित आहार बनाया हो तो बनाने वालेसे न लेकर
दूसरेके हाथसे लिया जाय तो भी वह आहार महान् अनर्थकारी होता है, उसी प्रकार, पुरःकर्म-
दूषित आहार आदि भी अनर्थकारक होता है ।

इतनी फिर विशेषता समझनी चाहिये कि, जिस घरमें पुरःकर्म किया गया हो उस घरमें उस
दिन सब द्रव्य अकल्प्य होते हैं ॥३२॥

उत्तर—हे शिष्य ? जेवी रीन केधजे विषमिश्रित आहार बनाव्यो होय तो बना-
वनावना हाथथी न लेता पीवतना हाथथी देवामा आवे तोपण जे आहार महान् अनर्थ-
कारी थाय छे तेव पुरःकर्मदूषित आहारदि पण अनर्थकारी थाय छे.

जेठही विशेषता समझवी जेधजे के, जे घरमा पुरःकर्म करवामा आव्यु होय ते
घरमा जे दिवसे जधा द्रव्यो अकल्पनीय भने छे. (३२)

ऐसे हाथको संसृष्टे = चेव कए लिप्तही बोद्धवे = जान लेवे, अर्थात् इस प्रकारके असंसृष्ट हाथ आदिसे अथवा इनसे संसृष्ट हाथ आदिसे साधु आहार-पानी नहीं लेवे, यह प्रकरणगत सम्बन्ध है ॥३३-३४॥

टीका-‘एवम् उदउल्ले०’ इत्यादि । एवम् = इत्थमेव पुरःकर्मवदित्यर्थः । उद-
कार्द्रः = गलत्सचित्तजलविन्दुकः, सस्निग्धः = ईषदार्द्रः = आर्द्रीभूतहस्तरेखादिकः-विन्दु
निपातरहित इति यावत्, सरजस्कः = सचित्तरजोऽवगुण्ठितः, हस्तादिर्वोद्धव्यः. तथा
मृत्तिका = साधारणसचित्तमृत्तिका, ऊषः = क्षारमृत्तिका, हरितालं = स्वनामप्रसिद्धपीतव-
र्णधातुविशेषः, हिङ्गुलकं = स्वनामख्यातपार्थिवरागद्रव्यविशेषः, मनःशिला = स्वनामख्या-
तरक्तवर्णधातुविशेषः ‘मेनसील’ इतिप्रसिद्धः अञ्जनं = सौवीराञ्जनम्, लवणं = सचित्तसा-
मुद्रिकलवणम्, गैरिक-वर्णिक-सेटिका-सौराष्ट्रिका-पिष्ट-कुक्कुसा इति, मूले आर्पत्वाल्लु-
प्तविभक्तिकं पदम्, तत्र गैरिकः = स्वनामप्रसिद्धो धातुः, वर्णिका = पीतवर्णमृत्तिका से-
टिका = श्वेतमृत्तिका ‘खडी’ इतिभाषाप्रसिद्धा, सौराष्ट्रिक = गोपीचन्दनं पिष्टं = गोधू-
मादिचूर्णम्, कुक्कुसः = तत्कालकण्डितधान्यतुषः, च = पुनः उत्कृष्टं = कूष्माण्डा-लाबू-
त्रपुप-तरम्बुजादीनां शस्त्रकृतं श्लक्ष्णखण्डम्, एतैर्मृत्तिकादिभिरसंसृष्टः = साधवे भिक्षां
ददामीति कृत्वा संसर्गसम्मार्जनेन तदलिप्तः, संसृष्टः = तत्संसर्गसम्मार्जनेनापि तल्लिप्त
एव कृतः = विहिती हस्तादिर्वोध्यः । पुरःकर्मयुक्तेन हस्तादिनेव उदकार्द्रादिहस्तादिना,
तथा मृत्तिकादिसंसृष्टहस्तादिकं केनापि विधिना साधुनिमित्तमसंसृष्टीकृत्य सम्मार्ज्यं, एवं
मृत्तिकादिसंसृष्टहस्तादिना च ददतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पत इति ॥३३॥३४॥

‘एव उदउल्ले’ इत्यादि, ‘गेरुय’ इत्यादि ।

इसी प्रकार, गिरते हुए सचित्त जलकी बुदोसे युक्त, थोडा, गीला (हाथकी रेखा गीली हो), सचित्त रजसे सहित तथा साधारण सचित्त मिट्टी, खारी मिट्टी, हरताल, हिगुल मेनसील, अजन, सचित्त नमक, गेरू, पीली मिट्टी, खडिया मिट्टी, गोपीचन्दन, ताजा पीसा हुआ गेहू आदिका आटा, तत्काल खांडा हुआ धान्यका तुष (बुसा), कुम्भडा (कददु), तुम्बा (ककडो), तथा तम्बूजके छोटे खंड, इन सबसे हाथ लिप्त हो अथवा किसी प्रकारसे साधुके लिये उसे (सचित्तसे लिप्त हाथको) अलिप्त किया हो और उस हाथसे भिक्षा देवे तो साधु कहें कि ‘ऐसा

एवं उदउल्ले इत्यादि गेरुय इत्यादि

ये प्रमाणे, पडतां सचित्त जलनां विदुष्येथी युक्त, थोडा लीला (हाथनी रेखाओ लीली होय,) सचित्त रजथी सहित, तथा साधारण सचित्त माटी, खारी माटी, हरताल, हिगुणो मन्सील, सुरभो, सचित्त मीठुं, गेरू, पीली माटी, गीली माटी, गोपीचन्दन, ताजा हनेला घटि आदिना आटा, ताजा भांडेला धान्यना तुष (थूळ), कडडु, इंधी तथा तडपू-
यना ककडा, ये गंधाथी हाथ लिप्त होय अथवा केष प्रकारे साधुने माटे तेने (सचित्तथी भरडायेला, हाथने) अलिप्त कर्था होय अने ये हाथथी भिक्षा आपे तो साधु कडे के ‘ऐवो

मूलम्—असंसृष्टेण^४ हत्थेण^५, दर्वीए^६ भायणेण^७ वा ।

दिज्जमाणं^१ न इच्छिज्जा^{१०}, पच्छाकम्मं^{११} जहि^२ भवे^३ ॥३५॥

छाया—असंसृष्टेन हस्तेन, दर्व्यां भाजनेन वा ।

दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥३५॥

सान्वयार्थः—जहि = जहां पच्छाकम्मं = पश्चात्कर्म-साधुको आहार आदि देनेके वाद सचित्त जलसे हाथ आदिका धोना भवे = होनेवाला हो उस प्रकारके असंसृष्टेण = व्यञ्जन शाक कड़ी आदि-से अलिप्त याने साफ 'ऐसे' हत्थेण = हाथ दर्वीए = कड-छी वा = अथवा भायणेण = वरतनसे दिज्जमाण = दिये जानेवाले आहार आदिकी साधु न इच्छिज्जा = इच्छा न करे, अर्थात् उस आहारादिको साधु न लेवे ॥३५॥

टीका—पश्चात्कर्म-दोषमाह—'असंसृष्टेण०' इत्यादि । यत्र = हस्तादौ पश्चात् = दानानन्तरं कर्म भवेत् = सम्भवेत् तादृशेन असंसृष्टेण = व्यञ्जनादिनाऽलिप्तेन हस्तेन दर्व्यां भाजनेन वा 'असंसृष्टेने'-त्येतत्प्रत्येक सम्बध्यते, दीयमानमाहारादिकं नेच्छेत् = नाभिलषेत मनसाऽपीत्यर्थात् । यत्र स्वार्थ व्यञ्जनादिना हस्तादिकं नोपलिप्तं किन्तु भिक्षुमुद्दिश्य भक्तादिदानार्थं हस्ताद्युपलेपो जायते, तत्र दानानन्तरं सचित्तजलेन तत्करादिक्षालनसम्भवः, तच्च प्रक्षालनादिकं भिक्षुनिमित्तकमिति पश्चात्कर्मदोषो विज्ञेयः, यद्ये-

आहार हमें नहीं कल्पता है' ॥ ३३॥३४॥

अव पश्चात्कर्मदोष बताते हैं—'असंसृष्टेण' इत्यादि । भिक्षा देनेके अनन्तर गृहस्थको साधुके निमित्तसे सचित्त जल आदिके द्वारा हाथ आदि प्रक्षालन करनेकी सभावना हो तो साधु ऐसे व्यञ्जन आदिसे अलिप्त हाथ, कुडछी अथवा वर्तनसे दिये जानेवाले आहारकी अभिलाषा न करे ।

गृहस्थके हाथ अपनेलिये व्यञ्जन आदिसे लिप्त न हो तो उन हाथसे साधुको भिक्षा देवे, तदनन्तर सचित्त जलसे हाथका धोना सम्भव है और वह प्रक्षालन साधुके निमित्तसे होगा, इसलिये वहाँ पश्चात्कर्म दोष लगता है । यदि ऐसे (लिप्त किये हुए) ही हाथसे स्वयं भोजन करे

आहार मने कल्पता नहीं. (३३-३४)

इसे पश्चात्कर्मदोष बताते हैं—असंसृष्टेण इत्यादि

भिक्षा आप्या पछी साधुने निमित्त सचित्त जल आदि द्वारा हाथ आदि धोना भवानी गृहस्थने माटे सभावना होय, तो साधु अथवा व्यञ्जन आदिथी अलिप्त हाथ, कुडछी अथवा वासण्ठी आप्यामा आपनारा आहारनी अलिषा न करे.

गृहस्थना हाथ पोताने माटे व्यञ्जनादिथी लिप्त न होय तो अ हाथथी साधुने भिक्षा आप्ये, पछी सचित्त जलथी हाथ धोवाने स भव छे अने अ प्रक्षालन साधुना निमित्त थाय तथी तेमां पश्चात्कर्मदोष लागे छे. जे अथवा (लिप्त करेला-भरदायला) अ हाथथी पोते

विधेनापि हस्तादिना स्वयं भुञ्जीतान्यस्मै वा परिवेषयेत्तदा न पश्चात्कर्मदोषः, तत्र पश्चाद्भाविनः प्रक्षालनादेर्भिक्षुनिमित्तत्वाभावात्, यत्र दर्व्यादौ पश्चात्कर्मदोषसम्भावनाया अभावस्तत्र नायं प्रतिषेध इत्याशयः ॥३५॥

मूलम्—संसद्वेण^१ य हत्थेण^३ दर्वीए^२ भायणेण^४ वा ।

दिज्जमाणं^७ पडिच्छिज्जा^८ जं^९ तत्थसणियं^{१०} भवे^{११} ॥३६॥

छाया—ससृष्टेन च हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।

दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीय भवेत् ॥३६॥

सान्त्वयार्थः—संसद्वेण = व्यञ्जनादिसे लिप्त हत्थेण=हाथ य=या दर्वीए=कडछी वा=अथवा = भायणेण = वर्तनसे दिज्जमाणं = दियाजानेवाला आहारादि हो तत्थ= वहां-उस आहारादिमें जं=जो एसणियं = उद्गम-उत्पादना-आदि-दोषरहित भवे = हो, उसे पडिच्छिज्जा = लेवे ॥३६॥

टीका—‘संसद्वेण’ इत्यादि । टीका स्पष्टा ॥३६॥

मूलम्—दुण्हं^२ तु भुंजमाणानं^४, एगो^३ तत्थ^५ निमंतए^६ ।

दिज्जमाणं^७ न इच्छिज्जा^८, छंदं^९ से पडिलेहए^{१०} ॥३७॥

छाया—द्वयोस्तु भुञ्जानयोः, एकस्तत्र निमन्त्रयेत् ।

दीयमानं नेच्छेत्, छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥३७॥

सान्त्वयार्थः—तत्थ=वहां भुंजमाणानं = भोजन करते हुए दुण्हं = दोनोंमेंसे तु = यदि एगो=एक आदमी निमंतए=निमन्त्रित करे-आहारादि देना चाहे तो दिज्जमाणं= वह दियाजानेवाला आहारादि (साधु) न इच्छिज्जा = न चाहे-न लेवे; (किन्तु) से = उस नहीं निमन्त्रण करनेवालेके छंदं = अभिप्रायको पडिलेहए=देखे ॥३७

या दूसरेको परोसे तो पश्चात्कर्मदोष नहीं लगता, क्योंकि बादमें होनेवाले उस प्रक्षालन आदि कर्मका निमित्त, साधु नहीं रहता है— अर्थात् जिस कुडछी आदिमें पश्चात्कर्म होनेकी सम्भावना न हो वहाँ यह निषेध नहीं है— यानी वह लेना कल्पता है ॥ ३५ ॥

‘संसद्वेण’ इत्यादि । ससृष्ट हाथ, कुडछी और वर्तनसे दिये जाने- वाले आहारमेंसे जो एषणीय अर्थात् उद्गम— उत्पादना— आदिदोषरहित हो वह साधु ग्रहणकरे ॥ ३६ ॥

भोजन करे या भीजने पीरसे तो पश्चात्कर्मदोष लागता नहीं; कारण के त्पारभाट थनाइं प्रक्षालन-आदि कर्मनुं निमित्त साधु रहता नहीं अर्थात् ने कडछी आदिमा पश्चात्कर्म थवानी संभावना नहि होय त्यां अे निषेध नहीं अेटले के अे आहार लेवे साधुने कटपे छे (उप) संसद्वेण इत्यादि संसृष्ट हाथ, कडछी अने वासणुथी आपवामा आपता आहारमाथी अे अेषणीय अर्थात् उद्गम-उत्पादन-आदि दोषथी रहित होय ते साधु ग्रहण करे. (उ६)

टीका—‘दुण्हं तु’ इत्यादि । तत्र=तयोः = एकवस्तु स्वामित्वेन प्रसिद्धयोः, द्वयोः भुञ्जानयोः = (अत्र सप्तम्यर्थे षष्ठी भुञ्जधातुश्च पालनाभ्यवहारोभयार्थकस्ततश्च) पालयतोः, भोक्तुमुद्यतयोश्च मन्थे (पालनार्थकत्वे तु परस्मैपदं स्वयमूहनीयम्) (यदि) एकः = अन्यतरः निमन्त्रयेत् = दातुमुद्यतेत, तदा दीयमानम् (आहारादि) भिक्षुः नेच्छेत्, किन्तु तस्य = दानोद्यतेतरस्य छन्दं=अभिप्रायं भू-नेत्रावकारादिरूपचिन्हैः प्रतिलेखयेत्= प्रेक्षेत-‘दानमस्येष्टं न वे’-ति निश्चिन्तुयादित्यर्थः ॥३७॥

ततः किं कुर्यादित्याह—‘दुण्हं तु’ इत्यादि ।

मूलम्—दुण्हं^२ तु^४ भुंजमाणाणं^३, दोवि^५ तत्थ^९ निमंतए^६ ।

दिज्जमाणं^{११} पडिच्छिज्जा^{१२}, जं^८ तत्थेसणियं^९ भवे^{१०} ॥३८॥

छाया—द्वयोस्तु भुञ्जानयो, द्वावपि तत्र निमन्त्रयेताम् ।

दीयमानं प्रतीच्छे, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३८॥

सान्वयार्थः—अगर—भुंजमाणाणं = भोजन या खाद्य पदार्थोंके रक्षण करते हुए दुण्हं = दोमेसे तु = यदि तत्थ=वहां दोवी = दोनों ही निमंतए = निमन्त्रण करे-आहारादि धामे तो तत्थ = उस आहारादिपेसे जं = जो एसणियं = एषणीय-निर्दोष हो वह दिज्जमाणं=दिया जानेवाला आहारादि पडिच्छिज्जा = लेवे ॥३८॥

टीका—यद्युभावपि निमन्त्रयेतां तदा तत्र यदेषणीयं तद् गृह्णीयादित्यर्थः ॥३८॥

मूलम्—गुण्विणीए^१ उवणत्थं^२, विविहं^३ पाणभोयणं^४ ।

भुंजमाणं^५ विविज्जिज्जा^६. भुत्तसेसं^७ पडिच्छए^८ ॥३९॥

‘दुण्हं तु०’ इत्यादि । यदि एव वस्तुके दो स्व मा हो तथा दो गृहस्थ भोजन करनेके लिये उद्यत हुए हो, और उन दोनोमेसे एक व्यक्ति आहार देनेके लिये उद्यत हो तो ऐसे आहारको इच्छा भिक्षु न करे, किन्तु दूमरेक भोह नेत्र आदि विकारसे अभिप्रायका अनुभव करे कि वहराने (देने)में इमकी सम्मति है या नहीं ? ॥३७॥

इमके पश्चात् क्या करे ? सो कहते हैं—‘दुण्हं तु०’ इत्यादि । यदि वे दोनो आहार देनेको उद्यत हो और वह आहार एषणीय हो तो ग्रहण कर लेवे ॥३८॥

दुण्हं तु० इत्यादि ने ओके वस्तुना जे स्वामी होय तथा जे गृहस्थे लोअन करता होय अने जे भेमाथी ओके आहार आपना माटे उद्यत होय तो जेवा आहारनी छच्छा भिक्षु न करे. परन्तु गीतन ‘भ्रमरो’, नेत्र, आग्नि विकारथी अभिप्रायने अनुभव करे के वडोशववासा जेनी सम्मति छे के नहि ? (३७)

जे पछी शु करे ? छे जे—दुण्हं तु० इत्यादि

जे आहार आपनामा जे जे उद्यत होय अने जे आहार एषणीय होय तो सोधु ते अहम् करे (३८)

छया—गुर्विण्यै उपन्यस्तं, विविधं पान-भोजनम् ।

शुज्यमानं विवर्जयेद्, भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥३९॥

सान्वयार्थः—गुर्विणीए = गर्भवतीके लिए उपणत्थं = बनाकर रखा हुआ विविह = नाना प्रकारका पाणभोयणं = खान-पान (यदि वह) शुंजमाणं = खा रही हो तो (उस आहारादिको साधु) विवर्जिज्जा = वरजे-न लेवे, (किन्तु) भुक्तसेसं = गर्भवतीके भोजन करलेनेके बाद जो शेष रहा हो तो उसे पडिच्छए = लेवे ॥३९॥

टीका—‘गुर्विणीए’ इत्यादि । गुर्विण्यै = गर्भवत्यै, उपन्यस्तं = गर्भपोषणार्थं = तदीयरुच्यनुकूलतया सम्पादितं स्थापितं वा विविधं = नैकप्रकारकं पानभोजनं = पानं = पेयं-प्रपाणकादिकं, भोजनं = भोज्यं मोदकादिकं (तया) शुज्यमानम् = उपशुज्यमानं च विवर्जयेत् = न गृह्णीयात् यस्तदर्थोपकल्पिताऽऽहारादिग्रहणे यथारुच्याहाराद्यभावात्तदिच्छाभङ्गस्ततश्च गर्भपीडा-तत्पातादिसम्भवः । ननु तर्हि किं सर्वथा विवर्जयेदित्याह—‘भुक्तेति-भुक्तशेषं = भुक्तादवशिष्टं प्रतीच्छेत् = उपाददीत ॥३९॥

मूलम्—सिया य समण्डाए, गुर्विणी कालमासिणी ।

उट्टिया वा निसीएज्जा, निसन्ना वा पुणुट्टए ॥४०॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

दितियं पडिआइक्खे, न श्र कप्पइ तारिसं ॥४१॥

‘गुर्विणीण०’ इत्यादि । गर्भवती स्त्रीकी इच्छा के अनुमार अर्थात् उमके लिये बनाये हुए तथा गर्भको पुष्ट करनेवाले अनेक प्रकारके पान और भोजन (मोदक आदि) का और वह जिसका उपभोग कर रही हो उस आहारका (साधु) त्याग करे—ग्रहण न करे । क्योंकि उसके लिये बनाये हुए भोजनको ग्रहण करनेसे उसकी इच्छाका भंग होकर गर्भको पीडा पहुँचेगी, और गर्भगत तक होनेका सम्भव होजायगा । तो क्या वैसा आहार लेवे ही नहीं ? सो कहते हैं—गर्भवती के भोजन कर लेने बाद जो आहार अवशेष रहे उसे ग्रहण करनेमें दोष नहीं है ॥३९॥

‘गुर्विणीण०’ इत्यादि: गर्भवती स्त्रीनी इच्छाने अनुसरिने अर्थात् ओने माटे बना वेला तथा गर्भने पुष्ट करनारा अनेक प्रकारना पान अने भोजन (मोदक आदि) ना अने ते ओने उपभोग करी रही होय ते आहारना साधु त्याग करे—ग्रहण न करे, कारण के ओने माटे बनाववामा आवेला भोजनने ग्रहण क-वाधी तेने अन्तिने अनुसार भोजन नडि भणे, तेथी ओनी इच्छाना भंग थसे अने गर्भने पीडा पडोवशे अने गर्भपात पणु थधे वाने संभव रडेशे तो शु ओवे आहार लेवो नडि ? त माटे इहे छे के—गर्भवती भोजन करी रडे त्थारपणी ने आहार अवशेष रडे तेने ग्रहण करवामां होय नथी. (३९)

छाया—स्याच्च श्रमणार्थं, गुर्विणी कालमासिनी ।

उत्थिता वा निपीदेत्, निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥४०॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४१॥

सान्वयार्थः—य = और कालमासिणी = नजदीक प्रसवकालवाली गुर्विणी = गर्भवती स्त्री सिया = यदि-कदाचित् उट्टिया व = पहले से खड़ी हो (किन्तु) समणट्टाए = साधुके लिए अर्थात् साधुको आहारादि देनेके लिए निसीएज्जा = बैठे वा = अथवा निसन्ना = पहलेसे बैठी हुई (साधुके लिए) पुण = फिर उट्टिए = ऊठे, तं तु = तो वह भक्तपाणं = आहार-पानी संजयाणं = साधुओंके लिए अकल्पियं = अकल्पनीय भवे = होता है, (अतः) दित्तियं = देनेवाली से (साधु) पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥४०॥४१॥

टीका—‘सिया य०’ ‘तं भवे’ इत्यादि । च = पुनः उत्थिता = दण्डवत्समवस्थिता, कालमासिनी = कालमासशब्देनात्र प्रसवकालमासो गृह्यते, स च सप्तमासादारभ्य सार्द्धसप्तरात्राधिकं नवमासं यावत्, तद्धती-प्राप्तप्रसवयोग्यसमयेत्यर्थः, गुर्विणी = गर्भवती, स्यात् = कदाचित्, श्रमणार्थं = साधुनिमित्त-साधवे दातुमित्यर्थः- निपीदेत् = उपविशेत्, वा = अथवा, निषण्णा = उपविष्टा पुनरुत्तिष्ठेत्, तदा तत् = तथा दीयमानं भक्तपाणं तु संयतानां = संयमवताम् अकल्पक(त)म् = अग्राह्यम्, अतो ददतीं प्रत्याचक्षीतेत्यादि पूर्ववत् ।

‘सर्वं वाक्यं सावधारणं भवती’-तिन्यायेन उत्थिता यदि दातुमुपविशेदेव, उपविष्टा वोत्तिष्ठेदेव तदादीयमानमाहारादिकमकल्पकं(तं) स्यादिति । तत्तात्पर्याऽवधारणेनेदमा-

‘सिया य०’ इत्यादि ‘तं भवे०’ इत्यादि च । प्रसव-काल-मासवाली अर्थात् सातवें महीनेसे आरम्भ करके साढे सात रात सहित नववे महाने तक, अर्थात् सात वे महीनेके बाद प्रसव होनेतकके समय वाली स्त्री, यदि खड़ी हुई हो और साधुको भिक्षा देनेके लिए बैठे, अथवा बैठी हुई हो किन्तु भिक्षा देनेके लिये उठे तो उसके द्वारा दिया जानेवाला आहार, समयियोंके लिये कल्प्य नहीं है, ॥ अतः देनेवाली (स्त्री) से कहे कि ‘ऐसा आहार हमें कल्पता नहीं है ॥’

सर्व वाक्य, ‘सावधारण अर्थात् निश्चय करानेवाले होते हैं’ इस न्यायके बल से यहाँ पर

सिया य० इत्यादि तं भवे० इत्यादि प्रसवकाल मासवाणी अर्थात् सातमा महीनाथी आरंभने माडा सात रात सहित नवमा महीना सुधी, अष्टवे के सातमा महीना यष्टी प्रसव थाय त्यासुधीना समयवाणी स्त्री ने षष्ठी होय अने साधुने भिक्षा आपवाने माटे बैठे, अथवा बैठे होय परन्तु भिक्षा आपवाने माटे उठे तो तेल्ले आपेदे। आहार समय-भीनेने माटे कल्पनीय नहीं, देनेारी स्त्रीने उठेवुं के ‘अथवा आहार मने कल्पता नहीं.’ अर्था-वाक्ये ‘सावधारण अर्थात् निश्चय करानेवाला होय छे’ अने न्यायानुसार अर्था-

याति-उत्थिता तादृशी गर्भवती यद्युत्थितैव, उपविष्टा वोपविष्टैव दद्यात्तदा साधूनां नाऽकल्पिक(तं) किन्तु ग्राह्यमेवेति स्थविरकल्पिकापेक्षमिदम् । जिनकल्पिभिस्तु प्रथमदिवसादेव तथा दायमानं न गृह्यते इति वृद्धाः ।

‘कालमासिनी’ पदेन, पष्ठमासानन्तरं गर्भस्य गुरुत्वेनोत्थानादिक्रियायां तत्सञ्चलनादिना तस्या गर्भस्य च पीडाऽवश्यमाविनीति संसूचितम् ॥४०॥४१॥

मूलम्—थणगं पिज्जमाणी (य), दारगं वा कुमारियं ।

तं निक्खवित्तु रोयंतं, आहरे पाण-भोयणं ॥४२॥

तं भवे भत्त-पाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

दितियं पडियोइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४३॥

छया—स्तन्यं पाययन्तो (च), दारक वा कुमारिणाम् ।

तं निक्षिप्य रुदन्त,-माहरेत्पान-भोजनम् ॥४२॥

यह तात्पर्य निकलता है कि यदि देनेवाली बैठी हो और खड़ी होकरके ही आहार देवे, या खड़ी हो किन्तु बैठ करके ही आहार देवे तो उससे दिया जानेवाला आहार अकल्प्य होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसी गर्भवती स्त्री यदि बैठी हो और बैठी बैठी ही आहार देवे या खड़ी हो और खड़ी-खड़ी ही आहार देवे तो साधुओंके लिये अकल्प्य नहीं है, किन्तु कल्पनीय ही है । यह बात, स्थविर-कल्पको अपेक्षासे समझनी चाहिए । वृद्धोका मत है कि जिन कल्पो महाराज, गर्भके प्रथम दिनसे ही गर्भवती स्त्रीके हाथसे दिया जानेवाला आहार सर्वथा न ही लेते हैं ।

‘कालमासिनी’ पदसे यह सूचित किया है कि -छठे महीनेके बाद गर्भ भारीहो जाता है, इस कारण हिलने डोलनेसे गर्भवती को तथा उसके गर्भको पीडा अवश्यहोती है ॥ ४० ॥ ४१॥

ये तात्पर्य नीकजे छे के जे आपनारी जेठी डोय अने जेठी थधने न आहार आपे या जेठी डोय परन्तु जेठीने न आहार आपे तो ये रीते आपवामा आवतो आहार अकल्प्य अने छे अतु तात्पर्य ये थयु के जेवी गर्भवती स्त्री जे जेठी-जेठी न आहार आपे या जेठी डोय तो जेठी जेठी आहार आपे तो साधुने माटे ते अकल्प्य नथी, परन्तु कल्पनीय छे आ बात स्थविर-कल्पनी अपेक्षासे समझवी जेथे वृद्धोका मत जेवे छे के जिनकल्पी महाराज गर्भना प्रथम दिवसथी न गर्भवती स्त्रीना हाथथी आपवामा आवतो आहार सर्वथा लेता नथी.

कालमासिनी ये शब्दथी सूचित करवामा आव्युं छे के छठा महिना पञ्जी गर्भ लारे थध जय छे तेथी डील-आल करवाथी गर्भवती तथा जेना गर्भने अवश्य पीडा थाय छे. (४०-४१)

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न ये कल्पते तादृशम् ॥४३॥

सान्त्वयार्थः- दारुणं = लडके कुमारियं = लडकी वा = अथवा नपुंसक किसीभी बच्चेको धणगं = स्तन्य-दूध पिज्जमाणी = पिलाती हुई तं = उस बच्चेको रोयंत = रोते हुएको निक्खवित्तु = भूमि आदि पर रखकर (यदि) पाण-भोयणं = आहार-पानी आहारे = देवे, त तु = तो वह भक्तपाणं = आहार-पानी संजयाणं = साधुओंके लिए अकल्पनीय भवे = होता है, (अतः) दितियं = देनेवाली से पडियाइक्खे = कहे कि तारिमं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे न कापइ = नहीं कल्पता है ॥४२-४३॥

टीकी--'धणगं' इत्यादि । दारुणं = शिशुम्, कुमारिकां = बालिकाम्, 'वा' शब्दात्संगृहीत नपुंसकञ्च, स्तन्यं = दुग्ध पाययन्ती, तं = पिवन्तं शिशुप्रभृतिकं रुदन्तं = क्रन्दन्तं निक्षिप्य = भूम्यादौ निधाय पान भोजनमाहरेत् तदा तद्भक्त-पानं तु संयतानाम-कल्पकं(तं) भवेत्, अतो 'ददतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पत इति ।

अत्रायमभिसन्धिः-यदि दारुकादिः केवल स्तन्यपानोपजीवी स्तन्यपानान्नभोजनो-भयोपजीवी वा भवेत् तं पाययन्ती स्तन्यपानं सन्त्यज्य पानभोजनं दद्यात्, अथवा यः शिशुः स्तन्यमपिवन्नङ्गे समीपे वा तिष्ठेत् परित्यज्य दातुं पृथग्भूतायां तस्यां यदि स दद्यात् तदापि तथा दीयमानमाहारादिकं संयतानामकल्पक(त)म्, शिञ्वाद्याहागन्तराय-कर्कशहस्त-भूमि-मञ्चकादिस्पर्शजनितपीडा-मांसाशि-मार्जार-कुक्कुरादिजन्तुकृतोपघातादि-

'धणगं' इत्यादि, 'त भवे' इत्यादि ।

स्त्री यदि, लडके, लडकी या नपुंसकको दूध पिलाती हो और उस पीनेवाले रोते हुए बालक आदिको, जमीन पर रख कर, पान भोजन देवे तो साधु कहे कि 'ऐसा आहार, मुझे नहीं कल्पता है, 'यहा तात्पर्य यह है कि, यदि बालक दूधमुहाँ हो अथवा दूध भी पीता हो और अन्न भी खाता हो, उस बालकको स्तनपान छोडा कर आहार पानी देवे, या कोई बालक, स्तन पान न करता हुआ भी गोदमें या समीपमें बैठा हो, उसे छोडकर स्त्री आहार देनेके लिये जावे और बालक रोने लगे तो भी उसके द्वारा दिया जानेवाला आहार, समयिको ग्राह्य

धणगं० इत्यादि, तं भवे० इत्यादि

जे स्त्री पुत्र पुत्री के नपुंसकने दूध पाती होय अने जे पीनारा रोता आणक आदिने जमीन पर मूडीने भोजन पान आपे तो साधु कहे के 'जेवे आहार अने कल्पतो नथी.' अडी तात्पर्य जे छे के जे आणक दूधमुण (दूध पर ज) होय अथवा दूध पीतु होय तत्रा अत्र पणु पान होय तो जे आणकने स्तनपान छोडावने आहार पाणी आपे, अथवा केन आणक स्तनपान न करतु होय पणु आणक या समीपमा जेडु होय, तेने छोडीने स्त्री आहार आपवने गाटे जय अने आणक रोवा लागे तोपणु तेणे आपेवे आहार, संयमी-

सम्भवात्, दृश्यते हि कचन निर्जनादौ स्थाने शृगालादयो बालानपहृत्य पलायन्त इति ॥४२॥४३॥

मूलम्-^१जं भवे^६ भक्तपाणं^२ त्, कप्पा^३कप्पंमि^४ संकियं^५ ।

^७दितियं^८ पडियाइक्खे, न मे^{११} कप्पइ^{१०} तारिसं^{१२} ॥४४॥

छाया-यद्भवेद्भक्त-पानन्तु, कल्प्याकल्प्ये शङ्कितम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तदृशम् ॥४४॥

सान्वयार्थः-जं = जो भक्तपाणं तु = अशनादि कप्पाकप्पस्मि = कलाय अकल्प्यके विषयमें संकियं = शङ्कित-शङ्कास्पद भवे = हो तो दितिय = देनेवालीसे पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥४४॥

टीका—‘जं भवे०’ इत्यादि । यद्भक्तपानं तु कल्प्याकल्प्ये = कल्प्यं च अकल्प्य-
ञ्चेति समाहारद्वन्द्वे कल्प्याकल्प्यं तस्मिन्, भावप्रधानश्चायं निर्देशस्ततश्च कल्प्यत्वेऽक-
ल्प्यत्वे चेत्यर्थः, कल्प्यत्वमुद्रमादिदोषरहितत्वमकल्प्यत्वं च तत्सहितत्वम्, तत्र शङ्कितं =
शङ्का(संशय)युक्तत्वम् ‘इदं भक्तपानं कल्प्यमकलायं वे’-त्येवंविधसंशयविषयीभूतमित्यर्थः,
भवेत् तत् ददतीं प्रत्याचक्षीत-तादृश मे न कल्पत इति ॥४४॥

नहीं है, क्योंकि इससे उसके बालकके आहारमें अन्तराय पडती है, मातृ-विरहजन्य दुःख होता है, कठोरहाथ, भूमि, खाट आदिके स्पर्शसे पीडा होती है और मासभोजी विन्नाव कुत्ते आदि जानवरोके द्वारा उपघात होनेका सम्भव रहता है । कहीं२ (पहाडी प्रदेशोंमें) शृगार (गीदड़), बालकोको उठा कर ले भागते है ऐसा देखा जाता है ॥४२ ॥४३॥

‘जं भवे’ इत्यादि । ‘यह भक्त-पान कल्प्य है या अकल्प्य’ इस प्रकार जिसमें सन्देह हो वह भक्त-पान देनेवाली से साधु कहे कि ऐसा आहार मुझे ग्राह्य नहीं है ॥ ४४

अने माटे ग्राह्य नथी, कारणु के तेथी तेना आणकना आहारमा अतराय पडे छे, मातृ-
विरहजन्य दुःख थाय छे, कठोर हाथ, भूमि, खाटला आदिना स्पर्शथी पीडा थाय छे
अने मासभोजी विन्नाव कुत्ते आदि जानवरो द्वारा उपघात थवानो पणु संभव रहे छे
क्याक कयाक (पहाडी प्रदेशोमा) शियाण आणकेने उठावी जाय छे, जेवु पणु जेवामा आवे छे
(४२-४३)

जं भवे० इत्यादि. ‘आ लो जन्-पान कल्प्य छे के अकल्प्य ?’ जे प्रकारने जेमा सन्देह
उत्पन्न थाय ते लो जन्-पान आपनारीने साधु कहे के जेवो आडा० अने ग्राह्य नथी. (४४)

‘दकवारेण०’ इत्यादि, तं च इत्यादि.

जन्थी लरेला वासजुथी. घंटीना पडथी, भसादी वाटवाना पत्यर-गिशाथी आजेकथी.

मूलम्-^१दग्वारेण ^{११}पिहियं, ^२नीसाए ^३पीढएण ^४वा ।

^५लोढेण ^६वा ^{१०}विलेवेण ^९सिलेसेण ^{१०}वि ^८केणइ ॥४५॥

^{१२}तं ^{१३}च ^{१५}उब्भिदिआ ^{१६}दिज्जा, ^{१४}समणट्टाए ^{१८}व ^{१७}दावए ।

^{१९}दितियं ^{२०}पडियाइक्खे, ^{२३}न ^{२२}मे ^{२४}कप्पइ ^{२१}तारिसं ॥४६॥

छाया--दकवारेण पिहितं, निश्रया पीठकेन वा ।

लोण्टेन वाविलेपेन, श्लेषेण वा केनापि ॥४५॥

तच्चोद्भिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दापयेत् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

सान्वयार्थः-दग्वारेण=जलके भरे हुए घडेसे नीसाए=घंटीके पुडियेसे या पीस-नेकी शिलासे वा=अथवा पीढएण=पीढेसे लोढेण=लोढेसे वा=अथवा विलेवेण=मिट्टी आदिके लेपसे वि=अथवा केणइ=दूसरे किसी प्रकारके सिलेसेण=मोम लाख आदि चिकने पदार्थसे पिहियं=आच्छादित या मुद्रित कियाहुआ अशनादिका बरतन हो, तं च=उसे यदि समणट्टाए=साधुके लिए उब्भिदिआ=उघाड़ (खोल) कर दिज्जा=खुद देवे वा=अथवा दावए=दूसरेसे दिलावे तो दितियं=देती हुईसे साधु पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=ऐसा आहारादि मे=घुझे (लेना) न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥४५-४६॥

टीका-'दग्वारेण०' 'तं च' इत्यादि । दकेति दकं=जल (प्रोक्तं ब्राह्मैश्वर्यममृतं जीवनीयं दकं च' इति हलायुधः,) वारयति=वहिर्निःसरणतो निरुणद्धीति दकवारः=जलसंभृत-कलशादिभाजनं तेन, निश्रया=घरट्टेन-पेषणचक्रेण शिलापट्टेन (पेषणार्थपाषाणेन) वा, पीठकेन=काष्ठनिर्मिताऽसनेन, लोण्टेन=शिलादिखण्डेन, विलेपेन=मृत्तिकादि-लेपेन, केनापि श्लेषेण=सिक्थ-लाक्षादिना वा पिहितम्=आच्छादित मुद्रितं वा यदन्ना-दिभाजनमिति प्रसङ्गलभ्यं भवेत्, तच्च श्रमणार्थमुद्भिद्य=उद्धाटय (स्वयं) दद्याद्दापयेद्वा तदा गुरुतरवस्तूत्थापनक्लेशहिसादिसम्भवनया ददतीं प्रत्याचक्षीतेत्यादि पूर्ववत् ॥४५ ॥४६॥

'दकवारेण०' इत्यादि, 'तं च' इत्यादि ।

जलमे भरेहुए वर्तनसे, चककी के पुडसे, (मलासा आदि पीसनेके वजनदार पत्थर) से ढके हुए, तथा मिट्टी आदिके लेपसे, अथवा अन्य किसीसे छाने या लाखआदिसे मुद्रित किया हुवा अन्न-पान, साधु केलिये उघाड़कर स्वयं देवे या दूसरे से दिलावे तो क्लेश और हिंसाकी स

भसाद्री वाटवाना वजनदार पत्थरथी ढाकेहु तथा भाटी आदिना लेपथी अथवा अन्य ढाई पदार्थया छानेहु के लाप आदिथी अथ ढरेहु वासणु साधुने भाटे उघाडीने अन्न-

२ ३ ५ ४ ६ ८ ७
मूलम्—असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तथा ।

१ १२ १३ १४ ९ ११ १०
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥४७॥

१५ २० १६ १७ १८ १९
तं भवे—भत्त-पाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३
दितियं पडियाइक्खे, न म कप्पइ तारिसं ॥४८॥

छाया—अशनं पानकं वापि खाद्य स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयात् शृणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥४७॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४८॥

सान्वयार्थः—जं=जो असणं=ओदन आदि अशन पाणगं=दाख आदिका धोवन वावि=अथवा खाइमं=केला आदि खाद्य तथा=और साइमं=एलची लूग आदि स्वाद्य इमं=यह 'दाणट्ठा' पथिकोंको देनेके लिए पगडं=उपकल्पितनिकाला हुआ है जो अपने या अपने कुटुम्बके लिए काममें नहीं लाया जावे ऐसा जाणेज्ज=जान लेवे वा=अथवा सुणेज्जा=किसीसे सुन लेवे तो तं=वह भत्तपाणं तु=आहार-पानी संजयाण=साधुओंके लिए अकप्पियं=अकल्पनीय भवे=होता है, (अतः) दितियं=देती हुईसे साधु पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=इस प्रकारका आहारादि मे=मुझे (लेना) न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥४७-४८॥

टीका—'असणं०' इत्यादि, 'तं भवे०' इत्यादि च । यत् अशनं=भोज्यमोदन-पूरिकादिकं, पानकं=द्राक्षादिजलम्, अपि वा=अथवा खाद्य =कदलीफलादिकं, स्वाद्यम्=एला-

भावनाके कारण देनेवालीको कहे कि ऐसाआहार हमें ग्राह्य नहीं है । तात्पर्य यह है कि, भारी वस्तुके उठानेमें स्व-पर-विराधना आदि दोषोकी सम्भावना होनेसे यह निषेध किया गया है ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

'असणं०' इत्यादि, तथा 'तं भवे०' इत्यादि ।

ओदन-आदि अशन, दाखका जल आदि पान, केला आदि खाद्य, लोण, कपूर, इलायची,

पान पीते आये या पीना पासे अपावे तो क्लेश अने हिसानी सलावनार्थी आपनारीने साधु कहे के अवे। आहार अने आद्य नहीं तात्पर्य अे छे के लारे वस्तु उपाडवाभां स्वपर-विराधना आदि अनेक दोषोनी संलावना होवाथी अे निषेध करवाभां आव्ये छे। (४५-४६)

असणं इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि

ओदन आदि अशन, द्राक्षना धोवणुतु लूण आदि पान, केला आदि खाद्य, लवींग,

लवङ्ग-कर्पूर-पूगीफलादिकम्, 'दानार्थं=देशान्तरादागतेन वणिगादिना साधुवादार्थं स्वकी-
यप्रशंसानिमित्तं दातुम्, इदं प्रकृतं=नियतरूपेणोपकल्पितम्' इति जानीयात्=आमन्त्रणा-
दिना अवगच्छेत्, शृणुयाद्वा=कुतश्चिदाकर्णयेद्वा तद्भक्तपानं तु संयतानामकल्पकं भवेत्,
अतस्तद्दतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पत इति ॥४७॥४८॥

२ ३ ५ ४ ६ ८ ७
मूलम्-असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तथा ।

१ १२ १३ १४ ९ ११ १०
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥४९॥

१५ २० १६ १७ १८ १९
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५०॥

छाया- अशनं पानक वापि, खाद्य स्वाद्य तथा ।

यज्जानीयच्छृणुयाद्वा, पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥४९॥

तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५०॥

सान्त्वयार्थः-जं असणं पाणगं वावि खाइमं तथा साइमं=जो अशन पान खादिम
स्वादिम इम पुण्णट्ठा पगडं='यह करुणाबुद्धिसे दीन-हीन-जनोके लिए पुण्यार्थं निकाल
रखा है' इस प्रकार जाणेज्ज=जान लेवे वा=अथवा सुणेज्जा=किसी दूसरेसे सुन लेवे
तो तं=वह भक्तपाणं तु=आहार-पानी संजयाणं=साधुओंके लिए अकप्पियं=अकल्प-
नीय भवे=होता है, (अतः) दितियं=देती हुईसे साधु पडियाइक्खे=कहे कि
तारिसं=इस प्रकारका आहारार्थ मे=मुझे (लेना) न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥४९॥
-५०॥

सुपारी आदि स्वाद्य, 'यह देशान्तरसे आये हुए वणिक् आदिने अपनी प्रशंसाके निमित्त
देनेके लिये रक्खा है ।' ऐसा जो ममज्ञे या किसीसे सुने तो वह अगनादि, समयियोंको कल्प
नीय नहीं है, इसलिये ऐसा भक्त-पान आदि देने वाली से कहे कि यह मुझे नहीं कल्पता है
॥ ४७ ॥ ४८ ॥

'अमण०' इत्यादि, तथा 'त भवे०' इत्यादि ।

जो 'अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य दया-बुद्धिसे दीन हीन जनोको देनेके लियेहै-अर्थात् पुण्या-

कपूर, धवायची, सोपारी आदि स्वाद्य "आ देशान्तरथी आवेला वणिक् आदिसे पोतानी
प्रशंसाने लीये आपवाने माटे राजेद छे" जेवु जे समज्जवामा डे काँध पासेथी साल
जत्रामा आवे तो जे अशनादि समयीजोने माटे कल्पनीय नथी तेथी जेवा भोजन-पान
आदि आपनारीने माधु कडे डे जे मने कल्पता नथी (४७-४८)

असणं० इत्यादि, तथा त भवे० इत्यादि

"आ अशन, पान, खाद्य, दया बुद्धिथी दीन-हीन जनोने आपवाने माटे छे, अर्थात्

टीका— 'असणं०' इत्यादि, 'तं भवे' इत्यादि च । यदशनादिकं 'पुण्यार्थं=पुण्या-य=सुकृतायेदं दयाधिया, वनीय (प)क-श्रमणार्थोपकल्पितस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वादत्र दीने-भ्यो वितरणार्थमिदं प्रकृतम्=उपकल्पितम्-स्व-स्वपोष्यवर्गोभगोपभोग्यभिन्नतया स्था-पितमिति यावत्' इति जानीयात् शृणुयाद्वा तद्धक्तपानमित्यादि पूर्ववत् । पूर्वगाथायां 'दाणट्टा' इत्यत्र दान-शब्देन स्वप्रशंसार्थं दानं गृह्यते, प्रकृते 'पुण्णट्टा' इत्यत्र पुण्य-शब्देन स्वप्रशंसाव्यतिरिक्तफलाभिसन्धानेन दानं गृह्यते, इति दानपुण्ययोर्भेदः । 'महाव्रतधारि-भ्य एव यद्दीयते तत्रैव पुण्यं न तु तदितरेभ्यः प्रदाने, तथा सति ही प्रत्युत पापकलापः समुत्पद्यते' इति केचिदाहुः, ('तेरहपंथी' शब्देन प्रसिद्धाः साधव आहुः,) तद् भ्रान्ति-विलसितम्, भगवता हि 'पुण्णट्टा पगडं' इत्यनेन 'पुण्यार्थमुपकल्पितं द्रव्यं साधूनामक-ल्प्य'-मिति बोधितं, तत्र महाव्रतधारकेतरेभ्यः प्रदातुमुपकल्पितस्य द्रव्यस्य तन्मते पुण्या-र्थत्वाभावेन 'पुण्णट्टा पगडं' इति वाक्यं निर्विषयतामापद्येत ।

र्थ बनाया गया है' ऐसा जाने या सुने तो वह सयमीके लिये ग्राह्यनहीं है, अत एव ऐसा आहार देनेवालीसे कहे कि—' यह भक्त-पान लेना मुझे नहींकल्पता है' । पहली गाथामें आये हुए 'दाणट्टा' पदके 'दान' शब्दसे 'अपनी प्रशंसाके लिये दिया जाने वाला दान अर्थ' ग्रहण किया है' किन्तु इस गाथामें 'पुण्णट्टा' के 'पुण्य' शब्दसे अपनी प्रशंसाके सिवाय अन्य किसी प्रयोजनसे दिया जानेवाला 'दान' अर्थ होता है— दान और पुण्यमें यही अन्तर है ।

'कोई-कोई कहते हैं कि—'महाव्रतधारी मुनियोको जो दान दिया जाता है उसीमें पुण्य है— दूसरोको देनेमें नहीं, दूसरोको देनेसे उलटा पाप लगता है' । उनका यह कहना भ्रान्ति-मूलक है, क्योंकि, भगवान्ने 'पुण्णट्टा पगडं' इस कथनसे पुण्यके लिये निकाले हुए द्रव्यको साधुओके

पुण्यार्थं बनाववामा आण्वा छे " जेवु ज्ञाणुवामा या ज्ञाणवामा आवे तो जे सयमीने माटे ग्राह्य नथी. तेथो करीने जेवो आहार आपनारीने साधु कडे के-जे लोअन-पान देवा भने कल्पता तथी. पडेली गाथामा आवेला दाणट्टा पदना दान शब्दथी जे तानी प्रशंसाने माटे आपवामां आवतुं दान ' जेवो अर्थ ग्रहणु कर्यो छे, पणु आ गाथामां पुण्णट्टा माना पुण्य शब्दथी जेतानी प्रशंसा सिवायना अन्य केअ प्रयोजनथी आपवामां आवतु दान ' जेवो अर्थ थाय छे. दान अने पुण्यगा जे अतर छे

'केअ-केअ कडे छे के "महाव्रतधारी मुनियोने जे दान आपवामा आवे छे तेमां पुण्य छे जीअजोने देवामा पुण्य नथी, जीअजोने देवामा उलटु पाप लागे छे ' जेमनु जेवु कडेवु भ्रान्तिमूलक छे, कारणु के भगवाने पुण्णट्टा पगडं जे कथन वडे पुण्यने माटे कडेला द्रव्यने साधुजोने माटे अकल्पनीय बनावु छे जे महाव्रतीजो सिवायना जीअजोने आपवामां पुण्य न होय तो भगवाने करेला जे निषेध केने लायु रडशे १. तात्पर्य

१ तेरह संप्रदाय के साधु

२ तेरहपंथी संप्रदायना साधुजो ।

ननु पुण्यार्थोपकल्पितद्रव्यस्याकल्प्यत्वस्वीकारे साधोः शिष्टकुले भिक्षाग्रहणमेवा-
कल्प्यं स्यात्, पुण्यार्थमेव तेषां पाकप्रवृत्तेर्न तु क्षुद्रजन्तुवत्स्वोदरपूर्तिमात्रार्थमिति चेन्न
तथाहि—यद्यपि शिष्टकुले सम्पादितमन्नं पुण्यार्थप्रकृतं तथापि यदन्येभ्यो दातुमेव निष्पा-
दितं न तु स्वोपभोगार्थं तदेवान्न 'पुण्यार्थप्रकृत'—शब्देनात्र गृह्यते, एतदेव देयमित्युच्य-
ते । ईदृशस्यैव ग्रहणे प्रतिषेधः, आरम्भान्तरायादिदोषप्रसङ्गात् । यत्तु स्वस्य स्वपोष्य-
वर्गस्य चोपभोगार्थमुदारबुद्ध्या सम्पादितं, तच्चानियतदानार्थत्वाददेयमित्युच्यते । अस्य

वास्ते अकल्पनीय वताया है । यदि महाव्रतियोको छोडकर अन्य किसीको देनेमें पुण्य न हो
तो भगवान्का किया हुआ यह निषेध किस पर लागू पड़ेगा है तात्पर्य यह है कि पुण्यके
लिये निकाले हुए द्रव्यको मुनियोके लिये अकल्प्य बतानेसे यह सिद्ध होता है कि दूसरोको
दान देनेसे भी पुण्यकी प्राप्ति होती है ।

शंका— यदि पुण्यार्थं निकाला हुआ द्रव्य, साधुओको ग्राह्य नहीं है तो शिष्टकुलमें साधु,
कभी भिक्षा ग्रहण कर ही नहीं सकते, क्योंकि शिष्ट जन, पुण्यके लिये ही रसोईका आरम्भ
करते हैं, साधारण (क्षुद्र) प्राणियोकी तरह अपने ही उदरकी पूर्तिके लिये नहीं ।

समाधान— यद्यपि शिष्टकुलमें तैयार किया हुआ आहार पुण्यके लिये ही संपादित होता
है तथापि जो आहार दूसरोको ही देनेके लिये बनाया जाता है अपने उपभोगके लिये नहीं 'पुण्य
द्वय पगडं' (पुण्यार्थं निष्पादित) और वही 'देय' कहलाता है । इस प्रकारके आहारको ही ग्रहण
करनेका निषेध किया गया है । क्योंकि, उसे लेलेनेसे आरंभ और अन्तराय आदि दोषोका प्रसंग
आने का संभव होता है ।

जो आहार, अपने और अपने आश्रित जनाके उपभोगके लिये उदार बुद्धिसे निष्पन्न किया
जाता है, वह अनियत दानके लिये होनेसे 'अदेय' कहलाता है । इस अदेय आहारको ग्रहण

એ છે કે પુણ્યને માટે કાઢેલા દ્રવ્યને મુનિઓને માટે અકલ્પ્ય બતાવ્યું હોવાથી એમ
સિદ્ધ થાય છે કે ખીજઓને દાન આપવાથી પણ પુણ્યની પ્રાપ્તિ થાય છે.

શંકા—જો પુણ્યાર્થ કાઢેલું દ્રવ્ય સાધુઓને માટે ગ્રાહ્ય ન હોય તો શિષ્ટ કુળમાં સાધુ
કદાપિ ભિક્ષા ગ્રહણ કરી શકશે જ નહિ, કારણ કે શિષ્ટજન પુણ્યને માટે જ રસોઈનો
આરંભ કરે છે સાધારણ (ક્ષુદ્ર) પ્રાણીઓની જેમ માત્ર પોતાનું જ ઉદર ભરવાને માટે નહિ

સમાધાન—જો કે શિષ્ટ કુળમાં તૈયાર કરવામાં આવતો આહાર પુણ્યને માટેજ સંપા-
દિત હોય છે, તેપણુ જે આહાર ખીજઓને માટે બનાવવામાં આવે છે,—પોતાના ઉપભો-
ગને માટે નહિ, તે પુણ્યદ્વા પગડં (પુણ્યાર્થ નિષ્પાદિત) અને એજ 'દેય' કહેવાય છે એ
પ્રકારના આહારને પણ ગ્રહણ કરવાનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે, કારણ કે એ લેવાથી
આરંભ અને અતરાય આદિ દોષોનો પ્રસંગ ઉત્પન્ન થાય છે

જે આહાર પોતાને માટે અને પોતાના આશ્રિત જનોના ઉપભોગને માટે ઉદાર-બુદ્ધિ
થી નિષ્પન્ન કરવામાં આવે છે તે અનિયત દાનને માટે હોવાથી 'અદેય' કહેવાય છે એ

ग्रहणे साधोर्नारम्भदिदोषप्रसङ्गः, साध्वर्थपाकप्रवृत्तेरभावात् । किञ्च-शास्त्रे, शिष्टकुले शि-
क्षाग्रहणस्य विधानान्न तथाविधाऽऽहारग्रहणे दोष इत्यलं पल्लवितेन ॥४९॥५०॥

मूलम्—असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तथा ।

जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥५१॥

मूलम्—तं भवे भत्त-पाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

दितियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥५२॥

छाया—अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयाच्छुणयाद्वा, वनीय-(प)-कार्थं प्रकृतमिदम् ॥५१॥
तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५२॥

सान्ध्यार्थः—जं असणं पाणगं वावि खाइमं तथा साइमं=जो अशन पान खादिम
स्वादिम इमं वणिमट्ठा पगडं=यह भिखारी और दरिद्रोंके लिए उपकल्पित है ऐसा जा-
णेज्ज=जान लेवे वा=अथवा सुणिज्जा=किसी दूसरे से मुन लेवे तो तं=वह भत्तपाणं
तु=आहार-पानी संजयाणं=साधुओंके लिए अकप्पियं=अकल्पनीय भवे=होता है, (अतः)
दितियं=देती हुईसे साधु पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=इस प्रकारका आहारादि मे=
मुझे (लेना) न कप्पइ=नेहीं कल्पता है ॥५१॥५२॥

टीका—‘असणं०’ इत्यादि ‘तं भवे०’ इत्यादि च । यद् अशनादिकं वनीय-(प)
कार्थम्=वनीय(प)कः=याचकमात्रं, यद्वा सिद्धान्नमात्रोपजीवी, अथवा वनी=स्वकीयदुर-

करनेसे साधुको आरम्भ -आदि दोष नहीं लगते है, क्योंकि वह साधुके निमित्त नहीं बनाया
जाता है, तथा शास्त्रमें, शिष्टकुलमें भिक्षा ग्रहण करनेका विधान है, इसलिये भा शिष्टकुलमें आहार
ग्रहण करनेमें दोष नहीं आसकता, इतना ही समाधान काफा है ॥४९॥५०॥

‘असणं०’ इत्यादि, तथा ‘तं भवे०’ इत्यादि ।

याचकमात्रको अथवा सिद्ध (तैयार) भिक्षा लेकर जीवन-निर्वाह करनेवालेको वनीपक कहते
हैं, ‘वनीपक पाठ पक्षमें—दाताके माननीय गुरु आदिमें भक्ति प्रकट करके लोजानेवाली भिक्षाको

अद्वैत आहार अद्वैत करवाथी साधुने आर लयादि दोषो लागत नथी, कारण के अ साधुने
भाटे अनाववाभां आवेदी. छोटो नथी. तथा शास्त्रमा शिष्टकुलमा भिक्षा अद्वैत करवानुं
विधान छे, तेथी पक्ष शिष्टकुलमा आहार अद्वैत करवाभा दोष लागी शकते नथी. अद्वैत
समाधान पुरतु छे (४९—५०)

असणं० इत्यादि तथा तं भवे० इत्यादि
याचक-मात्रने अथवा सिद्ध (तैयार) भिक्षा लधने अवन (निर्वाहकरनागने ‘वनीयक’
कहे छे. वनीपक पाठथी पक्षमा-दाताना माननीय गुरुआदिमा भक्ति प्रकट करीने देवामा

वंस्थाप्रदर्शनपुरःसरं प्रियाऽऽलापादिना लभ्यद्रव्यं, तां याति=प्राप्नोतीति वनीयः, स एव वनीयकः, 'वनीपके'तिपाठपक्षे तु तां पूर्वोक्तां वनीं पिवति=आस्वादयतीति, पाति=रक्षति वा वनीपः, स एव वनीपकः, अथवा वनुते=प्रायो दातुः सम्माननीयेष्व्वात्मनो भक्तिं प्रकटयन् याचत् इति वा, ('वनु याचने' अस्माद्धातोरोणादिक ईषकप्रत्ययः । यदिवा वं=सान्त्वनं-बुभुक्षाजनिततापोपशमनलक्षणं नयति=प्रापयतीति वनीः, यद्वा वन्यते=याच्यत=सिध्यते इतिवनी=भिक्षणीयद्रव्यम्, ('वनु याचने' अस्माद्धौणादिक इन् कृदिकारादिति ङीष्) तां पाति=उपकल्प्य रक्षतीति वनीपः=गृहस्थस्तं कायति=प्रार्थयते प्रियोक्त्यादिनेति वनीपकस्तदर्थमिदं प्रकृतमित्यादि पूर्ववत् ॥५१॥५२॥

मूलम्—असणं पाणगं वावि. खाइमं साइमं तथा ।

जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥५३॥

तं भव भत्त-पाणं त संजयाण अकप्पियं ।

दितियं पडियाइक्खे न म कप्पइ तारिसं ॥५४॥

छाया—अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयाच्छणुयाट्ठा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥५३॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५४॥

सान्त्वयाथः—जं असणं पाणगं वावि खाइमं तथा साइमं=जो अशन पान खादिम स्वादिम इम समणट्ठा पगडं=यह निर्ग्रन्थ शाक्य तापस गैरिक और आजीवक, इन पाच प्रकारके श्रमणोंके लिए उपकल्पित है, ऐसा जाणेज्ज=जान लेवे वा=अथवा सुणेज्जा=किसी दूसरेसे सुन लेवे तो तं=वह भत्तपाणं तु=आहार-पानी संजयाण=साधुओंके लिए अकप्पियं=अकल्पनीय भवे=होता है, (अतः) दितियं = देती हुईसे साधु पडियाइक्खे =

वनी कहते हैं, और ऐसी भिक्षा लेनेवाला 'वनीपक' कहलाता है, अथवा जो, भूखका तापमिटाकर सान्त्वना प्रदान करे उसे वनी (भिक्षा देनेके लिये रखा हुआ अन्नादि) कहते हैं, उसको सुरक्षित रखनेवाला (गृहस्थ) से प्रार्थना करके भिक्षा प्राप्त करने वालेको 'वनीपक' कहते हैं । उस वनीपकके लिये बनाया हुआ देवे तो देनेवालीसे कहे कि ऐसा आहार मुझे कल्पता नहीं है ॥ ५१॥५२॥

आवती भिक्षाने वनी कहे छे, अने ऐवी भिक्षा लेनार वनीपक कहेवाय छे, अथवा जे भूखनो ताप मिटावीने सांत्वना आपे तेने वनी (भिक्षा आपवाने राणेदा अन्नादि) कहे छे अने सुरक्षित राखनार ने प्रार्थना करीने भिक्षा प्राप्त करनारने वनीपक कहे छे. जे वनीपकने भाटे अनावेदो आहार आपे तो आपनारीने साधु कहे छे जेवे आहार मने कल्पतो नथी (५१-५२)

कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता हैं ॥५३॥५४॥

टीका—‘असणं०’ इत्यादि, तथा ‘त भवे’ इत्यादि । श्रमणाय=श्रमणाः लोक-प्रसिद्धचतुरोधतो निर्ग्रन्थ-शाक्य गैरिका-SSजीवकभेदेन पञ्चधा, तत्र निर्ग्रन्थाः = पञ्चम-हाव्रतधारिणः, शाक्याः = सौगताः, तापसाः = जटाधारिणः, गैरिकाः = रक्तवर्णधातुवि-शेषरञ्जितवस्त्रधारिणः, परिव्राजका इत्यर्थः, आजीवकाः = गोशालकमतानुयायिनस्तद-र्थमिदं प्रकृतमित्यादि प्राग्वत् ॥५३॥५४॥

१ २ ३ ७ ४
मूलम्—उद्देशियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं ।

५ ६ ८ ९
अज्झोयरय पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥५५॥

छाया—औद्देशिकं क्रीतकृतं, पूतिकर्म चाभ्याहृतम् ।

अध्यवपूरकं ग्रामित्यं, मिश्रजातं विवर्जयेत् ॥५५॥

सान्वयार्थः—उद्देशियं = औद्देशिक-किसी एकको उद्देश करके बनाये हुए अश-नादिको कीयगडं = खरीदे हुएको पूइकम्मं = आधाकर्मादिदोषसे दूषित ऐसे आहारसे मिले हुए को आहडं = सामने लाये हुए को पामिच्चं = उधार लाये हुए को च = और मीसजाए = अपने तथा साधुओंके लिए मिश्रित (भेला) करके बनाये हुए अशनादिको (साधु) विवज्जए = वरजे, अर्थात् ऐसा आहार हो तो नहीं लेवे ॥ ५५ ॥

टीका—‘उद्देशियं०’ इत्यादि । १—औद्देशिकम् = उद्देशनमुद्देशस्तेन कृत—मौद्देशिकम्

‘असणं०’ इत्यादि तथा ‘त भवे०’ इत्यादि ।

लोकमे पाँच प्रकारके श्रमण होते हैं—(१) निर्ग्रन्थ (पंच-महाव्रतधारी), (२) सौगत (बुद्ध-के अनुयायी), (३) तापस (जटाधारो गैरिक (गेरुआ वस्त्र पहिननेवाले), (५) आजीवक (गोशा-लके मतानुयायी) । इनके लिये जो आहार बनाया गया हो वह, समयियोंके लिये कल्प्य नहीं है, अत एव ऐसा आहार देनेवालीसे साधु कहे कि मुझे नहीं कल्पता है ॥५३॥५४॥

‘उद्देशियं०’ इत्यादि । [१]—किसीको उद्देश करके बनाया हुआ आहार, औद्देशिक कह-

असणं० इत्यादि तथा त भवे० इत्यादि

लोकमां पांच प्रकारना श्रमणो डोय छे. (१) निर्ग्रन्थ (पञ्चमहाव्रतधारी), (२) सौगत (बुद्धना अनुयायी), (३) तापस (जटाधारी), (४) गैरिक (गेरुआ वस्त्रो पहिरनार), (५) आजीवक (गोशाजना मतानुयायी). अपने माटे वे आहार बनाववाभां आये डोय ते समयीओने माटे कल्प्य नहीं, तेथी ओयो आहार आपनारीने साधु कहे के ते भने कल्पतो नहीं (५३-५४)

उद्देशियं० इत्यादि (१) केअने उद्देशीने बनावेदो आहार औद्देशिक कहेवाय छे ते

तद्विविधं—सामान्यौद्देशिकं विशेषौद्देशिकं च, तत्राद्यं—प्रतिदिनं स्वार्थं सम्पाद्येते तावत्सं-
म्पादानप्रवृत्तौ सत्यां 'भिक्षादानं गृहस्थाऽऽचारः' इति बुद्ध्या 'यः कश्चित्साधुरागच्छे-
त्तस्मै देय' मिति सामान्यत उद्दिश्य समधिकं निष्पादिनम् । द्वितीयं—कमप्येक साधुं
व्यक्ति विशेषरूपेणोद्दिश्य सम्पादितम् । २—क्रीतकृतं=क्रयणं गृहस्थकर्तृकं, तेन सम्पा-
दितं क्रीतकृत क्रीतमित्यर्थः तत्रिविधं—द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं, मिश्रक्रीतञ्च, तत्र द्रव्य-क्रीतं
=स्वपरतदुभयभेदेन त्रिधा—स्वद्रव्यक्रीतं परद्रव्यक्रीतम्, उभयद्रव्यक्रीतञ्च । तदपि
सचित्ताऽचित्त-मिश्रभेदात्प्रत्येकं त्रिविधं सचित्तस्वद्रव्यक्रीतम्, अचित्तस्वद्रव्यक्रीतं,
मिश्रस्वद्रव्यक्रीतं, सचित्तपरद्रव्यक्रीतम्, अचित्तपरद्रव्यक्रीतं, मिश्रपरद्रव्यक्रीतं, सचित्तो-
भयद्रव्यक्रीतम्, अचित्तोभयद्रव्यक्रीतं, मिश्रोभयद्रव्यक्रीतञ्चेति । इत्थं द्रव्यक्रीतं नवधा
भवति ।

भाव क्रीतं द्विविधं—स्वभावक्रीतं परभावक्रीतञ्च; तत्र स्वभावक्रीतं—साधौ समुपा-
गते तदर्थं गृहस्थेन स्वविद्या मन्त्रादि दत्त्वा क्रीतम् । परभावक्रीत—विद्यामन्त्रादि दत्त्वा

लाता है । वह दो प्रकारका है—१—सामान्य-औद्देशिक और २—विशेष-औद्देशिक । जितना अहार,
प्रतिदिन गृहस्थ बनाता है उतना आहार बनाते समय ऐसा विचार करना कि 'भिक्षा देना
गृहस्थका कर्तव्य है, इसलिये जो कोई साधु आवेगा उसे दे दे' ऐसा विचार कर बनाया हुआ
आहार 'सामान्य-औद्देशिक' और किसी एक साधुके निमित्त बनाया हुआ आहार, 'विशेष-औ-
द्देशिक' कहलाता है ।

[२] खरीद किया हुआ आहार क्रीतकृत कहलाता है । वह तीन प्रकारका है (१)—द्रव्य
क्रीत (२)—भावक्रीत (३)—मिश्रक्रीत द्रव्यक्रीत तीन प्रकारका है—(१)—अपने द्रव्यसे खरीदा हुआ,
(२)—पराये द्रव्यसे खरीदा हुआ, (३)—दोनों द्रव्योसे खरीदा हुआ, । ये तीनों भेद तीन २
प्रकारके हैं । स्वद्रव्य क्रीतके भेद—(१) अपने सचित्त द्रव्यसे खरीदा हुआ, (२)—अपने अचित्त
द्रव्यसे खरीदा हुआ, (३)—अपने सचित्त और अचित्त, दोनों प्रकारके द्रव्यसे खरीदा हुआ ।

परद्रव्यक्रीतके भेद—(१)—दूसरेके अचित्त द्रव्यसे खरीदा हुआ, (३) दूसरेके दोनों प्रका-

ये प्रकारके होय छे (१) सामान्य औद्देशिक अने (२) विशेष औद्देशिक ओटलो आहार
प्रतिदिन गृहस्थ अनावे छे ओटलो आहार अनावती वअते ओवे विचार करवे के 'भिक्षा
आपवी ओ गृहस्थनु' कर्तव्य छे, तेथी जे केअ साधु आवशे तो तेने आपीश.' ओवे
विचार करीने अनावेले आहार सामान्यऔद्देशिक, अने केअ ओक साधुने निमित्ते अनावेले
आहार विशेष औद्देशिक कहेवाय छे

(२)-अरीद करेले आहार क्रीतकृत कहेवाय छे ते त्रय प्रकारके छे—(१) द्रव्यक्रीत,
(२) भावक्रीत, (३) मिश्रक्रीत, द्रव्यक्रीत त्रय प्रकारके छे—(१) पोताना द्रव्यथी अरीदेले,
(२) पराया द्रव्यथी अरीदेले, (३) जेउ द्रव्यथी अरीदेले ओ त्रये लेह त्रय-त्रय प्रका-
रना छे. स्वद्रव्यक्रीतना भेद—(१) पोताना सचित्त द्रव्यथी अरीदेले, (२) पोताना अचित्त
द्रव्यथी अरीदेले, (३) पोताना सचित्त अने अचित्त जेउ प्रकारना द्रव्यथी अरीदेले

१ विद्या-ससाधना रोहिणी प्रकृत्यादिरूपा, मन्त्रः-असाधनो वशीकरणादिः ।

साधुकृते परेण क्रीतमुपलभ्यान्येन गृहस्थेन दीयमानं तदनेकविधं स्वयमूहम् ।

मिश्र-(द्रव्य-भावरूप)-क्रीतस्य च नव भङ्गाः, यथा—

१ स्वकीयेन द्रव्येण स्वकीयेन भावेन ।

२—स्वकीयेन द्रव्येण परकीयेण भावेन ।

३—परकीयेण द्रव्येण स्वकीयेन भावेन ।

४—परकीयेण द्रव्येण परकीयेण भावेन ।

रके द्रव्यसे खरीदा हुआ ।

उभयक्रीतके भेद—(१)—दोनोके सचित्त द्रव्यसे खरीदा हुआ (२) दोनोके अचित्त द्रव्यसे खरीदा हुआ (३) दोनोके सचित्त और अचित्त द्रव्यसे खरीदा हुआ । ये सत्र द्रव्यक्रीत है ।

भाव-क्रीत, दो-प्रकारका है—(१)—स्व-भावक्रीत, (२)—पर-भावक्रीत । साधुके आने पर, साधुके लिये, अपनी विद्या या अपना मन्त्र दे कर, गृहस्थद्वारा खरीदा हुआ आहार स्व-भाव-क्रीत है, दूसरेने विद्या-मन्त्र देकर, साधुके लिये आहार आदि खरीदा हो और साधुके आने पर उस आहारको दूसरा लेलेवे तो उसे परभाव क्रीत कहते है, वह अनेक प्रकारका है सो स्वयं समझ लेना चाहिये ।

मिश्र-(द्रव्य-भावरूप)-क्रीतके नौ भंग होते है—

१—अपने द्रव्यसे अपने भावसे ।

२—अपने द्रव्यसे परके भावसे ।

३—परके द्रव्यसे अपने भावसे ।

४—परके द्रव्यसे परके भावसे ।

परद्रव्यक्रीतना लेह—(१) भीजना सचित्त द्रव्यथी भरीहेलो, (२) भीजना अचित्त द्रव्यथी भरीहेलो, (३) भीजना जेउ प्रकारना द्रव्यथी भरीहेलो.

उभयक्रीतना लेह—(१) जेउना सचित्त द्रव्यथी भरीहेलो, (२) जेउना अचित्त द्रव्यथी भरीहेलो, (३) जेउना सचित्त अने अचित्त द्रव्यथी भरीहेलो. जे अथा द्रव्यक्रीत छे

भावक्रीत जे प्रकारना छे (१) स्व-भावक्रीत, (२) पर-भावक्रीत, साधु आवे त्यारे साधुने भाटे पोतानी विद्या या पेतानो मन्त्र आपीने गृहस्थद्वारा भरीहेलो आहार जे स्व-भावक्रीत छे. भीजने विद्या-मन्त्र आपीने साधुने भाटे आहारादि भरीहेलो होय अने साधु आवे त्यारे जे आहारने भीजे लभ ले तो ते परभावक्रीत कहेवाय छे ते अनेक प्रकारना होय छे ते पोतानी जेणे समञ्ज लेवुं.

मिश्र (द्रव्य-भाव) क्रीतना नव भांग थाय छे.

१ पोतानावद्रव्यथी पोताना भावथी

२ पोतानाद्रव्यथी परना भावथी.

३ परना द्रव्यथी पोताना भावथी.

५—स्वकीय-द्रव्य-भावाभ्यां परकीयेण द्रव्येण ।

६—स्वकीय-द्रव्य भावाभ्यां परकीयेण भावेन ।

७—परकीय-द्रव्य भावाभ्यां स्वकीयेन द्रव्येण ।

८—परकीय-द्रव्य भावाभ्यां स्वकीयेन भावेन ।

९—स्वकीय-द्रव्य-भावाभ्यां परकीय-द्रव्यभावाभ्याञ्च क्रीतम् , इति ।

एष च दोष उद्गमदोषान्तर्गतत्वेन गृहस्थोत्थितः, उक्तञ्च—

“सोल्लह उद्गम-दोसे, गिहिणो उ समुट्टिण वियाणाहि ।

ऊपायणा य दोसे, साहूओ समुट्टिण जाण ॥ १ ॥ इति’

३-पूतिकर्म=पूतेः=अपवित्रस्य कर्म=मिलनरूपं पूतिकर्म लक्षणया तेन युक्तं पूति-
कर्म । पूतिकरुणं द्रव्यभावभेदाद्द्वीप्रकारकम् तत्र—

द्रव्यतो यथा-शुचिद्रव्येऽपवित्र-सम्भेलन, यथा पेय-पयःपरिपूरितपात्रेऽल्पीयानपि
मुरासंसर्गः, यद्वा पायसादिपवित्रभोक्तव्यपदार्थे क्षतादिक्षरद्रक्त-पूयादिविन्दुमात्रस्यापि
मिश्रणम् ।

५—अपने द्रव्य-भावसे परके द्रव्यसे ।

६—अपने द्रव्य-भावसे परके भावसे ।

७—परके द्रव्य-भावसे अपने द्रव्यसे ।

८—परके द्रव्य-भावसे अपने भावसे ।

९—अपने द्रव्य-भावसे और परके द्रव्य-भावसे खरीदा हुआ ।

यह क्रीतकृत दोष, उद्गमदोषोके अन्तर्गत है, इसलिये गृहस्थके द्वारा लगता है । कहा भी है—

“मोल्लह उद्गम दोष, गृहस्थके द्वारा लगते है और उत्पादना दोष, साधु द्वारा लगते है ।

[३] पूतिकर्म—पवित्र वस्तुके मिल जानेको पूतिकर्म कहते है, यह दो प्रकारका है—(१)—

४ परना द्रव्यथी परना लावथी.

५ चोताना द्रव्य-लावथी परना द्रव्यथी

६ चोताना द्रव्य-लावथी परना लावथी

७ परना द्रव्य लावथी चोताना द्रव्यथी

८ परना द्रव्य-लावथी चोताना लावथी.

९ चोताना द्रव्य-लावथी अने परना द्रव्य लावथी खरीदेवो.

ये हीनकृत दोषनी अरु रहेवो छे, तेथी करीने गृहस्थनी द्वारा लागे छे कहुं छे
६—“जेण उद्गमदोष गृहस्थद्वारा लागे छे अने उत्पादनादोष साधुद्वारा लागे छे.”

(३) पूतिकर्म—पवित्र वस्तुमा अपवित्र वस्तु मणी जाय तेने पूतिकर्म कहे छे. जे
आ अर्जन्तु छे (१) द्रव्य-पूतिकर्म अने (२) लाव-पूतिकर्म. (१) पवित्र द्रव्यमा अपवित्र

भावतः—विशुद्ध आहारादावाधाकर्मादिदोषदूषितान्नादेः सिक्थमात्रेणापि मेलनम् तदशनेन च साधूनां चारित्रमालिन्यं भवतीति भावपूतिरभिधीयते ।

दोषोऽयमाधाकर्मादिदोषदूषितान्नादिसंसृष्टहस्तभाजनादिनिमित्तेनापि सम्भवति ।

४-आहृतं=साधुनिमित्तं गृहादितोऽभिमुखमानीतम् । ५-‘अज्झोयरय’ इति लुप्तवि-
मक्तिकं पदम् ‘अध्यवपूरक’ मिति तच्छाया, स्वार्थं पाकक्रियायां समारब्धायां ग्रामे साधु-
समागमनं निशभ्य तदर्थमधिकनिक्षेपणेन सम्पादितमिति तदर्थः । इदमत्र हृदयम्—यद्ये-

द्रव्य-पूतिकर्म और (२) भाव-पूतिकर्म । (१)—पवित्र द्रव्यमें अपवित्र द्रव्य मिलाना द्रव्य-पूति कर्म है, जैसे पीने योग्य दूधसे भरे हुए वर्तनमें थोड़ीसी भी मदिराका मिलजाना, अथवा खाने योग्य स्त्रीर आदिमें रक्त पीप आदि अपवित्र पदार्थका मिल जाना ।

विशुद्ध आहार आदिमें आधाकर्मा आदि दोषसे दूषित अन्नका एक भी सीध (कण) मिल जाना, भाव-पूतिकर्म है । ऐसा आहार लेनेसे मुनियोके चारित्रमें मलिनता आजाती है, इस कारण इसे भावपूति कहते हैं ।

आधाकर्मा दोषसे दूषित अन्न आदि से भरे हुए हाँथ या वर्तन के निमित्तसे भी यह दोष लग जाता है ।

(४)—आहृत—साधु के लिये साधुके सामने लाया हुआ आहार आदि अभ्याहृत कहलाता है, ऐसा आहार लेना अभ्याहृत—दोष—दूषित आहार है ।

[५] अध्यवपूरक—अपने लिए भोजन बनाना प्रारम्भ किया हो उस समय, ‘गाँवमें साधु पधारे है’ यह सुनकर और अधिक मिला कर बनाया हुआ आहार अध्यवपूरक कहलाता है, तात्पर्य यह कि यदि अन्यलिङ्गियोके निमित्त अधिक आहार मिला कर बनाया हो तो उन्हें दे

द्रव्य मेलनवपुं अे द्रव्य-पूतिकर्मं अे, नेमके पीवा योग्य दूधथी लरेला वासणुमां थोडीक मदिरानुं मणी न्वुं, अथवा पीवा योग्य भीर आदिमा लोडी पइ आदि अपवित्र पदा-
र्थनुं पडी न्वुं (२) विशुद्ध आहारादि आधाकर्मा आदि दोषोथी दूषित अन्नने अेक पणु
कणु मणी न्वे अे लावपूति कर्म अे अेवा आहार लेवाथी मुनिअेना चारित्रमा मलि-
नता आवी नय अे. तेथी तेने लावपूति कडे अे.

आधाकर्मा दोषथी दूषित अन्नादिथी लरेला हाथ या वासणुना निमित्तथी पणु अे दोष लागी नय अे.

(४) आहृत—साधुने माटे साधुनी सामे लावेला आहार आदि अभ्याहृत कडेवाय अे. अेवा आहार अभ्याहृत—दोष—दूषित आहार अे,

(५) अध्यवपूरक—घोताने माटे लोअन अनाववाने प्रारंभ कथे लोय, ते समये ‘गाभमां साधु पधार्या अे’ अेम सालणीने णीणुं वधारि मेलणीने अनावलेला आहार अध्यवपूरक कडेवाय अे तात्पर्य अे अे के ने अन्यलिङ्गीअे (अन्यधर्मांअे) ने निमित्ते वधारि

वसन्यलिङ्गनिमित्तमधिकं पूरितं, तत्र तद्वानानन्तरमवशिष्टमन्नादिकं साधुभिर्ग्राह्यं, तत्रान्तरायदोषानवतारादिति । ६-प्रामित्यं=साधुनिमित्तमुद्धाररूपेण कुतश्चिदानीय दीयमानम् । ७-मिश्रजातं=मिश्रेण मिश्राभावेन 'पूर्वत एव दातृ-भिक्षा-चरोभयानुसन्धानेनेत्यर्थः जातं =निष्पन्नम् तद्द्विविधं सामान्यमिश्रजातं विशेषमिश्रजातं चेति, तत्र-सामान्यमिश्रजातं=सामान्यरूपेण स्वपोष्यवर्गार्थं गृहस्थागृहस्थसाधु-पाखण्डिप्रभृतिभिक्षाचरार्थञ्चैकत्र रन्धितम्, विशेषमिश्रजातं यदातृनिमित्तं केवलं साधुनिमित्तञ्च सहैव निष्पन्नमन्नादिकम्, तद् विवर्जयेत्=परित्यजेत् न गृह्णीयादित्यर्थः, साधुरिति शेषः । औद्देशिका-ध्यवपूरक-मिश्राजातेषु परस्परमेव विशेषः-औद्देशिकं-पाकप्रवृत्त्यनन्तरं साध्यागमनात्प्रागेकमेव साधुं

देनेके बाद बचा हुआ आहार साधुओको ग्राह्य है, क्योंकि वहाँ अन्तराय-दोष नहीं लगता ।

(६) प्रामित्यं-साधुके निमित्त कहींसे उधार लेकर दिया जानेवाला आहार, प्रामित्य कहलाता है ।

[७] मिश्रजात-पहलेसे ही दाता और भिक्षु दोनों के लिये बनाया हुआ आहार मिश्रजात है ।

मिश्रजातके दो भेद हैं-(१)-सामान्य मिश्रजात और (२)-विशेष मिश्रजात । (१)-साधारण तौर पर अपने पोष्यवर्गके लिये तथा गृहस्थ, अगृहस्थ, साधु, पाखण्डी आदिके लिये मिलाकर रांवा हुआ आहार 'सामान्य मिश्रजात' कहलाता है । (२)-जो आहार आदि अपने लिये और साधुके लिये मिलाकर बनाया जाय उसे 'विशेषमिश्रजात' कहते हैं । ऊपर कहे हुए सब प्रकारके आहारका अनगार को परिहार करना चाहिये ।

औद्देशिक, ध्यवपूरक और मिश्रजात दोषोंमें यह भेद है-भोजन बनानेमें प्रवृत्त होनेके पश्चात् और साधुके आनेसे पहले, किसी भी एक साधुके लिये अथवा अमुक एक साधुके लिये

आहार भेजवीने बनाव्यो होय तो तेने आपी हीधा पछी वधेवो आहार साधुआने भाटे ग्राह्य अने छे, कारण के तेभा अन्तराय दोष लागतो नथी.

(६) प्रामित्यं-साधुने निमित्त कहींसे उधार लावीने आपवामां आवेवो आहार प्रामित्य कहैवाय छे.

(७) मिश्रजात-पहलेसे ही दाता अने भिक्षु जेउने भाटे बनावेवो आहार मिश्रजात छे मिश्रजातना जे लेह छे (१) सामान्य-मिश्रजात (२) विशेष-मिश्रजात (१) साधु रीते पोताना पोष्यवर्गने भाटे तथा गृहस्थ, अगृहस्थ, साधु पाखण्डी आदिने भाटे अकठो करीने राधेवो आहार 'सामान्य-मिश्रजात' कहैवाय छे (२) जे आहार आदि पोताने भाटे अने साधुने भाटे अकठो करीने बनाववामां आवे तेने विशेष मिश्रजात कहै छे उपर कहैला गथा प्रकारना आहारने अणुगारे परिहार करवो जेधजे

औद्देशिक, ध्यवपूरक अने मिश्रजात दोषोंमें आ लेह छे-लेज्जन बनाववामा प्रवृत्त यथा पछी अने साधु आव्या पछेला, केध पणु अक साधुने भाटे अथवा अमुक अक

१ पूर्वतः=पाकार्थं प्रवृत्त प्रागेच २ इतर भिक्षाचरव्यतिरेकेण

सामान्यरूपेण विशेषरूपेण बोद्धव्यं स्रग्पादिते सम्भवति । अध्यवपूरकं=साधुसमागमश्रवणसमनन्तरमधिकनिक्षेपेण जायते । मिश्रजातं-पाकप्रवृत्तिसमय एव गृहस्थ-भिक्षाचरयोः कृते संमिश्रितेऽन्नादौ समुत्पद्यते ॥ ५५ ॥

मूलम्—उग्गमं^७ से^५ अ^६ पुच्छिज्जा^८, करसट्ठा^९ केण^२ वा कटं^३ ? ।

सुच्चा^९ निरसकियं^{११} शुद्धं^{१२} पडिगाहिज्ज^{१३} संजओ^{१०} ॥५६॥

छाया उद्गमं तस्य च पृच्छेत्कस्यार्थं केन वा कृतम् ? ।

श्रुत्वा निःशुद्धितं शुद्धं, प्रतिगृह्णीयात्संयतः ॥५६॥

सान्वयार्थः—से=उस आहारादिकी उग्गमं=उत्पत्ति पुच्छिज्जा=पूछे कि-(यह अशनादि) करसट्ठा=किसके लिए वा=और केण=किसने कटं=बनाया है । फिर सुच्चा=गृहस्थ के मुख से अशनादिकी उत्पत्ति गुनकर (यदि वह) निरसंकियं=औद्देशिक आदि शुद्धा-रहित य=और शुद्धं=निर्दोष हो तो संजओ=साधु पडिगाहिज्ज=ग्रहण कर लेवे ॥५६॥

टीका—‘उग्गमं’ इत्यादि । कर्यार्थं=किन्निमित्तम्, केन वा कर्त्रा कृतं=निष्पादितम्, अन्नादौ ‘विशुद्धमविशुद्धं वे’ ति संशये तन्निर्गकरणाय तस्य संशयितस्यान्नादेः उद्गमम्=उद्गमनशुद्धमस्तम् उत्पत्तिमित्यर्थः, पृच्छेत्=प्रतिवचनेन ज्ञातुमिच्छेत्, श्रुत्वा ‘प्रतिवचन’ मितिशेषः संयतः=शुद्धिताऽऽहारग्रहणभीरुः साधुः निःशुद्धितं=दोषशुद्धावर्जितम् अत एव शुद्धं=निरवद्यं प्रतिगृह्णीयात्—निरवद्यत्वेन निश्चये सतीति भावः ॥ ५६ ॥

बनाये हुए आहारमें औद्देशिक दोष होता है । आहार बनाते समय, साधुका आगमन सुन कर अधनमें अधिक ऊर (डाल) कर बनानेसे अध्यवपूरक दोष होता है भोजन बनाते समय, गृहस्थ और भिक्षु दोनोंके लिये भोजन बनानेसे मिश्रजात दोष लगता है ॥५५॥

‘उग्गमं०’ इत्यादि । ‘आहार अशुद्ध है’ इस प्रकारका सन्देह होने पर साधु, ऐसा पूछ लेवे कि यह आहार, किसके लिये बनाया गया है और किसने बनाया है ? इसका उत्तर सुनकर निरवद्यताका निश्चय करके नि शकित अत एव निरवद्य आहार हो तो साधु, ग्रहण करे ॥५६॥

साधुने माटे बनावेला आहारमा औद्देशिक दोष लागे छे आहार बनावती वयते साधुनु आगमन सालणीने आंधणुमा वधारे ओरी देवाथी अध्यवपूरक दोष लागे छे लोअन बनावती वयते गृहस्थ अने भिक्षु जेउने माटे लोअन बनाववाथी मिश्रजात दोष लागे छे. (५५)

उग्गमं० इत्यादि ‘आहार अशुद्ध छे के विशुद्ध छे’ ओ प्रकारने स देह पडतां साधु ओपु पूछी वे के आहार केने माटे बनावेला छे अने केले बनाव्ये छे ?, ओने उत्तर सालणीने निरवद्यताने निश्चय करीने नि शकित, ओटवे निरवद्य आहार होय तो साधु अहणु करे (५६)

१ २ ४ ३ ५ ७ ६
मूलम्-असणं पाणमं वावि, खाइमं साइमं तथा ।

८ १३ १२ ९ १० ११
पुष्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥५७॥

१४ १९ १५ १६ १७ १८
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिय ।

२० २१ २४ २३ २५ २२
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५८॥

छाया-- अशन पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा

पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा ॥५७॥

तद्भवेद्भक्त-पान तु, संयतानामकल्पिक (त) म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५८॥

सान्वयार्थः—असणं पाणमं वावि खाइमं तथा साइमं=अशन पान खादिम तथा स्वा-
दिम (यदि) पुष्फेसु=सचित्त फूलों से बीएसु=शालि आदि बीजोंसे वा=अथवा हरिएसु=
हरित कायसे उम्मीसं=मिश्रित होज्ज=हो तो तं=वह भत्तपाणं तु=अशनादि संजयाणं
=साधुओ के लिए अकप्पियं =अकल्पनीय भवे=है, (अतः) दितियं =देती हुईसे साधु
पडियाइक्खे =कहे कि तारिसं =इस प्रकारका आहारादि मे =मुझे (लेना) न कप्पइ =
नहीं कल्पता है ॥५७॥-५८॥

टीका — 'असणं' इत्यादि, 'तं भवे' इत्यादि च । यदशनादिकं सचित्त-पुष्प-
बीज-हरितकायैरुन्मिश्रं =संयुक्तं भवेत्तदकल्पयमिति वाक्यार्थः । सूत्रे 'पुष्फेसु' इत्यादौ
तृतीयार्थं सप्तमी ॥५७॥५८॥

१ २ ४ ३ ५ ७ ६
मूलम्-असणं पाणमं वावि, खाइमं साइमं तथा ।

८ १२ ११ ९ १०
उद्गम्मि होज्ज निक्खित्तं उत्तिगपणगेसु वा ॥५९॥

१३ १८ १४ १५ १६ १७
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।

१९ २० २३ २२ २४ २१
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६०॥

'असणं' इत्यादि, तथा 'तं भवे' इत्यादि । जो अशन पान आदि, सचित्त पुष्प, सचि-
त्त बीज और हरितकायमे युक्त हो वह, समयीके लिये कल्पनीय नहीं है, अत ऐसा आहार
देनेवाची से माधु कहे कि—ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है ॥५७॥५८॥

असणं० इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि जे अशनपान आदि, सचित्त पुष्प सचित्त
बीज अने हरितकाय (वनस्पति) थी शुद्ध होय ते संयमीने भाटे कल्पनीय नहीं, अटवे
अवे आहार आपनारीने साधु छडे के-अवे आहार भने कल्पतो नहीं (५७-५८)

छाया—अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

उदके भवेन्निक्षिप्तमुत्तिङ्गपनकेषु चा ॥५९॥

तद्भवेद्भक्त-पान तु, संयतानामकल्पक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६०॥

सान्त्वयार्थः—असणं पाणगं वापि खाद्यं तद्वा साद्यं = जो अशनादि चार प्रकारका आहार (यदि) उदगम्मि = सचित्त जलके ऊपर वा = अथवा उत्तिगपणगेषु = कीड़ियोंके दरके ऊपर या लीलन-फूलन पर निखिखत्तं = रखा हुआ होज्ज = हो त = वह भक्तपाण तु = अशनादि संजयाणं = साधुओंके लिए अकल्पियं = अकल्पनीय भवे = है (अतः) दितियं देती हुई से साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥५९॥६०॥

टीका—‘असणं०’ इत्यादि, तं भवे०’ इत्यादि च । यदशनादिकमुदके = सचित्त-जलोपरि, उत्तिङ्गपनकादिषु = उत्तिङ्गाः = भूमौ वर्तुलविवरविधायिनो गर्दभमुखाऽऽकृतयः क्षुद्रकीटविशेषाः, कीटिकानगरादयो वा, पनकः = अङ्कुरितोऽनङ्कुरितो वा पञ्चवर्णानन्तकायवनस्पतिविशेषः, तत्र निक्षिप्तं = स्थापितं भवेत्, तद्भक्त-पानं संयतानामकल्पक (त)-मित्यादि पूर्ववत् ॥५९॥६०॥

१ २ ४ ३ ५ ७ ६
मूलम्—असणं पाणगं वापि, खाद्यं साद्यं तद्वा ।

८ १० ९ ११ १३ १२ १४
तेजसि हुज्ज निखिखत्तं तं च संघट्टिया दए ॥६१॥

१५ २० १६ १७ १८ १९
तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकल्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६२॥

छाया—अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, तच्च संघट्टय दद्यात् ॥६१॥

तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६२॥

‘असणं०’ इत्यादि, तथा ‘तं भवे०’ इत्यादि । जो अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य सचित्त जल पर रखा हुआ हो तथा कीडीनगर (चिऊँटियोंके समूह) या लीलन-फूलन पर रखा हो वह, समयियोंके लिये कल्प्य नहीं है, अतः ऐसा आहार देनेवालीसे कहे कि ‘ऐसा आहार मुझे कल्पता नहीं है’ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

असणं इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि जे अशन, पान, खाद्य स्वाद्य सचित्त जल पर रखा हुआ हो, तथा कीडीनगर (कीडीयारा) या लीलन-फूलन पर रखा हो तो सधुओंके लिये कल्पनीय नहीं अटले अवे। आहार आपनारीने साधु कहे के-अवे। आहार, भवे कल्पता: नहीं। (५९-६०)

सान्त्वयार्थः—असणं पाणं वावि खाइसं तहा खाइसं = जो अशन पान खादिम स्वादिम तेउम्मि = तेजस्काय पर निक्खित्त = रखा हुआ हुआ = हो च = अथवा तं = उस तेजस्कायको संघट्टिया = संघट्टा (छ्) करके दिए = देवे तो तं = वह भक्तपाणं तु = अशनादि संजयाण = साधुओंके लिए अकप्पिय = अकल्पनीय भवे = है, (अतः) दितियं = देती हुईसे साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकार का आहारादि मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥६१॥६२॥

टीठा—‘असणं०’ इत्यादि, तं भवे०’ इत्यादि च । यदशनादिकं तेजसि = तेजस्कायोपरिनिक्षिप्तं = निहितं भवेत्, यच्च तत् = तेजः-अग्निकायमित्यर्थः, संघट्टच = संस्पृश्य दद्यात्, तत् = उभयविधं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिक (तं) भवेत्, अतस्तद्दत्तं प्रत्याचक्षीत—तादृशं मे न कल्पत इति ॥६१॥६२॥

मूलम्—एवं^१ उस्सिक्कया^२ ओसिक्किया^३, उज्जालिया^४ पज्जालिया^५ ।
 निव्वाविया^६ उस्सिचिया^७, निस्सिचिया^८ ओवत्तिया^९ ओयारिया^{१०} दए^{११} ॥६३॥
 तं भवे^{१२} भत्त-पाणं^{१३} तु, संजयाण^{१४} अकप्पियं^{१५} ।
 दितियं^{१६} पडियाइक्खे^{१७}. न मे कप्पइ^{२२} तारिसं^{२१} ॥६४॥

छाया—एवम् उत्क्षिप्य अवक्षिप्य, उज्ज्वालय प्रज्वालय ।

निर्वाप्य उत्सिच्य, निषिच्य अपवर्ष्य अवतार्त्रं दद्यात् ॥६३॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिक(तं) स्मृ ।

दत्तं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।

अग्निकायके साक्षात् संघट्टेका निषेध करके अब परम्परा संघट्टेका निषेध करते हैं—
 सान्त्वयार्थः=एवं=जिस प्रकार अग्निकायको स्पर्श करके दिया जानेवाला अशनादि नहीं लेते, उमी प्रकार उस्सिक्किया = चूल्हे आदिमें इन्धनको अन्दर सरका कर ओसिक्किया=अधिक इन्धनको चूल्हेके अन्दरसे बाहर निकालकर उज्जालिया = बुझी हुई अग्निको फुंक आदि से उद्दीपित—सलगा—कर पज्जालिया = जलती हुई अग्निको अधि-

‘असणं०’ इत्यादि, तथा ‘तं भवे०’ इत्यादि । जो अशन पान आदि, तेजस्काय पर रखा हो अथवा अग्निकायका संघट्टा करके देवे तो वह, साधुके लिये ग्राह्य नहीं है । अतः देनेवालीने कहे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

असणं० इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि । जो अशन पान आदि तेजस्काय पर रखा हो अथवा अग्निकायको संघट्टन करने वाले देवे तो ते साधुने ग्राह्य नहीं कहेते ते आपनारीने साधु को उद्दीपित—सलगा—कर पज्जालिया = जलती हुई अग्निको अधि-

क प्रदीप्त कर निव्वात्रिया = एग्निको पानी आदिसे बुझाजर उस्सिचिया = अग्नि पर पकते हुए अन्नादिको कुछ बाहर निकाल कर निस्सिचिया = उभरते हुए दुग्धादिमें जल छिडककर ओवत्तिया = अग्नि पर रहे हुए अन्नादिको दूसरे बरतनमें निकालकर ओयारिया = अग्निपर रहे हुए अन्नादिके बरतनको नीचे उतारकर अर्थात् अग्निकायका परम्परासे संवट्टा करके दए = अशनादि देवे तो तं = वह भक्तपाणे तु अशनादि संजयाणं = साधुओंके लिए अकल्पियं = अकल्पनीय भवे = है, (अतः) दितियं = देती हुई से साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥६३॥६४॥

टीका—‘एवं०’ इत्यादि तं भवे०’ इत्यादि च । एवम्=उक्तप्रकारेण तेजस्काय-विषय इवेति भावः, उत्क्षिप्य=यावत्कालं साधवेऽन्नादिकं ददामि तावत्कालमग्निर्मा प्रशाम्यतु’ इति बुद्ध्या चुल्ल्यादाविन्धनमुत्सार्य अवक्षिप्य=दाहभयादिन्धनं निःसार्य उज्ज्वाल्य अनुज्ज्वलितं फूत्कारादिनोद्दीप्य=प्रज्वाल्य=उद्दीप्तं प्रकर्षेण संवर्ध्य निर्वाप्य=उत्सिच्य =अग्न्युपरिस्थितमन्नादिकं किञ्चिद्बहिष्कृत्य, निपिच्य=उद्वलद्दुग्धादिकं जलेन प्रशाम्य अपवर्त्य=भाजनान्तरे निधाय, अवतार्य=अन्नादिसहितं भाजनमेवोत्तार्य वा दद्यात्, तद्भक्तपानं तु सयतानामकल्पिकं (तं) भवेदतस्तद्दतीं प्रत्याचक्षीत—तादृशं मे न कल्पते’ इति ॥६३॥६४॥

‘एवं उत्सिक्किया०’ इत्यादि, तथा ‘तं भवे’ इत्यादि ।

‘जब तक आहार देती हू तब तक, अग्नि न बुझ जाय’ ऐसा विचार कर चूल्हेमें इंधन सुलगाकर, अन्न आदि जलनेके भयसे इंधन बाहर निकाल कर फूँक आदिसे चूल्हा जला कर, जलती अग्निको तेज कर या बुझा कर, अग्नि पर पकते हुए आहार को कुछ एक ओर कर, तथा पानी डाल कर उबाल (उफान) को शान्त कर, अथवा अन्न आदि सहित बर्तन को नीचे उतार कर यदि आहार देवे तो वह आहार अनगारके लिये ग्रहण योग्य नहीं है । अतः देनेवालीसे कहे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है’ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

एवं उत्सिक्किया० इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि.

‘जथा सुधी आहार आपती होई’, त्यां सुधी अग्नि होलवाध न जाय,’ जेवो विचार करीने थूलाभा धंध्यां सणगावीने, अन्नादि अणी ज्वाना लयथी धंध्यां अहार काढीने कुंक आदिथी थूला सणगावीने, अणता अग्निने तेज करीने या थुजावीने, अग्नि पर पाकता आहारने कोध जेक आणुजे करीने तथा पाणुी नांणीने जलराने शांत करीने, अथवा अन्नादि सहित वासणुने नीचे उतारीने जे आहार आपे तो ते आहार अनगार ने भाटे अक्षु करवा योग्य नथी जेटवे ते आपनारीने साधु कडे के—‘जेवो आहार भने कल्पतो नथी (६३-६४)

११ २ ५ ४ ३ ८ ७ ६ १
मूलम्—हुज्ज कट्टं सिलं वावि इट्टालं वावि एगया ।

१० ८ १२ १३ १५ १४
ठवियं सकवट्टाए, तं च होज्ज चलाचलं ॥६५॥

१९ १६ १८ २० २६ २४ २५
न तेण भिक्खू गच्छेज्जा दिट्ठो तत्थ असंजमो ।

२२ २३ २१ १७
गंभीरं झुसिरं चैव सर्व्विन्द्रिय समाहिए ॥६६॥

छाया—भवेत्काष्ठ शिला वाऽपि, इट्टालं वाऽप्येकदा ।

स्थापितं संक्रमार्थं तच्च भवेच्चलाचलम् ॥ ६५ ॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेद्दृष्टस्तत्रासयमः ॥

गम्भीरं श्रुपिरं चैव, सर्व्वेन्द्रिय-समाहितः ॥ ६६ ॥

मान्वयार्थः—एगया=किसी समय अर्थात् वर्षा आदिके समय संकमट्टाए=जाने आने के लिए कट्ट=काठ वावि=या सिल=शिला वावि=अथवा इट्टाल=ईट्टका टुकड़ा ठवियं रसा हुआ हुज्ज=हो न=और त=वह (यदि) चलाचलं=अस्थिर-डगमगाता हुज्ज ही तो तेण=उस मार्गसे तथा जो गंभीर=ऊंडा गहरा और झुसिरं=घोला स्थान हो उससे सर्व्विन्द्रियसमाहिए=समस्त इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला भिक्खू=साधु न गच्छेज्जा=नहीं जावे (क्योंकि) तत्थ=वहां पर केवली भगव न ने असंजमो=असंयम दिट्ठो=देखा है ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

टीका—‘हुज्ज कट्टं’ इत्यादि, ‘न तेण०’ इत्यादि च । एकदा=एकस्मिन् काले वर्षादी यत् काष्ठं=सञ्चरणोपयोगि दारु, अपिवा शिला=प्रस्तरखण्डम् अपिवा इट्टालम्=इष्टकाशकलं, संक्रमार्थं गमनागमनार्थं स्थापितम्=आरोपितम् भवेत्, तच्च काष्ठादिकं यदि चलाचलम्=अस्थिरं कम्पमानं भवेत् तदा तेन काष्ठादिना सर्व्वेन्द्रियसमा-

‘हुज्ज कट्टं’ इत्यादि, तथा ‘न तेण०’ इत्यादि ।

नदी आदिमें बरसात आदिके समय, जाने-आनेके लिये जो काठ, पत्थर या ईट आदि गण दिया हो और यदि वह हिलता हो तो समाधिमान् सयमी, उस मार्गसे गमन न करे । और जो प्रदेश नीचा होनेसे अन्धकारमय हो या खड्गदेवाला हो उससे भी साधुको गमन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे मार्गमें गमन करनेसे स्व-पर-विराधना-रूप असयम केवलो भगवान् ने देखा है ।

हुज्ज कट्टं० इत्यादि तथा न तेण० इत्यादि

नदी आदिमा बरसातने वषते आववा जना म.टे जे लाकडा, पत्थर, ईट वगैरे संपेदा देग अन जे ते हलता होय तो समाधिमान सयमी जे मार्गे गमन न करे नने जे प्रदेश नीचा होवाथी अन्धकारमय होय या खाडावाणो होय ते मार्गे पशु साधुजे गमन न करे, कारण जे जेवा मार्गे गमन करवाथी स्व-पर-विराधनाइप काम - यम देवता न गमने नयेथे छे

हितः = वशीकृतसकलेन्द्रियो भिक्षुः = साधुः न गच्छेत् । 'चेव' शब्दः समुच्चये अपिचे-
त्यर्थः. गम्भीरं निम्नत्वेन प्रकाशशून्यं, शुषिरं = गह्वरवत्सावकाश 'प्रदेश' मिति शेषः,
न गच्छेदिति पूर्वेण सम्बन्धः । अगमने हेतुमाह—तत्रेति, तत्र = तस्मिन् असंयमः =
स्वपरविराधनादिरूपो दृष्टः = अवलोकितः केवलिभिरिति शेषः । चलाचलविशेषणककाष्ठा-
दिपदेन प्रस्खलन पतनादिनाऽऽत्मविराधना, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिप्राणिगणोपमर्दनेन पर-
विराधनासम्भावना च सूचिता । गम्भीरादिप्रदेशगमनेनापि प्रोक्तदोषसमधिकर्हिस्त्रादि-
जन्तुजनितोपघातादिप्रचुरदोषसम्भवः सूचितः ।

'सर्व्विदियसमाहिण्' इतिपदेन साधोरिन्द्रियविषयाऽऽसक्तिनिराकरणपरायणता
प्रतिपादिता । 'भिक्षु' पदेन च यमनियमपूर्वकमेवभिक्षाग्राहित्वमिति बोधितम् ॥ ६५ ॥
॥ ६६ ॥

४ ५ ६ १० १२
मूलम्—निस्सेणिं फलंगं पीठं उस्सवित्ताणमारुहे ।

७ ८ ९ ११ २ ३ १
मंचं कीलं च पासायं समणट्ठाए व दावए ॥६७॥

१३ १४ १५ १६ १७ १८
दुरूहमाणी पवडेज्जा हत्थं पायं च लूसए ।

१९ २० २१ २२ २३ २४
पुढवीजीवेवि हिंसेज्जा जे य तन्निसिया जगे ॥६८॥

२६ २७ २८ ३०
एयारिसे महादोसे जाणिऊण महेसिणो ।

२५ ३९ ३२ ३३ ३४ २९
तम्हा मालोहडं भिक्खं न पडिगिण्हंति सजया ॥ ६९ ॥

हिलते हुए काठ आदि पर चलने से रपटने या गिर पडनेसे आत्मविराधनाकी और एके-
न्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि प्राणियोके उपमर्दन से पर-विराधनाकी सम्भावना सूचित की है । गहरे(नीचे)
प्रदेशमें गमन करनेसे उक्त दोषो के सिवाय हिंसक जन्तुओसे उत्पन्न होने वाला उपघात आदि
बहुतसे दोषों का होना सूचित किया है । 'सर्व्विदियसमाहिण्' पदसे यह प्रगट किया गया है कि
साधुओको इन्द्रिय-चपलता का त्याग करना चाहिये । 'भिक्षु' पदसे बोधित किया गया है कि
साधुओको यमनियमो का पालन करते हुए ही भिक्षा ग्रहण करना चाहिये ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

हलतां लाकडा आदि पर आलवाथी लपसी ज्वाथी या पडी ज्वाथी आत्मविरा-
धनानी अने ओडेन्द्रिय द्वीन्द्रिय प्राणीओना उपमर्दनथी पर-विराधनानी सम्भावना सूचित
करी छे. नीचाणुवाणा प्रदेशमां गमन करवाथी उक्तदोषे उपरांत हिंसक जन्तुओथी उत्पन्न
थनादे। उपघात आदि घणा दोषो होवान् सूचित कथुं छे सर्व्विदियसमाहिण् पदथी
ओम कहेवामां अयुं छे के साधुओओे इन्द्रिय चपलतानो त्याग करवो जेधओे भिक्षु
शब्दथी ओम प्रकट करवामां आयुं छे के साधुओओे यम-नियमोतु पालन करतारहीने ज
भिक्षा ग्रहण करवी जेधओे (६५-६६)

छाया—निश्रेणिं फलकपीठम्, उत्सृज्य आरोहेत् ।

मञ्चं कीलञ्च प्रासाद, श्रमणार्थमेव दायिका ॥६७॥

दुरा (दू) रोहन्ति प्रपतेत्, हस्तौ पादौ च लूपयेत् ।

पृथ्वीजीवानपि हिंस्या, घानि च तन्निःश्रितानि जगन्ति ॥६८॥

एतादृशान्महादोषान्, ज्ञात्वा महर्षयः ।

तस्मान्मालापहतां भिक्षां, न गृह्णन्ति संयताः ॥६९॥

सान्त्वयार्थः—दावए = दान देने वाली स्त्री यदि समणट्टा एव = साधुके लिए ही निस्सेणि = नसैनी-निसरणी-सीढी फलग = पाटे पीठं = पीढे मंचं = खाट व = और कील = कीलेको उस्सवित्ताणं = ऊंचा-खड़ा करके पासायं = प्रासाद-मंजिल पर आरुहे = चढे तो दुरूहमाणी = इस प्रकार कष्टसे चढती हुई वह पवडेज्जा = शायद गिर जायगी व = और अपना हत्थं = हाथ पायं = पैर लूसए = तोड़ बैठेगी तथा पुढवीजीवे अवि = पृथ्वीकायके जीवोंको भी च = और जे = जो तन्निस्सिया = उस पृथ्वी की नेसरायमें रहे हुए जगे = द्वीन्द्रियादि जीव हैं उन्हे भी हिसेज्जा = मारेगी ॥ ६७ ॥ ॥ ६८ ॥

तम्हा = इसीलिए एयारिसे = ऐसे पूर्वोक्त प्रकारके महादोसे = दाताकी मृत्यु तरु होनेकी संभावनाके कारण महादोषोंको जाणिऊण = जानकर संजया = सकल सावध व्यापार से विरत हुए महेसिणो = महर्षि लोग मालोहड = मालापहत (मालसे लाई हुई) मिक्खं = भिक्षाको न पडिगिण्हंति = नहीं लेते हैं ॥६९॥

टीका—मालापहतभिक्षादोषमाह 'निस्सेणि' इत्यादि । 'दावए' इत्यत्र प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययस्तथा च दायिका = दात्री श्रमणार्थमेव = साधुनिमित्तमेव साधवे भिक्षादानार्थमेवेत्यर्थः, निश्रेणिं = वंशादिनिर्मितं सोपानं फलकं = शयनोपयोगी दारुमयाऽऽसनं, पीठं = काष्ठनिर्मितोपवेशनोपयोगि लघ्वासन 'पीठा' इति प्रसिद्धं, मञ्चं = खट्वां वंगदलादिरचितोच्चासनं वा कीलं = शङ्कुं चकारान्मुसलादिकम् उत्सृज्य = ऊर्ध्वीकृत्य,

मालापहत भिक्षा के दोष बताते हे-'निस्सेणि' इत्यादि, 'दुरूहमाणी' इत्यादि, तथा एयारिसे' इत्यादि ।

दाता, यदि साधुके लिये नसैनी, सीढी (निसरणी), पाटा, पीढा (वाजोट), मांचा, खूटी अथवा मृमल आदिको ऊंचा करके ऊंचे मकान की दूसरी मंजिल पर चढ़ कर, आहार लावे तो वह आहार आदि, मालापहत कहलाता है । नसैनी (सीढी) आदि पर चढनेसे यदि गिर पड़े तो

इसे मालापहत भिक्षाना दोषो बतावे छे-निस्सेणि इत्यादि दुरूहमाणी इत्यादि, तथा एयारिसे इत्यादि

जे दाता साधुने माटे सीढी (नीसरणी), पाट, पान्नेठ, माचो, खूटी अथवा मृमल (साधुके) आदिने उंचा करीने उंचा मकानना पीढा मञ्चला पर चढीने आधार लावे तो ते माद्वार मालापहत कहेवाय छे. सीढी आदि पर चढवाथी जे पडी जाय तो हाथ-पग

प्रासादम् = उच्चगृहं तत्रानेकभूमिकासम्भवेनाऽऽरोहणादिकं युज्यत इति तद्भूमिकायां लक्षणा तथा च-उच्चगृहभूमिकामित्यर्थः, आरोहेत् = उपलक्षणया गच्छेदित्यर्थः । तेन तिसृषु वक्ष्यमाणसु मालापहतासु भिक्षासु समन्वयः । निश्रेण्यादिना सदुःखमारोहणं भवतीत्यत आह-दूरा (दू) रोहन्ती = सदुःखमूर्ध्वप्रदेशमासादयन्ती सती प्रपतेत् हस्तौ पादौ च लूपयेत् = त्रोटयेत् पृथ्वीजीवानपि हिंस्यात् = पीडयेत्, यानि च तन्निःश्रितानि पृथिव्याश्रितानि जगन्ति = प्राणिनस्तानि हिंस्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः तस्मात् = यतो निश्रेण्यादिना समारोहणे पतनादिद्वारा दातुः स्व-परोभयविराधना सम्भवति अतः कारणात् एतादृशान् महादोषान् = दातृपभृतीनां मृत्योरपि सम्भवेन दारुणकर्मविपाकहेतुत्वात्प्रकृष्टदृषणानि ज्ञात्वा संयताः = सकलसावद्ययोगसमुपरताः महर्षयः = घोरपरीषहोपसर्गसहिष्णुत्वान्महामुनयः मालापहतां = मालो भूमिकावाची देशीयशब्दः, ततः अपहताम् = आनीतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति = न स्वीकुर्वन्ति ।

मालापहता भिक्षा भूमिकाया ऊर्ध्वस्थिर्यग्भेदेन त्रिविधा ऊर्ध्वमालापहता, अधोमालापहता, तिर्यङ्मालापहता चेति । तत्रोर्ध्वमालापहता पूर्वं व्याख्याता । अधोमालापहता = यस्या भूमिकाया निश्रेण्यादिनाऽवरुह्य आनीता । तिर्यङ्मालापहता तु यस्यां भूमिकायां दायिका तिष्ठेत्तस्यामेव, नद्यादौ जलप्रवाहावरोधिसेतुवन्निश्रेण्यादिकं तिर्यक्

हाथ पैर टूट जायँ पृथ्वीकाय-आदि जीवोंकी विराधना हो जाय तथा जो प्राणी, पृथ्वीपर सञ्चार कर रहे हो उनकी भी हिंसा हो जाय इसलिए ऐसी अवस्थामें स्व, पर और उभयकी विराधना का होना सभव है, यहाँ तककि दाताकी मृत्यु भी हो जा सकती है, अतः इन महादोषो को अत्यन्त दुःखदायी जानकर, सयमी महामुनी नसैनी (सोढ़ी) आदि द्वारा माला (मजिल) से उतारा हुआ आहार आदि स्वीकार नहीं करते ॥

मालाके भेदसे मालापहत भिक्षा, तीन प्रकार की है—(१)ऊर्ध्व-मालापहत (२) अधो-मालापहत और (३)—तिर्यङ्मालापहत । इनमें ऊर्ध्वमालापहत भिक्षाका विवेचन पहले कह आये है । ऊपरके मजिलसे नीचेकी ओर नसैनी (निसरणी) लगाकर, लाई हुई भिक्षा, अधोमालापहत कहलाती

तूटी जाय, पृथ्वीकाय आदि जीवोंकी विराधना थाय, तथा जो प्राणी पृथ्वी पर सञ्चार करी रह्या होय तेमनी पणु हिंसा थय जाय, तेथी अेवी अवस्थाभा स्त, पर अने उलयनी विराधना थवी संलवित छे, अेटले सुधी के दातानुं मृत्यु पणु थय अथ शके छे, तेथी करीने अे महादोषेने अत्यत दुःखादायी जाणीने सयमी महामुनि नीपरणी आदि द्वारा भाणथी उतारेला आहार आदि ने स्वीकारे नहि

भाण-मजला-ना लेहे करीने मालापहत भिक्षा त्रय प्रकारनी छे. (१) ऊर्ध्वमालापहत, (२) अधोमालापहत अने (३) तिर्यङ्मालापहत अेभा ऊर्ध्वमालापहत भिक्षानु विवेचन पहलेलां करवाभा आण्युं छे. उपरना मजलाथी नीचेनी आण्युअे नीसस्थी लगावीने लावेकी

१ मालः 'मजिल' इति भाषा प्रसिद्ध

सस्थाप्य तद्वारा असंश्लिष्टापरभागे गमनागमनेनाऽऽनीता । दुष्प्रापशिव्यादिस्थस्याति-
गम्भीरकुसुलादिस्थस्य चान्नादेर्ग्रहणे चरणोन्नमनादिनाऽनेकविधकष्टसम्भवादेवंविधापि
भिक्षा तदन्तर्जयेति ॥६७॥६८॥६९॥

१ २ ४ ३ ५ ७ ६ ८
मूलम्-कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं च सन्निरं ।

९ १० ११ १२ १३
तुंबागं सिगवेरं च, आमगं परिवर्ज्जए ॥७०॥

छाया-- कन्दं मूलं प्रलम्बं वा आमं छिन्नं च सन्निरम् ।

तुम्बकं शृङ्गवेरञ्च, आमकं परिवर्ज्जयेत् ॥७०॥

सान्त्वयार्थः-आमं=सचित्त कंदं=सूरण आदि कन्द मूलं=विदारिकादि मूलं पलंबं=
ताल आदिके फल वा = तथा छिन्न च = काटी हुई भी सन्निरं = बथुए आदिकी
माजीको (तथा) आमगं = सचित्त तुंबागं = तुंबे च = और सिगवेरं = अदरख-आदे-को
साधु परिवर्ज्जए = वरजे ॥७०॥

टीका— 'कंदं' इत्यादि । कन्दं, मूलम्, इमे प्राग्व्याख्याते, वा = अथवा प्रलम्बं
= तालादिफलम् आमम् = अपक्वं-सचित्तमित्यर्थः । च = पुनः छिन्न = कर्तितमपि
सन्निरं = पत्रशाकं-वास्तूकादिकं, तुम्बकम् = अलावूविशेषं, शृङ्गवेरम् = आर्द्रकं चकारा-
दन्यदपि प्रत्येकमाधारणचनस्पतिमात्रम् आमकम् = अपक्वं सचित्त परिवर्ज्जयेत् = त्य-
जेत्-न शृङ्गीयादित्यर्थः ॥७०॥

हे । जिस मांजलमें देनेवाली मौजूद हो उसी की बगवरी पर दूमरी ओर जाने के लिये पुल की
तरह नसेनी (निमगणी) या लकड़ी आदिकी तिरछा रख कर चढे तो वहाँसे लाई हुई भिक्षा,
तिर्यग्मालापहन कहलाती है । बड़ी कठिनाईसे पहुंचने योग्य छीके या आलेमें तथा गहरी कोठरी
में रक्खी हुई भिक्षा ग्रहण करनेसे पैर उठाने आदि अनेक कष्ट होते हैं । इसलिये ऐसी भिक्षा भी
इसी मलापहत भिक्षा में अन्तर्गत समझनी चाहिये यह सब प्रकार की भिक्षा साधु को अकल्प्य
है ॥ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

'कंदं' इत्यादि । सचित्त कन्द, मूल, ताड-फल आदि तथा कटा हुआ भी सचित्त पत्तोंका
शाक-वथुआ आदि, और सचित्त तुम्बा तथा अदरख भी साधु ग्रहण न करे । 'च' शब्दसे यह

भिक्षा अथे-मालापहन कहेवाय छे जे मज्जामा भिक्षा आपनारी छान्तर डोय, तेनी
अन्तर, छीछ आन्तरे जवाने माटे पुलनी पेठे नीअरणा या लाड्डुं पाटियु तीछुं
नाणीने अडे तो त्याही लावेदी भिक्षा तिर्यग्मालापहन कहेवाय छे अडु मुशकेदीथी पडोथी
गडाय जेवा भीम या छान्दलीमा तथा उडी डोटडीमा राणेला अशनादि अडुषु करवाथी
पण उपाइवा आदिना अनेक छे पडे छे, तेथी जेवी भिक्षापणु आ (मालापहन) भिक्षा
मात्र समायली समग्र जेवी जे सर्व प्रकारनी भिक्षा साधुने माटे अकल्प्य छे. (६७-६८-
६९)

कंदं इत्यादि सचित्त कंद, मूल, ताडफल आदि तथा कपेलां डोवा छतां सचित्त

१ २ ३ ११
मूलम्-तथैव सक्तचुन्नाइं कोल-चुन्नाइं आवणे ।

४ ५ ६ ८ १० ९ ७
सक्कुलिं फाणियं पूअं अन्नं वावि तहाविहं ॥७१॥

१२ १४ १३ १५
विक्रायमाणं पसहं, रणं परिफासियं ।

१६ १७ २० १९ २१ १८
दितियं पडियाइक्खे, न म कप्पइ तारिसं ॥७२॥

छाया--तथैव सक्त-चूर्णानि, कोल-चूर्णानि आपणे ।

शक्कुलीं फाणितं, पूपमन्यद्वापि तथाविधम् ॥७१॥

विक्रीयमाणं प्रसह्य, रजसा परिस्पृष्टम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

सान्वयार्थः-तथैव = जिसप्रकार सचित्त कन्दादि अग्राह्य है उसीप्रकार सक्तचु-
न्नाइं = भुने हुए जो या चनेका आटा-सक्त कोलचुन्नाइं = वेरोका चूरा सक्कुलिं =
तिलपापड़ी फाणियं = गीला गुड पृथं = मालपूवा (तथा) तहाविहं = उसीप्रकारके अन्नं
वावि = औरभी पदार्थ जो आवणे = दुकानपर विक्रायमाणं = बेचनेके लिए रखे हुए
हैं वे (यदि) पसहं = वस्त्रसे आच्छादित होनेपर भी रणं = सचित्त सूक्ष्म रजसे परि-
फासियं = व्याप्त हों तो दितियं = देनेवालीसे पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस
प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता हैं ॥७२॥

टोका—'तथैव' इत्यादि, 'विक्रायमाणं' इत्यादि च । तथैव = यथा पूर्वोक्तं
सचित्तकन्दादिकमग्राह्यं तेनैव प्रकारेण 'सक्त-चूर्णानि = सक्तव एव चूर्णानि तानि सक्त-
नित्यर्थः, भृष्टयवादिचूर्णान्येव सक्तव उच्यन्ते, कोल-चूर्णानि = बदरीफलचूर्णानि, शक्कुलीं
= तिलपर्पडिकां, फाणितं = द्रुतगुडं, पूपम् = अपूपम्, तथाविधं = तादृशम् अन्यदपिवा

भी समझना चाहिये कि इनके सिवाय कोई भी सचित्त-प्रत्येक या साधारण वनस्पति, साधुको
नहीं कल्पती है ॥ ७० ॥

'तथैव' इत्यादि, तथा 'विक्रायमाणं' इत्यादि ।

जैसे, सचित्त कन्द, मूल आदि त्याज्य है वैसेही सक्त ; वेरोका चूर्ण, तिलपापड़ी, पिघला
हुआ गुड, पूआ तथा ऐसी दही आदि अन्यान्य वस्तुएँ, बेचनेके लिये दुकानमें रखी हो, और

पांडुरांतुं शाक-अंशुआनी लाल आदि अने सचित्त दूधी आदि तथा आहु पणु साधु
अहणु न करे च शब्दथी अेम पणु समणु के ते उपरात केअ पणु सचित्त-प्रत्येक या
साधारण वनस्पति साधुने कल्पती नथी (७०)

तथैव इत्यादि तथा विक्रायमाणं इत्यादि

अेम सचित्त कद-भूण आदि त्याज्य छे, तेमणु सक्त, अोरतुं अूधुं. तिलपापड़ी, नरम
गूण, तथा अेवा प्रकारनी पीणु दूडी आदि नरम वस्तुअे। वेचवाने भाटे दुकानमां शभी,

दध्यादिकम्, आपणे = क्रय-विक्रयस्थाने, विक्रीयमाणं = विक्रयार्थं स्थाप्यमानं, रजसा = सचित्तरेणुना, प्रसन्न = दृष्टात् वस्त्रादिनाऽऽच्छादनेऽपि यथाकथञ्चित्प्रकारेणेति भावः, परिस्पृष्टं = व्याप्तं वायुसमुत्थितरजः संस्पृष्टम् ददतीं प्रत्याचक्षीत - 'तादृशं मे न कल्पत' इति ॥७१॥७२॥

१ २ ३ ४ ५
मूलम्-बहुअद्वियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं ।

६ ७ ८ ९ १० ११
अच्छियं मिंदुयं विल्लं, अच्छुखंडं व सिबलिं ॥७३॥

१३ १६ १२ १५ १४
अप्पे सिया भोयणजाए, बहु उज्झणधम्मिए ।

१७ १८ २१ २० २२ १९
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७४॥

छाया--बहुषिकं पुद्गलम्, अनिमिपं वा बहुकण्टकम् ।

अक्षीव तिन्दुकं विल्वम्, इक्षुखण्डं वा शालमलिम् ॥७३॥

अल्पं स्याद्भोजनजातं, बहुज्जनधर्मिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

सान्त्वयार्थः--बहुअद्वियं = बहुबीजा अर्थात् सीताफल अणिमिसं = अनन्नास बहु-कंटयं = पनस-कटहल अच्छियं = शोभाञ्जनकी फली, जो 'मुनगा' नामसे प्रसिद्ध है; :: तिंदुयं = तेन्दु विल्लं = बेल सिबलिं = सेमल इन नामके पुग्गलं = फलोंको व=और अच्छुखंडं = गन्ने-शेरडी-के टुकड़ोंको, तथा जिस पदार्थमें भोयणजाए = खानेयोग्य अंश अप्पे सिया = थोड़ा हो और उज्झणधम्मि = डालदेनेयोग्य अंश बहु = बहुत हो ऐसे फल आदि दितियं = देनेवाली से साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥७३॥७४॥

टीका--'बहुअद्वियं' इत्यादि, 'अप्पे सिया' इत्यादि च । बहुस्थिकम् = बहूनि, अस्थीनि = बीजानी-अस्थि = बीजमिति रायमुद्रुटः, वैद्यकश्चेति शब्दकल्पद्रुमः; यस्मिन् यद्वा

सचित्त रजसे व्याप्त हो, अर्थात् वस्त्रसे ढँक रखने पर भी पवनके द्वारा पहुँची हुई सूक्ष्म सचित्त रजसे युक्त हो तो वह आहार कल्पनीय नहीं है । इसलिये साधु, देनेवालीसे कहे कि 'ऐसा आहार, मुझे नहीं कल्पता है ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

'बहुअद्वियं' इत्यादि तथा 'अप्पे सिया' इत्यादि । 'अस्थि' शब्दका अर्थ बीज होता है, रायमुद्रुट तथा वैद्यकोपामें 'अस्थि' शब्दका बीज ही अर्थ है, ऐसा 'शब्दकल्पद्रुम' अभिधानमें

दोय अने अचित्त अस्थी व्याप्त होय अर्थात् अस्थी टाकी राण्या छना पवनद्वारा पडो-येवी सूक्ष्म अचित्त अस्थी युक्त होय तो ते आहार कल्पनीय नथी. तेथी साधु ते आप-नानीने धटे के अथवा आहार अने कल्पते नथी (७१ ७२)

'बहुअद्वियं' इत्यादि, तथा 'अप्पे सिया' इत्यादि 'अस्थि' शब्दको अर्थ बीज (हड्डी) थाय है. रायमुद्रुट तथा वैद्यकोपामें अस्थि शब्दको बीज अथवा अर्थ है,

बह्नि अस्थिकानि 'अस्थिकं = बीजे मेदोजघातौ चेति राजनिघण्टुः' इति वैद्यकशब्द-
सिन्धुः ; यस्मिंस्तत् , बहुबीजकं-योगरूढमेतत् , सीताफलादिकमित्यर्थः—

“ सीताफलं गण्डमात्रं, वैदेहीवल्लभं तथा ।

कृष्णबीजं चाग्रिमाख्यमातृप्यं बहुबीजकम् ॥ १ ॥” इति निघण्टुकोषः ।

यद्वा बहुअद्वियं इत्यस्य 'बह्नि' मितिच्छाया, 'फलबीजे पुमानष्टिः' इति कोपात् ,
अर्थस्तूत एव । पुग्दलम्=रसवृद्धयात्मकपूरण परिपाकानन्तराधःपतनात्मकगलनधर्म-
कत्वात्पुग्दलः फलसामान्यं तम् , अग्रेऽप्यस्य सम्बन्धः, सीताफलादिनामकं फलमिति
भावः अनिमिषम्=अनन्नासम् अन्तर्वहिः सकण्टकं बङ्गादिदेशप्रसिद्धम् । बहुकण्टकं=कण्टकि-
फलं-पनस 'कटहर' इत्यनेन प्रसिद्धम् , अस्य त्वग्भावे, सर्वावयवावच्छेदेन कण्टकव्या-

भी लिखा है । अत एव बहस्थिक शब्दका अर्थ है-बहुत बीजोवाला । यह शब्द योगरूढ है,
अत एव सीताफल अर्थ होता है । निघण्टुमें भी सीताफल (सरीफा) के इतने नाम गिनाये है—

“सीताफल, गण्डमात्र, वैदेहीवल्लभ, कृष्णबीज, अग्रिम, आतृप्य और बहुबीजक ॥१॥”

इनमें 'बहुबीजक' शब्द भी सीताफलके लिये आया है, और यह ऊपर बताया ही जा
चुका है कि 'अस्थिक' शब्दका अर्थ बीज होता है । इसलिये बहुबीजक और बहस्थिक एक ही है,
अतः बहस्थिकका अर्थ सीताफल ही है । अथवा 'अद्विय' को छाया, 'अष्टिक' होती है, कोषमें
लिखा है कि फलके बीजको 'अष्टि' कहते हैं । इससे भी पूर्वोक्त अर्थ ही सिद्ध होता है, इसलिये,
सीताफलको तथा बंग आदि अन्य अन्य देशोंमें प्रसिद्ध अनन्नास (अनास) फल विशेष, कटहर,
मुनिगा (सोहिंजन) की फली, तेन्दू, बेल, गन्नेका खण्ड एवं सेमल आदि फल, जिनमें खाद्य अंश
कम हो तथा त्याज्य अंश अधिक हो उन सब फल आदिको देनेवालीसे कहे कि ऐसा आहार,
मुझे नहीं कल्पता है ।

अथ 'शब्दकल्पद्रुम' मा पद्य लभ्युं छे. अटले बह्वस्थिक शब्दको अर्थ थाय छे अहु
भीजे वाणुं, अे शब्द योगरूढ छे, अटले सीताक्षण अर्थ थाय छे निघण्टुमां पद्य सीता-
क्षणनां आटलां नाम गण्ठाण्यां छे—

“सीताक्षण, गण्डमात्र, वैदेहीवल्लभ, कृष्णबीज अग्रिम, आतृप्य अने अहुभीजक”

अमां 'अहुभीजक' शब्द पद्य सीताक्षणे माटे आये छे, अने उपर अतावामा
आये छे अे 'अस्थिक' शब्दको अर्थ 'भीज' थाय छे अटले अहुभीजक अने अहस्थिक
अेक छे, अर्थात् अहस्थिकको अर्थ सीताक्षण छे. अथवा अद्विय नी छाया अष्टिक
थाय छे, कोषमां लभ्युं छे अे क्षणा भीजे 'अष्टि' कडे छे. तेथी पद्य पूर्वोक्त अर्थ छे
सिद्ध थाय छे. अे रीते सीताक्षण, तथा बंग आदि अन्य-अन्य देशोमा प्रसिद्ध अन-
नास, कटहर, मुनिगानी (अेक प्रकारनी) क्षणी, तेन्दू, अिलवक्षण, (भीला) शेरडीनी डातणी,
सेमल आदि क्षण, अेमां भाद्य अंश अेछे डाय तथा त्याज्य अंश वधारे डाय अे अद्य
क्षण आदि आपनारीने साधु कडे अे-अेयो आहार भने कल्पता नथी,

पत्या बहुकण्टकत्वं सिध्यति, अनिमिषपदार्थस्य त्वन्तर्वाहः सकण्टकत्वेऽपि विरलकत्वा-
दस्माद्भेदः । अक्षीवं=गोभाञ्जनम् फलप्रकरणात्तत्फलिकाम्, त्वचः स्थौल्य-कार्कश्याधि-
व्यदोपेभ्यो बीजानां बाहुल्याच्चात्यधि हत्याज्यभागां 'मुनिगा' इति देशविशेषप्रसिद्धाम्
तिन्दुरुम्=अण्डाकृतिरुं फलविशेषम् अल्पाकारस्याप्यस्य फलस्य बीजानां स्थौल्यबाहुल्या-
दिदं त्याज्यांगवहुलं 'तेदु' इति प्रसिद्धम्, इक्षुखण्डं, शालमलि च, एतानि प्रसिद्धार्थका-
नि । तथा यत्र भोजनजातं=भोज्यांशः अल्पं=स्वल्पम्, उज्जनधर्मिकं=त्याज्यांशः बहु=
अधिकं स्यात्=भवेत् तत्फलादिकमन्यदपि ददतो प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पते
इति । कतिचित्फलानि प्रदर्श्य त्याज्यसामान्यलक्षणं निरूपित तेन न पुर्वगाथायास्ता-
त्पर्यानुपपत्तिरिति दिक् ॥७३॥७४

१ ३ २ ४ ५
मूलम्- तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वार-धोयणं ।

६ ७ ८ ९
संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोयं विवज्जए ॥७५॥

छाया-तथैवोच्चावचं पान,-मथवा वारकधावनम् ।

सस्वेदिमं तण्डुलोदकम्, अधुनाधौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

अत्र पान ग्रहण करनेकी विधि बताते हैं

सान्वयार्थः-तहेव = जैसे अग्न उसीप्रकार पाणं = पान उच्चावयं = उच्चा-सुन्दर
वर्णादिसे युक्त, जैसे दाख आदिका धोवन, अथवा-सुन्दर वर्णादिसे रहित जैसे मेथी केर
आदिका धोवन वारधोयण = गुडके घडेका धोवन संसेइमं = माजीका अथा आटेकी

अनन्नासमें भीतर भी काँट होते है और बाहर भी, और कटहरके छिलकेमें सर्वत्र काँट
ही काँट होते है । दोनो बहुकण्टक है, किन्तु अनन्नासमें काँटे कम और तोम्बे होते है, अतः वह
कटहरसे भिन्न है । अन्य भेद लोक-प्रसिद्ध ही है ।

सामान्य लक्षण करनेसे त्यागने योग्य फलोका जान गिण्योको कठिनतासे होता है, अतः
पहले कुछ विशेष फलोंके नाम गिना कर, उस प्रकारके सभी-फलोका त्याग बताया है । इसलिये,
पत्नी गाथामे इसका सम्बन्ध ठीक बैठता है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

अनन्नासमां अदु अटा डोय छे अने अडार पणु डोय छे, अने उटडरना छेतरामा
अत्र अटा न डोय छे अडे अडुकटक छे, परन्तु अनन्नासमां अटा आछा अने तीष्ठां
डोय छे, तेगी ते उटडरथी नूहु इण छे. अन्य भेद लोक प्रसिद्ध छे

सामान्य लक्षण; अताववाथी त्यागवा योग्य इणोतु ज्ञान गिण्योने मुश्केलीथी थय
छे, अटडे पडेलां उटसाध विशेष इणोना नाभ गणानीने अे प्रकारनां अथा इणोने त्याग
अतावयो छे. तेथी पडेली गाथाथी आने संबंध ठीक अंध असे छे. (७३-७४)

थालीका धोवन अदुवा = अथवा चाउलोदगं = चाँवलोंका धोवन (ये सब यदि) अहुणाधोयं = तुरन्त हा धोया हुआ हो तो उसे (साधु) विवज्जए = वर्जे — न लेवे ॥७५॥

टोका—अशनग्रहणविधेरनन्तरं पानग्रहणविधिमाह 'तहेवुच्चावयं' इत्यादि । तथैव यथाऽशनं तेनैव प्रकारेण, पानं = पेयं, कर्मणि ल्युट्, उच्चावचमिति-उदक् च अवाक् च उच्चावचम् अनेकप्रकारम्, उत्कृष्टानुत्कृष्टमित्यर्थः' तत्र उत्कृष्टं = रुचिरवर्णगन्धरसस्पर्शयुक्तं द्राक्षादिधावनजलं प्रपाणकादिकं च, अनुत्कृष्टं = रुचिरवर्णादिहीनं मेथिकाकरीर-शमीफलिका-तिलादिधावनजलम् । वारकधावनं = गुड-घट-घृतघट्टादि धावनजलं, संस्वेदिमं = क्वथितशाकादिजलं पिष्टस्थालीप्रक्षालनजलञ्च, तण्डुलोदक = तण्डुलधावनजलम् । एतत्सर्वम् अधुनाधोतम् = तत्काल-धोतम्-अन्तर्मुहूर्तान्तर्धोतं चेदित्यर्थस्तदा विवर्जयेत् = न गृह्णीयात् । उपलक्षणमेतत्, उक्तञ्चाऽऽचाराङ्गं श्रीभगवता—

“से भिक्खू वार जाव अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा, तं जहा—उस्सेइमं वा संसेइमं वा चाउलोदगं वा अन्नयरं वा तहप्पगार पाणगजातं अहुणाधोय अणविलं अवोक्कत अपरिणतं अविद्धत्थं अफामुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । अह पुण एवं जाणेज्जा चिराधोय अं विलं वोक्कतं परिणतं विद्धत्थं फासुयं जाव पडिगाहज्जा । से भिक्खू वार जाव अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण पाणगजातं जाणेज्जा तं जहा—तिलोदगं वा तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्धवियडं वा अणयरं वा तहप्पगारं

अशन ग्रहण करनेकी विधी बताकर अब पान ग्रहण करनेको विधी दिखाते हैं—‘तहेवुच्चावयं’ इत्यादि ।

उच्च (उत्कृष्ट) मनोज्ञ वर्ण गन्ध रस स्पर्शवाला दाख आदिका धोवन तथा गर्बत आदि पान, अथवा (अनुत्कृष्ट) अमनोज्ञ वर्ण गन्ध रस स्पर्शवाला मेथी केर साँगरी तथा तिव छाल आदिका धोवन आदि पान, गुड या घोके घडेका धोवन, औटाये (उबाले) हुए हरा शाक आदिका पानी, आटेकी थाली आदिका धोवन, चावलका धोवन । ये सब यदि तत्कालके धोये हुए हों अर्थात् अन्तर्मुहूर्तके अभ्यन्तरके धोये हो तो इनको ग्रहण न करे । ये ती उपलक्षण मात्र है, आचाराग सत्रमे भगवानने कहा है—

अशन ग्रहण करवानी विधि बतावीने हुवे पान ग्रहण करवानी विधि बतावे छे—
तहेवुच्चावयं इत्यादि

उच्च (उत्कृष्ट) मनोहर वर्ण गंध रस स्पर्शवाणु द्राक्ष आदिनु धोवणु तथा शरभत आदि पान, अथवा (अनुत्कृष्ट) अमनोज्ञ वर्ण गंध रस स्पर्शवाणु मेथी, केरां, पीन्डानी इणी (सागरियो) तथा तल छाश आदिनु धोवणु आदि पान, गोण या घीना घडानु धोवणु, उकाणेली लीला शाक आदिनु पाणी, आटानी थाणी आदिनु धोवणु, योणानु धोवणु अथवा जे ताल धोवणुलां होय अर्थात् अतर्मुहूर्तमी अहर अहर धोवणुलां होय तो तेने ग्रहण करवां नहि अथवा तो उपलक्षमात्र छे आचारांगसत्रमां लगवाने कहुं छे—

“साधु अथवा साध्वी पाणीने भाटे गृहस्थना घरमा प्रवेश करीने, दोटना वासणुनु धोवणु, शाक आदि जेमा आइला होय ते पाणी, योणानु धोवणु, तथा अे प्रकारनु

पाणगजायं पुत्रामेव आलोएज्जा-आलोएज्जा-आउसोत्ति वा० ७ । से भिक्खू वा २ जा-
व समाणे से जं पुण जाणज्जा तं जहा-अंवपाणगं वा अंबाडगपाणगं वा कविट्टपाणगं वा
मातुल्लिगपाणग वा मुहियापाणगं वा दीलिमपाणगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं
” इत्यादि ।

छाया—‘अथ भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यावत् अनुप्रविष्टः सन् स यत्पुनः पानकजातं
जानीयात्, तद्यथा-उत्स्वेदिमं वा संस्वेदिमं वा तण्डुलोदकं वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं
पानकजातम् अधुनाधौतम् अनम्लम् अव्युत्क्रान्तम् अपरिणतम् अविध्वस्तम् अप्रासुकं यावत्
नो प्रतिगृह्णीयात् । अथ पुनरेवं जानीयात्-चिरधौतम् अम्लं व्युत्क्रान्तं परिणतं विध्वस्तं
प्रासुकं यावत् प्रतिगृह्णीयात् । अथ भिक्षुर्वा २ यावत् अनुप्रविष्टः सन् स यत्पुनः पानकजातं
जानीयात्, तद्यथा-तिलोदकं वा तुषोदकं वा यवोदकं वा आयामं वा सौवीरं वा शुद्धवि-
कृते वा अन्यतरद् वा तथा प्रकारं पानकजातं पूर्वमेव आलोचयेत्-आयुष्मन् । इति वा
७३। अथ भिक्षुर्वा २ यावत् अनुप्रविष्टः सन् स यत्पुनर्जानीयात्, तद्यथा—आम्रपानकं वा
आम्रातकपानकं वा कपित्थपानकं वा मातुल्लुङ्गपानकं वा मृद्धीकापानकं वा दाडिमपानकं वा
खर्जूरपानकं वा नालिकेरपानकं वा करीरपानकं वा कोलपानकं वा आमलपानकं वा
चिञ्चापानकं वा, अन्यतरद्वा तथाप्रकारं पानकजातम्” इत्यादि ।

“साधु अथवा साध्वी पानीके लिए गृहस्थके घरमें प्रवेश करके—आटेके बरतनका धोवन, शाक
आदि का वाफ़ा हुआ पानी, चावलोका धोवन तथा इस प्रकारका और भी कोई पानी तुरतका
धोया हुआ हो, स्वादसे चलित न हुआ हो अर्थात् जिसका धोवनहो उस वस्तुका स्वाद न आता
हो, जिसका वर्ण रस गन्ध स्पर्श—न बदला हो—सर्वथा अचित न हुआ हो शस्त्र-परिणत न हो तो
ग्रहण न करे । यदि तुरतका धोया हुआ न हो—बहुत देरका धोया हुआ हो, स्वादसे चलित हो
गया हो और शस्त्रपरिणत हो तो ग्रहण करे । तिलोदक, तुषोदक, यवोदक, ओसामण, सोवीर
(अगडण), उण्णोदक तथा इस प्रकारका और भी अंबाडगका धोवन, कविठ (कैथ) का धोवन,
विजौरका धोवन, द्राक्षका धोवन, अनारका धोवन, खजूरका धोवन, नारियलका पानी (धोवन),
केरका धोवन, वेरका धोवन, आँवलेका धोवन, इमलीका धोवन, अथवा इस प्रकारका और भी

पीन्नुं पञ्चु केअं पाणुं तुरतनुं धोअेत्तुं होय, स्वादथी चलित थयुं न होय, अर्थात् नेनुं
धोवणुं होय ते वस्तुने स्वाद न आवतो होय, नेना वरुं रस गंध स्पर्श न षट्ठयां
होय-सर्वथा अचित्त न थयुं होय, शस्त्रपरिणत न होय, तो ते अहणुं न करे ने तुरतनुं
धोअेत्तुं न होय षट्ठ वपत्तनुं धोअेत्तुं होय, स्वादथी चलित थयुं होय, अने शस्त्रपरिणत
होय तो अहणुं करे । तिलोदक, तुषोदक, यवोदक, ओसामण, सोवीर, विकृते तथा अ
प्रकारनुं पीन्नुं पञ्चु पाणुं गृहस्थे आयेत्तुं होय ते कल्पे छे । ने साधुकेरीनुं धोवणुं
अंबाडग (आण्णियांनुं) धोवणुं, केठांनुं धोवणुं, पीन्नेरांनुं धोवणुं, द्राक्षनुं धोवणुं, अना-
रनुं धोवणुं, अणूनुं धोवणुं, नारियेणुं पाणुं (धोवणुं), केरांनुं धोवणुं, ओरनुं धोवणुं,
आण्णयांनुं धोवणुं, आभलीनुं धोवणुं, अथवा अे प्रकारनुं पीन्नुं पञ्चु धोवणुं णण्णे अने

उक्तं दिगम्बराचार्येण वट्टकेरस्वामिनाऽपि मूलाचारे—

“तिलतंडुल-उसणोदय, चणोदय-तुसोदय अविद्धत्थं ।

अण्णं तहाविहं वा, क्षपरिणतं णेव गेण्हज्जा ॥४७३॥” इति

छाया—तिलतण्डुलोष्णोदकं चणकोदकं तुपोदकम् अविध्वस्तम् ।

अन्यत्तथाविधं वा अपरिणतं नैव गृह्णीयात् ॥४७३॥

इति गाथार्थः ॥७५॥

तर्हि कीदृशं पानं गृह्णीयात् ? इत्यत आह—‘जं जाणेज्ज’ इत्यादि, ‘अजीवं’ इत्यादि च ।

मूलम्—^७जं ^९जाणेज्ज ^८चिराधोयं, ^१मईए ^२दंसणेण ^३वा ।

^४पडिपुच्छिऊण ^५सुच्चा ^६वा, ^{१०}जं ^{११}च ^{१२}निस्संकियं ^{१३}भवे ॥७६॥

^{१४}अजीवं ^{१५}परिणयं ^{१६}नच्चा, ^{१८}पडिगाहिज्ज ^{१७}संजए ।

^{१९}अह ^{२०}संकियं ^{२१}भविज्जा, ^{२२}आसाइत्ताण ^{२३}रोयए ॥७७॥

छाया—यज्जानीयाच्चिराद्धौतं, मत्या दर्शनेन वा ।

प्रतिपृच्छथ श्रुत्वा वा, यच्च निश्शक्कितं भवेत् ॥७६॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा, प्रतिगृह्णीयात्संयतः ।

अथ शक्कितं भवेत्, आस्वाद्य रोचयेत् ॥७७॥

धोवन जाने और यदि वह अत्यम्ल न हो, तुरतकाधोया हुआ न हो, स्वादचलित हो और शस्त्रपरिणत हो तो कल्पता है ।”

दिगम्बराचार्य वट्टकेर—स्वामीने भी मूलाचारमें कहा है—

“तिलोदक, तन्दुलोदक, उष्णोदक, चनेका पानी तुषका पानी, तथा इस प्रकारका और भी जल यदि अविध्वस्त (सचित्त हो और शस्त्रपरिणत न हो तो ग्रहण नहीं करना चाहिए अर्थात् शस्त्रपरिणत हो तो लेना कल्पता है ॥१॥’ (मूलाचार गा. (४७३) ॥७५॥

जे ते षड् अम्ल (आटुं) न डोय. तुरतनुं धोअेलुं न डोय, स्वाद्यलित डोय अने शस्त्रपरिणत डोय तो कल्पे छे.”

दिगम्बराचार्य वट्टकेर—स्वामीजे षड् मूलाचारमां कलुं छे:—

“तिलोदक, तन्दुलोदक, उष्णोदक, अण्णानु पाणी तुषनुं पाणी, तथा अे प्रकारनुं षीणुं षड् अण जे अविध्वस्त (सचित्त) डोय अने शस्त्रपरिणत नुं डोय तो अकलुं अणुं न जेअे अर्थात् शस्त्रपरिणत डोय तो लेवुं कल्पे छे (मूलाचार गा. ४७३) (७५).

सान्वयार्थः—मईए=बुद्धिसे वा=अथवा दंसणेण=देखनेसे पडिपुच्छिऊण=पूछकर वा= अथवा सुच्चा= बात करते हुए सुनकर जं=जिस धोवनको चिराधोयं= चिराधौत-बहुत देरका धोया हुआ जाणेज्ज=जाने, च=तथा जं=जो निस्संक्रियं= 'इससे तृपा शान्त होगी या नहीं ?' इस प्रकारकी शङ्कारहित भवे=हो तो उसे अजीवं= जीवरहित-अचित्त और परिणयं=शस्त्रपरिणत नच्चा=जानकर संजए= साधु पडिग्गाहिज्ज=लेवे; अह=अथ—अगर वह संक्रियं='इससे तृपावूझेगी या नहीं ?' इस प्रकारकी शङ्कासे युक्त भविज्जा= हो-तो उसे आसाइत्ताण=चखकरके रोयए=निर्णय करे ॥७६॥७७॥

टीका—मत्या=बुद्ध्या दर्शनेन=दृष्ट्या वा धौतजले तदीयवर्णादिपरिज्ञानाय तत्रा-
ऽऽगमानुगामिन्या मनीषया दृष्टिनिपातेन वेति भावः, प्रतिपृच्छच=सम्यक् पृष्ट्वा श्रुत्वा
वा तत्प्रतिवचनं प्रश्नमन्तरेणाऽपि कस्यचिन्मुखाद्वा निशम्य यत् चिराद्धौत जानीयात्, यच्च
निश्शङ्कितम्= अनुपयोगित्वशङ्कारहितं भवेत् तद् अजीवं=प्रासुकं परिणतं=स्वपरशस्त्रादि-
नाऽवस्थान्तरं प्राप्तं ज्ञात्वा संयतः=साधुः प्रतिगृह्णीयात् ।

ये तु 'घटिकाद्वयानन्तरं धावनजलं सचित्तं भवतीति मुहूर्तात्परं तत्तोयमनुपादेय'
मित्याहुः, तन्न समीचीनम्, व्यञ्जनाद्युपलिप्तकरदर्वीधावनार्थं पाकप्रदेशे पूर्वस्थापित-
जलस्य मुहूर्तानन्तरं तन्मते सचित्ततायां तदानीं तदुदकक्षालितकरदर्व्यादिना निरवघा-

कैमा धोवन ग्रहण करना चाहिए ? सो बताते हैं—'ज जाणेज्ज' इत्यादि, 'अजीवं'
इत्यादि ।

आगमानुसार बुद्धि अथवा दृष्टिसे धोवनको वर्ण आदि जान कर पूछ कर अथवा किसीसे
सुन कर धोवन बहुत देरका धोया हुआ हो तो ग्रहण करे । तथा उपयोगी है या अनुपयोगी ?
इस प्रकारकी शङ्काका निर्णय करके प्रासुक तथा अवस्थान्तरको प्राप्त होगया जानकर साधु
ग्रहण करे ।

जो लोग यह कहते हैं कि—'धोवन जल दो घडीके बाद सचित्त होनेसे अग्राह्य है' यह
उनका कहना ठीक नहीं, क्योंकि, यदि दो घडीके बाद धोवन जल सचित्त हो जाय तो शाक
आदिसे लिप्त हाथ या कुडछी आदि धोनेके लिये गृहस्थ (रसोया) रसोईके समय अपने पास

उपु धोवणु अडणु करुणे ? ते अतावे छेः—जं जाणेज्ज० धत्यादि, तथा अजीवं
धत्यादि

आगमानुसारबुद्धि अथवा दृष्टिसे धोवणुने वर्यादि नाली-पूछने अथवा केअ
पासेथी साभणीने धोवणु णडु वणतथी धोवणु डोय तो ते अडणु करे-तेमज 'उपयोगी
छे के अनुपयोगी ?' अे प्रकारनी शाकाने निरुय करीने प्रासुक तथा अवस्थानरने प्राप्त
थणुने नालीने साधु ते अडणु करे

ने दोके डडे छे के-धोवणु पाणी अे घडी पछी सचित्त डोवाथी अग्राह्य छे' ते
तेमनु डडेवानु अराअर नथी. अणु के अे अे घडी पछी धोवणुने अण सचित्त थअ नय
तो शाक आदिथी अरअयदा हाथ या कुडछी-आदि धोवाने माटे गृहस्थ (रसोईथे) रसोईने

शनग्रहणमपि तेषां दोषावहं भवेत्, तत्संमतसचित्तजलसंसृष्टकरदर्वीसंसर्गवत्त्वात् । मुहूर्ता-
त्परमेव धावनजलस्य सचित्तत्वाङ्गीकारे 'अहुणाधोयं विवज्जण' इति प्रकृतसूत्रस्य च'
विरोधापत्तिः, तथाहि-अधुनाधौतस्य मुहूर्तान्तर्गततया तत्र तन्मते सचित्तताया अभावे
तद्वर्जनोपदेशाऽसङ्गतिः चिराद्धौतस्य च मुहूर्तानन्तरं तन्मते सचित्तताया अभावे तद्वर्ज-
नोपदेशासङ्गतिः स्यात्, तस्मात् पिपासापनोदनशक्तिशालिनश्चिराद्धौतरय ग्रहण शास्त्रसं-
मतमित्यवधेयम् ।

अथ शङ्कितं="पिपासाऽपनोदकं न वा" इति संशयविषयो भवेत्तदा आस्वाद्य=
उक्तसंशयापनोदनार्थं किञ्चित्पीत्वा रोचयेत्=निर्णयेत् ॥

"अजीव"-मित्यनेन जीवराहित्यं 'परिणत'- मित्यनेन च सर्वथाऽचित्तत्वं सूचितम्
॥७६॥७७॥

एक पानीका बरतन रखता है, उस जलसे हाथ और कुडली धो धो कर दाल आदि -परोसता
है, ऐसी दशामें उक्त मतसे देर तक रक्खे रहनेके कारण यदि वह हाथ या कुडली-आदिका धोवन
सचित्त हो जाता है तो उस धोवनमें धोयी हुई कुडली या हाथसे दिया जानेवाला निरवध अन्ना-
दि भी उनको अग्राह्य हो जायगा । 'तहेवुच्चावयं' इस गाथा के अन्तिम-चरणमें 'अहुणाधोयं
विवज्जण' यह कह कर भगवानने यह स्पष्ट कर दिया है कि तुरतका धोया हुआ जल, अग्राह्य
है, और इसीको 'द्विर्वद्धं सुवद्धं भवति' इस न्यायसे 'ज जाणेज्ज चिराधोयं' इस गाथासे सुस्पष्ट
कर दिया है कि देरका धोया हुआ धोवन ग्रहण करना चाहिए । अतः दो घड़ीके बाद धोवन
में जीवोंकी उत्पत्ति मानना जैनागमसे विरुद्ध है और उत्सूत्र-प्ररूपणका भागी बनना है ।

तथा 'इससे प्यास मिट जायगी या नहीं' ऐसा सन्देह उत्पन्न हो जाय तो उस सन्देह
को दूर करनेके लिए थोडासा पानी चख कर निर्णय करे ।

'अजीवं'-पदसे जीवराहित्य और 'परिणयं' पदसे मिश्रकी शंकाका अभाव सूचित किया
है ॥७६॥७७॥

समये पोतानी यासे पाणीतु अक वासणु, राणे छे, अे जणथी हाथ अने कुडली धोव-
धोवने हाण आदि पीरसे छे, अेवी दशामा उक्त मत प्रमाणे डेटलाक समय सुधी-रहेलुं
डोवाने करणु अे अे हाथ या कुडली आदिनुं धोवणु सचित्त थर्ध नय तो अे धोवणुमां
धोअेदी कुडली या हाथथी आपवाभां आवतुं निरवध अन्नादि पणु अेभने अग्राह्य णनी
नय. तहेवुच्चावयं अे गथाना अंतिम अरणुमां अहुणाधोयं विवज्जण अेभ कुडलीने लगवाने
अे स्पष्ट करी आप्थु अे डे तुरतनुं धोअेलु जण अग्राह्य छे, अने अेने द्विर्वद्धं सुवद्धं
भवति अे न्याये करी जं जाणेज्ज चिराधोयं अे गाथाथी सुस्पष्ट करी आप्थुं छे डे डेट-
लाक समय पडेलांनु धोअेलु धोवणु अडणु करवुं न्नेधअे अेटले छे धडी पडी धोवणुमा
अेवीनी उत्पत्ति मानवी अे जैनागमथी विरुद्ध छे अने उत्सूत्रप्ररूपणना लागी अन्तपु
पडे छे

तेमज 'अधी तंरसं भट्ठे के नडिं?' अेवा - स डेड : उत्पन्न थाय तो अे स'डेड डर

आस्वादनविधि प्रदर्शयन् निर्णयप्रकारमाह—‘थोव०’इत्यादि ।

२ १ ४ ५ ३

मूलम्—थोवमासायणट्टाए, हत्थगम्मि दलाहि मे ।

१२ ११ ६ ७ १० ८ ९

मा मे अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए ॥७८॥

छाया—स्तोकमास्वादनार्थं, हस्तके देहि मे ।

मा मे अत्यम्लं पूति, नालं तृष्णां विनेतुम् ॥७८॥

सान्वयार्थः—(निर्णय करनेके लिए साधु दातासे कहे कि-हे आयुष्मन् !)

आसायणट्टाए=चखनेके लिए थोवं=थोड़ासा धोवन मे=मेरे हत्थगम्मि=हाथमें दलाहि=दो, (हाथमें लेकर चखने पर यदि निश्चय हो जाय कि वह धोवन) अच्चंबिलं=अत्यन्त खटा पूयं=दुर्गन्धित और तिण्हं=प्यास विणित्तए=बुझानेके लिए नालं=समर्थ नहीं है इसलिए यह मे=मेरे लिए उपयोगी मा=नहीं है॥७८॥

टीका—आस्वादनार्थम्=उपयोगित्वाऽनुपयोगित्वज्ञानार्थं स्तोकं स्वल्पं तिल-तण्डुलादिजलं मे=मम हस्ते ‘देहि’ इति दात्रीमुद्दिश्य वदेदिति भावः । तदत्तं धौत-जलमास्वाद्य निश्चिनुयात्-इदम् अत्यम्लं पूति=अनिष्टगन्धयुक्तं तृष्णां=पिपासां विने-तुम्=अपाकर्तुं नालं=न समर्थम्, इति मे=मम मा=नहि उपयोगीति शेषः॥७८॥

आस्वादन (चखने) की विधि बताते हुए निर्णय करनेका प्रकार बताते हैं—‘थोव०’ इत्यादि ।

‘धोवन उपयोगी है या नहीं ?’ इस शंकाका निवारण करनेके लिए देनेवाली बाईसे साधु कहे कि—‘मेरे हाथमें थोड़ासा पानी दो ।’ उस दिये हुए धोवनका आस्वादन करके निश्चय करे कि—‘यह बहुत खटा है, दुर्गन्धवाला है प्यास शान्त करनेके लिए समर्थ नहीं है अतः मेरे लिए उपयोगी नहीं है ॥७८॥’

ऐसा निश्चय करके क्या करना चाहिए ? सो कहते हैं—‘तं च’ इत्यादि ।

करवाने भाटे थोडु पाणुी आभीने निष्पुंय करवो अजीवं शफ्दथी शुवराडित्य अने परिणयं शफ्दथी भिन्ननी शकाने अलाव सूचित कथे छे (७६-७७)

आस्वादन (आभवा) नी विधि अतावतां निष्पुंय करवाने प्रकार अतावे छे—थोव० इत्यादि.

‘धोवणु उपयोगी छे के नडि ?’ अे शंकानुं निवारणु करवाने भाटे धोवणु आप-नारी आभने साधु कडे के “भारा हाथमां थोडुं पाणुी आपो.” अे आपेला धोवणुनुं अस्वा-दन करीने निश्चय करे के “आ अहु आहु छे, दुर्गन्ध वाणुं छे, तरस शांत करवा भाटे समर्थ नथी, तेथी भारे भाटे उपयोगी नथी.” (७८)

अेवो निश्चय करीने शु करवुं अेधुं ? ते अेवे कडे छे—तं च० इत्यादि.

निश्चयानन्तरं कर्त्तव्यमाह—‘तं च’ इत्यादि ।

मूलम्—तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तण् ।

दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥

छाया—तच्चाऽत्यम्लं पूति, नालं तृष्णां विनेतुम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७९॥

तव वह साधु क्या करे ?, सो बताते है—

सान्वयार्थः—अच्चंबिलं = अत्यन्त खट्टे पूयं = दुर्गन्धियुक्त और तिण्हं विणित्तण् नालं = प्यास मिटाने के लिए असमर्थं तं च = उस धोवनको दितिय = देनेवालीसे; साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका धोवन मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥७९॥

टीका—तच्च धौतजलमत्यम्लपूति तृष्णां विनेतुं नालमिति ददतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पते इति ॥७९॥

मूलम्—तं च होज्ज अकामेणं, विमणेण पडिच्छयं ।

तं अप्पणा न पिबे, नो वि अन्नस्स दावण् ॥८०॥

छाया—तच्च भवेद् अकामेन, विमनसा प्रतिगृहीतम् ।

तद् आत्मना न पिबेत्, नो अपि अन्यस्मै दापयेत् ॥८०॥

सान्वयार्थः—त = वह उस प्रकारका धोवन यदि अकामेणं = विना इच्छासे दाताके अनुरोधसे च = तथा विमणेणं = मनके दूसरी तरफ होनेके कारण पडिच्छय = लेलिया गया हो तो तं = उस धोवनको न = न तो अप्पणा = अपने खुद पिबे = पिबे और नो = न अन्नस्स अवि = दूसरोंकोभी दावण् = देवे ॥८०॥

टीका—तं च’ इत्यादि । तच्च धौतजलं यदि अकामेन = स्वानिच्छया, दात्र्यनुरोधेनेति भावः; विमनसा = अन्यमनस्केतया, हेतौ तृतीया प्रतिगृहीतं तद् आत्मना स्वयं न पिबेत् नो अपि अन्यस्मै दापयेत् ॥८०॥

उस बहुत खट्टे, दुर्गन्धित और प्यास बुझानेमें असमर्थ धोवनको देनेवाली बाईसे कहे कि ऐसा धोवन मुझे नहीं कल्पता है ॥७९॥

‘तं च’ इत्यादि । यदि ऐसा पांती अनिच्छापूर्वक दाताके अनुरोधसे अथवा विना ध्यानसे ग्रहण कर लिया हो तो स्वयं उसे न पिये और न दूसरेको पिलावे ॥८०॥

येवा णहु आटा, दुर्गन्धित अने तरस छीपावेवाभा असमर्थ धोवणुने आपनारी आर्धने साधु कहे के येवु धोवणु भने कल्पतु नथी (७९)

तं च इत्यादि ने येवु पाणी अनिच्छापूर्वक दाताना अनुरोधेथी अथवा जे-ध्यानथी अहणु करी दीधुं डोय तो पोते न पीये अने न पीलाने पीवडावे (८०)

तर्हि किं कुर्यात् ? इत्याह—'एगंत०' इत्यादि ।

मूलम्—एगंतमवक्रमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया ।

जयं परिठ्विज्जा, परिठ्ठप्प पडिकमे ॥ ८१ ॥

छाया—एकान्तमवक्रम्याऽचित्तं प्रत्युपेक्ष्य ।

यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८१ ॥

उसका धोवन का क्या करे ? सो बताते हैं—

सान्त्वयार्थः—एगंतं = एकान्त स्थानम् अवक्रमित्ता = जाकरके अचित्तं = एकेन्द्रियादिप्राणीरहित अचित्त स्थानको पडिलेहिया = पूजकर उस धोवनको जयं = यतनासे परिठ्विज्जा = परिठवे-डाले, परिठ्ठप्प = परिठवके आकर पडिकमे = इरियावहिया पडिकमे प्रतिक्रमण करे ॥ ८१ ॥

टीका—एकान्तं विविक्तप्रदेशम्, अवक्रम्य = गत्वा तत्र अचित्तम् = एकेन्द्रियादिप्राणिवर्जितं प्रत्युपेक्ष्य = निरीक्ष्य यतं = यतनं यथास्यात्तथा परिष्ठापयेत्, सविधि-“वोसिरे” इति त्रिरुच्चार्य व्युत्सृजेत् । परिष्ठाप्य = परिष्ठापनानन्तरं ग्रामाद्बहिरबहिर्वाऽऽसन्नभूमिमागत्य प्रतिक्रामेत् = ऐर्यापथिकीं कुर्यात् ॥ ८१ ॥

अशनपानग्रहणविधेरनन्तर भोजनविधिमाह—'सिया' इत्यादि, 'अणुन्नवित्तु' इत्यादि च ।

मूलम्—सिया य गोयरग्गओ, इच्छिज्जा परिभुत्तुं ।

कुट्टगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुयं ॥ ८२ ॥

अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।

हत्थंगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ ८३ ॥

छाया—स्याच्च गोचराग्रगतः इच्छेत् परिभोक्तुम्

कोष्ठक भित्तिमूल वा, प्रत्युपेक्ष्य प्रासुकम् ॥ ८२ ॥

फिर क्या करे सो कहते हैं—'एगंत०' इत्यादि ।

एकान्त स्थानमें जाकर एकेन्द्रिय आदि प्राणियोसे रहित स्थान देखकर यतनापूर्वक “वोसिरे” ऐसा तीन बार उच्चारण करके परिठवे परिठवनेके पश्चात् गाँवमें या गाँवके बाहर ठहरने के स्थान पर आकर इरियावहियाका प्रतिक्रमण करे ॥ ८१ ॥

पछी शुं करे ते कडे छे—एगंत० इत्यादि

एकान्त स्थानमां जेधने एकेन्द्रिय आदि प्राणीओथी रहित स्थान जेधने यतनापूर्वक 'वोसिरे' ओषु त्रणुवार उच्चारण करीने परिठवे परिठव्या पछी गाभमा या गाभनी अडार रहेवानास्थान पर आवीने इरियावहियानुं प्रतिक्रमण करे (८१)

अशन-पान अडुषु करवानी विधि अताव्या आद आडार करवानी विधि अतावे छे-

अनुज्ञाप्य मेधावी, प्रतिच्छन्ने संवृते ।

हस्तकं संप्रमृज्य तत्र भुञ्जीत संयतः ॥८३॥

सान्वयार्थः—गोचरगगओ = गोचरीमें गया हुआ मेधावी = सामाचारीका जानकार संजए = साधु सिया य = कदाचित् अगर बाल्यावस्थाके अथवा ग्लानपनेके कारण वहीं परिभुत्तुं = आहार करना इच्छिञ्जा = चाहें तो वहां फासुयं = प्रासुक-एकेन्द्रियादिप्राणी रहित कुट्टगं = कोठेको वा = अथवा भित्तिमूलं = भीतके समीपके स्थानको पडिलेहि-त्ताण = पूंजकर तथा दृष्टिसे देखकर अणुन्नवित्तु = गृहस्थकी आज्ञा मांगकर तत्थ = वहां पडिलेच्छन्नम्मि = ऊपरसे छाये हुए और संवुडे = चारों तर्फसे घिरे हुए स्थानमें हत्थगं = हाथोंको अथवा अपने शरीरको संपमज्जिता = पूंजकरके (साधु) भुंजिञ्ज = आहार करे ॥८२॥८३॥

टीका— स्याच्च = कदाचित् गोचराग्रगतः = भिक्षामनुग्रविष्टो मुनिः, बाल्य-ग्लानत्व-पिपासादिकारणवशात्परिभोक्तुमिच्छेत् तदा प्रासुकम् = एकेन्द्रियादिप्राणिविवर्जितं कोष्ठकम् = अन्तर्मुहूर्त्तादिकं वा = अथवा भित्तिमूलं = कूडचसमीपवर्तिप्रदेशं प्रत्युपेक्ष्य = दृष्ट्या विलोक्य अनुज्ञाप्य = तत्स्वामिनोऽनुज्ञामादाय तत्र प्रतिच्छन्ने = ऊर्ध्वतस्तृणादि-भिराच्छादिते, संवृते किन्तु प्रकाशयुक्ते प्रदेशे, यद्वा 'संवृतः' इति प्रथमान्तं संयतस्य विशेषणं तेन, मेधावी = साधुसामाचारीकुशलः संयतः = साधुः संवृतः = मनोवाक्यगुप्तः सत् हस्तकं = हस्तौ संप्रमृज्य = संशोध्य, अथवा 'हस्तकम्' इति तृतीयार्थे प्रथमा, तथा

अशन-पान ग्रहण करनेकी विधि बतानेके बाद आहार करनेकी विधि बताते हैं—'सिया य' इत्यादि, 'अणुन्नवित्तु' इत्यादि ।

यदि भिक्षाके लिए गये हुए भिक्षु बालकपन, ग्लानता अथवा व्यास आदि किसी कारणसे आहार करनेकी इच्छा हो जाय तो वहाँ प्रासुक कोठा अथवा भीतके पास कोने आदिकी प्रति-लेखना करके मकानके स्वामीकी आज्ञा लेकर ऊपरको तृण आदिसे छाये हुए चारो ओरसे बन्द किन्तु प्रकाशयुक्त स्थानमें स्थित होकर मन वचन कायकी सम्यक् प्रकार प्रवृत्ति करता हुआ साधुसामाचारीका ज्ञाना मुनि हाथोको प्रमार्जित (साफ) करके या हस्तक अर्थात् हस्तगत रजोहरणसे काय और स्थानकी प्रमार्जना करके आहार करे ।

सिया य इत्यादि तथा अणुन्नवित्तु इत्यादि.

जे भिक्षाने माटे गयेला भिक्षुने आणकपणा, ग्लानता अथवा तरस आदि कोष्ठ कारणे आहार करवानी इच्छा थय जय तो त्यां प्रासुक कोठा अथवा ली तनी पामे भूणा आदिनी प्रतिवेचना करीने मकानना स्वामीनी आज्ञा लधने उपर घास आदिथी छायेला यारे आणुथी अंध परन्तु प्रकाशयुक्त स्थानमां रहुीने मन वचन कायानी सम्यक् प्रकारे प्रवृत्ति करतां साधु सामाचारीने ज्ञाता मुनि हाथने प्रमार्जित करीने(साधु करीने) या हस्तक (हस्तगत रजोहरण) थी काय अने स्थाननी प्रमार्जना करीने आहार करे.

च-हस्तकेन = हस्त कायति - धातूनामनेकार्थत्वात्प्राप्नोतीति हस्तकम्, ('आतोऽनुप-सर्गे कः' इति कप्रत्ययः,) रजोहरणं तेन, तस्य धारणे हस्तस्य सर्वथा निमित्तत्वात्, प्रायः कक्षप्रदेशे धारणेऽपि हस्ताश्रयं विना तदीयधारणासम्भवाच्च । सप्रमृज्य = तत्थानं कायं च संशोध्य भुञ्जीत = अभ्यवहरेत् ।

यत्तु "हस्तकं मुखवस्त्रिकारूपमादाय तेन कायं संप्रमृज्य" इति व्याख्यातं तदयुक्तं 'हस्तक' पदार्थस्य 'संप्रमृज्य' पदार्थेऽन्वयसम्भवे, 'आदाये'-ति पदान्तराक्षेपपूर्वकमन्यपदार्थेऽन्वयकल्पनाया अनौचित्यात् । किञ्च कोष व्याकरणादिषु हि हस्तकशब्दो मुखवस्त्रिकारूपेऽर्थे न दृश्यते । शास्त्रेऽपि-"मुहपत्तिं पडिलेहित्ता" इत्यादि दृश्यते न तु 'हत्थगं पडिलेहित्ता' इत्यादि ।

यच्च "विधिना तेन मुखवस्त्रिकारूपेण हस्तकेन कायं प्रमृज्य तत्र भुञ्जीत" इति व्याख्यातं तदप्ययुक्ततरम् । हस्ते मुखवस्त्रिकाधारणे मुखवस्त्रिकाधारणोद्देश्यभूतायाः सूक्ष्म-

किसी-किसीने 'हस्तक संप्रमृज्य' का ऐसा अर्थ किया है कि 'मुखवस्त्रिका लेकर उससे शरीर-प्रमार्जना करे' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि मुखवस्त्रिकाके साथ प्रमार्जन करनेका सम्बन्ध मिलते न देखे उन्हें एक 'आदाय' शब्द (लेकर) अपनी ओरसे मिला दिया है । इस प्रकार सम्बन्ध मिलाना उचित नहीं है । इसके सिवाय कोषोमें कहीं 'हस्तक' शब्द का अर्थ मुखवस्त्रिका नहीं किया है और न व्याकरणमें ही ऐसा देखाजाता है । आगमोमें 'मुहपत्ति पडिलेहित्ता' इत्यादि पद देखे जाते हैं, किन्तु 'हत्थगं पडिलेहित्ता' कहीं नहीं देखा जाता ।

तथा "मुखवस्त्रिकारूप हस्तकसे कायकी प्रमार्जना करके आहार करे"

ऐसा व्याख्या करना भी अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि मुखवस्त्रिका धारण करनेका प्रयोजन सूक्ष्म, व्यापी, सम्पातिम तथा वायुकाय आदि जीवोकी हिसाका परिहार करना है । मुखवस्त्रिकाको हाथमें रखनेसे उक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इससे यह सिद्ध होता है कि मुखवस्त्रिका

કેઈ-કેઈએ હસ્તકં સંપ્રમૃજ્ય નો એવો અર્થ કર્યો છે કે-"મુખવસ્ત્રિકા લઈને તેથી શરીરની પ્રમાર્જના કરે," પણ એવો અર્થ કરવો એ ખરાબર નથી, કારણ કે મુખવસ્ત્રિકાની સાથે પ્રમાર્જન કરવા સબંધ મળતો નહિ જોવાથી તેમણે એક આદાય શબ્દ લઈને પોતાની તરફથી મેળવી દીધો છે આ પ્રમાણે સબંધ મેળવી દેવો એ ઉચિત નથી. વળી કેષોમા કયાય 'હસ્તક' શબ્દનો અર્થ મુખવસ્ત્રિકા કર્યો નથી અને વ્યાકરણમાં પણ એવો અર્થ જોવામાં આવતો નથી, આગમોમા મુહપત્તિ પડિલેહિત્તા ઇત્યાદિ ૨૬ જોવામા આવે છે, કિન્તુ હત્થગં પડિલેહિત્તા કયાંય જોવામા આવતું નથી

તથા "મુખવસ્ત્રિકારૂપ હસ્તકથી કાયની પ્રમાર્જના કરીને આહાર કરે" એવી વ્યાખ્યા કરવી એ પણ અત્યંત અયુક્ત છે, કારણ કે મુખવસ્ત્રિકા ધારણ કરવાનું પ્રયોજન સૂક્ષ્મ, વ્યાપી, સંપાતિમ તથા વાયુકાય આદિ જીવોની હિમાનો પરિહાર કરવો એ છે. મુખવસ્ત્રિકાને હાથમાં રાખવા ઉક્ત પ્રયોજન સિદ્ધ થતું નથી એથી એમ સિદ્ધ થાય છે

व्यापिसम्पातिमवायुकायादिजीवहिंसानिवृत्तेरसिद्ध्या मुखवस्त्रिका मुख एव धारणीयेत्या-
शयस्य-जागरुकत्वात्, अत एव भगवताऽपि सूक्ष्मव्यपिसम्पातिमवायुकायादिजीवाऽय-
तनानिवृत्तये, मुखोपरि धारणीयसदोरकाष्टपुटमुखप्रमाणवस्त्रखण्डरूपेऽर्थे मुखवस्त्रिकाशब्दः
प्रयुक्तो, न तु हस्तवस्त्रिकाशब्द इति कथमपि हस्तकशब्देन मुखवस्त्रिकारूपोऽर्थो न लभ्यते
एवं च तेन कायप्रमार्जनकथनं सर्वथाऽऽगमविरुद्धमेवेति बोध्यम् ॥८२॥८२॥

१ ३ २ ४ ५ १२
मूलम्—तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्टियं कंटओ सिया ।

८ ७ ६ ९ १० ११
तण-कट्ट-सकरं वावि, अन्नं वावि तहाविहं ॥८४॥

१३ १४ १५ १६ १७ १८ १९
तं उक्खवित्तं न निक्खवे, आसएण न छड्डए ।

२१ २० २२ २३ २४
हत्थेण तं गहेऊण, एगंतमवक्कमे ॥८५॥

छाया—तत्र तस्य भुञ्जानस्य, अष्टिकं कण्टकः स्यात् ।

तृण-काष्ठ-शर्करे वाऽपि, अन्यद्वापि तथाविधम् ॥८४॥

तद् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत्, आस्येन होञ्जेत् ।

हस्तेन तद् गृहीत्वा, एकान्तमपक्रामेत् ॥८५॥

सान्वयार्थः— तत्थ=वहाँ कोठे आदि में भुंजमाणस्स=आहार करते हुए, से=उस

साधु के (आहारमें) अट्टियं=बीज कंटओ=कांटा तण=तिनका कट्ट=काठ वावि=और
सक्करं=छोटा ककर वा=तथा, अन्नं वावि=और भी तहाविहं=उस प्रकार का पदार्थ सिया
=आगया हो, तो, तं=उसे उक्खवित्तु=निकालकर न निक्खवे=इधर उधर नहीं डाले तथा-
आसएणं=मुखसे भी न छड्डए=न फेंके न थूके (किन्तु) तं=उसे हत्थेण=हाथसे
गहेऊण=लेकर एगंतं=एकान्त स्थानमें, अवक्कमे=जावे ॥८४॥८५॥

मुखपर ही धारण करनी चाहिए । इसलिए मुखके निमित्तसे होनेवाली, सूक्ष्म, व्यापी, सम्पातिम,
और वायुकाय आदि जीवोकी विराधनाकी निवृत्तिके लिए मुख पर धारण करने योग्य उस मुख
परिमाण सदोरक और आठ पुड़वाले वस्त्रखण्डको भगवानने 'मुखवस्त्रिका' शब्दसे कहा है, 'हस्त-
वस्त्रिका' शब्दका प्रयोग कहीं नहीं किया, अत एव 'हस्तक' शब्दसे मुखवस्त्रिकाका अर्थ किसी
भी प्रकार नहीं निकल सकता । इस प्रकार 'उससे कायकी प्रमार्जना करना ' यह अर्थ आग-
मसे सर्वथा विरुद्ध है ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

हे मुखवस्त्रिका मुख पर न धारण करनी लोभ्ये, तथी भुजना निमित्ते थनारी सूक्ष्म,
व्यापी, सम्पातिम अने वायुकाय आदि जीवोकी विराधनानी निवृत्तिने गाठे भुज पर धारण
करवा योग्य ये भुजपरिमाणे होरा साथेना अने आठ पडवाणा वराण उने लगवाने 'मुख-
वस्त्रिका' कही छे, 'हस्तवस्त्रिका' शब्दने प्रयोग कथी नथी. अट्टे 'हस्तक' शब्दथी मुख-
वस्त्रिकाने अर्थ केअ पण प्रकारे नीकणी शकते नथी. अे रीते 'मुखवस्त्रिकाथी धायानी
प्रमार्जना करवी' अे अर्थ आगमथी सर्वथा विरुद्ध छे.)८३-८३)

टीका—‘तत्थ से’ इत्यादि, ‘तंउक्खवित्तु’ इत्यादि च । तत्र कोष्ठकादिस्थाने भुञ्जानस्य तस्य भिक्षोर्भोजने अष्टिकं=बीजं, कण्टकः=तीक्ष्णाग्रो द्रुम-गुल्म-लता-घङ्गवि-
शेषः, अपिवा तृण-काष्ठ शर्करं=तृणं च काष्ठं च शर्करा चैतेषां समाहारः । तत्र तृणं=कुशा-
दिकं काष्ठं=खदिरादिसमुद्भवं दारु शर्करा=क्षुद्रपाषाणखण्डम् । अन्यदपि वा तथाविधं=
तज्जातीयं स्यात्=भवेत् तद्=अष्टिकादिकम् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत्=उत्क्षेपणं कृत्वा यत्र
तत्र न क्षिपेत्, आस्येन=मुखेनापि नोज्जेत=धूत्कृत्य न क्षिपेत् । तर्हि किं कुर्यात् ?
इत्याह—तद् हस्तेन गृहीत्वा एकान्तमपक्रामेत् गच्छेत् ॥८४॥८५॥

मूलम्—एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया ।

जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥८६॥

छाया—एकान्तमपक्रम्याऽचित्तां प्रत्युपेक्ष्य ।

यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥८६॥

एकान्त में जाकर क्या करे ? सो बताते हैं—

सान्वयार्थः—एगंत=एकान्त स्थान में अवक्कमित्ता=जाकरके अचित्तं=एकेन्द्रियादि-
प्राणीरहित अचित्त स्थान को पडिलेहिय =पूजकर उस धोवन को जयं=यतनासे परि-
ट्ठविज्जा=परिठवे डाले, परिट्ठप्प=परिठवके आकर पडिक्कमे=इरियावहिया पडिकमे
कर ॥८६॥

टीका—‘एगंतं’ इत्यादि । धिजनप्रदेशं गत्वा अचित्तां भूमिं चक्षुषा निरीक्ष्य
बीजादिकं सयत्नं व्युत्सृजेत्, तदनु स्थानमागत्य प्रतिक्रामेत्=ऐर्यापथिकीं कुर्यादिति
भावः ॥८६॥

‘तत्थ से’ इत्यादि, ‘तं उक्खवित्तु’ इत्यादि । उस कोठे आदिमें आहार करनेवाले
भिक्षुके भोजनमें बीज, काँटा, तिनका, लकड़ी, किरकिरी-कंकर या और कोई उस प्रकारकी
वस्तु हो तो उसे निकाल कर जहाँ-तहाँ न डाले तथा मुखसे भी न थूके किन्तु उसको हाथमें
लेकर एकान्त स्थानमें जावे ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

‘एगंतं’ इत्यादि । एकान्तमें जाकर अचित्त भूमि देख कर वहाँ यतनाके साथ उस बीज
काँटे आदिको डाले । फिर अपने स्थान पर आकर इरियावहियाका प्रतिक्रमण करे ॥ ८६ ॥

तत्थ से० इत्यादि, तथा तं उक्खवित्तु० इत्यादि ये केठामा आधार करनास बिक्षुना
लोचनमां पीज, काँटा, तण्णलां लाड्डुं, काँकरी काकरा या एवा प्रकारनी पीण्ण केधं वस्तु
डाय तो ते काडी नापी ज्या-त्यां नांणे नडि, तथा सुभथी यण्ण थूके नडि, परंतु तेने
डायमा लधने ऐकान्त स्थानमां जय. (८४-८५)

एगंतं इत्यादि ऐकान्तमा लधने अचित्त भूमि लेधने त्या यतनापूर्वकं ये पीण्ण काँटा
आदिने नांणे पत्ती पेताना स्थान पर आवीने इरियावहियातुं प्रतिक्रमणु करे (८६)

मूलम्-सिया य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुं^उ ।

सपिण्डपायमागम्म उंडुअं से पडिलेहिया ॥८७॥

विणएणं पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी ।

इरियावहियमायाय आगओ य पडिक्कमे ॥८८॥

छाया--स्याच्च भिक्षुरिच्छेत् , शय्यामागम्य भोक्तुम् ।

सपिण्डपातमागम्य, उन्दुकं से (तत्र) प्रत्युपेक्ष्य ॥८७॥

विनयेन प्रविश्य, सकाशे गुरोर्मुनिः ।

एर्यापथिकीमादाय, आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥८८॥

सान्वयार्थः--सिया य=अगर भिक्खू=साधु सिज्जं=वसति उपाश्रयमें ही आगम्म

आकर भुत्तुं=आहार करना इच्छिज्जा=चाहे तो सपिण्डवायं=भिक्षाके सहित आगम्म=आकर विणएणं =मत्थएण वंदामि निस्सीहि' इस प्रकार बोलनेरूप विनय से पविसित्ता उपाश्रयमें प्रवेश करके से--वहां उंडुयं = भोजनके स्थानको पडिलेहिया = अच्छी तरह देखकर गुरुणो = रत्नाधिक के सगासे = समीप आगओ य = आया हुआ मुणी = मुनि इरियावहियं = इरियावहियाका पाठ आयाय = लेकर पढकर पडिक्कमे = कायोत्सर्ग करे तात्पर्य यह है कि प्रबल पिपासा आदि खास कारण के विना तो उपाश्रयमें आकर ही साधुको आहार करना चाहिये किन्तु गृहस्थके घर में नहीं करे ॥८७॥८८॥

टीका--सिया य' इत्यादि, 'विणएणं' इत्यादि च । भिक्षुः = वाधुः शय्यां = वसति स्यात् = एव आगम्य भोक्तुमिच्छेत् । अत्र स्यादित्यव्ययमवधारणार्थं तेन प्रबलपिपासा-दिकारणाभावे वसतिं विहायाऽन्यत्र न भोक्तव्य' मिति तात्पर्यं गम्यते । तदा सपिण्डपातं = पिण्डपातो-भिक्षालाभस्तेन सहाऽऽगम्य विनयेन = "मत्थएण वंदामि निस्सीहि" इतिपठनलक्षणेन प्रविश्य उपाश्रयमिति शेषः, से = यद्वा से शब्दो मगधदेशप्रसिद्धः 'तत्र'

'सिया य' इत्यादि, 'विणएणं' इत्यादि । साधु उपाश्रयमें आकर ही आहार करनेकी इच्छा करे । यहाँ 'स्यात्' अव्यय निश्चय बोधक है इससे यह तात्पर्य प्रगट होता है कि पिपासा आदि किसी प्रबल कारणके विना उपाश्रयके सिवाय अन्यत्र आहार नहीं करना चाहिए । अत एव भिक्षा लाकर "मत्थएण वंदामि निस्सीहि" यह पाठ उच्चारण करके उपाश्रयमें प्रवेश करे फिर

सिया य० इत्यादि, तथा विणएणं इत्यादि. साधु उपाश्रयमां आवीने न आहार कर-
वानी इच्छा करे, अही स्यात् अव्यय निश्चयबोधक छे, तेथी ये तात्पर्यं प्रकट थाय छे के
तरस आदि के। प्रमण करके विना उपाश्रय सिवाय अन्यत्र आहार न करवे। जेधरे
येटवे भिक्षा लापीने मत्थएण वंदामि निस्सीहि ये पाठ उच्चारिने उपाश्रयमा प्रवेश करे.
पथी बोधन करवाना स्थाननी सम्यक् प्रकारे प्रतिवेधना करीने दीक्षामा भेटा मुनिनी

शब्दार्थे वर्तते तेन से = तत्र उन्दुकं = स्थानं प्रत्युपेक्ष्य = सम्यक् निरीक्ष्य गुरोः = रत्नाधिकस्य सकाशे आगतश्च मुनिः पेर्यापथिकीम् इच्छामि पडिककमिउं" इत्यादिलक्षणाम् आदाय = पठित्वा प्रतिक्रामेत् = कायोत्सर्गं कुर्यात् ॥८७॥८८॥

तत्र '(कायोत्सर्गे) किं कुर्यात् ? इत्याह—आभोइत्ताण इत्यादि 'उज्जुप्पन्नो' इत्यादि च ।

१० १ २ ३ ४ ५ ६ ७
मूलम्—आभोइत्ताण नीसेसं अइयारं जहकमं ।

२ ३ ४ ५ ६ ७
गमणागमणे चव, भक्ते पाणे य संजए ॥९८॥

११ १२ १३ १४
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चैयसा ।

१५ १६ १७ १८
आलोए गुरुसगासे, जं जहा-गहियं भव ॥९०॥

छाया—आभोग्य निश्शेषम्, अतिचारं यथाक्रमम् ।

गमनागमने चैव, भक्ते पाने च संयतः ॥८९॥

ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।

आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद् तथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

सान्त्वयार्थः—संजए=कायोत्सर्गमें रहा हुआ मुनि गमणागमणे=जानेआनेमें चैव =और भक्ते=आहार य=तथा पाणे=पानी के ग्रहण करने में (लगे हुए) नीसेसं=सब प्रकार के अइयारं=अतिचारोंको तथा ज=जो अशनादि जहा=जिस प्रकार गहियं भवे=ग्रहण किया हुआ हो उसे भी जहकमं=यथाक्रम अनुक्रमसे आभोइत्ताण=उपयोगसहित चिन्तन करके, उज्जुप्पन्नो=सरल बुद्धिवाला अणुव्विग्गो=उद्वेगरहित वह मुनि अव्वक्खित्तेण=विक्षेपरहित—एकाग्र चैयसा=चित्तसे गुरुके समीप आलोवे ॥८९॥९०॥

टीका—संयतः=कायोत्सर्गस्थो मुनिः, गमनागमने=गतागते चैव भक्ते पाने च संयतं निश्शेषं=समग्रम् अतिचारं=मुनिमर्यादांलङ्घनलक्षणम् यथाक्रमम् आभोग्य=सोप-

भोजन करनेके स्थानकी सम्यक् प्रकार प्रतिलेखना करके दीक्षामें बड़े मुनिके समीप आकर 'इच्छामि पडिककमिउं' इत्यादि ईरियावहिया का पाठ बोल करके कायोत्सर्ग करे ॥८७॥८९॥

कायोत्सर्गमें क्या करना चाहिए सो कहते हैं—'आभोइत्ताण' इत्यादि, 'उज्जुप्पन्नो' इत्यादि ।

कायोत्सर्गमें स्थित होकर गमनाऽऽगमनमें, तथा-आहार पानोके, लेनेमें जो अतिचार लगे हो उन सबका क्रमशः चिन्तन करके सरल, बुद्धि-शान्तचित्तवाला समीपव्याकुलतारहित चित्तसे

सभीके आंवीने इच्छामि पडिककमिउं इत्यादि ईरियावहियाने पाठ जोलीने कायोत्सर्ग करे (८७-८८)

कायोत्सर्गमां शु करवुं लेधये ते ढडे छे-आभोइत्ताण० इत्यादि, तथा उज्जुप्पन्नो० इत्यादि.

कायोत्सर्गमां स्थिर धरने गमनागमनमां, तथा आहारपाणी देवामां ले अतिचार लाया होय ते सर्वानु क्रमशः चिन्तन करीने सरलबुद्धि शान्त-चित्तवाणे। समीप व्याकु-

योगं विचिन्त्य ऋजुप्रज्ञः=सरलबुद्धिः अनुद्विग्निः=प्रशान्तः, अव्याधिप्तेन=अव्याकुलेन चेतसा=मनसा गुरुसकाशे=शुद्धं प्रमादादिवशेनाऽशुद्ध वा यद् यस्माद् यत्र वा यथा गृहीतं भवेत् तदपि गुरु समीपे कथयेदित्यर्थः ।

‘उज्जुप्पन्नो’ इत्यनेनाऽकुटिलमतिरेव सम्यगालोचयतीति सूचितम् । अणुव्विगो अनेन क्षुधादिपरिपहजेतृत्वमावेदितम् । ‘अव्वक्खित्तेण चेतसा’ इत्यनेन ‘एकाग्रचित्तेनैवाऽतिचारस्य सम्यक् स्मरणं भवती’—ति स्पष्टीकृतम् ॥८९॥९०॥

८ ६ ७ ९ २ ३ ४ १ ५
मूलम्-न सम्ममालोइयं हुज्जा, पुव्वि पच्छा व जं कडं ।

११ १२ १० १३ १५ १४
पुणो पडिक्कमे तस्स वोसट्ठो चित्तए इमं ॥९१॥

छाया—न सम्यगालोचितं भवेत्, पूर्व पश्चाद्वा यत्कृतम् ।

पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य, व्यत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥९१॥

सान्वयार्थः—ज=जो अतिचार पुव्वि=पहले व=तथा पच्छा=पीछे कडं=किया है वह सम्मं=सम्यक् प्रकारसे-अच्छी तरह याने पहले लगे हुए पापको पहले आलोचे और पीछे लगे हुए पापको पीछे आलोचे’ इस प्रकार आलोइयं=आलोचित न कुज्जा=नहीं किया हो तो तस्स=उस अतिचारको पुणो=फिरसे पडिक्कमे=आलोचे, (और) वोसट्ठो=कायो-त्सर्गमें रहा हुआ साधु इमं=इस ‘आगे कहा जानेवाला’ प्रकार चित्तए=चिन्तन करे ॥९१

टीका ‘न सम्म०’ इत्यादि । यत्=यस्माद्धेतोः पूर्व पश्चाद्वा कृतमतिचारं सम्यक् प्राक्कृत प्रागालोचितव्यं पश्चात्कृतं च पश्चादालोचितव्यमिति क्रमेण आलोचितं =प्रका-

गुरुके समीप आलोचना करे । प्रमाद आदिके वशसे जहा जैसा शुद्ध या अशुद्ध आहार आदि लिया गया हो वह भी गुरुसे निवेदन करे ।

‘उज्जुप्पन्नो’ पदसे यह सूचित किया है कि कुटिलतारहित बुद्धिवाला ही यथार्थ अलो-चना कर सकता है । ‘अणुव्विगो’ पदसे क्षुधा आदि परीपहोका जीतना प्रगट किया है । ‘अव्व-क्खित्तेण चेतसा’ पदसे जह सूचित किया है । क एकाग्र-चित्तसे ही अतिचारोका अच्छी तरह स्मरण हो सकता है ॥८९॥९०॥

‘न सम्म०’ इत्यादि । आगे पछे किये हुए अतिचारोकी सम्यक् प्रकार अर्थात् पहले किये हुक्की पश्चात्—आलोचना न की गई हो तो अतिचारोका पुनः प्रतिक्रमण करना चाहिए

जता-रहित चित्तथा गुणः। समीपे आलोचना करे प्रमाद आदिने वश थधने नया नेवे शुद्ध या अशुद्ध आहार आदि लेवा । आवेल होय ते पणु गुणने निवेदन करे

उज्जुप्पन्नो शब्दथी ओम सूचित क वामां आव्यु छे के कुटिलतारहित बुद्धिवाला न यथार्थ आलोचना करी शके छे, अणुव्विगो शब्दथी क्षुधा आदि परीपहोने जतवानुं प्रकट करवामा आव्यु छे अव्वक्खित्तेण चेतसा शब्दथी ओम सूचित कथुं छे के एकाग्र-चित्तथी न अतिचारोनुं सारी रीते स्मरण थर् शके छे. (८९-९०)

न सम्म० इत्यादि आगण पाछण करेला अतिचारोनी सम्यक् प्रकारे अर्थात् पहले

शितं न भवेच्चेदतः तस्य = अतिचारस्य (सम्बन्धसामान्ये षष्ठी) पुनः प्रतिक्रामेत् ।

व्युत्सृष्टः = कायोत्सर्गस्थः इदं = वक्ष्यमाणं चिन्तयेत् ॥९१॥

तदेवाऽऽह—‘अहो’ इत्यादि ।

मूलम्—अहो जिणेहि^१ असावज्जा^६, वित्ती साहूण^५ देसिया^७ ।

मोक्खसाहणहेउस्स^२ साहूदेहस्स^३ धारणा^४ ॥९२॥

छाया- अहो ! जिनैः असावद्या, वृत्तिः साधुभ्यो देशिता ।

मोक्षसाधनहेतोः, साधुदेहस्य धारणाय ॥९२॥

सान्त्वयार्थः—अहो = आश्चर्य है कि-मोक्खसाहणहेउस्स = मोक्ष प्राप्तिके निमित्तभूत साहूदेहस्स = साधुशरीरके धारणा = निर्वाह-स्थितिमात्र के लिए साहूण = मुनियोंको जिणेहि—तीर्थङ्कर भगवानने असावज्जा = निर्दोष वित्ती = भिक्षावृत्ति- (आचार)देसिया = बताई है ॥९२॥

टीका—अहो = आश्चर्ये मोक्षसाधनहेतोः = अपवर्गसिद्धनिमित्तभूतस्य साधुशरीरस्य धारणाय = स्थितिमात्रार्थ साधुभ्यः = मुनीनुद्दिश्य जिनैः = तीर्थङ्करैः, असावद्या = दोषरहिता वृत्तिः = भिक्षालक्षणा देशिता = उपदिष्टा ॥९२॥

मूलम्—णमुक्कारेण^२ पारित्ता^३ करित्ता^४ जिणसंथवं^५ ।

सज्झायं पट्टवित्ताणं^६ वीसमेज्ज^७ खणं^८ मुणी^९ ॥९३॥

छाया—नमस्कारेण पारयित्वा, कृत्वा जिनसंस्तवम् ।

स्वाध्यायं पठित्वा विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ॥९३॥

सान्त्वयार्थ — कायोत्सर्ग में पूर्वोक्त प्रकार से चिन्तन करने के बाद मुणी = साधु नमुक्कारेण = नमस्कार मन्त्रसे पारित्ता = कायोत्सर्गको पार-समाप्त करके जिणसंथवं

और कायोत्सर्गमें स्थित होकर ऐसा (अगली गाथामें कहे जानेवाला विचार करे ॥९३॥

उसी विचार को कहते हैं—‘अहो’ इत्यादि ।

अहो ! यह शरीर मोक्षकी सिद्धिका कारण है अतः इसकी स्थितिके लिए तीर्थङ्कर भगवानने साधुओंको निर्दोष भिक्षा लेनेका उपदेश दिया है ॥९३॥

कहेला अतिचारोने। पडेला अने साधुण कहेला अतिथ रोनी पाछण आलोचना न करवाभा आवी डोय तो अतिचारोनु पुन प्रतिकपणु करवुं लेणये, अने कायोत्सर्गमा स्थित थणने अवेण (आगली गाथामा कहेवाभा आवनारो) विचार करे (९१)

अे विचार हुवे डडे छे-अहो० इत्यादि

अडे। आ शरीर मेद्वरी सिद्धिनु डगण छे, अडेले अनी स्थितिने माटे तीर्थङ्कर भगवाने साधुओने निर्दोष भिक्षा लेवाने २ उपदेश आये छे (९२)

लोगस्य उज्जोयगरे” इत्यादि संपूर्ण जिणसंथव-(जिन भगवान् की स्तुती) करित्ता = करके तथा सज्जायं = सज्जाय-कमसे कम मूलशास्त्रकी पांच गाथाओंका स्वाध्याय पढ-विता = पढकर खणं = क्षणभर जितने में दूसरे मुनिराज भी शामिल हो जाते हैं’ इस अभिप्राय से कुछ देर वीसमेज्ज = विश्राम करे ॥९३॥

टीका—‘णमुक्कारेण’ इत्यादि । मुनिः स्वयतः नमस्कारेण = ‘णमो अरिहंताणं’ इत्युच्चारणलक्षणेन कायोत्सर्गमिति शेषः, पारयित्वा = समाप्य जिनसस्तवं “लोगस्य उज्जोयगरे” इत्यादिलक्षणं सम्पूर्णं कृत्वा = विधाय स्वाध्यायं = धम्मो मंगलमुक्किट्ठं०” इत्यादिगाथापञ्चकादन्यूनं मूलशास्त्रं पठित्वा क्षणं = क्षणमात्रं ‘मण्डलेऽन्यमुनयोऽपि समागत्य संमिलिता भवन्तु’ इत्याशयेन विश्राम्येत् विश्रान्तिं कुर्यात् ॥९३॥

मूलम्—वीसमंतो इमं चित्ते हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।

जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहु हुज्जा तारिओ ॥९४॥

विश्राम्यन् मुनिः किं कुर्यात् ? इत्याह—

छाया—विश्राम्यन् (मुनिः) इदं चिन्तयेत् हितमर्थं लाभार्थिकः ।

यदि मम अनुग्रहं कुर्यात् साधुर्भवामि तारितः ॥९४॥

विश्राम के समय मुनि क्या करे सो बताते हैं—

सान्वयार्थः—वीसमंतो = विश्राम करता हुआ लाभमट्ठिओ = कर्मनिर्जराका अभिलाषी साधु इमं = इस इसी गाथा के उत्तरार्द्धमें कहे जानेवाले-प्रकार हियं = मोक्षप्राप्ति रूप हितके करनेवाले अट्ठं = भावी प्रयोजनको चित्ते = चिन्तन करे, जैसे जइ = यदि-अगर साहु = कोई भी मुनिगज मे = मेरे ऊपर अणुग्गहं कुज्जा = अनुग्रह करें अर्थात् मेरे भागके आहारमें से कुछ आहार ले ले तो मैं तारिओ हुज्जा = इस संसार समुद्रको तैर जाऊं पार कर जाऊ ॥९४॥

‘णमुक्कारेण’ इत्यादि । मुनि ‘णमो अरिहंताणं’ पदका उच्चारण करके कायोत्सर्ग को समाप्त करे । फिर ‘लोगस्य उज्जोयगरे’ इत्यादि जिन सस्तव पूर्ण करके ‘धम्मो मंगलमुक्किट्ठं’ इत्यादि कमसे कम पांच गाथाओंकी मूलशास्त्रकी सज्जाय बरके थोड़ी देर विश्राम करे कि जिससे अन्य मुनि भी आकर शामिल हो जावे ॥९३॥

विश्राम करता हुआ मुनि क्या करे सो कहते हैं—‘वीसमंतो’ इत्यादि ।

णमुक्कारेण इत्यादि. मुनि णमो अरिहंताण पढनु उच्चारण करीने कायोत्सर्गने समाप्त करे, पछी लोगस्य उज्जोयगरे इत्यादि जिन सस्तव पूर्ण करीने धम्मो मंगलमुक्किट्ठं इत्यादि, ओछाभा ओछो पाच गाथाओंनी मूलशास्त्रनी सज्जाय करे थोडीवार विश्राम करे जेथी अन्य मुनि पणु आवीने शामिल थई जय (८३)

विश्राम करतां मुनि शुं करे ते कडे छे—वीसमंतो० इत्यादि.

टीका विश्राम्यन् = विश्रान्नि कुर्वाणो लाभार्थिकः = कर्मनिर्जगामिलापी इदं
गाथोत्तरार्द्धे वक्ष्यमाणं हितं = मुक्त्यवाप्तिरूपम् अर्थ = भाविप्रयोजनं चिन्तयेत् = विचार
येत् यदि कोऽपि साधु = मुनिः मम = मदुपरि अनुग्रहं = मया मदर्थं व्रोपनीतस्यान्नादेर्ग्र-
हणलक्षणं कुर्यात् तर्हि अहं तारितः = दुस्तरभवसागरतः समुत्तारितो भवामीत्यर्थः ॥९४॥

एवं चिन्तय स पूर्व स्वभागमन्नादिकं ग्राहयितुं सर्वेषु मुनिषु रत्नाधिकं प्रार्थ-
येत् । यदि गृह्णीयात्तर्हि सम्यक् , नाङ्गीकुर्याच्चेदेवं निवेदयेत्-“आर्यपादाः ! कम्मैचि-
न्मुनये भवद्भिः स्वयमेव वितोर्यता”-मिति । अथ रत्नाधिको यथेच्छं दद्यात् । यदि चाऽ-
दत्त्वा रत्नाधिकः ‘त्वमेव यथेच्छं प्रयच्छे’-ति ब्रूयात् तदा तेन शिष्येण किं कर्तव्यम् ?
इत्याह-‘साहवो’ इत्यादि ।

मूलम्—साहवो तो चियत्तेणं, निमन्तिज्ज जहक्कमं ।

जह तत्थ केह् इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥९५॥

छाया—साधुन् ततः चियत्तेणं, निमन्त्रयेद् यथाक्रमम् ।

यदि तत्र केऽपि इच्छेयुः, तैः सार्द्धं भुञ्जीत ॥९५॥

पूर्वाक्त प्रकार से चिन्तन करके अपने हिस्से का अन्न आदिको लेनेके लिये सब
मुनियों में से रत्नाधिक-दीक्षा में बड़े-मुनिसे पहले प्रार्थना करे, यदि वे लें तो अच्छा

कर्मोंकी निर्जरा का अभिलाषी साधु विश्राम करते समय इस मुक्ति रूप हितके करनेवाले
अर्थका चिन्तन करे—यदि कोई मुनिराज मुझ पर अनुग्रह करके मेरे भागके अन्न आदिको ग्रहण
करें तो मैं इस दुस्तर भवसागरसे तिर जाऊँ ॥९४॥

ऐसा विचार करके प्रथम सब मुनियोंमें जो रत्नाधिक (दीक्षाम बड़े) हो उनसे अपना
भाग ग्रहण करनेकी प्रार्थना करे । यदि ग्रहण करे तो अच्छा ही है । न ग्रहण करे तो ऐसा
निवेदन करे—‘हे भदन्त ! आप हा किसी मुनिक। यह आहार वितोर्ण कौजिए’ फिर रत्नाधिक
इच्छानुसार देदेवे । यदि वे न देकर यह आज्ञा देव कि—‘तुम्हा इच्छानुसार देदो’ तो शिष्यको
क्या करना चाहिए ? सो बताते है—‘साहवो’ इत्यादि ।

कर्मोनी निर्जरानो अभिलाषी साधु विश्राम करती रहने अ वा मुक्तिरूप हितना
करवावाणा अर्थानु चिन्तन करे-जे केई मुनिराज भाग पर अनुग्रह करीने भाग भागना
अन्न आदिने ग्रहण करे तो हुआ दुस्तर भवसागरसे तिर जाऊँ (९४)

ऐसे विचार करीने पड़ेला अधा मुनियोभा जे रत्नाधिक (दीक्षाम बड़ा) होय तेमने
चोतानो भाग ग्रहण करवानी प्रार्थना करे जे ते ग्रहण करे तो साइ, न ग्रहण करे तो
ऐसे निवेदन करे—‘हे भदन्त ! आप जे केई मुनि आहार वहेथी आपो’ पछी रत्ना-
धिक इच्छानुसार आपे जे न न आपा ऐनी आज्ञा करे जे ‘तमे इच्छानुसार आपी हो’
तो शिष्ये शुं क्यु लेथिअे ? ते बतावे छे—साहवो० इत्यादि

ही है, अगर वे न लें तो उनसे कहे—‘हे भगवान् ! आपही अपने हाथ से किसी दूसरे सन्त को दीजिये’ । ऐसा कहने पर यदि वे अपने हाथ से किसी को दे तो ठीक ही है, यदि खुद न देकर उसीसे कह दें कि ‘तुमही तुम्हारी इच्छा के अनुसार जो लेवे उसको दे दो’ तब उसे क्या करना चाहिये, सो बताते हैं -

सान्वयार्थः—तो=इस प्रकार गुरु महाराजकी आज्ञा प्राप्त होने पर वह साधु साहवो=सब सन्तोंको चियत्तेणं=त्याग-बुद्धिसे अर्थात् उदार चित्तसे जहकर्म=रत्नाधिकके क्रमानुसार निमंतिज्ज=निमन्त्रण करे-आहार धामे, जइ=यदि-अगर तत्थ=उनमेसे केड=कोई साधु इच्छिज्जा=आहार लेना चाहे तो (उन्हें देकर) तेहि सद्धि तु=उनके साथ बैठकर भुंजए=खुद भी आहार करे ॥९५॥

टीका—तो=ततः गुरोरादेशाऽनन्तरम् असौ साधून चियत्तेणं = देशीयशब्दोऽ-यम्’ परमप्रीत्या उदारचेतसेत्यर्थः, यथाक्रमं=रत्नाधिक क्रममनुमृत्य निमन्त्रयेत् = स्वभा-गग्रहणाय प्रार्थयेत्-‘इदं गृहीत्वाऽनुगृह्यता’-मिति वदेदित्यर्थः । यदि तत्र = मुनीनां मध्ये केऽपि मुनय इच्छेयुः = ग्रहीतुमभिलषेयुस्तदा तेभ्योऽपि वितीर्य तैःसार्द्धं स्वयमपि भुञ्जीत = ‘चपड-चपडे’ ति शब्दमकुर्वन्नभ्यवहरेत् ॥९५॥

१ २ ३ ४ ५ १२ ७
मूलम्—अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एगओ ।

८ ९ ६ १० ११
आलोए भायणे साहू, जयं अपरिस्माडियं ॥९६॥

छाया—अथ कोऽपि न इच्छेत्, ततो भुञ्जीत एककः ।

आलोके भाजने साधुः, यतम् अपरिशातयन् ॥९६॥

सान्वयार्थः—अह=अथ-यदि कोइ=कोई न इच्छिज्जा = आहार लेना नहीं चाहे तो तओ = फिर साहू = वह साधु एगओ = अकेला-द्रव्यसे स्वयं एक ही, भावसे राग-द्वेष-संग-रहित आलोए = प्रकाशयुक्त-चौड़े मुंहवाले भायणे = पात्रमे जय = यतनापूर्वक अर्थात् मांडलेके दोपोंको टालकर अपरिसाडियं = सीध-कणका विन्दु-मात्र भी आहार नहीं गिराता हुआ भुंजिज्ज=आहार करे ॥९६॥

गुरुकी आज्ञा मिलनेके अनन्तर प्रसन्न चित्तसे उदारताके साथ दीक्षा में बड़े-छोटेके क्रमसे साधुओको अपना भाग ग्रहण करने की प्रार्थना करे, अर्थात् ‘यह आहार ग्रहण करने का अनुग्रह कीजिए’ ऐसा कहे । उन मुनियोमेसे कोई प्रहण करने की इच्छा करे तो उन्हें विवर्तण करके उनके साथ आप भी चपड-चपड शब्द न करता हुआ आहार करे ॥ ९५ ॥

गुरुनी आज्ञा मण्या पछी प्रसन्न चित्तथो उदात्तानी साथे दीक्षाना भोटानाना कुमे करीने साधुओने पोतानो भाग ग्रहण करवानी प्रार्थना करे अर्थात् ‘या आहार ग्रहण करवानी अनुग्रह करे।’ अथ कहे ओ मुनियोभाथी केष ग्रहण करवानी इच्छा करे तो तेमने वडेथी आपीने तेमनी साथे पोते पण यपड यपड अथाग्र कर्या विना आहार करे. (८५)

टीका—‘अह’ इत्यादि । यदि कोऽपि ग्रहीतुं नेच्छेत् तदनन्तरं साधु एककः = द्रव्येण स्वयमेव, भावेन रागद्वेषरहितः आलोके प्रकाशमाने भाजने मशकादिभुद्रजन्तवो यथा दृष्टिपथमागच्छेयुस्तदर्थमिति भावः । यतं=सयतनं मण्डलदोषभावानुसन्धानपूर्वकम् अपरिशातयन सिक्थादिकमविकिरन् भुञ्जीत ॥९६॥

२ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ११ १०
मूलम्—तित्तगं च कडुयं च कसायं. अंबिलं च महुरं लवणं वा ।

१२ १४ १३ १५ १६ १७ १
एय लद्धमन्नद्वपउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥९६॥

छाया—तित्तकं च कटुकं च कषायम्, अम्लं च मधुरं लवणं वा ।

एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं, मधु-घृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥९७॥

सान्वयार्थः—वह आहार यदि—तित्तगं=तीखा कडुयं=कडवा च=और कसायं=कषायला च=और अंबिलं—खट्टा च=और महुरं=मीठा वा=अथवा लवणं=लवणरसयुक्त, इत्यादि प्रकारका कैसा भी हो; किन्तु-अन्नद्वपउत्तं=साधुको न उद्देश करके गृहस्थने अपने लिये बनाये हुए, अथवा-स्वादमुखके सिवाय सिर्फ शरीर-निर्वाहके लिए विधान किये हुए और लद्धं=आगमोक्त विधिसे मिले हुए एयं=इस पूर्वोक्त प्रकारके तीखे आदि अगनादिको संजए=रागद्वेषरहित साधु महु-घयं व=मीठे घी शक्करकी तरह अर्थात् जिस प्रकार घी-शक्कर युक्त भोजनको रुचिपूर्वक भोगते हैं उसी प्रकार भुंजिज्ज=भोगवे ॥९७॥

टीका—‘तित्तग’ इत्यादि । सयतः तित्तकं, कटुकं, कषायम्, अम्लं, मधुरं, वा=अथवा लवणं = क्षारम्, तत्तद्रसयुक्तमित्यर्थः । एतत्सर्वमन्नादिकम् अन्यार्थप्रयुक्तं = गृह-

‘अह’ इत्यादि । यदि कोई भी मुनि आहार ग्रहण करने की इच्छा प्रकाशित न करें अर्थात् न ले तो अकेला-रागद्वेषरहित वह साधु ऐसे पात्र में भोजन करे जिसमें प्रकाश पड़ रहा हो । प्रकाश-युक्त पात्रमें अहार करने का विधान इसलिए किया है कि मच्छर आदि सूक्ष्म जन्तु दीख सके । मण्डल दोषोका विचार करता हुआ सीध-मात्र भी अन्नादि न बिखेरता हुआ आहार करे ॥ ९६ ॥

‘तित्तग’ इत्यादि । तीखे, कडुवे, कसायके, खट्टे मीठे अथवा क्षाररसवाले पदार्थ जो गृहस्थने अपने लिए बनाये हे अर्थात् साधुके लिए न बनाये हो, अथवा स्वाद-मुखके सिवाय

अहं ० इत्यादि ने कोई पक्ष मुनि आहार ग्रहण करवानी इच्छा प्रकाशित न करे अर्थात् न ले तो अकेला-रागद्वेषरहित तो अथवा पात्रमा भोजन करे के नेमां प्रकाश पडती होय प्रकाशयुक्त पात्रमा आहार करवानु विधान अटला माटे कथुं छे के मच्छर आदि सूक्ष्म जंतु देणी शक्य मंडल दोषोको विचार करतां अक कथु नेटुं पक्ष अन्न न वेगवा देतां आहार करे. (९६)

तित्तगं इत्यादि तीखा, कडवा, कसायला, खाटा, मीठा, अथवा क्षाररसवाला पदार्थ

स्यैः स्निमित्तं सम्पादितं न तु साध्वर्थं शुद्धमित्यर्थः, यद्वा अन्यार्थं = स्वादसुखाद
न्यस्यै प्रयोजनाय शरीरमात्रनिर्वाहार्थमिति यावत्, प्रयुक्तम् = आगमेन विहितं लब्धं =
प्राप्तं सत् मधु = शर्करादिमधुरद्रव्यं घृतं = प्रतीतं तद्वत्, यथा मधुघृतभोजने प्रवृत्तिर्जा-
यते तथाऽन्यान्यपि तिक्तकादीनि तत्तुल्यभावेन भुञ्जीत । उक्तञ्च सङ्ग्रहगाथयोः—

“ वल्लचणगाइउसियं, अन्नं तह तक्कमीसियं जाण ।
घयपूराइमणुन्नं, सम्मं उभयंपि भुंजई समणो ॥१॥
उण्हं अन्नमणुण्हं, उण्हाऽणुण्हं करंक्-दहिमाई ।
संजमजत्तनिमित्तं, समभावं भुंजई समणो ॥२॥” इति ।

इति गाथार्थः ॥९७॥

छाया—“वल्लचणकादि उपितं (पर्युषितं), अन्नं तथा तक्रमिश्रितं जानीहि ।
घृतपूरादि मनोज्ञं, सम्यक् उभयमपि भुङ्क्ते श्रमणः ॥१॥
उष्णमन्नमनुष्णम्, उष्णानुष्णं करम्बदध्यादि ।
संयमयात्रानिमित्तं समभावं भुङ्क्ते श्रमणः ॥२॥

‘सीयं पिडं पुराणकुम्मास’ इत्याद्युत्तराध्ययनसूत्रे । आचाराङ्गसूत्रेऽप्ययमर्थोऽ-
भिहितः । ‘अरसाहारे रिसाहारे अताहारे पंताहारे लूहाहारे’ इत्यौपपातिकसूत्रेऽभय-
देवस्वरिणैवं व्याख्यातम्—‘अताहारे’ त्ति अन्ते भवमन्त्यं जघन्यधान्यं वल्लादि । ‘पंताहारे
त्ति प्रकपेणाऽन्त्य वल्लाद्येव भुक्तावशेष पर्युषितं वा’ इत्यादि । ज्ञातासूत्रेऽप्येवमेव व्या-
ख्यातम् ॥

अन्य प्रयोजनके लिए अर्थात् शरीरके निर्वाह के लिए यदिआगमानुसार विधिसे प्राप्त हुए हो तो
उन्हे ऐसे भोगे जैसे घी-गकरका आहार किया जाता है । तात्पर्य यह है कि—साधुको निरवद्य
अन्त-प्रान्त आदि जैसा आहार मिले उम सबको समभावम भागना चाहिए । जैसे सग्रह गाथा-
ओमें कहा है—‘एक तरफ छालमें चूरी हुई बाल चने आदिको ठड रोटी और एक तरफ

जे गृहस्थे पोताने माटे जे व्या डोय अर्थात् साधुने माटे न जनाव्या डोय अथवा स्वाद-
सुभं सिवाय अन्य प्रयो नने माटे अर्थात् शरीरना निर्वाहने माटे जे आगमानुसार
विधिथी प्राप्त थाया डोय ते तेमने जेवी रीते लोगवे के जेम घी-साकरने आडार करवाभा
आवतो डोय. तात्पर्य जे छे के साधुने निरवद्य अत-प्रात आदि जेवो आडार भणे जे
जधाने समभावथी लोगवो जेछिजे सग्रह गाथाभा ह्ये छे के—

‘जेक तरङ् छाशभा ली जवेली पाव जणु आदिनी ठडी रोटीली अने जेक तरङ्
मनोज्ञ घेवर आदि डोय, जे जेठने जे समभावे लोगवे छे ते श्रमणु कडेवाय छे (१)
गरम या ठडु अन्नादिक अने जे जे प्रकारे गरम या ठडो हलीने करंजे छत्यादिने जे
संयमयात्राना निर्वाहने माटे समभावे लोगवे छे ते श्रमणु कडेवाय छे” (२) छति (८७)

१ ० ३ २ ५ ६ ७
मूलम्-अरसं विरसं वापि, सूइयं वा असूइयं ।

८ ९ ११ १२ १० १३
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथु-कुम्मास-भोयणं ॥९८॥

१४ २० १७ १८ १९ १५
उप्पणं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुयं ।

१६ २१ २३ २२
मुहालद्धं मुहाजीवी भुंजिज्जा दोसवज्जियं ॥९९॥

छाया—अरसं विरसं वाऽपि, सूचितं वा असूचितम् ।

आर्द्रं वा यदि वा शुष्कं, मंथु-कुल्माष-भोजनम् ॥९८॥

उत्पन्नं नातिहीलयेत्, अल्पं वा बहु प्रासुकम् ।

मुहालब्धं मुहाजीवी' भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥९९॥

सान्वयार्थः—अरसं=नमक आदि रसरहित वापि=तथा विरसं=अधिक दिनोंकी वनी हुई विरस-वापी सूखी रोटी आदि या पुराने चाँवल आदिका भोजन सूइयं=हींग आदिका वघार (छोंक) दिया हुआ वा=अथवा असूइयं=नहीं वघार दिया हुआ शाक उल्लं=गीला-करंवा, राइता आदि वा=तथा सुक्कं=सूखा-भुने हुए चने भूंगडे-आदि जइवा अथवा मंथुकुम्मासभोयणं=वेरके चूरेका भोजन या कुलथीका भोजन अथवा उइदका वाकुला (यह पूर्वोक्त सब प्रकारका अन्ननादि) उप्पणं=जो गोचरी के समय शास्त्रमर्यादा से मिल गया वह अप्पं=थोडा हो वा=या बहु=बहुत हो उसकी नाइहीलिज्जा=अवहेलना न करे, किन्तु फासुयं=प्रासुक-अचित्त और मुहालद्धं=निष्काम-विना किसी प्रत्युपकारके प्राप्त हुए उस अन्ननादिको मुहाजीवी=निष्काम-सिर्फ संयम यात्राका निर्वाह से जीनेवाला अर्थात् निरपेक्ष भिक्षा लेनेवाला साधु दोसवज्जियं = भोजनके सयोजनादि दोषोंका टाल कर भुंजिज्जा = भोगवे ॥९८॥९९॥

टीका-‘अरसं’ इत्यादि, ‘उप्पणं’ इत्यादि च । अरसं = लवणादिरसरहितम् अप्राप्तारसं बालचणकादिनिष्पादितं वा, अपिवा विरसं चिरकालनिष्पादितत्वेन विगतारसं पूरणौदनदिकं वा, सूचितं = हिङ्गवादिसंस्कृतं वा = अथवा असूचितं = तद्वर्जितम्

मनोज घेवर आदि हो, उन दोनोंको समभावसे भोगता है वह श्रमण कहलाता है ॥१॥ गर्म या ठंडा अन्नादिक और उमी प्रकारका-गर्म या ठंडा दही करंवाआदिको जो समययात्राका निर्वाहके लिए ममभव से भोगता है । वह श्रमण कहलाता है ॥२॥” इति ॥९७॥

‘अरस’ इत्यादि, ‘उप्पणं’ इत्यादि च । नमकरहित तथा बाल चणक आदि अरस या बहुत पुराना ओदन आदि विरस, हींग आदि द्वारा छोका हुआ, गीला-करंवा आदि, सूखे भुने हुए चने आदि, वेरका चूर्ण आदि, अथवा कुलथी या उइदके वाकुलाका भोजन । ये सब

अरसं इत्यादि, तथा उप्पणं० इत्यादि भीहाथी रहित तथा बाल-चणु आदि अरस या बहुत भूने ओदन-आदि विरस हींग आदिको वघारेलु या न वघारेलु, लीला करंवा आदि, सूखा-भूनेला चणु आदि, ओरनुं चूर्ण आदि अथवा कण्ठी या अउदना पाठानु

अर्द्र = करम्भादिकं शुष्क = भर्जितचणकादिकम् । मन्थुकुल्मापभोजनं = मन्थुश्च कुल्माप-
श्चाऽनयोः समाहारे मन्थुकुल्मापं तद्, भुज्यते यत्तद्भोजनं, मन्थुकुल्मापं च तद्भो-
जनं चेति विग्रहः, तत्र मन्थुः = वदरचूर्णादिकम्, कुल्मापः = कुलत्थः, यद्वा अर्द्धस्वि-
न्नमापः 'उडदवाकुला' इति भाषा प्रसिद्धः । एतत् पूर्वोक्तं सर्वम् उत्पन्नं = शास्त्रमर्याद-
योपलब्धं, प्रासुकं = निर्जीवं, मुधालब्धं = मन्त्रतन्त्रादिप्रकारमन्तरेण प्राप्तं, तद् यदि
अल्पं = स्वल्पं सरसमन्नादिकं, वा = अथवा बहु प्रचुरम् अरसमशनादिकम् उपलक्ष्येति
शेषः, नातिहीलयेत् = न निन्देत् । अल्पीयसि सरसवस्तुनि लब्धे-“कथमेतावतैवोदरपूर्ति-
र्भवेत्” इति, एवमसारवस्तुनि प्रचुरतरे लब्धे सति “किमनेन प्रचुरतरेणापि निष्प्रयोज-
नेन” -त्येवंरूपां निन्दां न कुर्यादिति हृदयम् । किन्तु मुधाजीवी = मुधा-व्यर्थं निष्प्रयो-
जनं शरीरेन्द्रियपुष्टिप्रयोजनविकलं जीवितुं शीलमस्येति सः, सयमयात्रानिर्वाहार्थमेव
भिक्षाग्रहणशील इति भावः । यद्वा मुधाजीवी = निर्दोषभिक्षाजीवी-जात्याद्यनाविष्करण-
पूर्वकभिक्षाग्राहक इत्यर्थः, दोषवर्जित = संयोजनादिमण्डलदोषा यथा न भवेयुस्तथा
भुञ्जीत । 'उत्पन्नं' इत्यनेन शास्त्रमर्यादयैव गीतार्थेनान्नादिकं ग्राह्यमिति सूचितम् ।
'फासुयं' अनेन सचित्तमचित्तं वेति परीक्ष्य ग्रहीतव्यमिति दर्शितम् । 'मुहालब्ध' इतिप-
देन दातुरूपकारं विधाय भिक्षाग्रहणे आधाकर्मादयो बहवो दोषाः समापतन्तीति तथा

यदि शास्त्रोक्त विधिसे प्राप्त हुण हो, प्रासुक हों, मंत्र-तत्र आदिका प्रयोग क्रिया विना मिले हों,
थोड़े हो या बहुत हो अर्थात् सरस अन्नादि थोड़ा हो और नीरस आहार बहुत हो तो मुधा-
जीवी अर्थात् सयमत्राके निर्वाहके लिए जीवन धारण करनेवाला, अथवा निर्दोष अर्थात् जाति
आदिको न प्रगट करके भिक्षा लेनेवाला साधु उस आहारकी अवहेलना न करे । तात्पर्य यह है
कि-सरस आहार कम मिले तो ऐसा न कहे कि-‘इतने थोड़े आहारसे उदरपूर्ति कैसे होगी ?
नीरस आहार अधिक मिले तो ऐसा न कहे कि-‘इस बहुतेरे व्यर्थ आहारसे क्या लाभ ?’ इस
प्रकार आहारकी निन्दा न करे, किन्तु आहारके संयोजना आदि मण्डल दोषो को टाल कर भोगे ।

लोभन, ये सर्व जे शास्त्रोक्त विधिथी प्राप्त तथा डोय, प्रासुक डोय, मंत्र-तत्र आदिने
प्रयोग कर्था विना भण्यो डोय, थोडा डोय या वधारे डोय, अर्थात् अरस अन्नादि थोडुं
डोय अने नीरस आहार वधारे डोय, तो मुधाजीवी-अर्थात् संयमयात्राना निर्वाहने भाटे
जीवन धारण करनेवाले अथवा निर्दोष अर्थात् जाति आदिने प्रगट कर्था विना भिक्षा लेनेवाले साधु
ये आहारनी अवहेलना करे नहि, तात्पर्य ये छे के-सरस आहार ओछो भणे तो येम
न कहे के 'आटला थोडा आहारथी उदरपूर्ति केवी रीते थसे-?' नीरस आहार वधारे भणे
तो येम न कहे के 'आ धणु गरा व्यर्थ आहारथी शे लाभ ?' ये प्रमाणे आहारनी
निन्दा न करे, परन्तु आहारना संयोजना आदि मण्डल दोषोने टालीने भोगवे

उत्पन्नं शब्दथी येम सूचित करवाभा आण्यु छे के गीतार्थं साधुये शास्त्रनी मर्या-
दा अनुसार जे आहार ग्रहण करवे जेभ्ये. फासुयं शब्दथी सचित्त अचित्तनी परीक्षा

नोपादेयमिति प्रकटितम् । 'दोषवज्जियं' इतिपदेन निर्दोषभिक्षाप्राप्तावपि मण्डलदोषवत्त्वेन सदोषत्वं दुर्निवारमिति मण्डलदोपरहितं भोक्तव्यमिति प्रादुष्कृतम् ॥९८॥९९॥

मूलम्—^२दुल्लहाओ ^१मुहादाई, ^३मुहाजीवी ^४वि ^५दुल्लहा ।

^६मुहादाई ^७मुहाजीवी, ^८दोवि ^९गच्छंति ^{१०}सुगगइं ॥१००॥

॥ तिबेमि ॥

छाया—^६दुर्लभा ^७मुधादातारः, ^८मुधाजीविनोऽपि ^९दुर्लभाः ।

^६मुधादातारः ^७मुधाजीविनः, ^८द्वावपि ^९गच्छतः ^{१०}सुगतिम् ॥१००॥

इति ब्रवीमि ॥

सान्त्वयार्थः—मुहादाई = निष्काम-प्रत्युपकारी आशा न रखकर-देनेवाले दुल्लहाओ=दुर्लभ है और मुहाजीवीवि=निष्काम-दाताके कार्यकी अपेक्षा न रखकर-निरपेक्ष-लेनेवाले भी दुल्लहा=दुर्लभ हैं. क्योंकि मुहादाई=निष्काम देनेवाले और मुहाजीवी=निष्काम निरपेक्ष लेनेवाले दोवि=ये पूर्वोक्त दोनों ही सुगगइं=मोक्षगतिको गच्छति=प्राप्त होते हैं । श्री सुधर्मास्वामी जम्बूरवासीसे कहते हैं कि हे जम्बू ! ति = भगवान् श्रीमहावीर स्वामीने जैसा फरमाया है वैसा ही तुझे वेमि = मैं कहता हूं ॥१००॥

॥इति श्रीदशवैकालिक सूत्रके पांचवे अध्ययनके पहले उद्देश्यका सान्त्वयार्थ संपूर्ण ॥

टीका — 'दुल्लहाओ' इत्यादि । मुधादातारः = प्रत्युपकारानभिलाषिणो दायकाः दुर्लभाः = दुष्प्रापास्तादृशानां विरलत्वात्, मुधाजीवीनोऽपि = दातृकार्यानपेक्ष-

'उप्पन्नं' पदसे यह सूचित किया है कि गीतार्थ साधुको शास्त्रकी मर्यादा के अनुसार ही आहार ग्रहण करना चाहिए । 'फासुय' पदसे सचित्त अचित्तकी परीक्षा करके ग्रहण करना द्योतित किया है । 'मुहालद्व' पदसे यह दर्शाया है कि दाता का उपकार क.के भिक्षा ग्रहण करने से आधाकर्म आदि बहुत से दोष आते हैं, अतः ऐसी भिक्षा नहीं लेनी चाहिए । 'दोषवज्जियं' पदसे यह प्रगट किया है कि निर्दोष भिक्षा उपलब्ध हो जाने पर भी मण्डल दोष लगनेसे वह भिक्षा अवश्य दूषित हो जाती है, इसलिए उनका परिहार करके ही आहार करना चाहिए ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

'दुल्लहाओ' इत्यादि । प्रत्युपकार (बदला) की आशा न रखनेवाले दाता दुर्लभ है, और दाताका कार्य न करके भिक्षा ग्रहण करनेवाले साधु भी विरले होते हैं । प्रत्युपकारकी चाह

करीने अडुणु करवानु कडेवाभा आण्यु छे मुहालद्वं शब्दथी अम दर्शावनामा आण्यु छे के दातानो उपकार करीने भिक्षा अडुणु करवाथी आधाकर्म आदि प्रणु दोषो लागे छे, तेथी अेपी भिक्षा न लेवी लेधअे दोषवज्जिय शब्दथी अेम ज्ञानावनामा आण्यु छे के निर्दोष भिक्षा उपलब्ध यतां पणु मंडल दोष लागवाथी अे भिक्षा अवश्य दूषित थध जय छे तेथी अेने परिहार करीने न आहार करवो लेधअे (९८-९९)

दुल्लहाओ इत्यादि निष्काम-प्रत्युपकार (बदला) नी आशा न रखनेवाले दाता दुर्लभ छे अने निष्काम-दातानुं कार्य कर्या विना भिक्षा अडुणु करनार-साधु पणु विरल न होय

निरपेक्षभिक्षाग्राहिणोऽपि दुर्लभाः, मुधादातारः मुधाजीविनश्च द्वावपि = दाता भिक्षुश्च उभावप्युक्तविधौ मुगति = सिद्धगतिं गच्छतः = प्राप्नुतः । 'मुधादातारः' मुधाजीविनः' इत्यत्र बहुवचन व्यक्तिविवक्षया । 'द्वावपि' इत्यत्र द्विवचनं तु मुधादातृत्व-मुधाजीवित्वोभयधर्मगतद्वित्वसंख्याविवक्षयेति बोध्यम् ॥ इति ब्रवीमीति प्राग्वत् ॥ १०० ॥

। इति श्री-दशवैकालिकसूत्रस्याऽऽचारमणिमञ्जपाख्यायां व्याख्यायां पञ्चमाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ ५-१ ।

न रखनेवाले दाता और क्रियाका कार्य विना किये भिक्षा ग्रहण करनेवाला आत्मार्थी साधु, इन दोनोको मोक्षगतिकी प्राप्ति होता है ।

श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसं कहते हैं—हे जम्बू ! चरम जिनेश्वर भगवान् महावीर स्वामीने जैसा उपदेश दिया है वैसा मैंने कहा है ॥ १०० ॥

इति दशवैकालिक सूत्रके पाँचवे अध्ययनके पहल

उद्देशका हिन्दी-भाषानुवाद समाप्त ॥ ५-१ ॥

छे. प्रत्युपकारनी छिंठा न राखना. दाता अने कोछनु कर्य कर्या विना भिक्षा ग्रहणु करना आत्मार्थी साधु, अ जेउने भेक्ष गतिनी प्राप्ति थाय छे

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीने कहे छे उ-हे जम्बू ! चरम जिनेश्वर भगवान् महावीर स्वामीने जैसा उपदेश आप्णो छे तेवो ज मे कथा छे (१००)

इति दशवैकालिकसूत्रना पाचमां अध्ययनते पहेला उद्देशाने

गुण-तीलापानुवाद समाप्त (५ १)

॥ अथ पञ्चमाध्ययनस्य द्वितीय उद्देशः ॥

प्रथमोद्देशकथितपिण्डैषणाया अवशिष्टविधिमाह—‘पडिग्गहं’ इत्यादि ।

मूलम्—पडिग्गहं^१ संलिहित्ताणं^३, लेवमायाइ^२ संजए^४ ।

दुगंधं^५ वा, सुगंधं^६ वा सव्वं^७ भुंजे^८ न छड्डुए^९ ॥ १ ॥

छाया—प्रतिग्रहं सलिह्य, लेपमर्यादया सयत ।

दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा, सर्वं भुञ्जीत न मुञ्चेत् ॥ १ ॥

सान्त्वयार्थः—पडिग्गहं = पात्रेको लेवमायाए = लेपकी मर्यादासे अर्थात् जब तक छांछ आदिका लेप लगा रहे तब तक संलिहित्ताणं = अगुलीसे पौछकर संजए = साधु दुगंधं वा = अनिष्ट गन्धवाला हो चाहे सुगंधं वा = सुरभिगन्धवाला पदार्थ हो उस सव्वं = सबको भुंजे = भोगवे; किन्तु न छड्डुए = कुछभी न छोड़े जूठन न डाले ॥१॥

टीका—प्रतिग्रहं = पात्र लेपमर्यादा = लेपं मर्यादीकृत्य यथा लेपसम्बन्धः पात्रे नावतिष्ठेत तथा संलिह्य पात्रस्थं तक्रादिलेपमङ्गुल्यादिना नश्शेषं प्रोञ्छ्य संयतः = मुनिः दुर्गन्धम् = अनिष्टगन्धयुक्त-पुरातनगोधूमवर्जरिकावल्लचणकादिनिष्पादितं शीतमुष्ण वाऽ-न्नम्, अम्लतक्रपाचितवल्लचणकचूर्णनिष्पादितं शीतमुष्णं वा शाकविशेषदिकं, पर्युषितत-क्रादिरूपं पानं च, तेषाममनोज्ञगन्धवत्त्वादिति भावः । सुगन्धं । सुरभिगन्धयुक्तं वाः ।

। पांचवाँ अध्ययनका दूसरा उद्देश ।

प्रथम उद्देशमें कही हुई विधिके अतिरिक्त-अवशिष्ट पिण्डैषणाकी विधि इस दूसरे उद्देशमें कहते हैं—‘पडिग्गहं’ इत्यादि ।

आहार करनेके पात्रमें जो लेप लगा रह जाय उसे अंगुली आदि द्वारा पौछकर मुनि अमनोज्ञ गन्ध या मनोज्ञ गन्धवाले समस्त अन्न पानको भोगे, उसे छोड़े नहीं अर्थात् सीथ मात्र भी जूठा न डाले । पुराने गेहूँ, वाजरे, बाल, चने आदिकी बनी हुई ठंडी या गर्म रोटी आदि अन्न, खट्टी छाछकी बना ठंडी या गर्म कढ़ी आदि शाक, पर्युषित (वासी) खट्टी छाछ आदि पान, ये अमनोज्ञ गन्धवाले होते हैं । और घेवर पायस आदि, पल्लची लवंग केसर आदिके मिश्रित

अध्ययन पांचम - उद्देश भीजे.

प्रथम उद्देशमा छोडेली विधि उपरात अवशिष्ट पिण्डैषणाकी विधि आ भीजे उद्देशमा छोडे छे—पडिग्गहं इत्यादि

आहार करवामा पात्रमा जे लेप लागेलो सही जय, तेने आगणी आदि वडे लूखीने मुनि अमनोज्ञ गंध या मनोज्ञ गंधवाणा भधा अन्न पानने लागवे, तेने छोडे नहि, अर्थात् जरा पणु भाडी न राखे जूना घड, भाजरी, बाल, यखु आदिनी बनावेली ठंडी या गर्म रोटी आदि अन्न, भाटी छाशनी भनेली ठंडी या गर्म कढ़ी आदि शाक, पर्युषित भाटी छाश आदि पान, जे भधा अमनोज्ञगंधवाणा होय छे अने घेवर, पायस

घृतपूरापायसादि तस्यैलालवङ्गकेसरकपूरादिमनोज्ञगन्धवत्त्वादिति भावः । सर्वं = मनोज्ञा मनोज्ञरूपं सकलं भुञ्जीत = न तु मुञ्चेत्-परित्यजेत् नावशेषयेदिति भावः ॥१॥

१ २ ५ ४ ३
मूलम्-सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो य गोयरे ।

६ ७ ८ ९ १० ११
अयावयद्वा भुञ्चाणं जइ तेणं न संथरे ॥ २ ॥

१२ १३ १४ २० २१
तओ कारणमुप्पण्ण, भत्तपाणं गवेसए ।

१५ १५ १६ १७ १८
विहिणा पुव्वउत्तेण इमेणं उत्तरेण य ॥ ३ ॥

छाया—शय्यायां नैषेधिक्या, समापन्नश्च गोचरे ।

अयावदर्थं भुक्त्वा, यदि तेन न संस्तरेत् ॥ २ ॥

ततः कारणे उत्पन्ने, भक्तपानं गवेपयेत् ।

विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन उत्तरेण च ॥ ३ ॥

सान्त्वयार्थः—सेज्जा = वसति उपाश्रय में नीसीहियाए = आहार करनेके स्थान पर य = अथवा गोयरे = भिक्षाचरीमें समावन्नो = प्राप्त हुआ मुनि अयावयद्वा = जरूरी से कम अर्थात् थोड़ा भुञ्चाण = खाकर खालेके पर जइ = यदि अगर तेणं = उस अश-नादिसे न संथरे = न संस्तरेत् अर्थात् समययात्राका निर्वाह के लिए पर्याप्त पूरा न हो तओ = तो कारणं = क्षुधा वेदनीय की शान्ति न होने रूप कारण के उत्पन्ने = उत्पन्न होने पर साधु पुव्वउत्तेण = पूर्वोक्त “संपत्ते भिक्खुकालम्मि” इत्यादिरूप विधी से य = तथा इमेणं = इस उत्तरेणं = आगे कहे जानेवाली “कालेण णिक्खमे भिक्खू” इत्यादि रूप विधिसे भत्तपाणं = आहार पानी गवेसए = गवेपे अर्थात् भिक्षा लेने के लिए जावे । २।३ टीका—‘सेज्जा’ इत्यादि, ‘तओ’ इत्यादि च । शय्यायां=वसती, नैषेधिक्यां= निषदनस्थाने स्वाध्यायभूमिकायामित्यर्थः, गोचरे=भिक्षाचर्यायां च=वा समापन्नः=सम्प्राप्तो मुनिः, उपलब्धमन्नादिकम् अयावदर्थम्-अपरिसमाप्तम् अल्पं=क्षुधोपशमनानर्हमि-

होनेसे मनोज्ञ गन्धवाले होते हैं, उन सबको समभावसे भोगवे ॥१॥

‘सेज्जा’ इत्यादि, ‘तओ’ इत्यादि । उपाश्रयमें बैठनेके स्थानमें अर्थात् स्वाध्याय भूमिमें तथा गोचरीमें गए हुए मुनिको अल्प, अर्थात् क्षुधाकी शान्ति न होसकने योग्य अन्न आदि मिला हो और उससे समययात्राका निर्वाह न होसके, अर्थात् लाया हुआ आहार पर्याप्त न हो तो

(इधपाठ) आदि, अेलथी लवी ग, केसर अ दिथी । मश्रित होयाथी मनोज्ञ ग धवाणा होय छे, अे अधाने समलावे लोगवे. (१)

सेज्जा० धत्यादि, तथा तओ० धत्यादि उपाश्रयमा भेसवाना स्थानमा अर्थात् स्वाध्यायभूमिमा तथा गोचरीमा गयेला मुनिने अल्प अर्थात् क्षुधानी शान्ति न थद्य शके अर्थात् लावेला आहार पूरतो न होय, तो अेषु कारण उत्पन्न थतां अर्थात् क्षुधावेदनीय शान्त

त्यर्थः संयमनिर्वाहार्थं यावताऽन्नादिकेन भाव्यं तावन्नेति यावत्, भुक्त्वा यदि तेन भोजनेन न संस्तरेत्=संयमयात्रां निर्वोद्धु न शक्नुयात् । २।

ततः=तदनन्तरं कारणे=प्रयोजने आर्पत्वात्सप्तम्यर्थे प्रथमा, उत्पन्ने सति=क्षुधावेदनोपशमनाभावे पूर्वोक्तेन=" सपत्ते भिक्खकालम्भि" इत्यादिरूपेण अनेन उत्तरेण=" कालेण णिक्खमे भिक्खू०" इत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणेन विधिना=प्रकारेण भक्तपान गवेषयेत् पुनर्मिक्षार्थं गच्छेदिति सूत्रार्थः । ३।

तमेव विधिमुपदर्शयन् कालयतनामाह—'कालेण' इत्यादि ।

मूलम्—कालेण^२ णिक्खमे^३ भिक्खू^१, कालेण^४ य पडिक्कमे^५ ।

अकालं^७ च^८ विवज्जित्ता^९, काले^{१०} कालं^{११} समाचरे^{१२} ॥ ४ ॥

छाया—कालेन निष्क्रामेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत् ।

अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥ ४ ॥

अब भिक्षा लेने की विधी बताते हैं—

सान्वयार्थः— भिक्खू=मुधाजीवी पुनि कालेण=गोचरीके समयसे—जिस देशमें जो समय भोजनका हो उस समयके होनेसे णिक्खमे=भिक्षाके लिये जावे, य=और कालेण=समयसे ही वापस आनेका उचित समय हो जानेसे पडिक्कमे=वापस लौट आवे, च=और अकालं=भिक्षाके अनुचित समयको विवज्जित्ता=छोडकर काले=उचित समयमें कालं=भिक्षादिक समाचरे=आचरे—गोचरीके लिए घूमे ॥ ४ ॥

टीका—भिक्षुः = मुधाजीवी पुनिः कालेन = भिक्षोचितसमयेन यस्मिन् देशे यो गृहस्थानां भोजनसमयः स एव भिक्षुणां भिक्षाकालस्तेनेत्यर्थः निष्क्रामेत् = निर्गच्छेत् ,

ऐसा कारण उत्पन्न होने पर, अर्थात् क्षुधावेदनीयके शान्त न होने पर "सपत्ते भिक्खकालम्भि" इत्यादि पूर्वोक्त विधिसे तथा "कालेण णिक्खमे भिक्खू" इस गाथासे प्रारम्भ करके आगे बर्ताई जानेवाली विधिसे भक्त-पानकी गवेषणा करे, अर्थात् भिक्षाके लिए फिर गमन करे ॥ २ ॥ ३ ॥ उसी विधिको दिखाते हुए कालकी यतना कहते हैं—'कालेण' इत्यादि ।

जिस देशमें गृहस्थोके भोजनका जो समय हो वही समय भिक्षुको भिक्षाके लिये जाना उचित है, अत एव भिक्षाके लिए उमी समय जाना चाहिए और गोचरीके लिए गए हुवे साधुको ऐसे

न यवाने वीधे संपत्त भिक्खकालम्भि इत्यादि पूर्वोक्त विधि, तथा कालेण णिक्खमे भिक्खू अे गाथायी प्रारम्भ करीने आगण अतावता आवनारी विधिती लक्षत पाननी गवेषणा करे अर्थात् भिक्षाने माटे करीयी गमन करे (२-३)

अे विधिने अतावता आणनी यतना अडे छे—कालेण० इत्यादि

अे देशमा गृहस्थाना ले जनने अे समय होय ते समय भिक्षाने माटे उचित छे. तेथी भिक्षाने माटे ते समये गवु अे अने गोचरीने माटे गवेषणा साधुअे अेवा

भिक्षायै इति शेषः; कालेनैव = प्रत्यागमनोचितसमयेनैव, यथा स्वाध्यायप्रतिबन्धो न भवेत् तथा भिक्षां गतस्य साधोः परावर्तनसमयो निर्दिष्टस्तेनैवेति भावः। (करणे सहार्थे वा तृतीया) । चकारोऽत्र 'एव'-कारार्थकः' प्रतिक्रामेत् = प्रत्यागच्छेत् । अकालं = भिक्षा-नुचितसमयं विवर्ज्य = परित्यज्य काले = भिक्षोचितवेलायां काल = लक्षणया तत्फालो-चिनकृत्यं भिक्षादिकं समाचरेत् = भिक्षार्थं क्रामेदित्यर्थः । बहुशः कालशब्दोपादानं 'मुनीनां यथाकालमेव सकलं कृत्यं विधेय'-मिति ध्वनयति ॥ ४ ॥

अकालचारित्वेनाऽलब्धभिक्षो भिक्षुः केनचित्साधुना "भोः ! भिक्षा त्वया लब्धा न वा" इतिपृष्ठो वदति-"कुतोऽत्र मितम्पचानां हीनदीनानां ग्रामे भिक्षालाभः ?" तदाऽसौ अकालचारिणं कथयति—'अकाले' इत्यादि ।

मूलम्—अकाले चरिसी भिक्षू, कालं न पडिलेहिसि ।

अप्पाणं च किलामेसि, संनिवसं च गरिहिसि ॥ ५ ॥

छाया—अकाले चरिसि भिक्षो, कालं न प्रत्युपेक्षसे ।

आत्मानं च लमयसि, संनिवेशं च गर्हसे ॥ ५ ॥

अकालचारी होने के कारण भिक्षा नहीं मिलने पर अन्तुष्ट हुए साधुको कालचारी साधु पूछता है—हे साधु ! आपको भिक्षा मिली कि नहीं ?, तब वह कहता है—इस कंजूसों के गाम में भिक्षा कहाँ पड़ो है । इस पर वह कालचारी साधु उससे कहता है—

सान्वयार्थः—भिक्षू = हे भिक्षु ! आप अकाले=असमयमें भिक्षाका समय न होनेपर ही चरिसो=गोचरी फिरते हो, च=और कालं=गोचरीका समय न पडिलेहिसो=नहीं देखते, अतः अप्पाणं = आत्माको किलामेसि=किलामना-खेद-पहुंचाते हो च=और संनि-वेशं=गामकी गरिहिसि=निन्दा करते हो । तात्पर्य यह हुआ कि गोचरीका समय हुए बिना घूमनेसे साधु भगवानकी आज्ञाका विराधक होता है, और दीनता प्रगट करनेके कारण उसके चारित्रमें मलिनता होती है; अतः जिस देशमें जो भिक्षाका समय हो उसी समयमें साधुको भिक्षाके लिए जाना चाहिये ॥५॥

उचित समय पर लौट आना चाहिए, जिससे स्वाध्याय आदि क्रियाओमें अन्तराय न पड़े । तथा जो समय भिक्षाके लिए उचित न हो उसका परिहार करके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे उचित समय पर ही भिक्षाके लिए जाना चाहिए । गाथामें बहुत वार काठ शब्दका प्रयोग करनेसे यह आशय प्रगट होता है कि—साधुओको प्रत्येक क्रिया उचित समय पर ही करनी चाहिए ॥ ४ ॥

उचित समये पाछा करवुं लेधये के लेथी स्वाध्याय आदि क्रियाओमा अतशाय न पडे तथा जे समय भिक्षाने माटे उचित न होय तेना परिहार करीने द्रव्य क्षेत्र काल भावथी उचित समये जे भिक्षाने माटे करवुं लेधये गाथामा धरणीवार शाल शण ने प्रयोग करवाथी जे आशय प्रगट थाय छे के—साधुओजे प्रत्येक क्रिया उचित समये जे करवी लेधये (४)

टीका—हे भिक्षो ! त्वम् अकाले = असमये चरसि=भिक्षार्थं गच्छसि किन्तु कालं = भिक्षोचितसमय न प्रत्युपेक्षसे=नाद्रियसे, तेन च हेतुनाऽऽत्मानं क्लमयसि=पीडयसि भिक्षालाभाभावेन भ्रमणाधिक्येन चेति भावः । संनिवेशं=ग्रामं च पुनः गर्हसे = निन्दसि । भगवदाज्ञाविराधकत्वेन दैन्यप्रकाशनेन च चारित्रमालिन्य जायते, ततोऽनुचितकाले भिक्षार्थं न गन्तव्यमिति । ५॥

३ २ ४ १ ६ ५
मूलम्—सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।

७ ८ ९ १० ११
अलाभु-त्ति न सोइज्जा, तवु-त्ति अहियासए ॥६॥

छाया—सति काले चरेद् भिक्षुः, कुर्यात्पुरुषकारम् ।

अलाभ इति न शोचेत्, तप इति अधिषहेत् ॥६॥

सान्त्वयार्थः—भिक्खू = साधुको काले=भिक्षाका समय सइ=होनेपर चरे=गोचरोके लिए घूमना चाहिए और पुरिसकारियं=उत्साह पूर्वक घूमनेरूप पुरुषार्थ भी कुज्जा = करना चाहिये, और भिक्षा न मिलनेपर वह अलाभु=आज मुझे भिक्षा नहीं मिली त्ति= इस प्रकार न सोइज्जा = सोच न करे, किन्तु तवु = आज मेरे अनशन जनोदरी आदि तप हुआ है त्ति = इस प्रकार सोचकर अहियासए = क्षुधा-परीषहको सहन करे-सन्तुष्ट रहे । तात्पर्य यह है कि—साधुओंको सिर्फ भिक्षाके ही लिए गोचरीमें घुमना नहीं है किन्तु वीर्याचारके लिए भी भगवान्ने गोचरीमें घुमना कहा है ॥६॥

कोई साधु द्वारा असमयमें भिक्षाके लिए जानेवाले दूसरे साधुसे पूछा गया कि—‘हे भिक्षु ! तुम्हे भिक्षाका लाभ हुआ या नहीं ?’ तब उमने कहा—‘इन कगाल कजूसोके गाँवमें भिक्षा कहाँ प्राप्त होसकती है?’ तब वह अकालमे गोचरी करनेवालेके प्रति कहता है—‘अकाले०’ इत्यादि ।

हे भिक्षु ! आप असमयमें भिक्षाके लिए जने है, समयका खयाल नही रखते । इसी कारण अधिक भ्रमण करने से या भिक्षाके न मिलनेसे तुम अपनी आत्मा को पीडित करते हो, और ग्राम नगर की निन्दा करते हो । अकालमें भिक्षाके लिये गमनरूप भगवान की आज्ञाकी विराधना करने से तथा दीनता प्रगट करनेसे चरित्रमें मलिनता आती है इसलिए अनुचित समय में भिक्षाके लिए नहीं जाना चाहिए ॥२॥

कोई साधु असमयमा भिक्षाने माटे जनारा पीण साधुने पूछ्युं के—‘हे भिक्षु ! तमने भिक्षाने लाभ थये के नही’ त्थारे तेणे क्युं ‘आ कंगाल कजूसोना गाममां भिक्षा क्यथाथी प्राप्त थई शके ?’ त्थारे अे अकाले गोचरी करनारा साधु प्रत्ये कडे छे—अकाले० इत्यादि

हे भिक्षु ! आप असमयमा भिक्षाछे माटे ज्जये छे, समयने अ्याल राभता नथी. अे कारणे वधारे इरवाथी या भिक्षा न भणवाथी तमे तमारा आत्माने पीडित करे छे. अने ग्राम-नगरनी निन्दा करे छे. अकाले भिक्षाने माटे ज्जवाथी भगवाननी आज्ञानी

टीका — 'सइ' इत्यादि । भिक्षुः काले = भिक्षोचितसमये प्राप्ते सति, यद्वा 'सइकाले' इत्यस्य 'रमृत्तिकाले' इतिच्छाया तत्र-स्मर्यन्ते साधवो दातृभिर्दानार्थं यस्मिन् समये तस्मिन्नित्यर्थः, चरेत् = भिक्षार्थं गच्छेत् । पुरुषकारं = पराक्रमम् उत्साहपूर्वकभिक्षार्थभ्रमणलक्षणं कुर्यात् = विदध्यात् । कदाचिदलाभे सति अलाभः = अद्य भिक्षालाभो न संजात इति न शोचेत् = न परितपेत्, किन्तु तपः = अद्य मेऽनशनावमौदरिकादिरूपं तपः सम्पन्नमिति कृत्वा अधिपहेतुः = सन्तुष्येत् । भिक्षाया अलाभेऽपि वीर्यचारो मया सम्यगाराधितः, यतो न केवलमन्नाद्यर्थमेव भिक्षाचरणं भिक्षुणां, किन्तु वीर्याचारार्थमपि भगवता समादिष्टमिति भावार्थः ॥६॥

क्षेत्रयतनामाह—'तहेवु०' इत्यादि ।

मूलम्—^१तहेवु^२च्चावया^३ पाणा^४, भक्त^५ट्टाए^६ समागया^७ ।

^८तं^९ उज्जुयं^{१०} न गच्छिज्जा^{११}, जयमेव परक्कमे ॥७॥

छाया—तथैवोच्चावचाः प्राणाः, भक्तार्थं समागताः ।

तेषाम्भुजुकं न गच्छेत्, यतमेव पराक्रामेत् ॥७॥

सान्वयार्थः—तहेव = उसीप्रकार उच्चावया = उच्च जातिके हंसादिक अवचनीच जातिके कोए आदि पाणा = प्राणी (यदि) भक्तट्टाए = चुगा-पानीके लिए समागया = आये हों—इकट्टे हुए हों—तो तं उज्जुयं = उन प्राणियोंके सामने न गच्छिज्जा = नहीं जावे,

'सइकाले' इत्यादि । भिक्षु उचित समय प्राप्त होनेपर ही भिक्षाके लिए जावें । उत्साहपूर्वक भिक्षार्थ भ्रमणरूप पुरुषार्थ करे । कभी भिक्षाका लाभ न हो तो ऐसा सोच न करे कि—आज आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, किन्तु ऐसा विचार करके सन्तुष्ट रहे कि आज भिक्षा न मिली तो सहज ही मेरे अनशन आदि तप होगया, अर्थात् भिक्षाका लाभ न होनेपर भी मैंने भली भाँति वीर्याचारका आराधन किया है साधु केवल अन्नादिककी प्राप्तिके लिए भिक्षाचारी नहीं करते किन्तु वीर्याचारकी आराधनाके लिए भी भिक्षाचरो में जाना भगवानने बताया है ॥६॥

विराधना इरवाथी तथा दीनता प्रकट इरवाथी आरित्रमा भलिनता आवे छे, तेथी अनुचित समये भिक्षाने माटे जवु न लेधिये (५)

सइ काले० इत्यादि. भिक्षु उचित समय यतां न भिक्षाने माटे जय उत्साहपूर्वक भिक्षार्थ भ्रमणरूप पुरुषार्थ करे कोधवार भिक्षाने लाभ न थाय तो अथवा विचार न करे के 'आज भने भिक्षा न भणी' परतु अथवा विचार करीने संतुष्ट रहे के—'आज भिक्षा न भणी तो सहजे माराथी अनशन आदि तप थद्य गयु अर्थात् भिक्षाने लाभ न थाथी पद्य मे' लदीपेठे वीर्याचारतु आराधन कथुं छे' साधु केवण अन्नादिनी प्राप्तिके माटे न भिक्षाचारी करता नथी, किन्तु वीर्याचारनी आराधनाने माटे पद्य भिक्षाचारीमां जवुं लगवाने अताव्युं छे (६)

(किन्तु) जयमेव=यतनापूर्वक ही-आसपाससे अथवा अन्य मार्गसे अर्थात् जिस तरह उन प्राणियोंको किसी प्रकारका त्रास न पहुंचे उसीतरह परक्रमे=जावे ॥७॥

टोका—तथैव = तद्वत् उच्चावचाः = तत्र उदञ्चः = उच्चजातीया हंसादयः, अवाञ्चः = नीचजातीयाः काकप्रभृतयः, यद्वा उच्चावचाः = अनेकविधाः “उच्चावचं नैकभेद”मित्यमरात्, प्राणाः = प्राणिनः भक्तार्थम् = अन्न-पानार्थं मार्गादौ समागताः = समायाता भवन्ति चेत् ‘तं’-तेषाम्, आर्पत्वात् षष्ठीबहुत्वे प्रथमैकवचनम्, ऋजुकं = संमुखं न गच्छेत्, तेषामन्नपानान्तरायादिप्रचुरदोषापातात् । तर्हि किं कुर्यात् ? यतमेव = सयत-नमेव = यथा तेषां संत्रासो न भवेत्तथा पराक्रामेत् = चरेत् अन्यमार्गेण तत्पार्श्वतो वा गन्तु यतेतेत्यर्थः, हंसादिभिः प्राणिभिः सर्वतः समाक्रान्ते पथि अन्यमार्गेण, एकदेशा-वच्छेदेन समाक्रान्ते च पार्श्वतोऽन्यभागेनेति विवेकः ॥७॥

२ ३ ५ ६ ८
मूलम्—गोयरगपविट्टो य, न निसीइज्ज कत्थइ ।

१० ७ ११ १२ ८ ९ ९
कहं च न पवंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥८॥

छाया—गोचराग्रप्रविष्टश्च, न निपीदेत् कुत्रापि ।

कथां च न प्रवध्नीयात्, स्थित्वा च संयतः ॥८॥

सान्वयार्थः—संजए = साधु गोयरगपविट्टो य = गोचरीके लिए गया हुआ कत्थइ = कहींभी न निसीइज्ज = नहीं बैठे, च = और चिट्ठित्ताण व = खड़ा रहकरभी कहं = धर्मकथा न पवंधिज्जा = न कहे ॥८॥

अब क्षेत्रका यतना कहते हैं—तहेवु० इत्यादि ।

हंस-आदि उच्च-जातीय और काक आदि नीच-जातीय प्राणी यदि भोजन पानके लिए रास्ते में आये हो तो उनके सामने न जावें । सामने जानेसे उनके चुगे पानीमें विघ्न पड़ जानेके कारण भक्त-पानकी अन्तराय आदि अनेक दोष लगते हैं अतः यतना पूर्वक, अर्थात् जिससे वे भयभीत न हो उस प्रकार दूसरे मार्गसे या एक किनारेसे गमन करे ।

तात्पर्य यह है कि-अगर समस्त मार्ग हंस कवृत्तर कौए आदि प्राणियोंसे व्याप्त हो तो दूसरे मार्गसे, और एक तरफ चुगा पानी करते हो तो एक किनारे होकर गमन करना चाहिए ॥७॥

इवे क्षेत्रनी यतना उडे छेः—तहेवु० इत्यादि

इ म—आदि उच्च-जातीय अनेक डागडो—आदि नीच-जातीय प्राणी जो भोजन पान में माटे रस्तामा आवेला डाय तो तेनी सामे न जवु सामे जवाथी तेमने पाणी पीवा यथुवा वगेरेमा विघ्न पडवाथी लक्ष्म-पानमा अन्तराय आदि अनेक दोषो लागे छे. ओठले यतनापूर्वक अर्थात् जो रीते तेज्यो लक्ष्मीत न थाय ओ रीते जीने भगे या ओठ आन्तुओथी गमन करवु तात्पर्य ओ छे के ले आपो मार्ग इ स कवृत्तर या डागडा वगेरे प्राणीओथी लदेला डाय तो जीने मार्गेथी अने ओठ तरफ तेज्यो यथुतां के पाणी पीता डायतो तेनी आन्तुओ थधने गमन करवु लेधओ (७)

टीका—‘गोयरग०’ इत्यादि । संयतः=मुनिः गोचराग्रप्रविष्टः सन् कुत्रापि गृहादौ न निपीदेत्=नोपविशेत्, च=अथच स्थित्वा=तिष्ठन् उपविश्य वा कथां=धर्मकथां न प्रवर्धनीयात्=ससन्दर्भं वृत्तं नारभेत, किन्त्वेकस्यैव प्रश्नस्य संक्षेपत एकमेव समाधानं कर्तुमर्हति अन्यथा दायकाऽरुचिप्रभृतिविविधदोषप्रसङ्गः ॥८॥

द्रव्ययतनामाह—‘अगगलं’ इत्यादि ।

४ ५ ६ ९ ८ ७ २
मूलम्—अगगलं फलिहं दारं, कवाडं वावि संजए ।

१० ११ १२ १ ३
अवलंबिया न चिड्डिज्जा, गोयरगगओ मुणी ॥९॥

छाया—अगगलं फलकं द्वारं, कपाटं वाऽपि संयतः ।

अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ॥९॥

सान्त्वयार्थः—गोयरगगओ=गोचरीके लिए गया हुआ संजए=इन्द्रियों का समय रखनेवाला मुणी=साधु अगगलं=आगल-भोगल अथवा सकली फलिहं=दोनों क्वाडों को रोक रखनेवाला काष्ठ (हुड़ा) को दारं=दरवाजा वावि=अथवा कवाडं=क्वाडको अवलंबिया=पकड़कर या इनका सहारा लेकर न चिड्डिज्जा=खड़ा न होवे ॥९॥

टीका—गोचराग्रगतः=भिक्षाचरीनिर्गतः, संयतः संयमी मुनिः, अगगलं=कपाटपट्टद्वयद्वयसंयोजकाष्ठादिनिर्मितक्रीलविशेषं शृङ्खलादि च फलकम्=अवष्टम्भककाष्ठविशेष, दारं=गृहादेर्निर्गमप्रवेशमार्गम्, अपिवा कपाटं=स्वनामप्रसिद्धद्वाराच्छादकदारुफलकविशेषम् अवलम्ब्य=आश्रित्य न तिष्ठेत् ॥९॥

‘गोयरग०’ इत्यादि । गोचरीके लिए गये हुए मुनि किसी के घरमें न बैठें, न खड़े खड़े सदर्थके साथ धर्मकथा कहना अरम्भ करें, । अवसर हो तो एक प्रश्नका एक ही समाधान खड़े २ संक्षेपसे कर देवे । बैठनेसे या लम्बी धर्मकथा करनेसे दाताकी अरुचि आदि अनेक दोष होते हैं ॥८॥

अब द्रव्ययतना कहते हैं—अगगलं, इत्यादि ।

गोचरीके लिए गये हुए मुनिको आगल, सांकल, फलक (खूटी आदि) दरवाजा या क्वाडजा सहारा लेकर खड़ा नहो रहना चाहिए ॥९॥

गोयरग० इत्यादि गोचरीने माटे गयेला मुनि कोठना घरमा न भेसे, जिला जिला स हल सडित धर्म कथा कहेवाने आरल न करे अवसर डोय तो एक प्रश्नतु एक समाधान जिला जिला संक्षेपमा करी हे भेसवाथी या लाणी धर्मकथा करवाथी दातानी अइथि आदि अनेक दोषो थाय छे (८)

हुवे द्रव्य-यतना कहे छे—अगगलं इत्यादि
गोचरी माटे गयेला मुनिअे आगलो, सांकल, फलक (खूटी आदि) दरवाजे या कमा-
डो आधार लधने जिला खडेवु न लेधने (९)
समण० इत्यादि तथा तमइ० इत्यादि श्रमण, प्राज्ञण, कृपण अने वनीयकने गृह-

६ ९ ८ ७ १० ११ १२
मूलम्—समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं ।

५ २ ३ ४ १
उवसंकमंतं भत्तद्धा, पाणद्धा एव संजए ॥१०॥

१३ १४ १५ १६ १७ १९ १८
तमइक्कमित्तु न पविसे, नवि चिट्ठे चक्खुगोयरे ।

२१ २२ २३ २४ २०
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥११॥

छाया—श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि, कृपणं वा वनीपकम् ।

उपसंक्रामन्तं भिक्षार्थं, पानार्थमेव संयतः ॥१०॥

तम् अतिक्रम्य न प्रविशेत्, नापि तिष्ठेत् चक्षुर्गोचरे ।

एकान्तवमक्रम्य तत्र तिष्ठेत् संयतः ॥११॥

सान्वयार्थः—संजए = साधु भत्तद्धा=अन्नके लिए और पाणद्धा एव=पानीके लिए ही उवसंकमंतं = गृहस्थके घर पर आते हुए समणं=निर्ग्रन्थ मुनिको वावि = अथवा माहणं = ब्राह्मणको किविणं = कृपण वा=अथवा वणीमगं = दरिद्रीभिक्षारीको (देखकर)तं= उन श्रमणादिको अइक्कमित्तु = लांघकर न पविसे = गृहस्थके घरमें व जावे, नवि = और न चक्खुगोयरे = उनके दृष्टिगोचर-दृष्टिमार्गमें चिट्ठे = ठहरे, (किन्तु) एगंतं = एकान्त स्थानमें-जहां उनकीदृष्टि न पडती हो ऐसी जगह अवक्कमित्ता = जाकर संजए = इन्द्रियों का संयम करता हुआ-चुप-चाप तत्थ = वहां चिट्ठे = खडा रहे ॥१०॥११॥

टीका—‘समणं’ इत्यादि, ‘तमइ०’ इत्यादि च । संयतः. गृहस्थद्वारे भक्तार्थमेव पानार्थमेव, एवशब्दस्योभयत्र सम्बन्धः = उपसंक्रामन्तं = समीपमायान्तं यान्तं वा श्रमणादिवकं दृष्टेति शेषः । तत्र वनीपकः = याचकविशेषः, अन्यत् सुगमम् । तं = श्रमणादिकम् अतिक्रम्य = उल्लङ्घ्य तस्याग्रतो भूत्वेत्यर्थः गृहस्थगृहं न प्रविशेत् एतावदपि न तेषां चक्षुर्गोचरेऽपि = दृष्टिपथेऽपि न तिष्ठेत् किन्तु स रुयत एकान्तं = यत्र तेषां दृष्टिर्न पतेत् तं प्रदेशम् अवक्रम्य = गत्वा तत्र तिष्ठेत् ॥१०॥११॥

पूर्वोक्तविधेरपालने दोषमाह—‘वणीमगस्स’ इत्यादि ।

‘समणं’ ‘इत्यादि, ‘तमइ०’ श्रमण, ब्राह्मण, कृपण और वनीपकको गृहस्थ के दरवाजे पर भोजन या पानी के लिए आया देखकर साधु उसे उल्लङ्घन करके गृहस्थके घरमें प्रवेश न करे’ इतना ही नहीं, जहाँ उनकी दृष्टि पडती हो ऐसे स्थान पर भी लडे न हो किन्तु एकान्त प्रदेश में जाकर स्थित होवे, जहां उनकी दृष्टि न पहुँचे ॥११॥

ऐसा न करने में दोष कहते हैं—‘वणीमनस्स’ इत्यादि

स्थाना दृग्वाला पर मोहन या पाणी ने भाटे आवेक्षा जेगने साधु जेभने जोग गाने गृहस्थना घरमा प्रवेश न करे, जेट्ठुं न नडि नया जेभनी दृष्टि पडती होय जेवा स्थान पर पणु जिलो न रडे, किन्तु जेकात प्रदेशमां जधने जिलो गडे डे नया जोगनी दृष्टि पडोये नडि. (१०-११)

जेभ न करवामां दोष डडे छे—‘वणीमनस्स०’ इत्यादि

२ ३ ४ ५ ६ ७
मूलम्—वणीमगस्स वो तस्स, दायगस्सुभयस्स वा ।

८ ९ १२ ११ ९ १०
अप्पत्तियं सिया हुज्जा, बहुत्तं पवयणस्स वा ॥१२॥

छाया—वनीपकस्य वा तस्य, दायकस्योभयोर्वा ।

अप्रीतिकं स्याद् भवेत्, लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥१२॥

पूर्वोक्त विधिके अपालन मे दोष बताते हैं—

सान्त्वयार्थः—(ऐसा न करनेसे) सिया=कदाचित् शायद तस्स=उस वणीमग-
स्स=श्रमणादि वनीपक पर्यन्तको वा=अथवा दायगस्स=दाताको वा=या उभयस्स=
दोनो-दाता और याचक-को अप्पत्तियं=अप्रीति-द्वेष या मनमें खेद हो जाता है, वा=
और पवयणस्स=जिनशासनकी लघुत्तं=लघुता हुज्ज=होती है ॥१२॥

टीका—स्यात् कदाचित् वनीपकस्य=याचकविशेषस्य वा=अथवा तस्य=श्रम-
णादेः, दायकस्य=दातुर्वा, उभयो दातृ-याचकयोर्वा अप्रीतिकं=द्वेषः, मनः—खेदो वा
भवेत्, प्रवचनस्य=जिनशासनस्य लघुत्वं=लघुता वा भवेदिति सम्बन्धः ॥१२॥

कदा गन्तव्य ?—मित्याह—‘पडिसेहिए’ इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
मूलम्—पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए ।

१२ ९ १० ११ ८
उवसंक्रमिज्ज भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥

छाया—प्रतिषेधिते वा दत्ते वा, ततस्तस्मिन् निवृत्त ।

उपसंक्रामेत् भक्तार्थं, पानार्थं वा संयतः ॥१३॥

कब जाना चाहिये, सो बताते हैं—

सान्त्वयार्थः—पडिसेहिए=दाताके निषेध कर देने पर वा=अथवा दिन्ने=
अन्नादिके दिये जाने पर वा=या-दाताके मौन साधने पर तओ=उस स्थानसे तम्मि
=उन श्रमणादिकोंके नियत्तिए=चले जाने पर संजए=साधु भत्तट्ठा=आहार व=
अथवा पाणट्ठाए=पानीके लिए उवसंक्रमिज्ज=जावे ॥ १३ ॥

संभव है, उन्हें उल्लङ्घन करके जनेसे या उनके सामने खड़े रहने से उस वनीपक या दाताको
अथवा दोनोको द्वेष तथा खेद उत्पन्न होजाय । तथा प्रवचनकी लघुता होती है । अतः उन्हें
उल्लङ्घन करके जाना साधु कल्प नहीं है ॥१२॥

कब जाना चाहिए ? सो कहते हैं—‘पडिसेहिए’ इत्यादि ।

संभवित छे तेमने ओणगीने जवाथी या ओमनी माणे ठाला रडेवाथी ओ वनीपक
या दाताने अथवा ओउने द्वेष तथा ओद ओपन्न थर्ध जय तथा प्रवचननी लघुता थाय
छे, ओटले ओमने ओणगीने जवु ओ साधुने कल्प नथी (१२)
क्यारे जवु ओधओ ? ते कहे छे—पडिसेहिए० इत्यादि ।

टीका—प्रतिषेधिते = दात्रा प्रतिषेधं प्राप्ते वा = अथवा दत्ते अन्नादिके, वाशब्दा-
द्दातुस्तूष्णीभावावलम्बनाद् विलम्बादिनिमित्तवशाद्वा ततः = तत्स्थानात् तस्मिन् = वनी-
पकादौ निवृत्ते प्रतिनिवृत्ते सति संयतः भक्तार्थं पानार्थं वा उपसंक्रामेत् = भिक्षां ग्रहीतुं
गच्छेत् ॥ १३ ॥

१ ४ ३ २ ५ ६ ७
मूलम्—उत्पलं पउमं वावि, कुमुयं वा मगदंतियं ।

८ ९ १० ११ १२ १३ १४ २३
अन्नं वा पुष्पसच्चित्तं, तं च संलुञ्चिया दए ॥ १४ ॥

१५ २० १६ १७ १८ १९
तं भवे भक्तपानं तु, संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३
दितियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ १५ ॥

छाया—उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।

अन्यद्वा पुष्पसच्चित्तं, तच्च संलुञ्चय दद्यात् ॥ १४ ॥

तद् भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ १५ ॥

सान्वयार्थः—उत्पल = नील कमल पउमं = रक्त कमल वावि = अथवा कुमुयं =
चन्द्रविकासी कमल वा = या मगदंतिय = मालती-मोगरेके फुलको वा = अथवा अन्नं
= दूसरे भी इसी प्रकारके जो पुष्पसच्चित्तं = सच्चित्त पुष्प हों तच्च = उनको भी (अगर)
संलुञ्चिया = लौंच करके दए = देवे तो = तं = वह भक्तपानं तु = आहारपानी संजयाण
संयसियोंको अकप्पिय = अकल्पनीय भवे = होता है, अतः दितियं = देनेवाली से पडि-
याइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहार मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता
है ॥१४॥१५॥

टीका—‘उत्पलं’ इत्यादि ‘तं भवे’ इत्यादि च । उत्पल = श्यामल-धवल-लोहित-
भेदेन त्रिविधं कमलम्, अपिवा पद्मं = सूर्यविकासि कमलं कुमुदं = चन्द्रविकासि कमलं

दाताके वनीपक आदिको दान देनेकी मनाकर देने पर, अथवा अन्न आदिके दे देने पर या
मौन साध लेने पर, अथवा विलम्ब होने आदिके कारणसे जब वह वनीपक आदि उस घरसे
लौट जाय तब सयमीको भक्त-पानके लिए उस घर में जाना चाहिए ॥१३॥

‘उत्पलं’ इत्यादि, ‘तं भवे’ इत्यादि । दाता नीला सफेद और लाल कमल, सूर्यविकासी कमल

दाताके वनीपक आदिने दान देनेकी मनाई कर्या पछी अथवा अन्न आदि आपी
यूक्या पछी या मौन साधी लीधा पछी, अथवा विलम्ब थये इत्यादिने कारणे ज्यारे के
वनीपक आदि के घेन्थी पाछा इरे त्यारे अथभीके भक्त-पानने भाटे के घरमां ज्युं
लेधके (१३)

वा = अथवा मगदन्तिकां = मालतीपुष्पम्, अन्यद्वा पुष्पसचित्तं = पुष्पेषु सचित्तं पुष्प-
सचित्तं सचित्तपुष्पमात्रमित्यर्थः, तच्च संलुञ्च्य = संल्लिद्य यदि दात्री भक्तपानं दद्यात्,
तर्हि तद् भक्तपानं तु संयतानामग्राह्यं भवेदिति ददतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं = दोषयुक्तं मे
= मम न कल्पत इति ॥ १४ ॥ १५ ॥

१ ४ ३ २ ५ ६ ७
मूलम्-उत्पलं पउमं वावि कुमुयं वा मंगदंतियं ।

८ ९ १० ११ १२ १३ १४
अन्नं वा पुष्पसचित्तं तं च संमद्विया दए ॥ १६ ॥

१५ २० १६ १७ १८ १९
तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३
दितियं पडियाइक्खे न म कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥

छाया—उत्पलं पदमं वाऽपि कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।

अन्यद्वा पुष्पसचित्तं तच्च संमर्द्य दद्यात् ॥ १६ ॥

तद् भवेद् भक्तपानं, तु संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

सान्वयार्थः—उत्पलं=नील कमल पउमं=रक्त कमल वावि=अथवा कुमुयं=चन्द्रवि-
कासी कमल वा=या मगदंतियं=मालती-मोगरेके फूलको वा=अथवा अन्नं=दूसरे भी
इसी प्रकारके जो पुष्पसचित्तं=सचित्त पुष्प है तंच=उनको भी (अगर) संमद्विया=पैरों
आदिसे कुचलकर दए=देवे तो तं=वह भक्तपाणं तु=आहार-पानी संजयाणं=सयमियों
को अकप्पियं=अकल्प्य भवे=होता है, (अतः) दितियं=देनेवालोसे पडियाइक्खे=कहे कि
तारिसं=इस प्रकारका आहार मे=मुझे न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥१६ ॥ १७ ॥

टीका—‘उत्पलं’ इत्यादि, ‘तं भवे’ इत्यादि च । उत्पलादिकं संमर्द्यं=करचरणा-
दिना तत्संमर्दनं कृत्वा, अशनादि दद्यात् तद् भक्त-पानं तु संयतानामग्राह्यमित्यादि पूर्ववद्

मालतीका फुल तथा अन्य सचित्त पुष्प तोड कर आहारपानी देवे तो वह सयमियोंके लिए
ग्राह्य नही है इसलिए देनेवालीसे कहे कि ऐसा दोषयुक्त आहार मुझे नहीं कल्पता है ॥१४॥१५॥

‘उत्पलं’ इत्यादि, ‘तं भवे’ इत्यादि ।

पूर्वोक्त उत्पलादिकोमेंसे किसी सचित्त फूलको मर्दन करके अथवा सघटा मात्र भी

उत्पलं धत्यादि तथा तं भवे० धत्यादि जे हाता, नीलुं कङ्क या लाल कमण, सूर्य-
विकासी कमण, चंद्रविकासी कमण, मालतीतुं पुष्प तथा अन्य सचित्त पुष्प तोडीने पछी
आहार पाणी आपे तो ते सयमीओने माटे ग्राह्य नथी तेथी ते आपनारीने साधु कडे
के ओवो दोषयुक्त आहार भने कल्पतो नथी (१४-१५)

उत्पलं धत्यादि, तथा तं भवे० धत्यादि

पूर्वोक्त कमण आदिमाथी हेरि सचित्त झलतुं मर्दन करीने अथवा मात्र सघटन पखु

व्याख्येयम् । अत्र 'संमर्द्य' शब्देन संमर्दनं यथा कथञ्चित्स्पर्शमात्रमपि गृह्यते, उत्पलादि-
गतसूक्ष्मजीवानां तावताऽपि पीडोत्पत्तेरवश्यम्भावात् । 'संमद्दमाणी पाणाणि वीयाणी
हरियाणी य' इत्यस्यैव प्रथमोद्देशके समस्तवनस्पतीनां ग्रहणेऽपि पुनरत्रोत्पलादीनां ग्रहणं
न पुनरुक्तिदोषजनक, पूर्वत्र सामान्यरूपेणाऽत्र च विशेषरूपेणोपादानादिति बोध्यम्
१६ १७ ॥

१ २ ३ ४ ५
मूलम्—सालुयं वा विरालियं, कुमुयं उप्पलनालियं ।

६ ७ ८ ९
मुणालियं सासवनालियं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥ १८ ॥

१७ १९ १८ १० १२ ११
तरुणं वा प्रवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा ।

१३ १६ १५ १४ २० २१
अन्नस्स वावि हरियस्स, आमगं परिवज्जए ॥ १९ ॥

छाया—शालुकं वा विरालिकां, कुमुदम् उत्पलनालिकाम् ।

मृणालिकां सर्पपनालिकाम्, इक्षुखण्डम् अनिर्वृतम् ॥ १८ ॥

तरुणकं वा प्रवालं, वृक्षस्य तृणकस्य वा ।

अन्यस्य वाऽपि हरितस्य, आमकं परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

सान्त्वयार्थः—सालुयं=कुमुदादिका मूल विरालियं=पलासका कन्द साधारण वन-
स्पतिविशेष कुमुयं=चन्द्रविकासी श्वेत कमल उप्पलनालियं=कमलनाल मुणालियं=कमल-
तन्तु सासवनालियं=सरसौकी भाजी कान्दव वा=अथवा उच्छुखंडं=गन्ने के टुकड़े, (ये
सब यदि) अनिव्वुडं=शस्त्रपरिणत-अचित्त न हों तो, (तथा) रुक्खस्स=इमली आदि वृक्षके
वा=अथवा तरुणगस्स=मधुर तृणादिकोंके वा=और अन्नस्सवि=दूसरे प्रकारके भी हरि-

करके आहार देवे तो तो देनेवालीसे साधु कहे कि ऐसा आहार लेना मुझे नहीं कल्पता है ॥
यहां 'मर्दन' शब्द से स्पर्शमात्रका भी ग्रहण होता है, क्योंकि कमल आदिके जीवोंको स्पर्श
करनेसे भी अवश्य पीडाहोती है । प्रथम उद्देश में 'संमद्दमाणी पाणाणि वीयाणि हरियाणिय'
इस पदसे ही सब वनस्पतिकायका ग्रहण कर लिया था, यहाँ फिर उत्पल आदिका ग्रहण किया
है यह पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए, यहां विशेष रूपसे निषेध किया है ॥ १६॥१७॥

करीने आहार आपे तो आपनारीने साधु कहे के अवे आहार लेवे भने कल्पते नथी
अही 'मर्दन' शब्दथी स्पर्श-मात्रनु पणु अणुणु थाय छे, कारण के कभण आदिना
एवाने स्पर्श करवाथी पणु अवश्य पीडा थाय छे प्रथम उद्देशमा संमद्दमाणी पाणाणि
वीयाणि हरियाणि य अे पन्थी न गंधी वनस्पतिकायनु अणुणु करवाभा आणुणु हुतु,
अही इरीथी कभण आदिनु अणुणु कथुं छे, अे पुनरुक्ति दोष समजवे नहि, कारण
के पहेलां सामान्यरूपे निषेध कर्यो हुतो, अने अही विशेषरूपे निषेध कर्यो छे, (१६-१७)

यस्स = हरित कायके तरुणगं = कौपल पत्ते आदि वा = अथवा प्रवालं = कच्ची कौपल-
नहीं खिले हुए पत्ते आदि आमगं = सचित्त हों तो उन्हें परिवर्ज्जण = वरजे नहीं लेवे ॥
१८ ॥ १९ ॥

टीका—‘सालुयं’ इत्यादि ‘तरुणगं’ इत्यादि च । शालुकं = कुमुदादिमूलं, विरा-
लिकां = पलाशकन्दं साधारणवनस्पतिविशेषं, कुमुदं = चन्द्रविकासिश्वेतकमलम्, उत्पलना-
लिकां = कमलनाल मृणालिकां = विसं भे इति भाषाप्रसिद्धां सर्पपनिकां = सर्पपत्र शाकं
सर्पपकन्दलीं वा, एत त्सर्वम् अनिर्वृतम् = शस्त्राऽपरिणतम् । तथा वृक्षस्य = अम्लिकादेः
वा अथवा तृणकस्य = मधुरतृणादेः, अन्यस्य हरितस्यापि वा हरितकायमात्रस्य तरुणकं
= तरुणदशाऽऽपन्नं पत्रादिकं, प्रवालं = सुकुमारं पत्रादिकं वा, आमकं = सचित्त
परिवर्जयेत् ॥१८॥१९॥

मूलम्-^१तरुणियं वा ^५छिवाडिं, ^२आमियं ^६भज्जियं ^४सइं । ^३

^७दितियं ^८पडियाइक्खे, ^{११ १०}न मे ^{१२}कप्पइ ^९तारिसं ॥ २० ॥

छाया—तरुणिकां वा छिवाडीम्, आमिकां भजितां सकृत् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥२०॥

सान्वयार्थः—तरुणियं = कच्ची-जिसके बीज पके नहीं हों ऐसी वा = अथवा सइं
= एक वार भज्जियं = भुनी हुई आमिय = सचित्तछिवाडिं = फलीकोदितियं = देने-
वालीसे (साधु) पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहार मे = मुझे न
कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥२०॥

टीका—‘तरुणियं’ इत्यादि । तरुणिकाम् = अपरिपक्वबीजाम् अवरित्यक्तत्वक्सं-
श्लेषावस्थापन्नामित्यर्थः, छिवाडीं = ‘देशीयोऽयं शब्दः मुद्ग चवल तुवरिकादिफलिकां

‘सालुयं’ इत्यादि, ‘तरुणगं’ । कमलका मूल, पलाश (ढाक) का मूल अर्थात् साधारण
वनस्पतिकी जातिविशेष, तथा सफेद कमल, कमल ‘नाल’ सरसोके पत्तेकीशाक, गन्नोका खण्ड,
ये सब यदि शस्त्रसे परिणत न हों तो इनका, तथा—ईमलो आदि वृक्षके, मधुर तृण आदिके
तथा अन्य हरेक वनस्पतिके पत्ते कौपल आदि जो सचित्त हो तो उनका त्याग करना चाहिए
॥१८॥ १९ ॥

‘तरुणियं’ इत्यादि । जिसके बीज न पके हो ऐसी मुँग, चबला तुअर, (अरहर) आदि
की फली एक वार भूँजी हुई हो तथा सचित्त हो तो देनेवाली बाईसे साधु कहे कि यह लेना मुझे
नहीं कल्पता है ॥२०॥

सालुयं० इत्यादि, तरुणगं० इत्यादि कमलानु मूल, पलाशनु मूल, अर्थात् साधारण
वनस्पतिनी जाति विशेष, तथा सफेद कमल, कमलानी नाल, सरसवनी पांडडानु शाक,
शेरडीनी कातणी, ये अर्थात् शस्त्रथी परिणत न होय तो एते तथा आण्डी आदिनां
वृक्षना, मधुर तृण आदि ले सचित्त होय तो एते त्याग करवो लेधये (१८) (१९)
तरुणियं इत्यादि लेनां भीष् पाक्या न होय एवा भग, योणा, तुवेर आदिनी सींग
ओठवार भूँजेली होय तथा सचित्त होय तो ते आपनारी आधने साधु कहे के लेवी

सकृद्भर्जिताम् = एकवारं भृष्टां वा = अथवा आमिकां = सचित्तां ददतीं प्रत्याचक्षीत
तादृशं मे न कल्पत इति । ॥२०॥

मूलम्—तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।

तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ॥ २१ ॥

छाया—तथा कोलमनुत्स्विन्नं, वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।

तिलपर्पटकं नीपम्, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

सान्वयार्थः—तहा=उसी प्रकार अणुस्सिन्नं=विना उवाले हुए कोलं=वेर तथा
वेणुकं=केर या वांसकी कोंपल काश्यपनालिकाम्=श्रीपर्णीका फल तिलपप्पडगं=तिलपापड़ी
नीमं=कदम्बका फल (ये सब यदि) आमगं=सचित्त हों तो उन्हे परिवज्जए=वर्जे
॥ २१ ॥

टीका—‘तहा’ इत्यादि । तथा=तद्वत् अनुत्स्विन्नं=सलिलानलसंयोगेनाऽनुत्कालि-
तम् — अक्वथितमित्यर्थः, कोलं=वदरीफलम् , आमकम्=अशस्त्रोपहतम् , अस्य वेणुकादौ
सर्वत्र सम्बन्धः, वेणुकं=वंशकरीरं वंशाङ्कुरमित्यर्थः, काश्यपनालिकां=श्रीपर्णीफलम्,
अत्र ‘आमगं’—मित्यस्य लिङ्गविपरिणामेनान्वयः । तिलपर्पटकं प्रसिद्धमेव, नीपं=कदम्बफ-
लम् परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

मूलम्—तहेव चाउलं पिट्टं, वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।

तिल पिट्टं पइ—पिन्नागं, आमगं परिवज्जए ॥ २२ ॥

छाया—तथैव ताण्डुलं पिष्टं, विकटं वा तप्तनिव्वृतम् ।

तिलपिष्टं पूतिपिण्याकम् , आमकं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

सान्वयार्थः—तहेव=उसी प्रकार चाउलं पिट्टं=वाँवलोंका आटा तथा और भी किसी
तरहका आटा वा=अथवा तत्तनिव्वुडं=पहले गर्म किया हुआ किन्तु फिर ठंडा होया
हुआ वियडं=पानी तिलपिष्टं=तिलकुट्टा पूडपिन्नागं = सरसोंकी खल (ये) आमगं = सचित्त
हों तो परिवज्जए = वर्जे ॥२२॥

‘तहा कोलं’ इत्यादि । इसी प्रकार जल और अग्निमें नहीं उवाले हुए वेर सचित्त वांसके
अंकुर तथा काश्यपनालिका (गंभारीफल) तिलपापड़ी और कदम्बके फल ये सब यदि सचित्त
हों तो इनका त्याग करे—ग्रहण न करे ॥२१॥

अने कल्पती नथी

‘तहा कोलं’ इत्यादि अने प्रमाणे जण अने अग्निमा नहि उवालेला अथवा, सचित्त
वांसका अंकुर तथा काश्यपनालिका (गंभारी फल), तिलपापड़ी अने कदम्बका फल अने
सचित्त होय तो अने त्याग करवा—ग्रहण न करवा नहि, (२१)

१ ‘नीमं’ इत्यत्र ‘नीपाऽऽपीटेमोवा’ (प्र०८।१।२३४) इति प्राकृतमूत्रेण पश्य मः॥

टीका—‘तहेव’ इत्यादि । तथैव = तेनैव प्रकारेण ताण्डुलं = तण्डुलसम्बन्धि पिष्टं = चूर्णम् , उपलक्षणमेतद्गोधूमादेरपि, वा = अथवा तप्तनिर्वृतं = पूर्वं तप्तं पश्चान्निर्वृतं = शीतलं यत्तत्तथोक्तम् , उष्णोदकं यदा शैत्यापन्नं ततः कालादारभ्य ग्रीष्मे यामपञ्च-कादूर्ध्वं शीतकाले यामचतुष्टयात्परं, वर्षाकाले च प्रहरत्रयानन्तरं सचित्तं जायते । अत्रेयं सङ्ग्रहगाथा—

“जम्मि समयम्मि उण्हो,—दगं च सीय भवे तओ पच्छा ।

पंच-चउ-त्तिय-जामा, गिम्हे हेमंत-पाऊसे ॥ १ ॥” इति ॥

छाया—“ यस्मिन् समये उष्णोदकं च शीतं भवेत्ततः पश्चात् ।

पञ्चचतुस्रिकयामाः, ग्रीष्मे हेमन्त-प्रावृषोः ॥ १ ॥

विकट = समयपरिभाषया सलिलं, तिलपिष्टं = तिलकुट्टं प्रसिद्धं, पूतिपिण्याकं = सर्पपकल्कम् आमकं = सचित्तं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

मूलम्—कविट्टं माउलिं च, मूलगं मूलगत्तियं ।

आमं असत्थपरिणयं, मणसावि न पत्थए ॥ २३ ॥

छाया—ऋपित्थं मातुलिं च, मूलकं मूलकर्तिकाम् ।

आमम् अगस्त्रपरिणतं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २३ ॥

सान्वयार्थः— कविट्टं = कैथ-ऋविठ माउलिं = विजौरा मूलगं = मूला च = और मूलगत्तियं = मूलेके कन्दका दुकादा आमं = कच्चा अमत्थपरिणयं = स्वकाय परकाय आदि शस्त्रसे परिणत न हुआ हो तो उसे मणसावि = मनसे भी न पत्थए = न चाहे ॥ २३ ॥

‘तहेव’ इत्यादि । इसी प्रकार तत्कालका पीसा हुआ चाँवल गेहूँ आदिका आटा तथा पहले अचित्त होने पर भी कालकी मर्यादा व्यतीत होने पर पुनः सचित्त हुआ जल, तुरतका बना हुआ तिलकुट्ट, तत्काल की सरसो आदिकी खली इन सचित्त वस्तुओको ग्रहण न करे । गर्म पानीके अचित्त रहनेकी मर्यादा— ठंडा होजाने पर ग्रीष्म ऋतुमे पाच पहर, शीतकालमें चार पहर और वर्षाकालमें तिन पहरकी होती है उमके बाद वह (जल) सचित्त होजाता है । इस विषयमें एक सग्रह गाथा है जो संस्कृत-टीकामें लिखी गई है ॥२२॥

‘कविट्ट’ इत्यादि । कैथ (ऋविठ) विजौरा नांव मूला और मूलेके खण्ड यदि अचित्त—शस्त्र-

तहेव० इत्यादि. ये ऋ प्रमाणे तत्कालने दण्डो 'योभा घठि आदिने आटे, तथा पडेवां अचित्त होवा छता पणु काणनी मर्यादा व्यतीत थता पुनः सचित्त थयेलु ऋण, तुरतने अनावेला तलष्टट, तुरतनी सरसव आदिने जोण अ सचित्त वस्तुओने पणु थडणु न करे गरम भाणी अचित्त रहेवाणी मर्यादा ठडु थथ अथा पणी ग्रीष्म ऋतुमां पांच पहर, शीतकालमां चार पहर अने वर्षाऋतुमां त्रणु पहरनी होय छे, तयारणां ये ऋण सचित्त अनी लय छे ये विषयमां येक सग्रहगाथा छे ते संस्कृत टीकामां लणी छे. (२२)

टीका—‘कविट्टं’ इत्यादि । कपित्थं ‘कैथ कविठ’ इति भाषायां, मातुलिङ्गं = बीजपूरकं ‘विजौरा नींबू’ इति भाषायां, मूलकं = सपत्रं, मूलकर्तिकां = मूलककन्दखण्डं, आमम् = अपकम्, अशस्त्रपरिणतम् = अलब्धस्वपरकायादिशस्त्रयोगं मनसाऽपि न प्रार्थयेत्— एतद्विषयिणीमिच्छामपि न कुर्यादित्यर्थः । ‘आमम्’ इत्यस्य ‘अशस्त्रपरिणतम्’ इत्यस्य च लिङ्गविपरिणामेन ‘मूलकर्तिका’-मित्यत्र सम्बन्धः । मूलकस्याऽनन्तकायत्वात् शस्त्रपरिणतिदुष्करेति बोधयितुमेकार्थकस्याऽऽमादिशब्दद्वयस्योपादानम् ॥ २३ ॥

१ २ ३ ४
मूलम्—तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिय ।

४ ६ ५ ७ ९
विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥२४॥

छाया—तथैव फलमन्थून् बीजमन्थून् ज्ञात्वा ।

विभीतकं प्रियाल च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २५ ॥

सान्वयार्थः—तहेव=इसी प्रकार फलमंथूणि=वेर आदि फलोंका चूर्ण-चूरा बीयमंथूणि = शालि आदि बीजोंका चूर्ण-चूरा विहेलगं=वहेडा च=और पियालं=रायण अथवा दाख (इन्हें) आमगं=सचित्त जाणिय=जानकर=जाने तो परिवज्जए=वरजे-न ले ॥२४॥

टीका—‘तहेव फल०’ इत्यादि । तथैव=तद्वत् फलमन्थून्=वदरादिचूर्णान्, बीजमन्थून्=फलबीजचूर्णान्, विभीतकं ‘वहेडा’ इति प्रसिद्धं, च= पुनः पियालं=राजादन-फल ‘रायण’ इति भाषाप्रसिद्धम् । यद्वा ‘प्रियाला’-मिति च्छाया, प्रियालां=द्राक्षाम्, आमकं=सचित्तं ज्ञात्वा परिवर्जयेत्, सचित्तं चेन्न गृह्णीयादित्यर्थः । यद्वा ‘जाणिय’ इत्यस्य ‘याँश्चे’-ति च्छाया; याँश्च बीजमन्थून् इत्यन्वयः ॥ २४ ॥

५ ६ १ ४ ३ २
मूलम्—समुयाणं चरे भिक्खू, कुलं उच्चावय सया ।

७ ८ ९ १० ११
नीयं कुलमइक्कम्म. ऊसटं नाभिधारए ॥ २५ ॥

परिणत न हों तो इन्हें ग्रहण करने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए । मूला अनन्तकाय है, अतः उसका शस्त्रपरिणत होना कठिन है इसीसे यहां एक अर्थवाले आमक, और अशस्त्रपरिणत ये दो शब्द दिये हैं ॥२३॥

‘तहेव फल०’ इत्यादि । इसीप्रकार कच्चे वेर आदिका चूरा तथा कच्चे फलके बीजोंका चूरा तथा रायण अथवा दाख ये सचित्त हो तो ग्रहण न करे ॥२४॥

‘कविट्टं’—इत्यादि कौटुं, पीलेरा-दी पु, मूणा अने मूणाना कडडा ले अचित्त-शस्त्र-परिणत न होय तो ते अरुणु करवानी छिछा पणु न करवी जेधजे मूणा अनन्तकाय छे जेठे जे शस्त्रपरिणत थवे कठिन छे, तेथी अही जेक अर्थवाणा ‘आमक’ अने ‘अशस्त्र-परिणत’ जेवा जे शब्दो आपेलां छे (२३)

‘तहेव फल०’ इत्यादि. जे प्रकारे जार आदिनुं चूर्ण, इणनां पीलेनु चूर्ण, तथा अडेडां, रायणु अथवा द्राक्ष जे सचित्त होय तो अरुणु करवा नहिं. (२४)

छाया—समुदानं चरेद् भिक्षुः, कुलमुच्चावचं सदा ।

नीचं कुलमतिक्रम्य, उच्छ्रितं नाभिधारयेत् ॥२५॥

सान्वयार्थः—भिक्षू=साधुको सया=हमेशा उच्चावय=ऊच-नीच अर्थात् धनवान् और गरीब कुलं=कुल-घर-में समुयाणं=शुद्ध भिक्षाका अनुसन्धान-पूर्वक चरे = घूमना चाहिए, (किन्तु) नीयं=गरीब कुलं=कुल-घर को अङ्कम्भ=छोड़कर ऊसढं=धनवान्के घर-पर नाभिधारण= नहीं जाना चाहिए ॥२५॥

टीका—‘समुयाणं’ इत्यादि । भिक्षुः सदा = नित्यम् उच्चावयम् = उदक् = उच्चं धनधान्यादिसमृद्धम्, अवाक् = अवचं = तद्विकलं कुलं प्रति समुदानं गृहस्थसमुदायसम्बन्धि भैक्ष्यं, न त्वेकस्मिन्नेव गृहे तत्राऽऽधाकर्मादिदोषसम्भवादिति भावः, चरेत् गच्छेत् । नीच = विभवविधुरं कुलम् अतिक्रम्य = उल्लङ्घय परित्यज्येति यावत्, उच्छ्रितं = समृद्धं कुलं नाभिधारयेत् = त गच्छेत् प्रचुरसरसभक्तपानादिलिप्सया निर्धनं विहाय विभवसंपन्नं सदन नाभिगच्छेत्, किन्तु उभयत्रापि यायादिति भावः । ‘समुयाणं’ इति-पदेनाऽनेकगृ-हतः स्वल्पं-ग्रहणाद् भिक्षाया निर्दोषता सूचिता । ‘उच्चावयं’ इति-पदेन समभावो व्यक्ती-कृतः । ‘नीयं कुलं’ इत्युत्तरार्द्धेन रसलोलुपतापरित्याग आविष्कृत इति ॥ २५ ॥

६ ७ ८ ९ १० १
सूलम्—अदीणा वित्तिमेसिज्जा, न विसीएज्ज पंडिए ।

३ २ ४ ५
अमुच्छिआ भोयणम्मि, मायन्ने एसणारए ॥२६॥

‘समुयाणं’ इत्यादि । भिक्षु सदा धन-धान्य आदिसे समृद्ध कुलोमे तथा धन-धान्यहीन कुलोमें समुदानी भिक्षाके लिए गमन करें । एकही घर से भिक्षा न ले क्योकि आधाकर्म आदि दोष लगनेकी सभावना है । निर्धन कुलको छोड़कर सरस भक्त-पानकी लालसासे सम्पत्तिशाली कुलमें भिक्षाके लिए नहीं जाना चाहिए ।

‘समुयाणं’ पदसे यह सूचित किया है कि अनेक कुलोसे थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेनेसेही भिक्षाकी निर्दोषता होती है । उच्चावयं, पदसे समभाव सूचित किया है । ‘नीयं कुलं’ इत्यादि उत्तरार्द्धसे रसलोलुपताका त्याग व्यक्त किया है ॥२५ ॥

‘समुयाणं’ इत्यादि । भिक्षु सदा धन-धान्य आदिसे समृद्ध कुलोमां तथा धन-धान्यहीन कुलोमां समुदानी भिक्षाने माटे गमन करे अथवा घरसे भिक्षा न ले. कारण के आधाकर्म आदि दोष लागवाने संभव छे निर्धन कुलने छोडीने सरस भक्त-पाननी लाल-साशी सम्पत्तिशाली कुलमां भिक्षाने माटे ननु न लेछे.

‘समुयाणं’ पदसे यह सूचित करवायां आंशुं छे के अनेक कुलोमांथी थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेवाथी अथवा भिक्षानी निर्दोषता नपवाय छे. उच्चावयं शब्दसे समभाव सूचित करेयां छे ‘नीयं कुलं’ इत्यादि उत्तरार्द्धसे रस-लोलुपतानो त्याग व्यक्त करेयां छे. (२५)

छाया-अदीनः वृत्तिमेषयेत् , न विपीदेत् पण्डितः ।

अमूर्च्छितो भोजने, मात्राज्ञ एषणारतः ॥ २६ ॥

सान्वयार्थः- पंडिए = बुद्धिमान् साधु भोजनम् = भोजनमें अमूर्च्छितो = गृद्धि-
लोलुपता-रहित मायन्ने = आहार-पानीकी मात्राको जाननेवाला एषणारतः = आहारकी
शुद्धिमें तत्पर अदीणो = दीनता नहीं दिखलाता हुआ वित्ति = भिक्षागोचरी-की एसिज्जा
= गवेषणा करे, (किन्तु भिक्षा न मिलने पर) न विसीएज्ज = खेद न करे ॥ २६ ॥

टीका- 'अदीणो' इत्यादि । पण्डितः = सकलभिक्षादोषज्ञः साधुः भोजने = आहारे
अमूर्च्छितः = अगृह्णुः मात्राज्ञः = मात्रां = भक्तपानेन स्वकीयोदरपूर्तिप्रमाणं क्षुन्निमित्तकवैक-
ल्यप्रशमनैकसाधनप्रमाणं वा जानातीति मात्राज्ञः, प्रमाणाधिकभोजनेन प्रमादादिदोषोद्भ-
वस्य संभवेन साधूनामाहारप्रमाणमवश्यं विधेयमिति । एषणारतः = उद्गमादिदूषणव्यतिरि-
च्यमानगवेषणपरायणः, अदीनः = दैन्यरहितः सन् वृत्ति-भिक्षालक्षणाम् एषयेत् = अन्वेष-
येत्, अलाभे सति न विपीदेत् = न खिद्येत् । 'अदीणो' इति-पदेन स्वदैन्याऽऽविष्करणे-
नाऽऽत्मनोऽधःपतनं शासनलघुता च प्रसज्यते, इति व्यज्यते । 'न विसीएज्ज' अनेन
भिक्षाया अलाभेऽपि स्वात्मप्रसन्नतां न परित्यजेदिति द्योतितम् । 'पंडिए' इत्यनेन
सर्वथापरिशुद्ध भिक्षाग्रहणयोग्यताऽऽर्वेदता । 'अमूर्च्छितो' इतिपदेनाऽऽहारादिलोलुपता

'अदीणो' इत्यादि । भिक्षाके समस्त दोषोका ज्ञाता मुनि आहारमें मूर्च्छा न रखें और आहार
के परिमाणका ख्याल रखें जितने आहारसे क्षुधावेदनीय उपशान्त होजाय वही आहारक परि-
माण है उससे अधिक आहार करनेसे प्रमाद आदि दोष उत्पन्न होते हैं इसलिए साधुओ को
आहारका परिमाण अवश्य करना चाहिए । साधु उद्गम आदि दोषोंको न लगाते हुए दीनताका
त्याग करके भिक्षाकी गवेषणा करे और भिक्षाका लाभ न हो तो खेद न करे

'अदीणो' पदसे यह प्रगट होता है कि दीनता दिखानेसे आत्माका अधःपतन और जिनशा-
सनकी लघुता होती है । 'न विसीएज्ज, पदसे यह सूचित किया है कि आहार-लाभ न हो तो
भी आत्मिक प्रसन्नताका परित्याग न करना चाहिए । 'पंडिए' पदसे सर्वथाशुद्ध भिक्षा ग्रहण

अदीणो० इत्यादि भिक्षाना अधा दोषानो ज्ञाता मुनि आहारमां मूर्च्छा न राषे अने
आहारना परिमाणो ख्याल राषे नेटला आहारथी क्षुधा वेदनीय उपशान्त थध नय ते
न आहारनु परिमाणु छे अथी वधारे आहार करवाथी प्रमाद आदि दोष उत्पन्न थाय
छे, तेथी साधुओअे आहारनु परिमाणु अवश्यं करवुं नेछेअे साधु उद्गम आदि दोषो न
लागवा देता दीनतानो त्याग करीने भिक्षानी गवेषणा करे, अने भिक्षानो लाभ न थाय तो
तेथी खेद न करे

'अदीणो' शब्दथी अेभ प्रकट थाय छे के दीनता अताववाथी आत्मानु अधःपतन अने
जिनशासननी लघुता थाय छे न विसीएज्ज शब्दथी अेभ सूचित कथुं छे के आहारलाभ
न थाय तो यथु आत्मिक प्रसन्नतानो परित्याग न करवो नेछेअे पंडिए शब्दथी सर्वथा

निराकृता । 'मायन्ने' इत्यनेन निर्दोषसरसभक्तपानादौ प्राचुर्येण दीयमानेऽपि प्रमाणाधिकं न ग्राह्यमिति स्पष्टीकृतम् । 'एसणारए' इति-पदेनाऽऽधाकर्मादिसकलभिक्षादोषानुसन्धानेनैव विशुद्धभिक्षाग्रहणं भवितुमर्हतीत्याविष्कृतम् ॥२६॥

मूलम्—बहुं परघरे अत्थिविविहं खाइमसाइमं ।

१४ १२ १३ १५ ७ ९ ८ १० ११

न तत्थ पंडिओ कुप्प, इच्छा देज्ज परो न वा ॥२७॥

छाया—बहु परगृहे अस्ति विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।

न तत्र पण्डितः कुप्येत्, इच्छा दद्यात् परो न वा ॥२७॥

सान्वयार्थः—परघरे=गृहस्थके घरमें विविहं = नाना प्रकारका खाइमं = दाख पिस्ता बादाम आदि खाद्य साइमं=एलची लूंग आदि स्वाद्य बहुं=बहुत अत्थि=हैं, (किन्तु) इच्छा=इच्छा-मरजी-है कि परो = गृहस्थ देज्ज-देवे वा =अथवा = न = न देवे । नहीं देने पर तत्थ = उस गृहस्थ पर पंडिओ = बुद्धिमान् साधु न कुप्पे=कुपित न होवे ॥२७॥

टीका—'बहुं' इत्यादि । परगृहे=गृहस्थभवने विविधं = नैकप्रकारं खाद्यं = द्राक्षापिस्तावादामादिकं, स्वाद्यम् = एलालवङ्गादिकम् बहु = प्रभूतमस्ति, किन्तु इच्छा चेत् परः = गृहस्थः दद्यात् न वा दद्यात्, तत्र=दातरि, यद्वा तत्र=खाद्ये स्वाद्ये तु अदीयमाने सति न कुप्येत्=न क्रुध्येत्—'कीदृशोऽयमविवेकी ? प्रचुरेऽपि बहुविधखाद्यादिके विद्य-

करनेकी योग्यता व्यक्त होती है । अमुच्छिओ, पदसे आहार आदिकी लोल्लपताका त्याग ध्वनित होता है मायन्ने पदसे यह सूचित किया है कि निर्दोष और सरस आहार अधिक प्राप्त हो रहा हो तो भी प्रमाणसे अधिक नहीं ग्रहण करना चाहिए । एसणारए पदसे यह ध्वनित किया है कि आधाकर्म आदि भिक्षाके समस्त दोषो का अनुसन्धान करने से ही विशुद्ध भिक्षाका ग्रहण होना संभव है ॥२६॥

'बहु' इत्यादि । गृहस्थके घरमें भाँति-भाँतिके खाद्य और भाँति-भाँतिके स्वाद्य विद्यमान रहते हैं, उसकी इच्छा हो तो देवे न हो तो न देवे । यदि न दे तो साधुको ऐसा क्रोध न करना चाहिए कि,—यह कैसा अविवेकी है कि इतना बहुत खाद्य स्वाद्य मौजूद होनेपर भी साधुको नहीं

शुद्ध भिक्षा ग्रहण करवानी योग्यता व्यक्त थाय छे अमुच्छिओ शब्दथी आहार आदिनी लोल्लपतानो त्याग ध्वनित थाय छे मायन्ने शब्दथी 'ये' सूचित करवामा आण्युं छे के निर्दोष अने सरस आहार वधारे प्राप्त थर्थ रह्यो होय तो यणु प्रमाणथी वधारे ग्रहण न करवो जेधये एसणारए शब्दथी 'ये' सूचित करवामा आण्युं छे के आधाकर्म आदि भिक्षाना अधा दोषोनु अनुसंधान करवथी न विशुद्ध भिक्षानु ग्रहण संभवित छे (२६) 'बहु' इत्यादि गृहस्थना घरमां तरेड तरेडना पाद्य अने लात लातनां स्वाद्य विद्यमान होय छे, ते तेनी इच्छा होय तो आपे अने न होय तो न आपे जे न आपे तो साधुज्ये जेवे क्रोध न करवो जेधये के, 'आ' केवे अविवेकी छे के 'आ' केवे अधां पाद्य-स्वाद्य

माने साधवे न ददातीति क्रोधावेशदूषितान्तःकरणो न भवेत् । अत्र 'पंडिण्' इति-पदेन सदसद्विवेकशालित्वं, तेन च मनोविजयित्वमावेतिम् ॥२७॥

एतदेव प्रपठ्यते—'सयणा०' इत्यादि ।

२ ३ ४ ५ ६ ७
मूलम्—सयणासणवत्थं वा, भक्तं पाणं व संजए ।

७ ११ १२ ८ ९ १०
अर्दितस्स न कुप्पेज्जा, पच्चक्खेवि य दीसउ ॥२८॥

छाया—शयनासनवस्त्रं वा, भक्तं पानं वा संयतः ।

अददतो न कुप्येत्, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ॥२८॥

पूर्वोक्त विषय को ही विशद करते हुए कहते हैं—

सान्त्वयार्थः—सयणासणवत्थं—शयन-वसति, आसन-पाटलादिक, वस्त्र-चादर आदि वा=अथवा भक्तं=आहार व=तथा पाणं=पानी आदि किसी भी वस्तुके पच्चक्खेवि य=प्रत्यक्ष-सामने पढ़ी दीसउ=दीखने पर भी अर्दितस्स=नहीं देते हुए गृहस्थ पर संजए=साधु न कुप्येज्जा=कोप न करे, (क्योंकि)—“इच्छा देज्ज परो न वा” देवे न देवे गृहस्थकी मरजी है, ऐसा गाथासे संबंध है ॥२८॥

टीका—संयतः शयनासनवस्त्रं=शयनं च आसनं च वस्त्रं चेत्येषां समाहारः, तत्र शय्यतेस्मिन्निति शयनं वसतिः, आस्यते=उपविश्यतेऽस्मिन्निति-आसनं=पीठफलाकादिकं, वस्यते=आच्छाद्यते शरीरमनेनेति वस्त्रं=शाटकादिकं, भक्तं=भोज्यं, पानं=पेयम् अददतः=अप्रयच्छतः, (अत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठी,) प्रत्यक्षेऽपि दृश्यमाने शयनादौ न कुप्येत्=कोपावेशेन चित्तविकृतिं न कुर्यादिति सूत्रार्थः ॥२८॥

१ ४ ३ २ ५ ६ ७
मूलम्—इत्थियं पुरिसं वावि, उहरं वा महल्लगं ।

८ ९ १० १४ १२ ११ १३ १५
वंदमाणं न जाएज्जा, नो अ णं फरुसं वए ॥२९॥

देता यहाँ 'पंडिण्' पदसे सत् और असत्का विवेक प्रगट किया है और उससे मनको जितना सूचित किया है ॥२७॥

इसीका विस्तार पूर्वक कथन करते हैं 'सयणा०' इत्यादि

यदि कोई गृहस्थ शय्या, आसन, वस्त्र, भक्त या पान सामने दिखाई देनेपर भी साधुको न दे तो भी साधु क्रोध न करे ॥२८॥

हाजर होवा छतां पणु साधुने आपतो नथी. अही पंडिण् शब्दथी सत् अने असत्तेनो विवेक करीं छे, अने तेथी मनने छतवानुं सूचित करुं छे. (२७)

अनुं विस्तारपूर्वक कथनकरे छे—सयणा० इत्यादि

जे कौं गृहस्थ शय्या, आसन, वस्त्र, भक्त या पान सामने देखातां होवा छता पणु साधुने न आपे तो पणु साधु क्रोध न करे. (२८)

छाया स्त्रियं पुरुषं वाऽपि, डहरं वा महान्तम् ।

वन्दमानं न याचेत्, नो च तं परुषं वदेत् ॥२९॥

मान्वयार्थः—इत्थियं=स्त्री वावि=अथवा पुरिसं=पुरुष डहरं=छोटा बालक वा=या सहलग्नं=बड़ा-जुवान या बुड्ढा हो वंदमाणं=वन्दना करते हुएको न जाएजा=न जाँचे-उससे भिक्षाके लिए याचना न करे, (और दूसरे समय याचना करने पर यदि किसी कारण वश वह भिक्षा न दे तो) णं=उस गृहस्थके प्रति साधु फरुसं=कठोर वचन नो य=नहीं वए=बोले ॥२९॥

टीका—'इत्थियं' इत्यादि । स्त्रियम् अपिवा पुरुषं डहरं=बालकं, 'देशीयोऽयं शब्दः' जन्मतः पञ्चदशवर्षं यावत्, वा=अथवा महान्तं=तरुणं स्थविरं वा वन्दमानं=वन्दनां कुर्वन्तं न याचेत्=न-भिक्षेत । वन्दनप्रवृत्तस्य गृहस्थस्य याचनायां चित्तविक्षेपादिना वन्दनान्तरायः, चित्तवैरस्य प्रसङ्गश्च—'कीदृशोऽयं कुक्षिम्भरिः साधुर्यद्वन्दनसमयेऽपि न धैर्यं दधाति. भिक्षायामेव दत्तचित्तो रङ्गव'—दित्यादि । अन्यदा याचितेऽपि भक्त्यानाद्यभावाद्ददाने तं च गृहस्थं परुषं=निष्ठुरवाक्यं न वदेत् मुनिरिति शेषः । यथा व्यर्थैव त्वद्वन्दनचेष्टा, नालं साधुतोपाय, केवलं किशुककुसुमवद्भावरमणीयतामात्रमाकलयसी'-त्यादि ॥२९॥

मूलम्—जे न वंदे न स कुप्पे, वंदिओ न ससुक्कसे ।

एवमन्नेसमाणस्स, सामन्नमणुचिट्ठई ॥३०॥

'इत्थियं' इत्यादि । स्त्री, बालक, युवक (जुवान) या बुद्ध, वन्दना कर रहा हो तो उस समय भिक्षाकी याचना नहीं करनी चाहिए । कोई वन्दना कर रहा हो और उससे याचना करे तो वन्दनामें अन्तराय पडती है, और गृहस्थके मनमें ऐसा विचार आता है कि-देखो यह साधु कैसा पेटु (पेट भर) है कि वन्दना करते समय भी धीरज नहीं धरता, रंककी तरह केवल भिक्षाकी चिन्ता कर रहा है अन्य समय याचना करने पर भी यदि गृहस्थ भिक्षा न दे तो कठोर वचन न बोले कि—बस रहने दे, तेरी वन्दना बृथा है इससे साधुओंकी सन्तोष नहीं हो सकता, तू टेमू (पलाश केसूडा) के फूलकी नाई दिखावटी रमणीयता है (नम्रता) धारण करता है इत्यादि ॥२९॥

इत्थियं० इत्यादि स्त्री, भाणक, जुवान या बुद्ध वंदना करी रखां डोय तो ते वपते तेमनी पासे भिक्षानी याचना करवी न लेधये. केध वंदना करी रखां डोय अने तेमनी पासे याचना करवामां आवे तो वंदनामा अतराय पडे छे, अने गृहस्थना मनमां जेवो विचार आवे छे के 'जुओ, आ साधु केवो पेट लरो छे के वंदना करती वपते पणु धीरज धरतो नथी, रंकनी पेठे केवण भिक्षानी' चिता करी रह्यो छे' णीज्ज समये याचना करतां पणु ले गृहस्थ भिक्षा न आवे तो साधु कठोर वचन न बोले के 'अज, रहेवा हो, तारी वंदना बृथा छे, तेथी साधुजोने संतोष नथी थर्ध शक्ते; तुं केसूडांनो कूलनी पेठे देभाडवानी रमणीयता (नम्रता) धारणु करनारो छे,' इत्यादि (रट)

छाया—यो न वन्दते न तस्य कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षयेत् ।

एवमन्वेषमाणस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥३०॥

सान्वयार्थः—जे=जो गृहस्थ न वंदे=साधुको वन्दना न करे तो से=उस पर न कुप्ये=क्रोध न करे (और) वंदिओ=वन्दना किया हुआ न समुक्कसे=गर्वित न होवे—घमंड न करे । एवं=इस प्रकार अन्नेसमाणस्स=जिनशासनकी आराधना करनेवालेके सामन्नं=साधुपना-चारित्र अणुचिद्दुइ=आराधित स्थिर--होता है, अर्थात् मान अपमानमें समान रहनेवाले मुनिको ही सम्यक् प्रकारसे चारित्रकी आराधना होती है ॥३०॥

टीका—‘जे’ इत्यादि । यो गृहस्थः साधुं न वन्दते से = तस्य अवन्दमानस्य न कुप्येत् = कीदृगयं विवेकविकलः, यन्मामुपस्थितं साधुमवमन्यते’ इति कृत्वा कोपावेशेन मनो विकृतं न विदध्यात् । वन्दितः = सार्वभौमादिनाऽपि नमस्कृतश्च न समुत्कर्षयेत् आत्मनामिति शेषः, ‘अहमेतादृशो माननीयो जगति, यदेवंविधा नरेन्द्रादयोऽपि मम चरणौ प्रणमन्ती’—त्याद्यभिमानं न कुर्यादित्यर्थः । एवम् = उक्तप्रकारेण अन्वेषमाणस्य=जिनशासनमनुतिष्ठतः साधोः श्रामण्यं = साधुत्वं चारित्रमिति यावत् अनुतिष्ठति = स्थिरीभवति, मानापमानसमानमानसस्यैव साधोनिरतिचारचारित्रं सम्पद्यत इति भावः ॥३०॥

स्वपक्षे चौर्यं निषेधयति—‘सिया’ इत्यादि ।

मूलम्—सिया एगइओ लद्धुं विणिगूहई ।

मामेयं थाइयं संतं, दट्टणं सयमायए ॥३१॥

छाया—स्यात् एककः लब्ध्वा, लोभेन विनिगूहते ।

ममेदं दर्शितं सद्, दट्टा स्वयमाददीत ॥३१॥

‘जे’ इत्यादि कोई वन्दना न करे तो उसे उसपर कुपित न होना चाहिए कि—यह कैसा अविवेकी है कि सामने उपस्थित साधुका अनादर करता है, तथा चक्रवर्ती आदि राजा-महाराजा भी वन्दना करें तो आत्मप्रशंसा (घमंड) न करे की—मैं ससारमें ऐसा माननीय हूं कि ऐसे राजा महाराजा भी मेरे चरणों में गिरते हैं इस प्रकार जिन-शासनमें स्थित साधुका चारित्र स्थिर (दृढ) रहता है, अर्थात् सत्कार और तिरस्कार होने पर अन्तःकरणमें विकार न करनेवाले अनगारका आचार निरतिचार पलता है ॥३०॥

जे० इत्यादि ठीक साधुने वंदना न करे तो साधुके तेना पर कुपित न थपुं ओधजे के ‘आ डेयो अत्रवेडी छे के सामे ओलेला साधुने अनादर करे छे ?’ तथा चक्रवर्ती अ हि राजा-महाराज पणु वंदना करे तो आत्मप्रशंसा (घमंड) न करे के हुं जगतमां ओयो माननीय छु के ओवा राज महाराज पणु मारा चरणोमा पडे छे.’ ओ रीते जिनशासनमां स्थित ओवा साधुत्वं चारित्र स्थिर (दृढ) रहे छे, अर्थात् सत्कार अने तिरस्कार गना पणु अंतःकरणमां विकार न करनारा अनगारने आचार निरतिचार पणु पडे छे. (३०)

अव स्वपक्ष-साधुपक्ष में चोरी का निषेध बताते हैं—

सान्वयार्थः—सिया=कदाचित्-अगर एगइओ=जघन्यप्रकृतिवाला अकेला गोचरी गया हुआ साधु लद्धं=सरस अशनादि पाकर लोभेण=खानेके लोभसे (उसे) विणिगू-हइ=छिपा लेवे-नीरस वस्तुको ऊपर रखकर सरस वस्तुको उसके नीचे दवा रखे, क्योंकि मम=मेरी दाइयं संतं=दिखलाई हुई एयं=इस वस्तुको ददृष्टं=सरस देखकर सय=स्वयं-आचार्य आदि खुद आयए=लेले गे अर्थात् मुझे नहीं देंगे या थोड़ी देगे ॥३१॥

टीका—स्यात् = कदाचित् एककः = कश्चिज्जघन्यप्रकृतिः साधुः लब्ध्वा = प्राप्य आहारादिकमिति शेषः लोभेन = उत्कृष्टसरसवस्तुलिप्सया विनिगूहते = संवृणुते-नीरस-वस्तुजातमुपरि कृत्वोत्कृष्टरसवद्वस्तु समपह्ननुते । अपह्नवे हेतुमाह-ममेदमुत्कृष्टं वस्तु 'दाइयं' = दर्शितं सत् दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमेवाऽऽददीत = गृह्णीयात् , न मह्य दास्य-ति अल्पं वा दास्यतीति भावः ॥३१॥

अपह्नवकरणस्य दोषमाह—'अत्तद्वा' इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ५
मूलम्—अत्तद्वागुरुओ लुद्धो, बहु पावं पकुव्वइ ।

८ ७ ६ ९ १० ११ १२ १३
दुत्तोसओ य से होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥३२॥

छाया-—आत्मार्थगुरुको लुब्धः, बहुपापं प्रकुरुते ।

दुस्तोपकश्च स भवति, निर्वाणं च न गच्छति ॥३२॥

पूर्वोक्त आचरण करनेवाले साधु की क्या दशा होती है ? सो बताते हैं—

सान्वयार्थः—अत्तद्वागुरुओ = अपने स्वार्थ साधनमें लगा हुआ लुद्धो = जिहाका लोलुपी से = वह साधु बहु = बहुत पावं = पाप पकुव्वइ = करता है, य = और (इस भवमें) दुत्तोसओ = असन्तोषी होइ = बना रहता है, च = तथा निव्वाण = मोक्षको न गच्छइ = नहीं पाता है, अर्थात् अनन्तसंसारी होकर चतुर्गतिमें भटकता है ॥३२॥

टीका—आत्मार्थगुरुकः = आत्मनः अर्थ = प्रयोजनमित्यात्मार्थः स एव गुरुः =

स्वपक्षमें चौर्यका निषेध करते हैं 'सिया' इत्यादि ।

जो क्षुद्रप्रकृतिवाला साधु उत्कृष्ट सरस आहार प्राप्त करके इस विचार से उसे छिपा लेता है कि—मैं इसे दिखा दूंगा तो आचार्य आदि इसे ले लेंगे—मुझे न देंगे अथवा थोड़ासा देगे ॥३१॥

अत्तद्वा, इत्यादि वह दूसरोसे छिपाकर सरस आहार करनेवाला स्वार्थ साधनमे समर्थ साधु

स्वपक्षमा चौर्येण निषेध करे छे—सिया इत्यादि.

जे क्षुद्र प्रकृतिवाले साधु उत्कृष्ट सरस आहार प्राप्त करीने जेवा विचारथी जेने छुपावे छे—हुं जेने जतावीश तो आचार्य आदि जे लछ देखे, भने नही जे आपे अथवा थोडो जे आपसे' (३१)

अत्तद्वा० इत्यादि जे भीलथी छुपावीने सरस आहार करनारे स्वार्थ साधनमा समर्थ ।

प्रधानं यस्य स तथोक्तः स्वार्थसाधनसमर्थ इत्यर्थः, यद्वा आत्मार्थमेव गुरुः = प्रधानं वस्तु यस्य च तथोक्तः अन्याऽलक्षितोत्कृष्टरसवस्तुजाताऽऽस्वादकः अत एव लुब्धः = मनोरसरसाभिलाषी सन् बहु = प्रचुरं पापम् = आत्ममालिन्यजनकं दुष्कर्म करोति = विधत्ते, स चाऽस्मिन् जन्मनि दुस्तोपकः = अन्तप्रान्ताद्याहारेण दुःसम्पादनीयतोपः-असन्तोषी भवति, निर्वाणं = मोक्षं च न गच्छति = नो पैति ।

‘अत्तद्वागुरुओ’ इत्यनेन पुद्गलानन्दित्वं, ‘लुब्धो’ अनेन मायापरत्वं तस्करवृत्तित्वं, च ‘प्रकटितम्, दुत्तोसओ’ इत्यनेन चेप्सितवस्त्वप्राप्ती सन्तोषाभावः सूचितः ॥३२॥

गुरुसमक्षापहारमुक्त्वा गुरुपरोक्षतोऽपहारकमाह—‘सिया’ इत्यादि ।

१ २ ५ ३ ४
मूलम्—सिया एगइओ लद्धुं विवाहं पाण-भोयणं ।

६ ७ ८ ९ १० ११
भद्गं भद्गं भोच्चा विविन्नं विरसमाहरे ॥३३॥

छाया—स्यात् एककः लब्ध्वा, विविधं पान-भोजनम् ।

भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा, विवर्णं विरसमाहरेत् ॥३३॥

सान्वयार्थः—एगइओ = अकेला पूर्वोक्त स्वभाववाला रसलोलुपी साधु गोचरी गया हुआ सिया = कदाचित्-कोई वस्तु ऐसा भी करे कि विविधं = नाना प्रकारके पाण-भोयणं = आहार-पानीको लद्धुं = पाकर (उसमेंसे) भद्गं भद्गं = अच्छे-अच्छे सरस आहारको भोच्चा = वहीं कहीं एकान्तमे खाकर विविन्नं = विकृत वर्णवाले बाल चने आदिका बना हुआ तुप आदि जिसमें बहुत हों ऐसे (तथा) विरसं = लवणादि रस सहित अशनादिको आहरे = उपाश्रयमें लावे ॥३३॥

टीका—स्यात् = कदाचित् एककः = कश्चित् रसलोलुपी विविधं पान-भोजनं लब्ध्वा भिक्षाचर्यायामेव यत्र-कुत्रचिदलक्षितप्रदेशे भद्रकं भद्रकम् = उत्कृष्टमुत्कृष्टं बहु

मनोज्ञ रसका अभिलाषी होकर अत्यन्तपापकर्मका उपार्जन करता है । वह इस जन्ममे साधारण नीरस आहारसे कभी सन्तुष्ट नहीं होता न मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

‘अत्तद्वागुरुओ’ इस पदसे पुद्गलानन्दीपन लुब्धो, पदसे मायाचारमें परायणता तथा तस्करवृत्ति (चोरी) और दुत्तोसओ, पदसे अभीष्ट वस्तु न मिलनेपर असन्तोष सूचित किया है ॥३२॥

गुरुसमक्षका अपहार कहकर अब गुरुके परोक्षका अपहार कहते हैं ‘सिया’ इत्यादि ।

साधु मनोज्ञ रसको अभिलाषी थडने अत्यंत पापकर्मनु उपार्जन करे छे ते आ जन्ममा साधारण नीरस आहारथी कदापि सन्तुष्ट न थतां मोक्षने प्राप्त करी शकते नथी.

अत्तद्वागुरुओ अथे पदथी पुद्गलानन्दीपणु, लुब्धो पदथी मायाचारमा परायणता तथा तस्करवृत्ति (चौर्यवृत्ति) अने दुत्तोसओ पदथी अभीष्ट वस्तु न भणवाथी उपजते असन्तोष सूचित कर्यो छे (३२)

गुरु समक्षको अपहार कडिने डवे गुरुनी परोक्षको अपहार कडे छे—सिया० धर्तादि.

विधानादिषु प्रशस्त प्रशस्तमेव घृतपूराऽपूपादिक भुक्त्वा विवर्णं=विकृतवर्णं वल्लचणका-
दिनिष्पन्नं तुपादिवहुलं विरसं=लवणादिरसवर्जितमन्नादिकम् आहरेत्=आनयेत् वसता-
विति शेषः ॥३३॥

एवं करणे किं प्रयोजनम् ? इत्याह—‘जाणंतु’ इत्यादि ।

१२ १ २ ३ ६ ४ ५
मूलम्—जाणंतु ता इमे समणा आययद्गी अयं मुणी

७ ११ १० ८ ९
संतुष्टो सेवइ पंतं लूहवित्ती सुतोसओ ॥३४॥

छाया—जानन्तु तावत् इमे श्रमणाः आत्मार्थी अयं मुनिः ।

सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोपकः ॥३४॥

वह ऐसा क्यों करता है इसमें कारण कहते हैं—

सान्वयार्थ — ता=प्रथम इमे=ये-उपाश्रयमे रहे हुए दूसरे समणा=साधु (मुझे इस प्रकार) जाणंतु=जाने कि अयं=यह मुणी=साधु आययद्गी=मोक्षार्थी-आत्मार्थी है, संतुष्टो जैसा मिला उसीमें संतोष करनेवाला लूहवित्ती=सरस स्निग्धादि आहारकी अभिलाषारहित सुतोसओ=थोड़े आहारसे भी संतोषी है और पंतं=वासी कुसी तथा निस्सार अन्नादिकां सेवई=सेवन करता है ॥ ३४ ॥

टीका— तावत्=निश्चयेन इमे=मानसप्रत्यक्षविषया; उपाश्रयस्थाः श्रमणाः=साधवः अयं मुनिः आत्मार्थी=आत्महितार्थी सन्तुष्टः=यथालब्धसन्तोषी रूक्षवृत्तिः=सरसाऽनभिकाङ्क्षी सुतोपकः=अल्पेनापि परितोपशीलः प्रान्तं=पर्युषितं निस्सारं वाऽन्नादिकं सेवते इति मा जानन्तु ॥ ३४ ॥

कदाचित् कोई रसलोलुपी साधु विविध प्रकारका पान-भोजन पाकर अच्छा भोजन भिक्षाचरीमें ही किसी एकान्त स्थानमें खावे, और बाल चणक आदि अन्त-प्रान्त तथा विनानमक मसालेका ठंडा आहार उपाश्रयमें ले आवे ॥३३॥

ऐसा करनेका प्रयोजन कहते हैं—‘जाणंतु’ इत्यादि ।

ये उपाश्रयमें स्थित साधु मुझे ऐसा समझें कि—‘यह साधु आत्मार्थी है, जैसा मिला उसीमें संतोषी है, सरस आहारकी आकांक्षा नहीं करता, थोड़े ही आहारसे सन्तुष्ट हो जाता है और साररहित ठंडा अन्त-प्रान्त आहारका सेवन करता है’ ॥३४॥

उदाहरित कोष्ठ रसलोलुपी साधु विविध प्रकारका पान-भोजन भोजनमें साइ-साइ भोजन भिक्षाचरीमा ज कोष्ठ अंकांत स्थानमां भाई ले अने वाद यथा आदि अंत-प्रान्त तथा भिक्षा भरया विनानो नीरम ठंडो आहार उपाश्रयमां लक्ष आवे (३३)

अभ करवानु प्रयोजन ठंडे छे —जाणंतु० इत्यादि

आ उपाश्रयमा रहेला साधु भने अवेो माने के—‘आ साधु आत्मार्थी छे, जेवे आहु २ भयेो तमा संतोष माननारे छे, सरस आहारनी आकांक्षा करतो नथी थोडा ज आहारथी

किमर्थं स्वदोषगोपनमाचरती ?-त्याह—'पूयणट्टा' इत्यादि ।

मूलम्-पूयणट्टा^१ जसोकामी^२, माणसम्मानकामए^३ ।

बहुं^४ पमवई^५ पावं^६, मायासल्लं^७ च कुव्वइ^८ ॥ ३५ ॥

छाया—पूजनार्थः यशःकामी, मानसम्मानकामुकः ।

बहु प्रसूते पापं, मायाशल्यं च कुरुते ॥ ३५ ॥

उपर्युक्त साधु के दोष बताते हैं—

सान्त्वयार्थः—पूयणट्टा=वस्त्र-पात्रादिसे सत्कार चाहनेवाला जसोकामी=अपने मह-
त्त्व और प्रसिद्धिका इच्छुक माणसम्मानकामए=मान-सम्मानका अभिलाषी साधु बहुं=
बहुत पावं=पाप मोहनीयादि-को पमवई=पैदा करता है, च=और मायासल्लं=कपटरूप
भावशल्यको कुव्वइ=उत्पन्न करता है । तात्पर्य यह है कि-हृदयमें खुचे हुए बाणके अग्र-
भागरूप द्रव्य-शल्यकी तरह हृदयमें रहा हुआ यह मायारूप भाव-शल्य मनुष्यको, अनन्त
दुस्सह दुःखोंका कारणभूत चतुर्गतिक संसारमें घूमाता हुआ अविचलशान्तिमय सुखसे
वञ्चित कर देता है ॥ ३५ ॥

टीका—पूजनार्थः=पूजनं=वस्त्र पात्राऽन्न पानादिना सत्कारः स एवार्थः=प्रयोजनं
यस्य स तथोक्तः प्रशस्तवस्तुपभोगार्थीत्यर्थः, अत एव यशःकामी=यशः=स्वमहत्त्वप्रसिद्धि-
स्तत्कामयते=इच्छतीति 'अहो ! अयमेव स' इत्येव प्रशंसावचनाभिलाषीत्यर्थः, मानस-
म्मानकामुकः=मानश्च सम्मानश्चेति मानसम्मानौ तयोः कामुक इति विग्रहः, तत्र मानः
अभ्युत्थानादिलक्षण आदरः, सम्मानः=गुणोत्कीर्त्तनेन गौरवप्रकटनम् आदरगौरवाभिला-
षुक इत्यर्थः । एवं कुर्वन् साधुः किं सम्पादयती ? त्याह बहु = प्रभूतं पापं = दुष्कृतं
प्रसूते = जनयति च = पुनः माया शल्यं = माया = शाठ्येन मनोवाकायप्रवृत्तिः, सैव

अपना दोष छिपाता क्यों है ? सो कहते हैं—'पूयणट्टा' इत्यादि ।

अच्छे-अच्छे वस्त्र पात्र अन्न पान आदिसे अपना सत्कार चाहनेवाला, प्रशस्त वस्तुओंके
भोगका लोलुपी, 'अहो ! यह वहीं है' ऐसे यशका अभीलाषी मान (आनेपर खडा होजाना)
तथा सम्मान (गुणगान द्वारा गौरव प्रकट करना) की इच्छावाला साधु बहुत पापोंको तथा
कपटरूप मायाशल्यको उत्पन्न करता है । छातीमें चुभकर वहीं टूट जानेवाले द्रव्य-शल्य (तीरकी

संतुष्ट थर्ष जय छे, -अने साररहित ठडा अंत-प्रात आहारतु सेवन करे छे, (३४)

पोताना दोष केम छुपावे छे ? ते कहे छे—पूयणट्टा० इत्यादि

सारां-सारां वस्त्र पात्र अन्न-पान आदिथी पोतानो सत्कार आह्वान, प्रशस्त वस्तुओंनां-
लोगनो लोलुपी-अहो ! ओ आ ज छे' ओवा यशनो अभिलाषी, मान (आवतां ज उभा
थर्ष जपु) तथा सम्मान (शुणुगानद्वारा गौरव प्रकट करवु) नी इच्छावाणो साधु धणुं
पापोने तथा कपटइय मायाशल्यने उत्पन्न करे छे. छातीमा पेसने त्पां ज तूटी जनारा

शल्यं = शल्यते = वाध्यते पीड्यते आत्माऽनेनेति विग्रहः, मायालक्षणं भावशल्यं कुरुते = उत्पादयति, हृदयनिखातत्रुटितवाणाग्ररूपद्रव्यशल्यवदिदं मायारूपं भावशल्यं हृदयस्थितं सत् निरन्तराऽनन्तदुस्सहदुःखकारणीभवत् चतुर्गतिकसंसारे भ्रामयत् अविचलशान्तिमुखाद् दूरतरीकरोति तादृशं साधुमिति भावः ॥ ३५ ॥

मद्यपानप्रतिषेधमाह—‘सुरं वा’ इत्यादि ।

५ ६ ७ ९ ८ १० ११ १२
मूलम्—सुरं वा, मेरुं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं ।

१३ १४ १५ १ ३ ४ २
ससक्खं न पिवे भिक्खू, जसं सारक्खम्पणो ॥ ३६ ॥

छाया—सुरां वा मेरुं वाऽपि, अन्यद् वा माद्यकं रसम् ।

ससाक्षि न पिवेद् भिक्षुः, यशः संरक्षन् आत्मनः ॥ ३६ ॥

अब मद्यपान का दोष बताते हैं—

सान्वयार्थः—भिक्खू = साधु अप्पणो = अपने जसं = संयमको सारक्खं = वचाता हुआ सुरं = गौड़ी माध्वी और पैष्टी, इन तीनों प्रकार की मदिराको वा = ‘वा’ शब्दसे अथवा बारहों प्रकारकी मदिरा को वावि = तथा मेरुं = सरकेको अन्नं वा = और भी दूसरे प्रकारके मज्जगं = मदजनक भंग गांजा अफीम चरस आदि मादक रसं = रस-द्रव्यको ससक्खं = केवली भगवान्की साक्षीसे अर्थात् उनका ज्ञान सर्वव्यापक होनेसे एकान्त में भी न पिवे = नहीं पिये ॥ मदिराके बारह भेद इस प्रकार हैं—(१) महुआ (२) फणस (३) दाख, (४) खजूर, (५) ताड (ताडी), (६) गन्ना = सेरडी, (७) धावडीके फूल, (८) मक्खियोंकी शहद (९) कैठ (कठोती), (१०) मधु (अन्य प्रकारकी शहद), (११) नारियल, और (१२) पिष्ट (आटा), मदिरा इन बारह वस्तुओंसे बनती है ॥ ३६ ॥

टीका—भिक्खुः आत्मनः = स्वस्य यशः = संयम संरक्षन् सुरां = मदिरां, सा च त्रिविधा-गौड़ी, माध्वी, पैष्टी चे’ ति । तत्र गौड़ी = गुडनिष्पादिता, माध्वी = मधु(महुडा

नोक) की तरह हृदयमें स्थित मायारूप भावशल्य निरन्तर असीम व्यथाका कारण होता है, तथा चतुर्गति संसारमें इधर-उधर भटकता हुआ अविचल शान्तिमय सुखसे उस साधुको वञ्चित (अलग) कर देता है ॥३५॥

मद्य-पानक निषेध कहते हैं—‘सुरं वा’ इत्यादि ।

जो साधु अपने संयमकी रक्षा करना चाहते हैं उन्हें मदिरा या सिरका एकान्तमें भी

द्रव्य-शल्य (तीरनी अण्ण) नी पेठे हृदयमा रडिखुं मायाइय भाव-शल्य निरन्तर असीम व्यथानुं कारण्य भनं छे, तथा चतुर्गति संसारमा अड्डीं-तड्डीं लटकता अविचल शान्तिमय सुभथी अये साधुने वायत (रडित) करी नाणे छे (उप)

मद्यपानने। निषेध कडे छे—सुर वा० इत्यादि

जे साधु पोताना संयमनी रक्षा करवा धरुं छे छे, तेले मदिरा या सरके अकेतमां यधु

“संपादिता, पैष्टी = ब्रीह्यादिपिष्टनिर्वृतेति । यद्वा ‘पिट्टेण सुरा होइ’ इति वचनाद् ब्रीह्यादिपिष्टनिर्वृत्तैव सुरेत्युच्यते । चन्द्रहासाभिधं मद्यमिति वा । मेरकं = सरकानामधेयं मद्यम् । अन्यद्वा माद्यकं = मदजनकं रसम् । मादकत्वेन द्वादशविधमद्यस्य तदितरस्य विजयादेश्च सर्वस्य संग्रहः, तदुक्तमितरत्र मदहेतुद्रवद्रव्यं मद्यमित्यभिधीयते’ इति द्वादशविधमद्यानि यथा—

“माध्वीकं पानसं द्राक्षं, खार्जूरं तालमैक्षवम् ।

मैरेयं माक्षिकं टाङ्कं, माधुकं नारिकेलजम् ॥१॥

मुख्यमन्नविकारोत्थं, मद्यानि द्वादशैव च ।” इति ।

एतत्सर्वं सुरादिकं ससाक्षि न पिबेत्, साक्षिभिः केवल्यादिभिः सहेति ससाक्षि

कदापि न पीना चाहिए । मदिरा तीन प्रकारकी है (१) गौड़ी (२) माध्वी और (३) पैष्टी । गुड़से बनाई हुई गौड़ी, महुआसे बनाई हुई माध्वी तथा धान्य आदिके पिष्ट (आटे) से बनाई पैष्टी कहलाती है । ‘पिट्टेण सुरा होइ’ इस वचनसे यहि जान पडता है कि—धान्य आदिके आटेसे मदिरा बनती है । अथवा पैष्टी मदिरा ‘चन्द्रहास’ नामकी मदिरा समझनी चाहिए । इनके सिवाय भंग गाँजे आदि और कोई भी नशैली वस्तुका साधुको सेवन नहीं करना चाहिए जैसा कि कहा है—‘मदके कारण-स्वरूप पिघले हुए पदार्थको मद्य कहते हैं ।’ मद्य बारह प्रकारके समझने चाहिएँ वे ये है—

“(१) महुआका, (२) पनसा, (३) दाखका, (४) खजूरका, (५) ताडका (ताडी), (६) सठिका, (७) मैरेय-धौ-धावडीके फूलका, (८) (माक्षिक मक्खियोकी शहद) का, (९) टंक (कवीठ-कैथ) का, (१०) मधुका, (११) नारियलका और (१२) पिष्ट (आटे) का बना हुआ मद्य । ये मद्यके मुख्य भेद बारह है ।”

कदापि पीना न लेधये. मदिरा त्रय प्रकारनी छे, (१) गौडी, (२) माध्वी, (३) पैष्टी गौण मांथी बनावेली गौडी, महुडाभांथी बनावेली माध्वी, तथा धान्य आदिना पिष्ट (आटा) भांथी बनावेली पैष्टी कडेवाय छे. पिट्टेण सुरा होइ ये वचनथी येम मालुम पडे छे के-धान्य आदिना आटाथी मदिरा भने छे. अथवा पैष्टी मदिरा ‘चन्द्रहास’ नामनी मदिरा समझवी लेधये ते उपरांत लांग, गान्ने, भील-भील केध पणु केडी वस्तुनुं सेवन साधु न करे; येमके कलुं छे के—

‘मदनां कारण्य स्वरूप पीणयेता पदार्थने मद्य कडे छे’ मद्य बार प्रकारना समझवा, ते नीचे सुजण—

“(१) महुडानो, (२) इक्षुसनो, (३) द्राक्षनो (४) खजूरनो (५) ताडनो (ताडी), (६) शेरडीनो, (७) मैरेय-धावडीना कूलनो, (८) माक्षिक मद्यनो, (९) टंक (कौठा) नो; (१०) मधुनो, (११) नारिकेलनो, अने (१२) पिष्ट (आटा) नो भनेली मद्य येम मद्यना मुख्य भेद बार छे.

केवल्यादीनां साक्षित्वं कदापि क्वचिदपि प्रतिरोद्धुमशक्यं, तेषां सर्वज्ञत्वात्सर्वदर्शित्वाच्च, तेन एकान्तेऽपि न पिवेदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

७ २ १ ३ ४ ५ ६
मूलम्—पियए एगओ तेणो न मे कोई वियाणइ ।

८ १० ९ १२ ११ १४ १३
तस्स परसह दोसाइं नियडिं च सुणह मे ॥ ३७ ॥

छाया—पिवती एककः स्तेनः, न मे कोऽपि विजानाति ।

तरय पण्यत दोपान्, निकृतिं च शृणुत मे ॥ ३७ ॥

सान्प्रयार्थः—तेणो= जो भगवानकी आज्ञाके विना ग्रहण करनेवाला होनेके कारण चोर साधु एगओ=अकेला, एकान्तमें रहा हुआ अर्थात् अपने सहचर धर्मको भी छोड़ा हुआ 'मे=मेरे-इस मदिरापान-को या मुझे कोई=कोईभी न वियाणइ=नहीं जानता है' (ऐसा समझ कर) पियए=मदिरा पीता है, तस्स=उस साधुके दोसाईं=संयममें मलिनता पैदा करनेवाले दोषोंको परसह=देखो, च=और नियडिं=एक कपटको छिपानेके लिए किये जानेवाले दूसरे कपटको मे=मेरेसे सुणह=सुनो ॥३७॥

टीका—'पियए' इत्यादि । यः स्तेनः तीर्थङ्करानादिघृत्वेनाऽदत्ताऽऽदायित्वाच्चौरः एककः=एकान्तस्थितः आत्मसहचरं धर्ममपि विहाय वर्त्तमानः सन् 'न मे=न मां, न मम सुरादिपानं वा कोऽपि विजानाति' इति मत्वा पिवति=गल-विलाधः सयोगानुकूलव्यापार-विषयं करोति सुरादिकमिति शेषः, तस्य=द्रव्यलिङ्गिनः साधोः दोपान्=संयममालिन्यकारिचेष्टाविशेषान् पण्यत=ज्ञानविषयीकुरुत, च=पुनः निकृतिं=पूर्वकृतकपटावरणाय कपटान्त-

इन सबको केवली भगवानकी साक्षीसे न पिये । केवली भगवानकी साक्षी कभी कहीं नहीं रुक सकती, क्योंकि वे सर्वदर्शी है, अतः तात्पर्य यह हुआ कि एकान्तमें भी मद्य न पिये ॥३६॥

'पियए' इत्यादि । हे शिष्य । भगवान् तीर्थङ्करकी आज्ञाके विना ग्रहण करनेवाला, अत एव चोर, आत्माके सहचर धर्मको भी त्याग कर एकान्तमें स्थित होकर ऐसा समझता है कि—'मुझे या मेरे मदिरा-पानको कोई नहीं जानता' ऐसा जानकर मदिरा-पान करता है, 'उस द्रव्य-लिङ्गी साधुके संयमको द्रुपित करनेवाली चेष्टाको (दोषो) को तो देखो । एक तो मदिरापानका

ये अधाने केवली भगवानकी साक्षीसे न पिये । केवली भगवानकी साक्षी कभी कहीं रुक सकती नहीं, कारण के ते सर्वदर्शी है, अतएव तात्पर्य ये है के अकान्तमां पण्य मद्य पीये नहि (३६)

पियए० इत्यादि हे शिष्य । भगवान् तीर्थं करनी आज्ञा विना ग्रहण करनार अटके चोर, आत्माना सहचर धर्म ने पण्य त्यागीने अकान्तमा स्थित वर्त्तने अम समझे छे के- 'भारा आ मदिरापानने केअ नण्यतु नथी' अम समझने के मदिरापान करे छे ते द्रव्य-लिङ्गी साधुना संयमने द्रुपित करनारी चेष्टाओ (दोषो) ने तो नुओ । अक तो मदिरापानने भायाचार, वणी तेने छुपाववा भाटे थीण अनेक भायाचार अने भृषावाह आदिनुं

रकरणलक्षणं मायां, प्रथमकपटं सुरापानं, द्वितीयमनृतभाषणेन तत्संगोपनमिति भावः मे
=मम निरूपयतः सकशात् शृणुत=श्रवणगोचरीकुरुत । 'गुरुः शिष्यानामन्वय कथयतीति
भावः ॥३७॥

पूर्वप्रतिज्ञातदोषानुपदर्शयति—'वड्डई' इत्यादि ।

१३ ४ १ ६ ७ ५ २
मूलम्—वड्डई सुंडिया तस्स माया मोसं च भिक्खुणो ।

९ ८ १० ३ ११ १२
अयसो य अनिक्खाणं सययं च असाहुया ।३८।

छाया— वड्डते शौण्डिका तस्य, माया मृषा च भिक्षोः ।

अयशश्च अनिर्वाणं, सततं च असाधुता ॥३८॥

सान्वयार्थैः—तस्स=उस मदिरा पीनेवाले भिक्खुणो=साधुकी सुंडिया=मद्यपान
संबन्धी आसक्ति माया=कपट च=भौर मोसं=झूठ अयसो=अपकीर्ति य=तथा अनि-
क्खाणं=अतृप्ति, ये सब दोष सययं=निरन्तरवड्डई=वड्डते रहते हे च=भौर (आखिर
उसके) असाहुया-असाधुता हो जाती हैं, अर्थात् वह असाधुपनको प्राप्त हो जाता है,
यानी चारित्र्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥३८॥

टीका—तस्य=सुरापानिनः भिक्षोः=साधोः सततं=निरन्तरं शौण्डिका=मद्यपानविप-
यासक्तिः, च=पुनः, माया=निकृतिः, मृषा=असत्यभाषणम्, यद्वा 'माया मोसं, इत्येकं
पदं तेन मायया सह मृषा मायामृषा=परप्रतारणपूर्वकमसत्यभाषणमित्यर्थः, च=पुनः,
अयशः=असद्वृत्तत्वेनाऽपकीर्तिः, अनिर्वाणम्=अनुपशान्तिरतृप्तिः उत्तरोत्तरस्पृहावर्द्ध-
नात् च=तथा असाधुता=असंयतत्वं साधुचिताचारराहित्येन साधुपदाऽनर्हत्त्वमित्यर्थः,

मायाचार, फिर उसे छुपानेके लिए दूसरे अनेक मायाचार और मृषावाद आदिका सेवन किया
जाता है सो मुझसे सुनो, अर्थात् गुरुमहाराज शिष्यको आमन्त्रित करके कथन करते हैं ॥३७॥

पूर्वप्रतिज्ञात दोष कहते हैं—'वड्डई' इत्यादि ।

मदिरापान करनेवाला साधु सदा मदिरा पीनेमें ही मग्न रहता है । वह मायाचार करता
है, मृषा बोलता है, अथवा कपट-सहित झूठ बोलता है । दुराचारी होनेके कारण उसकी अप-
कीर्ति फैल जाती है । उसको लोलुता अधिकाधिक बढ़ती चली जाती है—उसे कभी तृप्ति नहीं
होती । तथा मुनिके योग्य आचरणसे हीन होनेके कारण वह साधु कहलाने योग्य नहीं रहता,

सेवन करवायां आवे छे ते भारी प.सेथी साखणा-अर्थात् शुद्ध महाराज शिष्यने आमन्त्रित
करीने कथन करे छे (३७)

पूर्वप्रतिज्ञात दोषा कहे छे—वड्डई० इत्यादि.

मदिरापान करनेवाला साधु जहाँ मदिरा पीनेमें ही मग्न रहता है तो मायाचार करे छे
मृषा जो अथवा कपटसहित झूठ बोलता है, दुराचारी होवाने कारणे तेनी अपकीर्ति फैलाय
जाय छे, जेनी लोलुपता अधिकाधिक बढ़ती जाय छे, तेथी कदापि तृप्ति थती. नथी मुनीने

वर्द्धते = वृद्धि गच्छति ।

‘सुडिया’ इत्यनेन मद्यपायिनो मद्यासक्तिपरिहार्या भवतीति सूचितम् । मद्यासक्तौ सत्यां माया मृषा च कदापि तं न विजहाति मायामृषावृद्धौ स्वपरपक्षे निन्दाऽवश्यम्भाविनी निन्दायामपि सत्यां मद्यपानासक्तस्याऽनिर्वृतिः साहचर्यं न मुञ्चति, तथा सति सर्वथा साधुपदानधिकारित्वमुपजायतेऽतः सर्वानर्थमूलं मद्यपानमिति बोध्यम् ॥ ३८ ॥

उक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण द्रढयति—‘निञ्चुव्विग्गो’ इत्यादि ।

मूलम्—^४निञ्चु^९व्वि^२ग्गो^३ जहा^६ तेणो, अत्तकम्म^६मेहिं दुम्मई ।

^५तारिसो^७ मरणंतेऽपि, नाराहेइ^९ संवरं॥३९॥

छाया—नित्योद्विग्नः यथा स्तेनः, आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।

तादृशः मरणान्तेऽपि, न आराधयति संवरम् ॥ ३९ ॥

सान्वयार्थ—जहा = जिस प्रकार तेणो = चोर अत्तकम्ममेहिं = अपने किये हुए दुश्चरित्रोंसे निञ्चुव्विग्गो = हमेशा व्याकुल बना रहता है, उसी तरह तारिसो = मदिरा पीनेवाला वह दुम्मई = दुर्बुद्धि साधु भी नित्य उद्विग्न बना रहता है, फिर वह मरणंतेवि = मरण समय तक भी संवरं = संवरधर्म चारित्रको नाराहेइ = नहीं आराध सकता है, अर्थात् वह साधु जिन्दगीभर चारित्रसे वञ्चित रहता है ॥ ३९ ॥

टीका—यथा स्तेनः = तस्करः आत्मकर्मभिः = स्वकीयदुश्चरितैः नित्योद्विग्नः =

अतः उसकी असाधुता बढ़ती है ।

‘सुडिया’ पदसे यह सूचित किया है कि शराबीकी शराब पीनेकी आदत छूटनी कठिन होती है । मदिरामें आसक्ति होने पर माया-मृषा मदिरापायोका काना-पीछा नहीं छोड़ती, अर्थात् वह माया-मृषा दोषोंमें तत्पर रहता है । माया और मृषाकी वृद्धि होनेपर स्वपक्ष परपक्षमें निश्चय हो निन्दा होती है और निन्दा होनेपर भी मदिरा पानमें मस्त होकर मदिरा-पान नहीं त्यागता । ऐसी अवस्थामें वह साधु कहलाने योग्य बिलकुल ही नहीं रहता ॥३८॥

इसी विषयको दूसरी तरहसे कहते हैं—‘निञ्चुव्विग्गो’ इत्यादि ।

योग्य आचरण्णुथी डीन डोवाने कारणे ँ साधु कडेवावाने योग्य नथी रडेते, अेट्ठे ँनि असाधुता वधे छे ।

‘सुडिया’ शब्दधी अेम सूचित क्युं छे के शराभीनी शरण पीवानी आदत छूटवी कठिन डोय छे । मदिरामां आसक्ति थतां माया-मृषा मदिरापान करनारने पीछा छोडती नथी, अर्थात् अे माया-मृषा दोषोमां तत्पर रडे छे माया अने मृषानी वृद्धि थता स्व-पक्ष पर पक्षमा अरु निन्दा थाय छे, अने निन्दा थवा छतां पणु मदिरापानमां मस्त थधने ते मदिरापान त्यागते नथी, अेवी अवस्थामां ते अराअे साधु कडेवावाने योग्य रडेते नथी अे विषयने भीरु रीते कडे छे—निञ्चुव्विग्गो० इत्यादि

सदा व्याकुलः चित्तोपशान्तिरहितो भवति, तादृशः = स्तेनसदृशः, यथा चौरः—‘मदी-
यमिदं दुश्चरितं कोऽपि मा विद्यात्, अन्यथा राजगृहीतस्य मम प्राणाद्यपहारो भवे’ इति
चिन्तया कदाचिदपि चेतसि नोपशान्तिं गच्छति, तथा मद्यसेवी साधुरपि स्वकीये दुश्च-
रिते प्रकटिते सति पूजाप्रतिष्ठादिप्रतिघातशङ्कया स्वकृत दुष्कृतसगोपनाय नवनवमायामु-
पाकल्पितवचनरचनादिनानाप्रकारकोपायमनुसंधानो न जातुं संयमसमाधिमधिगच्छतीति
भावः । दुर्मतिः=विपर्यस्तबुद्धिः साधुः, मरणान्तेऽपि मरणावधिसमयेऽपि संवरं=सर्वसा-
वद्यविरतिलक्षणं चारित्रं कदापि नाराधयति=न निष्पादयति, चरित्रसाधकशुद्धपरिणामा-
भावात् ।

‘निचुच्चिगो’ इत्यनेन पापात्मनां नित्यशङ्कितत्वं सूचितम् । ‘दुम्मई’ पदेन
व्यसनानां मतिमालिन्यमवश्यम्भावीत्याविष्कृतम् ॥ ३९ ॥

जैसे चोर अपने कुकर्मके कारण सदा व्याकुल बना रहता है अर्थात् उसे सदा यही भय
बना रहता है कि मेरे कुकर्मको कोई जान न ले, नहीं तो राजा मुझे पकड़ लेगा और प्राणोंसे
हाथ धोना पड़ेगा । इस प्रकारकी चिन्तासे चोरके चित्तमें सदा धुक-धुकी (खव-बली) मची
रहती है । उसी प्रकार मदिरा-पान करनेवाले मुनिके मनमें हमेशा असमाधिरहती है कि—कहीं
मेरा मदिरा पानका दुराचार प्रगट न हो जाय, नहीं तो मान सम्मान सब मिट जायगा । इस
प्रकारकी आशंकासे वह अपने किये हुए दुराचारको छिपानेके लिए मायाचार और असत्य
आदि के नये-नये उपाय सोचा करता है । उसकी संयम सम्बन्धी समाधि किसी प्रकार भी
नहीं रहती । ऐसा दुर्बुद्धि साधु मृत्युको अवधिके समय भी सर्वसावध्ययोगके त्यागरूप संवर की
आराधना नहीं करता, क्योंकि उसके जैसे विशुद्ध भाव नहीं होते ।

‘णिचुच्चिगो’ इससे ऐसा सूचित किया है कि पापी सदा सगक रहता है । ‘दुम्मई’
पद से यह प्रगट किया है कि कुव्यसनोकी मतिमें मलिनता अवश्य आजाती है ॥ ३९ ॥

जैसे चोर पानाना कुकर्मके कारण सदा व्याकुल रहता है, अर्थात् तेने सदा अवे-
ल्य रहे छे के मारा कुकर्मने कोर्ष जाली न दे, नहि तो राजा मने पकडी देशे अरे प्राणु
शुभाववा पडशे अरे प्रकाग्नी गिताथी चोरना गित्तमां मदा भणमणाट भव्या करे छे अवे
रीते मदिरापान करनार मुनिना मनमां हुमेशां असमाधि रहे छे के—क्याक मारे मदिरापानने
दुराचार अकट न थध जय, नहि तो सम्मान अधुं नाश पाभशे अरे प्रकारनी आशकाथी
ते पानाना दुराचारने छुपाववाने मायाचार अने असत्य आदिना नवा नवा उपाये विचार्या
करे छे, अनी संयम संभंधी समाधि कोर्ष प्रकारे रहेती नथी अवे दुर्बुद्धि साधु
मृत्युनी अवधिना समये पणु सर्वसावध्ययोगना त्यागरूप संवरनी आराधना करतो नथी,
करणु के तेना अवे विशुद्ध भाव थता नथी

निचुच्चिगो शब्दथी अम सूचित करवामां आव्युं छे के पापी सदा सशक रहे छे
दुम्मई शब्दथी अम प्रकट कर्युं छे के दुर्व्यसनोकी मतिमां मलिनता अवश्य आवे छे (३९)

मूलम्—आयरि^२ए नारा^६हेइ^५ समणे^४ आ^३र्व तारि^१सो ।

गिह^८त्था^९ वि^{१२} णं^{१३} गरि^७हंति, जेण^{११} जाणं^{१०}ति तारिसं ॥४०॥

छाया—आचार्यान् नाराधयति, श्रमणोश्चापि तादृशः ।

गृहस्था अपि तं गर्हन्ते, येन जानन्ति तादृशम् ॥ ४० ॥

सान्त्वयार्थः—तारिसो=ऊस पूर्वोक्त प्रकारका दुराचारि साधु आयरिए=रत्नाधिकों को अवि य=तथा समणे=साधुओंको भी नाराहेइ=विनय वैभावच्च आदि से नहीं आराध सकता है, जेण=जिस कारणसे गिहत्था वि=गृहस्थ भी णं=उसे तारिसं उस प्रकार का अर्थात् मद्य पीनेवाला जाणंति=जानलेते हैं (अतः वे उसकी) गरिहंति=निन्दा करते हैं ॥ ४० ॥

टीका—‘आयरिए’ इत्यादि । तादृशः=पुरोद्गीहितदुराचारशीलः साधुः आचार्यान् अपिच श्रमणान्=रत्नाधिकान् साधून् ना राधयति क्लृप्तान्तः करणत्वादिति भावः येन हेतुनागृहस्था अपि तादृशः=तथाविधं दुराचारिण जानन्ति तेन हेतुना ण=तं साधुं गर्हन्ते निन्दन्ति, स सकलजननिन्दनीयो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥

अकृत्यसेविदोषानुपसंहरन्नाह—‘एवं तु’ इत्यादि ।

मूलम्—एवं^१ तु^२ अगुण^३पेही^४ गुणाणं^५ च^६ विवज्ज^७ए ।

तारिसो^८ मरणं^९तेवि, नाराहेइ^{१०} संवरं^{११} ॥४१॥

छाया—एवं तु अगुणप्रेक्षी, गुणानां च विवर्जकः ।

तादृशः मरणान्तेऽपि, नाराधयति सवरम् ॥ ४१ ॥

सान्त्वयार्थः—एव तु=इस प्रकार अगुणपेही=प्रमादादि दोषोंको ग्रहण करनेवाला च=और गुणाणं=ज्ञानादि गुणोंका विवज्जए=त्यागी तारिसो=उस प्रकारका साधु मरणं-तेवि=मरणकालमें भी संवरं=संवर चारित्र की नाराहेइ=आराधना नहीं कर सकता ॥४१

टीका—एवम् = उक्तरीत्या तु अगुणप्रेक्षी = दोषदर्शी प्रमादादिदोषनिरत इत्यर्थः

‘आयरिए’ इत्यादि । ऐसा दुराचारी साधु आचार्य तथा रत्नाधिक श्रमणकी भी आराधना नहीं करता, क्योंकि उसका अन्तःकरण क्लृप्त हो जाता है, जिससे कि गृहस्थ भी उस साधुको पहचान लेते है और उसकी निन्दा करते है । तात्पर्य यह है कि ऐसा साधु सबका निन्दनीय बन जाता है ॥ ४० ॥

‘एवं तु’ इत्यादि । प्रमाद आदि दोषोंमें लीन, सम्यग्ज्ञान-दर्शनचारित्र तथा क्षान्ति

आयरिए इत्यादि ऐसे दुराचारी साधु आचार्य तथा रत्नाधिक श्रमणकी પણ आराधना करतो नहीं, कारण के ऐसे अन्तःकरण क्लृप्त हो जाय छे, जेथी गृहस्थ પણ असाधुने पिछाणी ले छे अने जेनी निन्दा करे छे तात्पर्य ऐ छे के ऐसे साधु सौने निन्दनीय बनी जाय छे. (४०)

गुणानां च = ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणानां क्षान्त्यादीनां वा विवर्जकः = परित्याजकः गुणा-
ऽनाराधक इत्यर्थः तादृशो मरणान्तेऽपि संवरं नाराधयतीति व्याख्यातपूर्वं सुगम चेति ४१
पूर्वोक्तदोषपरित्यागिनो गुणानाह 'तवं' इत्यादि ।

मूलम्—तवं^५ कुव्वइ^६ मेहावी^३, पणीयं^७ वज्जए^९ रसं^८ ।

मज्जप्पमायविरओ तपस्सी अइउक्कसो ॥४२॥

छाया—तपः कुरुते मेधावी, प्रणीतं वर्जयति रसम् ।

मद्यप्रमादविरतः, तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥ ४२ ॥

सान्त्वयार्थः—मज्जप्पमायविरओ=जो मद्य और प्रमादसे रहित तपस्सी=तपस्वी
साधु मेहावी=आगमोक्त मर्यादामें चलनेवाला अइउक्कसो=घमंड नहीं करता हुआ तव=
तपस्या कुव्वइ = करता है, (और) पणीयं = स्निग्ध रसं = रसवाले पदार्थ घी दूध घेवर
आदिको वज्जए = त्यागता है ॥४२॥

टीका—यः तपस्वी = साधुः मद्यप्रमादविरतः = मादयती = विवेकविकलीकरोत्या-
त्मानमिति मद्यं = मादरुद्रव्यं, तदेव प्रमादजनक-वात्प्रमाद इति मद्यप्रमादस्तस्माद्विरत-
स्तस्माद्विरतस्तद्वर्जक इत्यर्थः, मेधावी = आगमोक्तविध्यनुस्मरणशीलः संयममर्यादाऽव-
स्थित इत्यर्थः, अत्युत्कर्षः = उत्कर्षः = अहं तपस्वी' त्याद्यभिमानस्तमतिक्रम्य = उल्ल-
ङ्घ्य = परित्यज्य वर्त्तते इति अत्युत्कर्षः तपःप्रधानगुणाभिमानशून्यः सन् तपः = चतुर्थ-
भक्तादिकं करोति पुनरपि प्रणीतं = गलत्स्नेहबिन्दुकं गूढस्नेहं वा भोज्यं, स्नेहावगाढं
कृशरादि, गूढस्नेहं घृतपूरादिकं रसं = घृतदुग्धादिकं वर्जयति = परित्यजति ॥४२॥

आदि गुणोक्ता त्याग करनेवाला ऐसा साधु मृत्यु समय भी सवरकी आराधना नहीं करता ॥४१
पूर्वोक्त दोषोके त्यागीके गुण कहते है—'तव' इत्यादि ।

जो तपस्वी साधु आत्माको विवेक-विकल बनानेवाले शराब से विरत रहते है, प्रवचन
प्रतिपादित संयम-मर्यादामें स्थित है, 'सबसे बड़ा तपस्वी मैं हो हूँ' ऐसा तपका-दर्प (अभिमान)
नहीं करते हुए चतुर्थ भक्त आदि तप करते है, तथा घेवर आदि प्रणीत भोजनको और घी-दूध
आदि पुष्टिकर रसो को त्याग देते है ॥ ४२ ॥

एवं तु धृत्यादि प्रमाद आदि दोषोभा दीन, सम्यग्-दर्शन-चारित्र तथा क्षान्ति-आदि
गुणोना त्याग करना अथवा साधु मृत्यु समये पणु संवरनी आराधना करता नथी (४१)
पूर्वोक्त दोषोना त्यागीना गुणु कहे छे—तवं० धृत्यादि

जे तपस्वी साधु आत्माने विवेकविकल बनानेवाले शराबथी विरत रहे छे, ते प्रवचन
प्रतिपादित संयममर्यादाभा स्थित रहे छे, 'सौथी भोटे तपस्वी हुं छु' अथवा तपने 'दर्प'
(अभिमान) न करता अतुर्थलक्ष्य आदि तप करे छे, तथा घेवर आदि प्रणीत भोजनने अने
घी-दूध आदि पुष्टिकरक रसोने त्यागे छे. (४२)

१ ६ ५ २
मूलम्—तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइयं ।

३ ४ ७ ६
विउलं अत्थसंजुत्तं कित्तइस्स सुणेह मे ॥४३॥

छाया—तस्य पश्यत कल्याणम्, अनेकसाधुपूजितम् ।

विपुलार्थसंयुक्तं, कीर्त्तयिष्यामि श्रृणुत मे ॥४३॥

सान्त्वयार्थः—तस्स=उस साधुके अणेगसाहुपूइयं अनेक मुनियोंके वन्दनीय विउलं मुक्ति पदका साधक होनेसे महान् अत्थसंजुत्तं = मोक्षरूप अर्थ-प्रयोजनसे युक्त ऐसे कल्लाणं = कल्याण-संयम को पस्सह = देखो, (और मैं उसके गुणोंका) कित्तइस्सं = वर्णन करूंगा, (तुम) मे = मुझसे सुणेह = सुनो ॥४३॥

टीका—'तस्स' इत्यादि । तस्य = उक्त गुणवतः साधोः अनेकसाधुपूजितं = मुनि वृन्दवन्दितं विपुलं = महत् मुक्तिपदसाधकत्वात्, अर्थसंयुक्तम् = अर्थः = मुमुक्षुणां प्रयोजनं मोक्षलक्षणं तेन संयुक्तं = संवलितं तत्फलदातृत्वात्, कल्याणं = नितान्तसुखावहत्वात्संयमं पश्यत = अवलोकयत भो शिष्याः ! इति शेषः । कीर्त्तयिष्यामि = तद्गुणान् वर्णयिष्यामि मे = मम सकाशात् श्रृणुत = आकर्णयत ॥४३॥

१ २ ३ ४ ५ ६
मूलम्—एवं तु गुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए ।

७ १० ९
तारिसो मरणंतेवि, आराहेइ संवरं ॥४४॥

छाया—एवं तु गुणप्रेक्षी, अगुणानां च विवर्जकः ।

तादृशः मरणान्तेऽपि आराधयति संवरम् ॥४४॥

सान्त्वयार्थः—एवं तु=इस प्रकार गुणप्पेही = ज्ञानादि गुणोंके ग्रहण करनेमें तत्पर च=और अगुणाणं = प्रमादादि दोषोंका विवर्जय = त्यागी तारिसो = इस प्रकारका साधु मरणंतेवि = मरणान्त समयमें अवश्य, अथवा मरणान्त कष्ट पड़नेपर भी संवरं = चारित्रको आराहेइ = आराधता है—नहीं छोड़ता है ॥४४॥

टीका—'एवं तु' इत्यादि । एवं तु गुणप्रेक्षी = गुणदर्शी ज्ञानादिगुणोपार्जदत्तचित्त

'तस्स' इत्यादि । हे शिष्य ! उस उक्तगुणविशिष्ट साधुके अनेक-मुनि-समूहसे प्रशंसित, मुक्ति पद का साधक होनेसे महान् मोक्षरूपी अर्थसे युक्त अनन्त सुखदाता कल्याण अर्थात् संयमको देखो । मैं उसके गुणोंका वर्णन करूंगा, तुम मुझसे सुनो ॥ ४३ ॥

'एवं तु' इत्यादि । इस प्रकार ज्ञानादि-गुणोंके उपार्जनमें लीन, प्रमाद आदि अवगुणोंके

तस्स० इत्यादि हे शिष्य ! उक्तगुणविशिष्ट ज्ञेया साधुना अनेक-मुनि समूहत्वी प्रशंसित, मुक्तिपदने साधकत्वात् महान्, मोक्षरूपी अर्थत्वी युक्त, अनन्तसुखदाता कल्याण अर्थात् संयमने लुब्धो हुं ज्ञेया गुणानु वर्णन करीश, ते मे सांख्यो. (४३)
एवं तु० इत्यादि. अ रीते ज्ञानादि-गुणाना उपार्जनमा लीन, प्रमाद आदि अवगु-

इत्यर्थः अगुणानां च=प्रमादादिदोषानां विवर्जकः = परित्यजनशीलः तादृशः=तथाविधः-
साधुर्मरणान्ते=मरणसमये अपि=निश्चयेन संवरं=चारित्र्यम् आराधयति=सेवते । यद्वा मरणा
न्तेऽपि=मरणसमकालेषु पस्थितावपि संवरमाराधयति न परित्यजतीत्यर्थः ॥४४॥

२ ५ ३ ४ १
मूलम्—आयरिण आराहेइ, समणे यावि तारिसा ।

७ ८ ९ १२ ६ ११ १०
गिहत्था वि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥४५॥

छाया— आचार्यान् आराधयति, श्रमणान् अपि च तादृशः ।

गृहस्था अपि तं पूजयन्ति, येन जानन्ति तादृशम् ॥४५॥

सान्त्वयार्थः—तारिसो=पूर्वोक्त गुणवाला साधु आयरिण=आचार्यादिको की अवि य
=और समणे=साधुओंकी भी आराहेइ = आराधना करता है, जेण = जिस कारणसे
गिहत्थावि=गृहस्थ भी णं=उसे तारिसं—उस प्रकारका जाणंति = जानते हैं, (अतः उसका
पूयंति=वस्त्र पात्रादिसे सम्मान करते हैं, तथा साधु भी उसकी प्रशंसा करते हैं ॥४५॥

टीका—‘आयरिण’ इत्यादि । तादृशः = उक्तगुणविशिष्टः साधुः आचार्यान् श्रम-
णंश्चाप्याराधयति = स्वकीयसंयमोत्कर्षेणाऽऽचार्यादीन् प्रसादयतीत्यर्थः, येन हेतुना गृह-
स्थाः तं = साधु तादृशं = तथाविध जानन्ति तेन कारणेन पूजयन्ति = वस्त्रपात्रादिपुर-
स्कारेण मानयन्ति । ‘अपि शब्देन न केवल गृहस्थाः किन्तु साधवोऽपि पूजयन्ति = प्रशं-
सन्तीति सूत्रार्थः ॥४५॥

त्यागी ऐसे साधु मृत्यु समय में अवश्य सवर=चारित्र्य-धर्मकी आराधना करते है । अथवा मृत्युके
समान कष्ट उपस्थित होनेपरभी वे सवर की आराधना करते है, अर्थात् उस समय भी वे सवरका
त्याग नहीं करते ॥ ४४ ॥

‘आयरिण’ इत्यादि । ऐसे साधु आचार्योंकी तथा श्रमणोंकी आराधना करते है, अर्थात्
आचार्यादिकोंको अपने समयकी उत्कृष्टता से प्रसन्न करते है, जिससे गृहस्थ भी उन्हें वैमाही
उत्कृष्ट समझते और सन्मान करते है । केवल गृहस्थ हो उनका सन्मान नहीं करते किन्तु साधु
भी उनकी प्रशंसा करता है ॥ ४५ ॥

छोना त्यागी अथवा साधुओं मृत्यु समये अवश्य सवर=चारित्र्य धर्मनी आराधना करे छे.
अथवा मृत्युसमान कष्ट उपस्थित थता पण तेओ सवरनी आराधना करे छे, अर्थात् ओ
समये पण तेओ सवरने त्याग करता नथी (४४)

आयरिण इत्यादि अथवा साधुओं, आचार्योंनी तथा श्रमणोंनी आराधना करे छे,
अर्थात् आचार्यादिकने पोताना समयनी उत्कृष्टताथी प्रसन्न करे छे, जेथी गृहस्थो पण
तेभने जे ॥ ४५ उत्कृष्ट समझे छे ओने तेभनु सन्मान करे छे केवल गृहस्थो न अथमनु
सन्मान नथी करता, परन्तु साधुओं मृत्यु अथवा प्रशंसा करे छे (४५)

मूलम्-तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे ।

आचारभावतेणे यं, कुव्वई देवकिल्विसं ॥४६॥

छाया—तपःस्तेनो वचस्तेनो, रूपस्तेनश्च यो नरः ।

आचारभावस्तेनश्च, कुरुते देवकिल्विषम् ॥४६॥

सान्त्वबार्थः—जे = जो नरे = साधु तवतेणे = तपस्याका चोर-दूसरेकी तपस्याका अपनेमें आरोप करनेवाला. वयतेणे = वचनका चोर-दूसरेके व्याख्यानका अपनेमें आरोप करनेवाला, य = तथा रूवतेणे = रूपका चोर-दूसरेके रूपका अपनेमें आरोप करनेवाला, य = और आचारभावतेणे = आचारका चोर-दूसरेके ज्ञानादि आचारोंका अपनेमें आरोप करनेवाला, भावका चोर = जीवादि पदार्थोंका जानकार नहीं होने पर भी अपनेको जानकार बनानेवाला होता है, वह देवकिल्विसं = किल्विष नामके देवभवको कुव्वई = करता है, अर्थात् देवलोकमें किल्विषिक देवपने उत्पन्न होता है ॥४६॥

टीका — 'तवतेणे' इत्यादि । [१] यो नरः = यः साधुः तपःस्तेनः—तपश्चोरः, अत्र चौर्यं परकीयतपोऽग्रहरणं स्वपूजाद्यर्थं स्वस्मिन्नारोपणम् । स च तपःस्तेनस्त्रिविधो यथा—स्वयमतपस्वी कश्चित्साधुः केनचित् 'तपस्वी भवान् ?' इति पृष्ठः सन् 'अहमस्मि तपस्वी त्वर्थसूचकः प्रथमः (१) । द्वितीयो विनैव तपसा स्वभावाद् रोगादिकारणान्तरवशाद्वा

'तवतेणे' इत्यादि । जो साधु तपके चोर, वचनके चोर, रूपके चोर अथवा आचारके चोर और भावके चोर होते हैं वे देवोंमें उत्पन्न होकरके भी किल्विष ही होते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि परकी तपस्याको अपनी प्रतिष्ठाके लिए अपनी बताना तपकी चोरी है [१] तपके चोर तीन प्रकारके हैं—

(१) किसी अतपस्वी साधुसे किसीने पूछा—'क्या आप तपस्वी हैं ?' इसके उत्तर में 'हाँ मैं तपस्वी हूँ' ऐसा कहनेवाला तपचोर है ।

(२) बिना तपस्या किये रोग आदि किसी कारणसे या स्वभावसे क्षीण शरीरवाले साधुसे

तवतेणे० इत्यादि. जे साधुओ तपना चोर, वचनना चोर, रूपना चोर अथवा आचारना चोर तथा भावना चोर होय छे, तेओ देवोमां उत्पन्न थयने पणु किल्विषी जे अने छे.

तात्पर्य अे छे के-परनी तपस्थाने पोतानी प्रतिष्ठाने भाटे पोतानी अतावपी अे तपनी चोरी छे. (१) तपना चोर त्रय प्रकारना छे.

(१) केअ अतपस्वी साधुने केअ पूछे के- 'आप तपस्वी छे ?' तेना उत्तरमा 'हाँ, हुँ तपस्वी छु' अेस केअेनार तपचोर छे

(२) तपस्या कर्था विना रोगादि जेना केअ करणु या स्वभावथी जे क्षीणु शरीरवाणा साधुने केअ पूछे 'शु' आप अेज तपस्वी छे के जेमनी कीर्ति अमे पडेलां सांलणी छे ?

कृशशरीरः साधुः केनचित् 'किं भवानेव श्रुतपूर्वस्तपस्वी ?' इति पृष्ठः सन् 'साधवस्तपस्विन एव भवन्ति किमनेन प्रश्नेन' इत्युत्तरप्रदः (२) ।

तृतीयस्तु— 'उग्रतपस्वी भवानेव क्रिपू ! इति केनचित्पृष्ठः सन् स्वख्यातिकामनया केवलं मौनमालम्ब्यते न तु विश्विन्प्रतिभापते तेन 'प्रच्छयोऽधिगच्छति अयं महातपस्वी यतः स्वगुणारूढानं कर्तुं मनागपि नोत्सहते, पृष्ठोऽपि न प्रतिवचनं न प्रयच्छतीति (३) ।

[२] वचःस्तेनः=वचः=वाक्यं तस्य स्तेनः यथा—'धर्मदेशनानिपुणनया श्रूयमाणो मुनिर्भवानेव किम् ?' इति केनचित्पृष्ठः 'साधवो धर्मदेशनानिगुण एव भवन्ती'—त्यादिवक्ता नृष्णीभूतश्च । अथवा स्वस्य शास्त्रानभिज्ञत्वेऽपि वागाडम्बरमात्रेण परिषदि प्रसादितायां सत्यां केनचित्—'आचाराद्यज्ञोपाङ्गविज्ञो भवान्' इति पृष्ठः 'साधवस्तज्ज्ञा भवन्त्येवे'—तिप्रत्यायकः ।

किसीने पूछा—'क्या आप ही वह तपस्वी है, जिनका कीर्ति पड़ल हमने सुनी है ?' ऐसा पूछने पर 'साधु तो तपस्वी होते ही हैं, यह प्रश्न—'कर्मों वृथा है' इस प्रकारका उत्तर देनेवाला तपस्वी चोर है ।

(३) क्या आपही उग्र तपस्वी हैं ?' ऐसा प्रश्न करनेपर स्वकीय कीर्तिकी कामना करके केवल मौन साध लेनेवाला—कुछ न बोलनेवाला तपचोर है, क्योंकि मौन साधनेसे प्रश्नकर्ता यह समझ लेता है कि—ये बड़े भारी तपस्वी हैं कि अपने गुण वर्णन करनेमें तनिक भी प्रवृत्त नहीं होते, यहां तक कि पूछने पर भी उत्तर नहीं देते ।

[२] वाक्यके चोर को वचनचोर कहते हैं । जैसे किमी ने पूछा—'जो धर्मदेशना देने में अत्यन्त निपुण सुने जाते हैं वे आप ही हैं ?' इस प्रश्न के उत्तर में—ऐसा कहना कि—'साधु धर्म देशना देनेमें निपुण होते ही हैं,' अथवा चुप्पी साध लेना, अथवा हो तो शास्त्रोंसे अनभिज्ञ, किन्तु वागाडम्बरसे परिषद्को प्रसन्न करने पर कोई पूछे कि—आप अग उपांगोको जानते हैं क्या ऐसा प्रश्न करने पर 'साधु, अग उपांगोके ज्ञाता होते ही हैं' ऐसा कथन करने वाला वचनचोर है ।

ऐसे पूछतां 'साधु तो तपस्वी न होय छे, आ प्रश्न करवो न वृथा छे, ऐवा प्रकारने उत्तर आपनार ते तप चोर छे

(३) 'शुं आप न उग्र तपस्वी छे ?' ऐवा प्रश्न पूछवामां आपतां पोतानीं शीर्तिनी कामना करीने केवण मौन साधनार-कार्य न मोक्षनार पण तपचोर छे, कारणे के मौन साधवाथी प्रश्नकर्ता ऐस समझ दे छे—'ऐ गुरु मोटा तपस्वी छे, तेथी पोताना शुण वरुण करवामां नश पण प्रवृत्त थता नथी, अटदे सुधी के पूछतां छता उत्तर पण नथी आपता.'

[२] वाक्यना चोरने वचनचोर कहे छे जेम् के, कोष पूछे 'जे धर्मदेशना आपवामां अत्यन्त निपुण सलणाय छे ते शुं आप न छे ?' ऐ प्रश्नना उत्तरमा ऐस कहेवुं के 'साधु धर्मदेशना आपवामा निपुण न होय छे' अथवा चुपकी पड़वी अथवा शास्त्राथी अनभिज्ञ होवा छतां वागाडम्बरथी परिषद्ने प्रसन्न करना कोष पूछे के 'आप अंग-उपांगोने जान्छे छे ?' ऐवा प्रश्नना उत्तरमा 'साधु अंग उपांगोना ज्ञाता न होय छे' ऐम् कहेनार वचनचोर छे.

[३] रूपस्तेनः=स्वात्मनि परकीयरूपारोपणकारकः, यथा प्रकृष्टरूपवन्तं साधुं समा लोच्य 'किमसौ ज्ञातपूर्वरूपवान् भवानेव ?' इतिपृष्ठो वागादिना तदङ्गीकुर्वाणो मौनाव- लम्बी वा ।

आचारभात्रस्तेनः=आचारश्च भावश्चेति द्वन्द्वे आचारभावौ, तयोः स्तेनः, तेन- आचारस्तेनः भावस्तेनश्चेति फलितम्, 'द्वान्द्वादी द्वन्द्वान्ते वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभि- सम्बध्यते' इति न्यायेन द्वन्द्वोत्तररथस्य स्तेनपदस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् । तत्र—

[४] आचारस्तेनः— परकीयज्ञानाद्याचारपञ्चकस्य स्वस्मिन्नारोपयिता, यथा—'श्रूय- माणः क्रियापात्रं भवानेव किम् ?' इति केनाप्यनुयुक्तः सन पूर्ववत्समाधायकः ।

[५] भावस्तेनश्च-भावो=जीवादिपदार्थस्तस्य स्तेनः, सूत्रार्थसन्देहं गीतार्थात् प्रश्न पूर्वकमवबुद्धानन्तरं 'प्रागेवेदं' विज्ञातमस्ति न तु किञ्चिदपूर्वमिदानीं भवन्मुखादाकर्ण्यते' इति प्रतिपादकः । तपःस्तेनादिः देवकिल्बिपं=देवानां मध्ये किल्बिपः=पापः, अतएवा-

[३] पर के रूपका अपनेमें आरोपण करनेवाला रूपचोर कहलाता है । जैसे किसीने पूछा पूर्वज्ञात रूपवान् आपही है । इसके उत्तरमें वचनसे स्वीकार करनेवाले अथवा चुप रह जानेवाला रूपचोर है ।

[४] परके ज्ञानादि पाँच आचारोको अपनेमें आरोपित करनेवाला आचारचोर कहलाता है । जैसे किसी ने पूछा—'क्या सुने जानेवाले उत्कृष्ट क्रियापात्र आपही है ?' ऐसा पूछने पर पूर्व की भाँति समाधान करनेवाला अर्थात् 'साधु तो क्रियापात्र होते ही है' ऐसा कहनेवाले आचार चोर है ।

[५] किन्हीं गीतार्थ सुनिसे सूत्रार्थका सन्देह निवारण करके ऐसा कहे कि यह तो मुझे पहले ही मालूम था, आपके मुखसे कुछभी नवीनता नहीं सुनी जाता' उसे-(जीवादी-पदार्थ) का चोर कहते हैं ।

ऐसे तप आदि के चोर साधु देवताओंमें अरपृश्य किल्बिप देवके कर्मको उपाजन करते हैं

[३] परना रूपनु पोतामा आरोपणु करनार रूपचोर कडेवाय छे जेमके डोर्ध पूछे के 'पूर्वज्ञात रूपवान् 'शु' आप न छे ?' तेना उत्तरमा वचनधी स्वीकार करनार अथवा रूप रडेनार रूपचोर छे ।

[४] परना ज्ञानादि पाँच आचारोने पोतामा आरोपित करनार आचारचोर कडेवाय छे । जेम के डोर्ध पूछे 'शु' सांभणवामा आवता उत्कृष्ट क्रियापात्र आप न छे ?' जेम पूछवामा आवतां पडेवांनी पेके समाधान करनार अर्थात् 'साधु तो क्रियापात्र न छे' जेम कडेनार आचारचोर छे ।

[५] डोर्ध गीतार्थ सुनि पासेधी सूत्रार्थना सन्देहनु निवारणु करीने जेम कडे के 'जे तो हु' पडेवेधी नखुतो न छे, आपना सुणेधी डोर्ध नवीनता सांभणवामा आवती नथी' तो ते भाँति (जीवादि-पदार्थ) ने चोर कडेवाय छे

ऽस्पृश्यत्वादिधर्मा, तं कुरुते=भावयति-तपःस्तेयादिकर्मणि देवकिल्बिषनामकं भवमुत्पाद-
यतीत्यर्थः ॥४६॥

मूलम्—ल^२द्धूणवि^१ देवत्तं, उव^४वन्नो देवकिल्बिसे ।

तत्थावि^५ से^६ न या^{१२}णाइ, किं^{१३} मे कि^७च्चा इमं^९ फलं^८ ॥४७॥

छाया—लब्ध्वाऽपि देवत्वम्, उपपन्नो देवकिल्बिसे ।

तत्रापि स न जानाति, किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥४७॥

सान्त्वयार्थः देवत्तं=कुछ क्रियाकलाप करनेसे देवपनेको लद्धूणवि=पांकर भी वह देवकिल्बिसे=किल्बिष-अस्पृश्य जातिके देवोंमें उववन्नो=उत्पन्न होता है, तत्थावि= वहां पर भी से =वह 'किं = क्या कर्म किच्चा = करनेसे मे = मेरे इमं = यह फलं = फल प्राप्त हुआ है' ऐसा न याणाइ = नहीं जानता है, क्योंकि देवलोकमें तीन ज्ञान अव-श्य होनेवाले होनेपर भी चोरी आदि प्रबल पापकर्मके प्रभावसे उसके तीव्र ज्ञानावरण का उदय होता है ।

टीका—'लद्धूणवि' इत्यादि । देवत्वं = देवजातिं लब्ध्वा = प्राप्यापि देव किल्बि-षे = किल्बिषदेवमध्ये उपपन्नः = संप्राप्तः, तत्रापि सः, 'किं कर्म कृत्वा मे = मम इदं फलं संजात'—मिति न जानाति । किञ्चित्क्रियाकरणवलेशेनाऽवश्यम्भाविज्ञानत्रयकदेवत्व-जातिलाभेऽपि स्तेयादिपापकर्मप्रभावेण ज्ञानावरणस्य प्रबलोदयेनाऽविशुद्धावधिसद्भावा-दिति भावः ॥४७॥

एतावदेव तस्य फलं न, किन्तु ततोऽन्यदपीति तद्दर्शयति—'तत्तोवि' इत्यादि ।

मूलम्—तत्तोवि^२ से^१ चइत्ताणं, ल^३ब्धिही^५ एल^४मूयगं ।

नरगं^६ तिरि^७क्खजोणिं^८ वा, बोही^९ जत्थ^{१०} सुदु^{११}ल्लह्हा ॥४८॥

अर्थात् वह साधु देवभव पा करके भी किल्बिष देव होता है ॥ ४६ ॥

'लद्धूणवि' इत्यादि । देवगति प्राप्त करके भी किल्बिष देवोंमें उत्पन्न होकर यह नहीं जानता कि—'मुझे कौन कर्म करनेसे यह फल मिला है ? तात्पर्य यह है कि कुछ कायकण्डेज करने से वहाँ भवप्रत्ययक अवधि-ज्ञानतक तीन ज्ञान हो जाते हैं, फिर भी चोरी आदि पाप कर्मोंके प्रभाव से ज्ञानावरणका प्रबल उदय होनेके कारण अविशुद्ध अवधि रहता है ॥ ४७ ॥

येवा तप आदिने चोर साधु देवताओंनां अस्पृश्य किल्बिषी देवना कर्मानि ७ ॥४६॥
छे, अर्थात् ये साधु देवत्व पाभीने पषु किल्बिषी देव थाय छे. (४६)

लद्धूणवि० इत्यादि देवगति प्राप्त करीने पषु किल्बिषी देवोमां उत्पन्न थधने अे नथी न्नाणतो हे—'मने क्या कर्मो करवाथी आ इण मज्जुं छे ? तात्पर्यं अे छे हे कर्णक कायक-देशे कर्वाथी लवप्रत्ययिक अवधि-ज्ञान सुधी त्रषु ज्ञान थध न्नाय छे, तो पषु चोरी आदि पाप कर्मोना प्रभावथी ज्ञानावरणुने प्रणण उदय थवाने कारणे अविशुद्ध अवधि रहे छे (४७)

छाया—ततोऽपि स च्युत्वा, लप्स्यते एलमूकत्वम् ।

नरकं तिर्यग्योनिं वा, बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥४८॥

सान्वयार्थः—से = वह किल्बिषी देव ततोवि = उस-किल्बिष देवभवसे भी चइ-
त्ताणं = चक्कर मनुष्य भवमें एलमूयगं = बकरेकी तरह अस्पष्ट बोलनेरुप गूगेपनको
लब्धिही = प्राप्त होगा, (और वहाँ मरकर फिर) नरग = नरक गतिको वा = अथवा
तिरिक्खजोणिं = तिर्यञ्च योनिको लब्धिही = प्राप्त होगा कि जत्थ = जहाँ फिर बोही=
बोधि जिनधर्मकी प्राप्ति होना सुदुर्लभा = महा-मुश्किल है ॥४८॥

टीका—सः = किल्बिषदेवः ततोऽपि = किल्बिषदेवभवादपि च्युत्वा = प्रच्युत्य
मनुष्यभवेऽपि एलमूकत्वम् = मापणश्रवणोभयशक्तिशून्यत्वं, लप्स्यते = प्राप्स्यति. ततो-
ऽपि मृत्वा नरकं तिर्यग्योनिं वा लप्स्यते, यत्र = मनुष्यादिभवे बोधिः = सम्यक्त्वं सुदु-
र्लभा = अतिशयेन दुष्प्रापा भविष्यतीति भावः ॥४८॥

उपसंहरन्नाह—‘एयं च’ इत्यादि ।

१ २ ३ ५ ४ ६
मूलम्—एयं च दोसं ददृष्टं, नायपुत्तेण भासियं ।

८ ७ ९ १०
अणुमायंपि मेधावी, मायामोस विवज्जए ॥४९॥

छाया— एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्तेण भापितम् ।

अणुमात्रमपि मेधावी, माया-मृपा विवर्जयेत् ॥४९॥

सान्वयार्थः—एयं च = पूर्वोक्त प्रकारके दोसं = दोष पापको नायपुत्तेण = संहावीर
भगवानने ददृष्टं = केवल ज्ञानसे देखकर भासियं = फरमाया है, (अतः) मेधावी = कृत्या-
कृत्यमें कुशल साधु अणुमायंवि = अणुमात्र-थोड़े-भी माया मोसं = कपट और झूठको-विव-
ज्जए = वरजे न आचरे ॥४९॥

उक्त चोरीका इतनाही फल नहीं है, किन्तु और भी होता है सो दिखाते हैं—‘ततोवि’
इत्यादि ।

वह किल्बिष देव देव-भवसे चक्कर मनुष्य भवमें अज (बकरे) की तरह बोलनेवाला—गूगा
होगा, और फिर नरकगति या तिर्यञ्च गतिको प्राप्त होगा, जहाँ पर बोधि (सम्यक्त्वकी प्राप्ति
अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४८ ॥

उक्त चोरीका इतनाही फल नहीं है, किन्तु और भी होता है सो दिखाते हैं—
ततोवि इत्यदि ।

ये छिदिकापी देव देवलवधी यवीने मनुष्य भवमा अज (बकरा), नी पेठे बोलनार बोझो
थशे, अने यही नरकगति या तिर्यञ्च गतिने प्राप्त थशे के ज्या बोधि (सम्यक्त्वकी प्राप्ति)
अत्यन्त दुर्लभ छे. (४८)

टीका—एतं च पूर्वप्रतिपादितं दोषं = पापं गृहीतेऽपि चारित्र्ये किल्बिषिकदेवत्वा-
द्यापादकलक्षणं ज्ञातपुत्रेण = ज्ञातः = सिद्धार्थभूपस्तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः = महावीरस्तेन
दृष्ट्वा = केवलालोकेनाऽऽलोक्य भाषितं = कथितम्-अर्थत उपदिष्टमित्यर्थः, अतः मेधावी=
कृत्याकृत्यविवेककुशलः, अणुमात्रमपि = स्वल्पमपि मायामृषा = मायामृषावादं विवर्जयेत्=
संत्यजेत्-नाऽऽचरेदिति भावः ॥४९॥

मूलम्—सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहि संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थ भिक्खु सुप्पणिहि-इंदिए तिव्वलज्जगुणवं
विहरिज्जासि-त्तिवेमि ॥५०॥

छाया—शिक्षित्वा भिक्षुसंघोऽपि, संयतानां बुद्धानां सकाशे ।

तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः, तीव्रलज्जागुणवान् विहरेत् इति ब्रवीमि

॥५०॥

सान्त्वयार्थः—बुद्धाण = सकल तत्त्वोके जाननेवाले संजयाण = मुनियोंके सगासे=
समीप भिक्खेसणसोहि = भिक्षुके आधाकर्मादि दोषोंकी शुद्धिको सिक्खिऊण = सीख-
कर तिव्वलज्जगुणवं = अकृत्याचरणमे अत्यन्त लज्जावान् सुप्पणिहिइंदिए = जितेन्द्रिय-
एकाग्रचित्तवाला भिक्खु = साधु तत्थ = वहां भिक्षुकी एषणामें विहरिज्जासि = विचरे-
त्तिवेमि = श्रीसुधर्मास्वामी जंबूस्वामीसे कहते हैं कि जैसा भगवान् महावीर स्वामीने
फरमाया है वैसाही मैं तेरेसे कहता हूँ ॥५०॥

। इति पांचवे अध्ययनके दूसरे उद्देशका सान्त्वयार्थ समाप्त ॥५-२॥

॥ इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके पांचवे अध्ययनका सान्त्वयार्थ समाप्त ॥५॥

टीका—‘सिक्खिऊण’ इत्यादि । भिक्षुः बुद्धानाम् = अवगतसकलतत्त्वानां, संय-

उपसंहार करते हुए कहते हैं—‘एय च’ इत्यादि ।

चारित्र्यको अंगीकार करनेके पश्चात् भी किल्बिष-देवत्वकी प्राप्ति आदि दोष ज्ञातपुत्र (सिद्धा-
र्थनन्दन) भगवान् वर्द्धमान स्वामीने केवल ज्ञानसे जानकर प्रतिपादन किये हैं, इसलिए कार्य
अकार्यके विवेकी श्रमणोको अणुमात्र भी माया-मृषावादका आचरण नहीं करना चाहिए, अर्थात्
मुनि माया-मृषावादका थोडा भी सेवन नहीं करे ॥ ४९ ॥

‘सिक्खिऊण’ इत्यादि । भिक्षु तत्त्वके जानी संयमियोंके समीप आधाकर्म आदि दोषोके

उपसंहार करता हुआ छे—एय च० इत्यादि

चारित्र्यके अंगीकार पश्चात् भी किल्बिष-देवत्वकी प्राप्ति आदि दोष ज्ञातपुत्र (सिद्धा-
र्थनन्दन) भगवान् वर्द्धमान स्वामीने केवल ज्ञानसे जानकर प्रतिपादन किये हैं, तैसी करीने
कार्य-अकार्यना विवेकी श्रमणोके अणुमात्र पणु माया मृषावादनु आचरण न करवुं लेधिये,
अर्थात् मुनि माया मृषावादनु थोडु पणु सेवन न करे (४९)

सिक्खिऊण इत्यादि तत्त्वना जानी संयमियोंकी समीप आधाकर्म आदि दोषोके

तानां = संयमवतां सकाशे = समीपे भिक्षैषणशोर्धि = भिक्षागताऽऽधाकर्मादिदोषसंशुद्धि
दोषज्ञानपूर्वकतत्परिहारविधिमित्यर्थः, शिक्षित्वा = सम्यगभ्यस्य सुप्रणिहितेन्द्रियः = सुवशी-
कृतेन्द्रियः-एकाग्रचेता इत्यर्थः । तीव्रलज्जागुणवान् = भक्त्याऽऽचरणेऽतीवलज्जाधारकः,
तत्र = भिक्षैषणविषये विहरेत् = विचरेत् ।

‘संजयाण बुद्धाण’ इतिपदाभ्यां ज्ञानक्रियोभयवद्भ्य एव भिक्षाशुद्धिर्जायत इति,
‘सुप्पणिहिइंदिए’ इत्यनेन शिष्येण एकाग्रचेतसा भाव्यमिति, तिक्वलज्जगुणवं’ इति पदेन
लज्जावानेव प्रवचनमर्यादां पालयतीति च प्रकटीतम् । इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥५०॥

। इति पञ्चमाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशः समाप्तः ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्गुरु-महाराज-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित
कवापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध-गद्य-पद्य-नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-
शाहूलत्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-जैनाशास्त्राचार्य-पद-भूषित-
कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीदशवैकालिकसूत्र-
रथाऽऽचारमणिमञ्जूपा रव्यायां व्यव्यायां पठचर्म
‘पिण्डैषणा’ऽऽ-ख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥५॥

— । —

ज्ञानपूर्वक आहारकी विधीको सम्यक् प्रकार जान करके जितेन्द्रिय होकर तथा अकार्य करनेसे
तीव्र लज्जा पाते हुए विचरें ॥

‘संजयाण बुद्धाण’ इन दोनो पदोसे यह ध्वनित किया है कि ज्ञान और क्रिया दोनोसे
ही भिक्षाशुद्धि होती है । ‘सुप्पणिहिइंदिए’ पदसे यह सूचित किया है कि शिष्यको एकाग्रचित्त
होना चाहिए । ‘तिक्वलज्जगुणावं’ से यह प्रदर्शित किया है कि लज्जावान हो प्रवचन प्रतिपादित

ज्ञान भेजवीने, आहारनी विधिने सम्यक् प्रकारे जाणीने, जितेन्द्रिय थडने तथा अकार्य
करवाथी तीव्र लज्जा पावता बिक्षु विचरे.

संजयाण बुद्धाण ओ ओउ शण्होथी ओम ध्वनित कथुं छे के ज्ञान अने क्रिया ओउथी
न भिक्षा शुद्धि थाय छे सुप्पणिहिइ दिप ओ पदथी ओम सूचित कथुं छे के शिष्ये ओका-
ग्रचित्त थपुं नभओ तिक्वलज्जगुणावं थी ओम प्रदर्शित कथुं छे के लज्जावान् न प्रवचन
प्रतिपादित मर्यादा (आचार)नुं परिपालन करे छे.

मर्यादा (आचार) का परिपालन करता है ।

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे जम्बू ! मैंने भगवान श्रीमहावीरस्वामीसे जैसा सुना वैसा ही तुमसे कहा है ॥ ५० ॥

इति पांचवे अध्ययनका दूसरा उद्देश समाप्त ।

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके "पिण्डैषणा" नामक पांचवे

अध्ययनकी 'आचारमणिमञ्जूषा' टीकाका

हिन्दीभाषानुवाद समाप्त ॥ ५ ॥

—*—

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीसे कहे छे के छे जम्बू ! मे भगवान श्रीमहावीर स्वामी पासेयी जेपुं सालज्यु तेपुं ज तमने कहु छे (५०)

इति पांचमा अध्ययनने पीजे उद्देशो समाप्त.

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रना "पिण्डैषणा" नामके

पांचमा अध्ययननी 'आचारमणिमञ्जूषा'

टीकाने जगुरातीभाषानुवाद समाप्त. (५)

—x—

